प्रेमचंद रचनावली

7

प्रेमचंद रचनावली
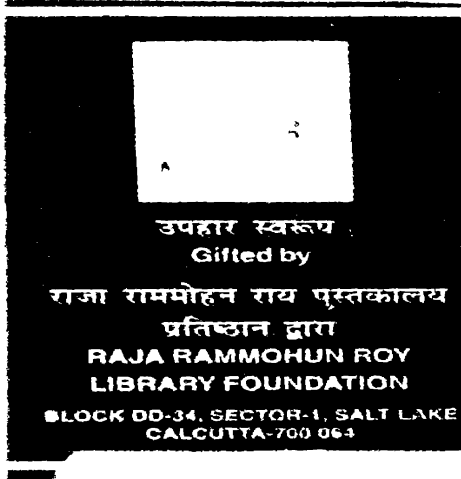
लेख, भाषण, संस्मरण

प्रेमचंद रचनावली

खण्ड : सात

भूमिका एवं मार्गदर्शन
डॉ॰ रामविलास शर्मा

प्रकाशकीय

'प्रेमचंद रचनावली' का प्रकाशन **जनवाणी** के लिए गौरव की बात है। कॉपीराइट समाप्त होने के बाद प्रेमचंद साहित्य विपुल मात्रा में प्रकाशित-प्रचारित हुआ। पर उनका सम्पूर्ण साहित्य अब तक कहीं भी एक जगह उपलब्ध नहीं था। लगातार यह जरूरत महसूस की जा रही थी कि उनके सम्पूर्ण साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन हो।

श्रेष्ठ और कालजयी साहित्यकारों के समग्र कृतित्व का एकत्र प्रकाशन कई दृष्टियों से उपयोगी होता है। इसी आलोक में **'प्रेमचंद रचनावली'** की कुछ विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख बहुत आवश्यक है। इस रचनावली में पहली बार सम्पूर्ण प्रेमचंद साहित्य सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक मूल पाठ के साथ सामने आया है। सम्पूर्ण रचनाओं का विभाजन पहले विधावार तत्पश्चात् कालक्रमानुसार किया गया है। रचनाओं के प्रथम प्रकाशन एवं उनके कालक्रम संबंधी प्रामाणिक जानकारी प्रत्येक रचना के अन्त में दी गई है जिससे प्रेमचंद के कृतित्व के अध्ययन और मूल्यांकन में विशेष सुविधा होगी। इसकी अधिकांश सामग्री प्रथम संस्करणों या काफी पुराने संस्करणों से ली गई है। प्रेमचंद साहित्य के अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के लिए इस रचनावली का अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रेमचंद की अब तक उपलब्ध सम्पूर्ण तथा अद्यतन सामग्री का समावेश कर लिया गया है। रचनावली के बीस खण्डों का क्रमबद्ध प्रारूप इस प्रकार है—

> **खण्ड 1-6 :** मौलिक उपन्यास; **खण्ड 7-9 :** लेख, भाषण, संस्मरण, संपादकीय, भूमिकाएं, समीक्षाएं; **खण्ड 10 :** मौलिक नाटक; **खण्ड 11-15:** सम्पूर्ण कहानियां (302); **खण्ड 16-17 :** अनुवाद (उपन्यास, नाटक, कहानी); **खण्ड 18 :** जीवनी एवं बाल साहित्य; **खण्ड 19 :** पत्र (चिट्ठी-पत्री); **खण्ड 20 :** विविध।

रचनावली की विस्तृत भूमिका मूर्धन्य आलोचक डॉ॰ रामविलास शर्मा ने लिखी है, जो इस रचनावली की सबसे बड़ी उपलब्धि है। डॉ॰ शर्मा ने अपनी साहित्य-साधना के व्यस्त क्षणों में भी हर कदम पर हमारा मार्गदर्शन किया। रचनावली का जो यह उत्कृष्ट रूप सामने आया है यह सब उन्हीं के आशीर्वाद का प्रतिफल है। इस कृपा और सहयोग के लिए मैं उनके प्रति नतमस्तक हूं।

बिहार विधान परिषद् के माननीय सभापति, हिन्दी और उर्दू के वरिष्ठ साहित्यकार प्रो॰ जाबिर हुसेन ने प्रेमचंद रचनावली के संपादक-मण्डल का अध्यक्ष होना स्वीकार किया और रचनावली के संपादन कार्य में हमारा उचित मार्गदर्शन किया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूं। साथ ही संपादक-मण्डल के विद्वान सदस्यों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

श्री केशवदेव शर्मा ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद सम्पादन कार्य में जिस गहरी लगन, समझदारी और आत्मीयता से सहयोग किया है उसके लिए उनके प्रति अनेकशः धन्यवाद। उनका अहर्निश सानिध्य मुझे स्फूर्ति प्रदान करता रहा। डॉ॰ गीता शर्मा एवं डॉ॰ अशोक कुमार शर्मा, वेद प्रकाश सोनी तथा डॉ॰ विनय के प्रति भी उनके हार्दिक सहयोग के लिए आभारी हूं।

भाई राम आनंद साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही प्रेमचंद द्वारा स्थापित प्रकाशन संस्थान **'सरस्वती प्रेस'** से जुड़ गए थे। लगभग बीस वर्षों तक उन्होंने स्व॰ श्रीपत राय (प्रेमचंद के ज्येष्ठ पुत्र) के मार्गदर्शन में अप्राप्य प्रेमचंद साहित्य पर शोध कार्य किया। वे स्व॰ श्रीपत राय के संपादन में प्रकाशित होने वाली विख्यात कथा-पत्रिका **'कहानी'** के सहायक संपादक रहे। श्रीपत राय के देहांत के बाद उन्होंने **'कहानी'** का स्वतंत्र रूप से संपादन किया और उसे नया रूप तथा गरिमा प्रदान की। उन्होंने जिस गहरी सूझ-बूझ, लगन, धैर्य और निष्ठा से इस रचनावली के संपादन कार्य को इतने सुरुचिपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से संपन्न किया, इसके लिए वे हम सबों के साधुवाद के पात्र हैं।

श्री हरीशचन्द्र वार्ष्णेय, श्री प्रेमशंकर शर्मा, श्री उदयकान्त पाठक ने प्रूफ-संशोधन और सम्पूर्ण मुद्रण कार्य में विशेष जागरूकता और मनस्विता का परिचय दिया; इनके साथ विमलसिंह, आर॰ के॰ यादव, सुनील जैन, शिवानंदसिंह तथा संस्था के अन्य सभी सहकर्मियों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं क्योंकि इन सबके सहयोग और सद्भाव के बिना यह काम पूरा होना लगभग असंभव था।

मेरी भ्रातृजा रीमा और भ्रातृज संदीप, संजीव, मनीष, विक्रांत, चेतन की लगन और सूझबूझ ने भी मुझे सदैव प्रेरित और उत्साहित किया वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

रचनावली के मुद्रण का कार्य श्री कान्तीप्रसाद शर्मा की देखरेख में हुआ है। उनकी सूझबूझ और श्रमनिष्ठा के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।
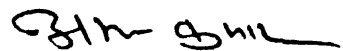
सर्वश्री विजयदान देथा, यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', रामकुमार कृषक, स्वामी प्रेम जहीर, डॉ॰ कुसुम वियोगी, रामकुमार शर्मा आदि सभी मित्रों के सुझावों के लिए भी आभारी हूं।

इस कार्य में पूज्य माताजी श्रीमती जसवन्ती देवी का आशीर्वाद और पिताश्री प्रेमनाथ शर्मा का दीर्घकालीन प्रकाशन-व्यवसाय का अनुभव और आशीर्वाद मेरे विशेष प्रेरणा स्रोत रहे। इनके साथ मातृतुल्या भाभी श्रीमती ललिता शर्मा, अग्रज राजकुमार शर्मा, चमनलाल शर्मा, धर्मपाल शर्मा एवं उनकी धर्मपत्नी इन्दु शर्मा के साथ भाई हरीशकुमार शर्मा एवं सुभाषचन्द्र शर्मा के साथ ही चाचा श्री दीनानाथ शर्मा का भी आभारी हूं जिन्होंने पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। और सबसे अंत में सहधर्मिणी श्रीमती गीता शर्मा ने जो सहयोग और संबल प्रदान किया उसके लिए आभार अथवा धन्यवाद जैसा शब्द बहुत कम होगा। सारा श्रेय उन्हीं का है।

नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता के सहयोग से दुर्लभ पुस्तक 'महात्मा शेखसादी' लगभग सत्तर वर्ष बाद एक बार फिर इस रचनावली के मार्फत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। मैं नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूं। उन समस्त संस्थानों, पुस्तकालयों, विभागों, संस्थाओं, लेखकों, संपादकों, अधिकारियों और व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, जिन्होंने इस रचनावली के आयोजन में सहयोग किया।

अन्त में विद्वान पाठकों से हमारा निवेदन है कि वे इस रचनावली की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें ताकि आगामी संस्करणों में उन्हें दूर किया जा सके।

हम आशा करते हैं कि हिन्दी जगत् इस बहु-प्रतीक्षित रचनावली का हार्दिक स्वागत करेगा।

अरुण कुमार
(प्रबंध निदेशक)

लमही में प्रेमचंद का स्मारक
उपेक्षित

जागरण

'जागरण' का मुख्य पृष्ठ (1934)

अनुक्रम

ओलिवर क्रामवेल 11
हाथी-दांत 23
ख़ानदाने-मुश्तरका (संयुक्त परिवार प्रणाली) 30
देशी चीज़ों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है 36
स्वदेशी आंदोलन 39
शरर और सरशार 41
चित्रकला 51
टॉमस गेन्सबरो 57
तुर्की में वैधानिक राज्य 68
अकबर की शायरी पर एक नजर 70
संयुक्त प्रान्त में आरम्भिक शिक्षा 85
जुलेखा 90
गालियां 107
भारतीय चित्रकला 113
हिन्दू सभ्यता और लोकहित 119
रामायण और महाभारत 126
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र 129
मजनूं 134
कालिदास की कविता 153
हिन्दुस्तानी रेलों की साठ साला तारीख 162
हंसी 166
पैके अब्र 170
बिहारी 174
केशव 182
पुराना जमाना-नया जमाना 189
मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत' 198
शबेतार 202
काउण्ट टॉलस्टॉय और फ़न-ए-लतीफ़ (सत्कला) 205
शिक्षा-असहयोग 209
स्वराज्य के फायदे 214
वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावटें 226
प्राचीन मिस्र जाति के धर्मतत्व 236
स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी 243
स्वराज्य की पोषक और विरोधक व्यवस्थाएं 244
विभाजक रेखा 249
उपन्यास-रचना 253
मल्काना राजपूत मुसलमानों की शुद्धि 260
कर्बला-I 268
मनुष्यता का अकाल 280
हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न 286
उपन्यास-1 291
उपन्यास-2 296
कर्बला-II 304
वर्तमान यूरोपियन ड्रामा 306
देशबंधु चितरंजन दास 308
इस्लामी सभ्यता 314
प्रेमचंद की प्रेम-लीला का उत्तर 319
गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन 321
युवक कौन है? 324

हिन्दी-रंगमंच	325	जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान	405
उपन्यास का विषय	330	कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार	408
आज़ादी की लड़ाई	335	बातचीत करने की कला	418
बच्चों को स्वाधीन बनाओ	342	राष्ट्र-भाषा हिन्दी और उसकी समस्याएं	423
उर्दू में फ़िरऔनियत	346	दक्षिण भारत में हमारी हिन्दी प्रचार-यात्रा	434
मानसिक पराधीनता	349	उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी	447
मुंशी बिशुन नारायण भार्गव	353	हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी	454
साहित्य में समालोचना	357	फिल्म और साहित्य	456
श्रीकृष्ण और भावी जगत्	359	हल्दी की गांठ वाला पन्सारी	464
जीवन-सार	362	कौमी इत्तिहाद (ऐक्य) क्योंकर हो सकता है	467
स्वामी श्रद्धानंद और भारतीय शिक्षा-प्रणाली	369	साहित्य और मनोविज्ञान	477
आत्मकथा क्या साहित्य का अंग नहीं है?	371	उर्दू-साहित्य की प्रगति	479
परितोष	372	हिन्दी-उर्दू की एकता	482
जीवन में साहित्य का स्थान	379	राशिद-उल-खैरी की सामाजिक कहानियां	493
साहित्य का आधार	384	साहित्य का उद्देश्य	499
शान्तिनिकेतन में	387	महाजनी सभ्यता	511
साहित्य की प्रगति	389	कहानी कला-3	517
दुखी जीवन	395		
नोबल पुरस्कार-प्राप्तकर्त्ता जॉन गाल्सवर्दी	401		
मेरी रसीली पुस्तकें	402		

ओलिवर क्रामवेल

यह दुनिया एक थिएटर है जहां ऐक्ट करने वाले तो बहुत कम और तमाशाइयों की भीड़ बहुत ज़्यादा है। मगर इस थिएटर की दिलचस्पियां, उसके आकर्षण उन्हीं थोड़े से ऐक्टरों के ज़ादूभरे कारनामों और जादूभरी बातों पर निर्भर हैं। यह चंद ऐक्टर अपने जादूभरे भाषणों और मोहिनी अदाओं से हमारे दिलों पर कब्ज़ा किये हुए हैं और हम खुशियों की एक अज़ीब कैफियत में उनकी कोशिशों की दाद देते हैं। बेशक इंग्लिस्तान के मशहूर कवि और दार्शनिक कार्लाइल का यह कहना सही है कि दुनिया का सच्चा परिचय केवल उन बडे लोगों के कारनामे हैं जो समय-समय पर दुनिया में पैदा हुए। हमारे मनोरंजन की वस्तुएं और वह तमाम चीज़ें जो हमारी प्रशंसा और सम्मान की अधिकारी हैं उन्हीं बड़े आदमियों की मेहनतों और सोच-विचार का नतीजा हैं। जिस दुनिया में हम रहते हैं वह उन्हीं सजग लोगों के सुंदर प्रयत्नों का फल है। हमारी आत्माएं, जिनसे हमारा जीवन है, उन्हीं के इशारों पर चलती हैं। हमारे विचार, हमारा सांस्कृतिक रूप, हमारे तौर-तरीके उसी सांचे में ढलते हैं जो यह आदमी हमारी नज़रों के सामने पेश करता है। जब हमारी अंदरूनी आंखें अंधी हो जाती हैं, हमारे खयालात गंदे हो जाते हैं, हमारे बुरे काम बढ़ जाते हैं, हमारी खुशहाली हमारा साथ छोड़ देती है, हमारा धर्म पुराना हो जाता है और समय की दीर्घता उसमें बहुत से परिवर्तन करके उसे बनावटी लोकाचार का संग्रह बना देती है, हमारे ज्ञान की परिधि संकीर्ण हो जाती है और हम अज्ञान के अथाह समुद्र में डुबकियां खाने लगते हैं तो हम अनायास चाहते हैं कि कोई गौतम बुद्ध, कोई शंकराचार्य, कोई अरस्तू, कोई मुहम्मद, कोई न्यूटन पैदा हो, अपनी अलौकिक योग्यता से हमारी सोसायटी को लाभ पहुंचाये, जितने अनिष्टकारी तत्त्व एकत्र हो गये हों उनको दूर कर दे, नये विचारों की सरिता बहा कर हमारी प्यास को बुझाये और हमारे विवेक के बुझे हुए दीपक को प्रज्वलित करे। जब हमारी प्रार्थनाएं लक्ष्य-भ्रष्ट तीर हो जाती हैं और कोई ऐसा आदमी सामने आता है तो हम उसका अनुसरण करते हैं और जैसे एक होशियार जादूगर अपने जादू के ज़ोर से कठपुतलियों को नचाता है, जिस कल चाहता है बिठाता है, उसी तरह यह हीरो हमको अद्भुत चमत्कार दिखाकर हमारी आत्मा को अपने बस में कर लेता है, उसके चरित्र में भगवान जाने ऐसी कौन-सी शक्ति होती है जो हमारे दिलों पर उसके बड़प्पन का सिक्का बिठाती है, उसकी बातों में भगवान जाने क्या असर होता है जो हम पर जादू का काम करता है। वह बड़ा जबर्दस्त मेस्मराइज़र होता है और उसकी महज़ आंखें ही नहीं बल्कि हर बात और हर काम हम पर मेस्मरेज़िम का

असर डालते हैं। मनुष्य को परमात्मा ने बहुत-से अच्छे गुण दिये लेकिन ऐसे लोग थोड़े ही हैं जिन्हें उसने आविष्कारक शक्तियां दीं। अगर साधारण जनों को अनुसरण की शक्ति के बदले आविष्कार की शक्ति मिली होती तो आज दुनिया का कुछ और ही ढंग होता। हरेक आदमी अपने ज़ोम में खुद ही बहलोल बना बैठा होता। यह इस अनुसरण-शक्ति का ही परिणाम है कि हम एक बड़े हीरो के पीछे चलते हैं और उसकी विस्तृत अलौकिक शक्तियों से लाभ उठाते हैं। मगर यह समझना गलतफहमी से ख़ाली न होगा कि भगवान ने हमारी घुट्टी में हीरो-वर्शिप का माद्दा डाला तो हममें यह काबलियत भी पैदा कर दी कि हम एक सच्चे हीरो को रंगे हुए सियारों से अलग करके पहचान सकें। बहुत बार ऐसा हुआ कि मामूली रग और पुट्ठे के लोग सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं के वश में आकर हीरो बन बैठे, जनता ने उन पर विश्वास किया, उन्हें अपना नेता बनाया और उनके इशारों पर चले मगर जब विद्वानों ने उन बने हुए हीरोओं की बातों और कामों को अक्ल की कसौटी पर कसा तो उनकी सारी कलई खुल गयी। अगर ऐसा हीरो उस वक्त ज़िंदा रहा तो जीते-जी और मरा तो मरने के बाद लानतों का शिकार बनाया गया। यह नक़ली हीरो दुनिया में इतने ज़्यादा हुए और इतनी बार उनके भांडे फूटे कि हमको एक सच्चे हीरो का अनुसरण करते हुए भटक जाने का खतरा लगा रहता है और यही कारण है कि कभी-कभी सच्चे हीरो अवतरित हुए, हमारी बुरी दशा को सुधारने के लिए इतनी माथापच्ची करते रहे, हमारी भलाई के लिए गला फाड़-फाड़कर चिल्लाये, हमको भटका हुआ पाकर सीधा रास्ता दिखाने की कोशिश की मगर हमारे कान पर जूं तक न रेंगी। हम उनको भी नकली हीरो समझा किये। निरंतर असफलताओं ने उनके दिल तोड़ दिये और वह अपने दृढ़ संकल्पों और बुलंद अरमानों को लिये हुए इस दुनिया से सिधार गये। अगर उनका सच्चा हाल उनकी मौत के बाद सर्वसाधारण को पता चला तो हमने अफसोस के साथ हाथ मले और जिनसे जीवनकाल में दूर-दूर रहते थे उनके मरने के बाद उनकी समाधि की पूजा की और उनके स्मारक बनाये ताकि उनका नाम कायम रहे। जूलियस सीज़र जब तक ज़िंदा रहा लोग उस पर लांछन लगाते रहे कि वह अपने अधिकारों का अनुचित उपयोग कर रहा है और रोम के प्रजातंत्र को धूल में मिलाकर खुद बादशाही किया चाहता है। आखिर बेरहमों ने उसको कत्ल किया मगर उसके मरने के बाद जब उसकी बातें और उसके काम जांचे गये तो उनमें सच्चाई और नेकी कूट-कूटकर भरी पायी गयी और लोग उसे हीरो मानने लगे।

क्रामवेल, जिसके हालात हम आगे चलकर संक्षेप में बतलायेंगे, जब तक ज़िंदा रहा गलतफहमियों की बौछारें सहता रहा। मरने के बाद उसके दुश्मनों ने उसकी मिट्टी पलीद करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आखिरकार उन्नीसवीं सदी में कार्लाइल ने उसका उचित सम्मान किया, उसके विचारों और कार्यों और सिद्धांतों को दुनिया के सामने निष्पक्ष भाव से प्रस्तुत किया और उसकी मेहनतों का नतीज़ा यह हुआ कि आज क्रामवेल का नाम इज़्ज़त से लिया जाता है और अब इतनी ही बात पक्की नहीं है कि वह सच्चा हीरो था बल्कि सच्चे हीरोओं में उसको एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। बाज़ारों में कभी-कभी खोटे सिक्के भी चालू सिक्कों के पर्दे में छिपे

रहते हैं मगर उनकी असलियत परख ली जाती है और बड़ी बेदर्दी से फेंक दिये जाते हैं। काश भगवान हमें कोई ऐसी तेज़ कूवत देता कि हम इस सूरत में भी खोटे-खरे को परख लिया करते। क्या खूब कहा है ज़ौक ने–

गौहर को जौहरी और सर्राफ ज़र को परखे।
ऐसा कोई न देखा वह जो बशर को परखे।।

क्रामवेल की पैदाइश, बचपन और शिक्षा

ओलिवर क्रामवेल 25 अप्रैल, सन् 1599 ई॰ को हंटिंगडन में पैदा हुआ। उसके बाप का नाम राबर्ट क्रामवेल था और उसकी मां का नाम एलिज़ाबेथ स्टुअर्ड। क्रामवेल और स्टुअर्ड दोनों खान्दान मठों के टूटने के बाद उन्नति की सीढ़ी पर चढ़े थे और प्राचीनता व कुलीनता की दृष्टि से इंग्लिस्तान के ऊंचे से ऊंचे खान्दानों की बराबरी कर सकते थे।

क्रामवेल का चचा सर ओलिवर क्रामवेल जो इस नवजात क्रामवेल का धर्मपिता भी था, हंचिनब्रुक का प्रतिष्ठित ज़मींदार था और अमीरों की तरह बड़े ठाट-बाट से रहता था। वह अपने पास-पड़ोस में ही प्रतिष्ठित नहीं गिना जाता था बल्कि शाही दरबारों में भी उसकी बड़ी आवभगत थी। महारानी एलिज़ाबेथ ने कई बार इस कस्बे को अपनी चरण-धूलि से पवित्र किया था और उसकी मृत्यु के बाद जेम्स भी यदा-कदा यह सम्मान उस कस्बे को देता रहा। जिस वक्त क्रामवेल पांच बरस का था जेम्स बड़ी शान-शौकत से वहां पहुंचा था और कई दिन तक महफिलें खूब गर्म रहीं, शीशा-ओ-शराब का दौर चला।

क्रामवेल का बाप औसत दर्जे का आदमी था। उसके अधिकार में हंटिंगडन की छोटी-सी काश्तकारी थी जिससे हज़ार पौंड सालाना का फायदा हो रहता था। क्रामवेल की मां के कब्ज़े में ढाई सौ पौंड सालाना के मुनाफे की ज़मीन थी जो वह अपने मैके से दहेज़ के रूप में लायी थी। गो मौजूदा ज़माने की माली हैसियत के लिहाज़ से इस आमदनी का शुमार औसत आमदनियों के आखिरा दर्ज़े में होगा, मगर उस ज़माने में रोज़ की ज़रूरतें इतनी ज़्यादा न थीं और यह आमदनी एक शरीफ खान्दान के गुज़र-बसर के लिए काफी थी।

राबर्ट क्रामवेल एक सुलझा हुआ, गंभीर और समझदार आदमी था। उसकी सहज प्रवृत्ति एकांतवास की ओर थी और इस आदत ने उसे सर्वसाधारण की दृष्टि में घमंडी बना दिया था। उसे बहुत से इल्मों में काफी दखल था और गो आज के ज़माने में इल्मी काबलियत कोई असाधारण बात नहीं मगर उस ज़माने में यह बेशक असाधारण बात थी। अमीरों और ऊंचे घर वालों की रुचि ज्ञानार्जन की ओर न थी बल्कि अकसर अमीर लोग इसको नीची दृष्टि से देखते थे। अगर उन्हें बाइबिल पढ़ना आ गया तो बस पंडित हो गए, फिर उन्हें कुछ और जानने की ज़रूरत नहीं। हां, सैनिक-शिक्षा उनको खूब दी जाती थी और जानवरों का शिकार करना उनका प्यारा शगल था।

एलिज़ाबेथ स्टुअर्ड, क्रामवेल की मां, सर टामस स्टुअर्ड की बहन थी। चूंकि

सर टामस के कोई संतान न थी उसने ओलिवर को गोद लेकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। एलिज़ाबेथ की शादी विलियम लिन से हुई थी मगर वह कुछ ही दिनों बाद परलोक सिधारा। तब इस विधवा ने राबर्ट क्रामवेल से शादी की और भगवान ने उनको दस संतानें दीं मगर कई लड़के, एक के बाद एक, अपने मां-बाप को दाग देकर स्वर्ग सिधारे। बेटों में सिर्फ क्रामवेल जो पांचवां लड़का था जीता-जागता बचा था। क्रामवेल की मां बहुत नेक, गंभीर, सच्चरित्र और सादगी पसंद करने वाली स्त्री थी। यह अंतिम गुण उस ज़माने की औरतों में बिरलों ही में पाया जाता था। टीमटाम का चारों तरफ जोर था और बनावट, आडंबर, एक सर्वव्यापी बीमारी थी।

राबर्ट और एलिज़ाबेथ दोनों हंटिंगडन के देहाती मकान में बहुत इत्मीनान से ज़िंदगी बसर करते थे और अपनी समझदारी, किफायतशारी और सादगी से एक लंबे-चौड़े खान्दान की, जिसमें दस बच्चे थे, बखूबी परवरिश करते थे। यह उनके प्रबंध-कौशल की खूबी थी कि उन्हें गरीबी या मुहताजी की तकलीफें न उठानी पड़ती थीं। यह नेक बीवी अपने प्यारे शौहर की मौत के बाद सैंतीस बरस तक ज़िंदा रही और अपनी लड़कियों की शादियां अच्छे खान्दानों में कीं। बहुत कम मांएं ऐसे बच्चे जनती हैं जो अपने मजबूत इरादों से उनकी बेइंतहा तकलीफें हरते हैं। जब उसकी ज़िंदगी के दिन पूरे होने को आए तो उसने क्रामवेल से दर्ख्वास्त की कि मुझे मेरे खान्दानी कब्रिस्तान में दफन कीजो, मगर क्रामवेल को यह कब गवारा हो सकता था कि उसे एक गुमनाम ज़गह पर दफन करे। चुनांचे बादशाहों की-सी आन-बान से उसकी अंतिम क्रिया की गई और वह वेस्टमिंस्टर में ही दफन हुई। जब शाही ताकत एक बार फिर नए सिर से लौटी तो दुश्मनों और ज़ासूसों से यह भी न देखा गया कि उसको ज़मीन के एक कोने में खामोश पड़ा रहने दें। बेचारी की हड्डियां खुदवाकर बड़ी ज़िल्लत के साथ एक गड्ढे में फेंक दी गईं।

ऐसे मां-बाप का होनहार बच्चा ओलिवर क्रामवेल था। उसके बचपन के हालात बहुत कम मालूम हैं। हां, उस ज़माने की कुछ जनश्रुतियां अलबत्ता प्रसिद्ध हो गई हैं। यह एक आम फायदा है कि प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में कुछ जनश्रुतियां प्रसिद्ध हो जाया करती हैं। इसका कारण या तो यह है कि बचपन ही से आगामी महानता के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं या नासमझ जनता उनकी चमत्कारिक उपलब्धियों को देखकर भौचक रह जाती है और उनके बारे में कुछ जनश्रुतियां गढ़कर अपनी तस्कीन कर लिया करती है। हम बड़े लोगों के जीवन-चरितों में चमत्कारिक बातों के देखने के इतने आदी हो गए हैं कि हमारी आंखें शुरू ही से उनकी तलाश करने लगती हैं। यह शायद इन्सान की नेचर में शामिल है कि वह हर एक महान् कार्य को असाधारण बातों से जोड़ लेता है और यह एक हद तक सही भी है क्योंकि कोई महान् कार्य असाधारण गुणों के बिना नहीं किया जा सकता।

कहते हैं कि एक बार ओलिवर क्रामवेल को सपने में यह पुकार सुनाई पड़ी कि तू इंग्लिस्तान का सबसे बड़ा आदमी होगा। जब उसने अपने बाप से यह किस्सा कहा तो उसने उसका खूब कान गरम किया।

दूसरी जनश्रुति यों है कि जब शाहजादा चार्ल्स अपने शानदार बाप जेम्स के

साथ नार्थब्रुक को आया था तो वहां उसकी और क्रामवेल की किसी बात पर अनबन हो गई। नौबत हाथापाई तक पहुंची और आखिरकार क्रामवेल मीर रहा। एक और किंवदंती यों प्रसिद्ध है कि वह आसपास के अंगूरिस्तानों पर बड़ी आज़ादी से हमले किया करता था और बागबानों ने उसकी लूटपाट से तंग आकर उसे सेबों का शैतान कहकर पुकारना शुरू किया था।

क्रामवेल की आरम्भिक शिक्षा हंटिंगडन के फ्री स्कूल में हुई। उस वक्त इस स्कूल में हेडमास्टर टामस बेयर्ड था और अपने इस नए छात्र की नैसर्गिक विशेषताओं को देखकर वह उसका दोस्त हो गया। बेयर्ड अपने देहान्त के समय तक इस स्कूल के प्रधान के पद पर रहा और हंटिंगडन में लेक्चर देता रहा। क्रामवेल भी उसको उचित मान देने में अपनी तरफ से कुछ उठा न रखता था। फ्री स्कूल का कोर्स खत्म करने के बाद क्रामवेल हंटिंगडन के ग्रामर स्कूल में भेजा गया था और यहां उसने अपने विद्यार्थीकाल का बड़ा हिस्सा खत्म किया। सत्रहवें बरस में उसने यहां अपनी शिक्षा पूरी की और केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में दाखिल हुआ। इसका कोई विश्वसनीय साक्ष्य नहीं कि वह कितने दिनों यहां पढ़ता रहा मगर यह मालूम है कि उसने कोई बड़ी सनद नहीं हासिल की। उसके भाषणों और पत्रों से अलबत्ता पता चलता है कि उसको अंग्रेजी और लैटिन भाषाओं पर अधिकार था और कुछ इतिहासकार कहते हैं कि वह यूनान और रोम का इतिहास बहुत अच्छी तरह जानता था। क्रामवेल के कालेज़ के ज़माने की ज़िंदगी के हालात भी सन्देहपूर्ण हैं। इतिहासकारों का कथन भी एक दूसरे से भिन्न है। कुछ कहते हैं कि वह बड़ा स्वच्छंद और हठीला छात्र था और अपना समय खेल-तमाशे में काटता था। दूसरे कहते हैं कि वह बड़ा परिश्रमी छात्र था। क्रामवेल का मन चाहे शिक्षा की ओर प्रवृत्त रहा हो या न रहा हो मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि वह नेचर के पन्नों का अध्ययन बहुत जी लगाकर करता था; बजाय इसके कि शेक्सपियर के काल्पनिक चित्रों का अध्ययन करे, वह प्रकृति के जीते-जागते चित्रों का अध्ययन करता था। ज़माने की तबदीली को बड़े गौर से देखता था और मानव हृदय के आकस्मिक उलट-फेर को खूब जानता था। उसके ज़माने में ऐसी-ऐसी घटनाएं हो गईं जो किसी उन्नत विचारों के दृढ़व्रती हृदय पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थीं। सोलहवीं सदी के साथ शानदार ट्यूडर वंश का अंत हुआ और स्टुअर्ट वंश के अत्याचारी बादशाह उनके उत्तराधिकारी हुए। जब वह छः बरस का था गन पाउडर प्लाट ने तमाम देश में हलचल मचा दी। ग्यारह ही बरस का था कि फ्रांस के बादशाह हेनरी चतुर्थ को अपनी रिआया के हाथों कत्ल होते देखा। धार्मिक लड़ाइयां भी बड़ी सरगर्मी से लड़ी ज़ा रही थीं। प्यूरिटन दल के लोगों ने, जिनका पार्लमेंट में इस वक्त बड़ा जोर था, जेम्स को धार्मिक मामलों में यहां तक तंग किया कि आखिरकार उसको हैम्पडेन कोर्ट में एक अधिवेशन बुलाना पड़ा। जेम्स धार्मिक बातों को काफी समझता था और शिक्षा भी ऊंचे दर्जे की पाई थी, उसने इस अधिवेशन में प्यूरिटन दल की सबल युक्तियों के ऐसे मुंहतोड़ जवाब दिए। मगर नतीजा इतना हुआ कि बाइबिल का तर्जुमा इबरानी से अंग्रेज़ी ज़बान में किया जाने लगा। उन्नीसवें साल में था जब सर वाल्टर रैले तेरह बरस लंदन टावर (जेलखाना) में कैद रहने

के बाद फांसी पर चढ़ाया गया और उसी ज़माने में तीस वर्षीय युद्ध का आरंभ आस्ट्रिया में हुआ जिसने तमाम योरप में तहलका मचा दिया।

क्रामवेल केम्ब्रिज़ में मुशकिल से एक बरस रहा होगा कि अनाथ हो गया। अब मजबूर होकर शिक्षा को अंतिम नमस्कार करना पड़ा क्योंकि उसकी मौरूसी जायदाद का इंतज़ाम करने वाला कोई न था। अत: वह हंटिंगडन को वापस आया और बड़ी मेहनत से अपनी जायदाद का इंतज़ाम करना शुरू किया।

क्रामवेल की शादी

ठीक जवानी के उठान के वक्त पिता की छाया सर से उठ जाना अकसर घर की बर्बादी का कारण होता है और संपन्न वर्ग के स्वच्छंद युवकों के लिए तो मां-बाप की मृत्यु दुराचार और इंद्रियभोग की भूमिका है। क्रामवेल भी इसी वर्ग का नवयुवक था और चूंकि उसको अपने सच्चरित्र होने पर पूरा विश्वास न था इसलिए उसे हरदम यह डर लगा रहता था कि कहीं बुरी वासनाएं उसको सीधे रास्ते से विमुख न कर दें। उसे मालूम हो गया कि इन खतरों की बुनियाद आज़ादी है। लिहाज़ा उसने अपनी आज़ादी ही पर हाथ साफ करने का पक्का इरादा किया। इंग्लिस्तान में अमूमन् मर्दों की शादियां पच्चीसवें बरस के बाद हुआ करती थीं, मगर क्रामवेल ने अपने इक्कीसवें ही साल में यह तौक अपने गले में ला डाला। 22 अगस्त, 1620 को उसकी शादी एलिज़ाबेथ बोर्चियर से हुई। यह स्त्री बहुत समझदार, दृढ़चित्त, आडम्बरहीन और स्नेही थी। अपने जीते जी उसने क्रामवेल के साथ मुहब्बत कायम रखी, यहां तक कि शादी होने के पच्चीस बरस बाद जब कि अक्सर पति-पत्नी में एक तरह की उदासीनता आ जाया करती है, जो खत क्रामवेल ने अपनी बीवी को लिखा है वह प्रेम की उमंग में लिपटे हुए शब्दों से ऐसा भरा हुआ है कि जैसे किसी युवक पति के कलम से निकला है।

क्रामवेल अपनी बीवी को लेकर हंटिंगडन को आया और ज़ोर-शोर से अपनी खेती-बाड़ी में लग गया। ऐसा बहुत कम संयोग हुआ है कि एक साधारण, शान्तिप्रेमी किसान के रोजाना हालात विस्तार के साथ लिखे हुए मिल सकते हों या उनमें किस्सों की सी दिलचस्पी और अजब-अनोखी बातें पाई जाती हों। क्रामवेल की ज़िंदगी यहां कुछ ऐसी सादगी और खमोशी से बसर होती थी कि उसके बहुत कम हालात मालूम होते हैं। यह अलबत्ता मालूम है कि वह अपने खान्दान के साथ सच्चा और नि:स्वार्थ प्रेम रखता था। उसके खान्दान का हर एक मेम्बर उसकी आंखों का तारा था और इसके बदले में क्रामवेल भी तमाम कुनबे के स्नेह और आदर के मजे लेता था। इस आपसी मेल-मुहब्बत और बेलौस रहन-सहन के बेशक उसके जीवन को स्पृहणीय बना दिया है। वह जनसाधारण से बड़ी बेतकल्लुफी और सादगी से मिलता था और आसपास के तमाम लोग उसका आदर करते थे। हंटिंगडन में वह ग्यारह बरस रहा। इस बीच वह सिर्फ एक बार, सन् 1628 में, अपने कस्बे से निर्वाचित होकर पार्लमेंट में शरीक हुआ था। जब वह निश्चित अवधि यानी एक साल के बाद लौटा तो फिर वही साधुओं जैसा जीवन व्यतीत करने लगा। 1632 में उसने हंटिंगडन को बय कर दिया और

सेंट आयूलेस में आकर रहने लगा। यहां भी उसने काश्तकारी का नक्शा जमाया मगर शायद उसकी तबीयत यहां से उचाट हो गई क्योंकि उसने चार ही बरस बाद इस खेती को भी बेच दिया और अपने मामा के घर को, जो इलाई नाम के कस्बे में था, अपना निवास बनाया। इस कस्बे में वह अमन-चैन से सन् 1642 तक रहा। खेती करवाता था और उसकी आमदनी से अपने बड़े कुनबे की परवरिश करता था। और फिर क्रामवेल की उदारता सिर्फ अपने खान्दान तक ही सीमित न थी, अकसर वह मुसीबत के मारे गरीबों की तकलीफ और मुसीबत में शरीक होता था। जो कुछ वह अपनी रोजमर्रा की ज़रूरतों से बचा सकता था, मुसीबत के मारे हुओं के साथ हमदर्दी करने में खर्च करता था। भगवान् ने उसको सहानुभूतिशील और मैत्रीपूर्ण हृदय दिया था। कहते हैं कि वह दिन भर में दो बार अपने खेतों के तमाम मजदूरों को अपने चारों ओर ज़मा करके बाइबिल से दुआ पढ़ता था और गो इस मज़हबपरस्ती से उसको माली नुकसान पहुंचता था मगर वह अपने मज़हब और उसके प्रचार के लिए जान-माल को कुछ न समझता था। क्रामवेल प्यूरिटन धर्म का पक्का अनुयायी था। दुनिया में जितनी चीज़ें हैं सभी में अच्छी और बुरी दोनों बातें पाई जाती हैं। प्यूरिटन भी इस नियम के अपवाद न थे। उनके धर्म में सदाचार, आस्तिकता, इंद्रियदमन, स्वतंत्रता-प्रेम, सहानुभूत ‌ार कर्त्तव्यपालन की शिक्षा, सब कुछ था। लेकिन इसके साथ-ही-साथ धार्मिक कट्टरता और विध्वंसकारी धार्मिक आवेश अकसर उनकी और सब खूबियों को दबा लेते थे। प्यूरिटनों को अगर लड़ाई के मैदान में देखिए तो दृढ़ता, साहस और वीरता की ज़िंदा तसवीर पाइएगा और अगर हुकूमत के दरबार में देखिए तो समझदारी, दूरंदेशी और सचाई का आला नमूना पाइएगा। मगर लड़ाई के मैदान में उनका हद से बढ़ा हुआ धार्मिक कट्टरपन हज़ारों घरों को बेचिराग कर देता है और हुकूमत के दरबार में उनका हद से बढ़ा हुआ स्वतंत्रता प्रेम पार्लमेंट की सत्ता और प्राचीन अधिकारों पर घातक हमला करता है।

प्यूरिटन धर्म स्पष्ट रूप में सभी दिखावे और ‌ाडंबर की चीज़ों से घृणा करता था। उसका मंदिर, उसका कलीसा, जो कुछ था, बाइबिल थी। यह कहा जा चुका है कि जेम्स के राज्यकाल में इस देव-ग्रंथ का अनुवाद इबरानी से अंग्रेज़ी भाषा में किया गया। इसके अनुवादक बहुत बुद्धिमान, परमात्मा से डरने वाले और विद्वान लोग थे। कई महीने तक निरंतर परिश्रम करने के बाद यह अनुवाद पूरा हुआ। एक ऐसे समय में जबकि व्यापार को दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की ने सबका ध्यान रुपया हासिल करने की तरफ खींच लिया था और ईसाई धर्म समय के फेर मे पड़कर बनावटी और नुमाइशी रस्मों का ढेर हो गया था, इस किताब का छपना सर्वसाधारण के लिए अमृत का काम कर गया, उनकी धार्मिक प्राणरक्षा का कारण हो गया। यह तो ज़ाहिर ही है कि इबरानी ज़बान पर इतना अधिकार हो‌ा कि इंज़ील समझने की योग्यता हो जाय जनसाधारण के वश की चीज़ नहीं थी और इसलिए कुल आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा भगवान् की उपासना करने से मजबूर था। बेशक विकलिफ का तर्जुमा मौजूद था मगर अंग्रेज़ी ज़बान की तब्दीलियों ने उसे साधारण लोगों की समझ के योग्य न रखा था। जिस उत्साह से इस धार्मिक पुस्तक का स्वागत किया गया। वह

इस बात का गवाह है कि लोग उसकी आस लगाए थे और उसक इंतज़ार कर रहे थे। यह पुस्तक बहुत जल्द लोकप्रिय हो गई और अंग्रेज़ी विचारों को जितना इस पुस्तक ने सुधारा उतना शायद किसी दूसरी पुस्तक ने न किया हो। इस वक्त न कहीं शेर-ओ-शायरी का चर्चा था और न कवियों और गद्यकारों का ज़ोर था। अगर सुंदर गद्य था तो यही बाइबिल और कविता थी तो यही बाइबिल। बेशक शेक्सपियर की अनमोल कृतियां मौजूद थीं मगर उस वक्त जनसाधारण में प्रचलित न थीं, सिर्फ थिएटरों और तमाशागाहों में उनका नाम सुना जाता था या फैशने-बुल शरीफों के हलके में। जनसाधारण व्यवहारत: लिखने-पढ़ने से वंचित थे। क्रामवेल इस किताब का बहुत बड़ा प्रेमी था। उसने अपने मन, वचन और कर्म को इसी किताब के सांचे में ढाला था। उसकी ज़बान भी बिल्कुल बाइबिल से मिलती है। प्यूरिटन धर्म के लोग बाइबिल पर अंधी श्रद्धा रखते थे। उस वक्त तक उन बड़े लोगों का अस्तित्व न था जिन्होंने इंजील को बुद्धि और विवेक की कसौटी पर कसा। हरेक प्यूरिटन का पूर्ण विश्वास था कि मरने के बाद उन्हें भगवान की अदालत में जाना पड़ेगा और वहां अपने कर्मानुसार पुरस्कार या दण्ड भुगतना पड़ेगा। जब वह कहता था कि हे भगवान मेरी मदद कर तब वह अपने भगवान के काल्पनिक चित्र को साक्षात् अपनी आंखों के सामने खड़ा पाता था। जब उसको कामयाबी हासिल होती थी तो वह समझता था कि भगवान उसकी मदद कर रहा है। जब वह मुसीबत में फंसता तो समझता था कि शैतान उस पर हावी हो गया है। जितने अच्छे काम वह करता था उन सबकी प्रेरणा का स्रोत भगवान था, जितने बुरे काम होते थे उन सबका प्रेरक शैतान था। यह उनका विश्वास था और इस विश्वास से जितनी भलाई या बुराई हो सकती थी उन सबों का कर्त्ता क्रामवेल था क्योंकि वह महज़ प्यूरिटन न था। बल्कि प्यूरिटनों का प्यूरिटन था।

एलिज़ाबेथ से क्रामवेल के नौ बच्चे पैदा हुए। उनमें से एक तो बचपन ही में जाता रहा, चार लड़के और चार लड़कियां जवानी की उम्र तक पहुंचे।

क्रामवेल की ज़िंदगी का सबसे बड़ा और याद रखने के काबिल काम सन् 1640 की सिविल वार में शरीक होना था और सिर्फ शरीक होना ही नहीं बल्कि उसके नतीजों के हासिल करने में मन-प्राण से डूब जाना था। यह स्पष्ट है कि उसने जनता का अनुसरण किया और बादशाह की शक्ति के विरोध पर कमर बांधी मगर इसका कारण यह नहीं कि उसे निजी तौर पर शाही हुकूमत से कोई शिकयत या नफरत थी या वह इतना दृढ़व्रती और ऊंचे विचारों का राजनीतिक विचारक था कि प्रजातंत्र की बुनियाद डालना चाहता था। इसके विपरीत वह शाही हुकूमत का समर्थक था और जब संयोग और घटनाओं ने राज्य की बागडोर उसके हाथों में दे दी तो जिस हुकूमत पर उसने जोर दिया वह व्यवहारत: शाही हुकूमत थी। हां, उस नाम को छोड़ दिया गया था। कुछ आलोचकों ने लिखा है कि लड़ाई के शुरू में वह प्रजातांत्रिक राज्य के लिए सशस्त्र हुआ था मगर जब उसने स्थिति को पलटते देखा तो सिर्फ अपना खयाल करके शाही हुकूमत कायम करनी चाही। इसका सही अंदाज़ा करना कि यह कथन कहां तक सच है प्राय: असंभव है मगर यह सूरज की तरह रौशन है कि वह परले सिरे का पवित्र सदाचारी आदमी था और उसने जनता की भलाई

को अपनी व्यक्तिसत्ता की वेदी पर हरगिज़ न चढ़ाया होगा।

उसने शाही हुकूमत का विरोध क्यों किया, इसके कारण स्पष्ट हैं। उस ज़माने में रिआया पर बेज़ा ज़ुल्मों की भरमार थी। बादशाह चारों तरफ ज़ुल्म ढा रहा था। लिहाज़ा हर खास व आम, छोटा और बड़ा, बुरा और भला गवर्नमेंट की सख्तियों और ज़ुल्म से दुहाई मचा रहा था। सिर्फ वही लोग बरी थे जिन पर बादशाह की विशेष कृपादृष्टि थी। क्रामवेल का देशप्रेम और हमदर्दी इन अत्याचारों को न देख सकती थी—कौम के हर हमदर्द की तबीयत का वही तकाज़ा होना चाहिए जो क्रामवेल का था। जब वह गौर करता था कि इस अव्यवस्था का असल कारण क्या है तो उसको स्वभावत: यह जवाब मिलता था कि चार्ल्स की सल्तनत और उसका इलाज उसकी समझ में यह था कि या तो अत्याचार एक सिरे से दूर कर दिए जाएं या चार्ल्स की सल्तनत जड़ से उखाड़ फेंकी जाय। पहली सूरत ज़रूर ज़्यादा अच्छी थी मगर चार्ल्स गज़ब की मनमानी करने वाला आदमी था, मुमकिन न था कि उसके पत्थर-से दिल पर किसी के समझाने-बुझाने का कुछ भी असर पड़ता। लिहाज़ा मजबूर होकर दूसरा रास्ता अख्तियार करना पड़ा। जिस तरह ब्रूटस ने कहा था कि मुझे कैसर से ज़रूर मुहब्बत थी मगर रोम की मुहब्बत उससे कई गुना ज़्यादा थी, उसी तरह क्रामवेल के बारे में भी कहा जा सकता है कि उसको शाही हुकूमत ज़रूर पसंद थी मगर जनता की तकलीफ उसके दिल पर एक भारी पत्थर थी।

कार्लाइल का कहना है कि यह सिविल वार असलियत में नेकी और बदी की लड़ाई थी। उस ज़माने में ईसाई धर्म विकृत होकर नास्तिकता की सीमा तक पहुंच गया था। पक्के धर्मपरायण बहुत कम रह गए थे। प्यूरिटन दल अलबत्ता अपने विश्वास पर डटा हुआ था और चूंकि प्यूरिटनियों के नजदीक जितने बुरे काम होते थे उन सबका प्रेरक शैतान हुआ करता था इसलिए उनको इंग्लिस्तान की रद्दी हालत देखकर स्वभावत: यह खयाल हो गया कि यहां शैतानियत का ज़ोर है और वह शैतान को पछाड़ने के लिए दिलोजान से लड़े। दुनिया का इतिहास ऐसी शानदार लड़ाइयों से भरा प्रड़ा है। फ्रेंच रिवोल्यूशन एक मामूली मिसाल है।

जेम्स के बाद चार्ल्स मार्च सन् 1625 ई० में राजगद्दी पर आया और मई में उसकी शादी हेनरी चतुर्थ की लड़की यानी लुई तेरहवें की बहन हेनरियेटा से हुई। जनता ने उसके शुभ आगमन का नारे बड़े उत्साह और जोश से लगाया और कई दिन तक खुशियां मनाई गई क्योंकि लोग जेम्स की हुकूमत से तंग आ गए थे और उनको उम्मीद थी कि यह नया बादशाह ज़रूर उनकी गर्दन का बोझ हल्का करेगा। अगर उनको सचमुच ऐसी उम्मीद थी तो वह पूरी न हुई क्योंकि यह बादशाह दैवी अधिकार (डिवाइन राइट) और बिना कान-पूंछ हिलाए आज्ञापालन करवाने के मामले में अपने बाप से भी आगे बढ़ा हुआ था।

अपने जीते जी वह बराबर प्रयत्नशील रहा कि सारी हुकूमत बेरोकटोक उसी के हाथों में रहे। उसकी बीवी, जो उसकी सलाहकार थी, उसकी आंखों के सामने फ्रांस के बादशाह के ऐश्वर्य और प्रभुत्व का नक्शा खींचती थी और चार्ल्स को भी बादशाहत का वही ढंग अपनाने पर जोर देती थी।

चार्ल्स का दूसरा सलाहकार विलियर्स ड्यूक आफ बकिंघम था। इस आदमी से चार्ल्स को बचपन से ही प्यार था, चुनांचे इस वक्त वह उसका ज़िगरी दोस्त भी था और सलाहकार भी, मगर चार्ल्स और बकिंघम दोनों ज़िद्दी थे, घमण्डी थे। प्रबंध कौशल में दोनों कमज़ोर थे। भगवान ने एक को भी नज़र की गहराई, दूरंदेशी और विश्चय की स्थिरता नहीं दी थी, जो एक देश की व्यवस्था करने वाले में विशेष रूप से पाई जाती है। एक को भी वह आंखों की तेज़ी न हासिल थी जो जनता के विचारों की गति को ठीक-ठीक देख सकती, परख सकती। जेम्स ने बहुत से अत्याचार किए मगर उसके राज्यकाल में रिआया के दिलों में विद्रोही भाव पक्के नहीं होने पाए चूंकि जब वह चारों तरफ से घिर जाता था तो हमेशा बीच का रास्ता अख्तियार करके काम निकाल लिया करता था। मगर चार्ल्स की गिरफ्तारी ऊंट की गिरफ्त से भी बढ़ी हुई थी, वह जिस बात पर अड़ जाता था उसे छोड़ना सीखा ही न था।

चार्ल्स ने गद्दी पर बैठने के थोड़े ही दिनों बाद रुपये की ज़रूरत से मज़बूर होकर पार्लमेंट बुलाई और अपना मंतव्य प्रकट किया। पार्लमेंट ने उस वक्त तक आर्थिक सहायता देने से इंकार किया जब तक राज्य की तमाम गड़बड़ियां दूर न कर दी जाएं। अगर 'दैवी अधिकार' और 'मौन आज्ञापालन' चार्ल्स का नियम था तो 'सुधार नहीं तो आर्थिक सहायता नहीं' रिआया का। आखिर इस हस्तक्षेप से, जिसे वह अनुचित समझता था, रुष्ट होकर चार्ल्स ने पार्लमेंट को बर्खास्त कर दिया और लगभग एक साल तक पार्लमेंट की सहायता के बिना बादशाही की। मगर आर्थिक सहायता के बिना राजकाल कैसे संभव होता। विवश होकर सन् 1626 में दूसरी पार्लमेंट एकत्र हुई। इन दोनों पार्लमेंटों में ऐसे ऐसे अक्लमंद और हौसले वाले हमदर्द मौजूद थे जिनका नाम आज तक जगमगाते हुए तारों की तरह रौशन है। कौम के हमदर्दों का एक झुरमुट था जिसमें इलियट, पिम, सेल्डेन, कुक, हैम्पडेन, स्टुअर्ट से मशहूर लोग मौजूद थे और जैसा हिम्मतवर झुरमुट दुबारा इंग्लिस्तान में न दिखाई दिया। इस पार्लमेंट ने जमा होते ही राज्य-व्यवस्था पर हमले करने शुरू किए। जनता के सामने बकिंघम की भर्त्सना की और जब तक कि उनके कष्टों की सुनवाई नहीं होती, आर्थिक सहायता देने से इंकार किया। आख़िर चार्ल्स ने गुस्से में आकर इस पार्लमेंट को भी बर्ख़ास्त किया। लगभग दो साल तक चार्ल्स ने कोई पार्लमेंट नहीं बुलाई। आर्थिक ज़रूरतों को अनुचित और अन्यायपूर्ण साधनों से पूरा करता रहा। ज़बर्दस्ती कर्ज़ लिए जाते थे जिनके अदा करने का वादा किया जाता था मगर झूठा वादा कौन पूरा करता है। अदालतों में इतने मुजरिम आते थे उनको शारीरिक कैद के बदले जुर्माने की सज़ा दी जाती थी। टैक्स बहुत-सी चीज़ों पर बढ़ा दिया था। लगभग तमाम रोजमर्रा ज़रूरतों का ठेका दे रखा था और ये ठीकेदार उन चीज़ों को अनाप-शनाप दामों पर देते थे। कोई पक्का और टिकाऊ ढंग था तो वह पार्लमेंट की मंजूरी थी, लेकिन चार्ल्स पार्लमेंट बुलाने से [illegible] बचाता रहता था, मगर जब-तब उसे आकस्मिक कठिनाइयों और परेशानियों का सामना न करना पड़ता। उसका कहना था कि पार्लमेंट का काम सिर्फ यह है कि अपने सामर्थ्य भर बादशाह की जान-माल से मदद करे, मगर व्यवस्था के मामलों में हस्तक्षेप न करे। मुश्किल से दो साल बीतने पाए थे कि एक ज़बर्दस्त
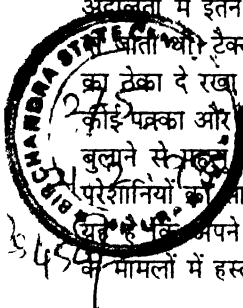
मुश्किल आड़े आई।

फ्रांस के प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदाय के अनुयायी, जो ह्यूगिनो कहलाते थे, बिस्के की खाड़ी पर ला रोशेल में शरण लिए हुए थे। रिशलू ने, जो बकिंघम की तरह फ्रांस के बादशाह की नाक का बाल बना हुआ था, एक ज़बर्दस्त फौज से उनको घेर लिया। इंग्लिस्तान ने हस्तक्षेप किया मगर किसी ने उस पर ध्यान न दिया। आशिर उसने घिरे हुए लोगों का साथ दिया और बकिंघम एक बड़ी फौज लेकर ला रोशेल की तरफ चला मगर वहां ज़र्बर्दस्त हार खानी पड़ी। जब बकिंघम इस तरह शिकस्त खाकर अपने देश को लौटा तो यहां उसकी बड़ी ज़िल्लत हुई। रिआया ने शोर मचाना शुरू किया कि उनके तमाम कष्टों का कारण बकिंघम है और उसकी गर्दन उड़ा देनी चाहिए। आखिर 17 मार्च, 1628 को चार्ल्स की तीसरी पार्लमेंट जमा हुई। इसी पार्लमेंट में हमारा क्रामवेल भी हंटिंगडन का मेम्बर होकर आया था। पहला काम जो इस पार्लमेंट ने किया वह यह था कि कई अधिवेशनों में धार्मिक, व्यावसायिक, अदालती मामलों पर विचार किया और बहुत बहस-मुबाहसे और ज़बानी लड़ाई-झगड़े के बाद एक अधिकर-पत्र (Petition of Rights) तैयार किया गया और उसकी मंजूरी के लिए चार्ल्स पर ज़ोर डाला गया। यह अहदनामा, अनुबंध, अंग्रेज़ी आज़ादी की छत का दूसरा खंभा है. इसमें चार शर्तें दर्ज थीं–

1 कोई आदमी पार्लमेंट की मर्ज़ी के बिना किसी किस्म की आर्थिक सहायता देने पर मज़बूर न किया जाए।

2 कोई आदमी अदालत के सामने पेश न किया जाय जब तक कि उसकी गिरफ्तारी की काफी वज़ह जनता के सामने प्रचारित न कर दी जाय।

3. रिआया की मर्ज़ी के खिलाफ फौज़ों की तादाद न बढ़ाई जाय।

4 शान्तिकाल में किसी की सज़ा जंगी कानून से न की जाय।

यह देखना आसान है कि इस अधिकार-पत्र ने पार्लमेंट के अधिकार बहुत विस्तृत कर दिए। व्यवहारत: व्यवस्था का बड़ा अंश इसकी तरफ आ रहा है। बादशाह की शक्ति बहुत सीमित हो गई। चार्ल्स बहुत ही हठी स्वभाव का आदमी था मगर इस वक्त उसको मज़बूरन नर्म होना पड़ा। चुनांचे उसने इस अहदनामे को मंज़ूर किया और पार्लमेंट ने उसको चार लाख पौंड दिए।

वेण्टवर्थ और लार्ड जिन्होंने शुरू में बड़ी सरगर्मी दिखाई थी अब पार्लमेंट की ऊंची उड़ानों से इतना डरे कि बादशाह की तरफ जा मिले और इलियट पार्लमेंट का सम्मानित नेता घोषित किया गया। क्रामवेल यद्यपि इन मामलों में शरीक था मगर प्रकट रूप से कोई काम न करता था।

इस पार्लमेंट ने चार्ल्स को ऐसा सबक दिया कि उसको फिर पार्लमेंट बुलाने की हिम्मत न पड़ी और ग्यारह बरस तक वह पार्लमेंट के बिना हुकूमत करता रहा। जब रुपये की ज़रूरत महसूस होती कोई अनुचित साधन व्यवहार में लाता। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसा करने से वह अधिकार-पत्र की शर्तों का उल्लंघन करता था मगर यह तो उसके बायें हाथ का खेल था। वह बड़ा चालाक और धोखेबाज़ आदमी था। वादे करना जानता था मगर उसके पूरा करना सीखा ही न था। उसने

चार्ल्स के किसी यार-दोस्त ने प्रस्ताव किया कि 'शिप मनी' यानी जहाजी टैक्स, जो पुराने ज़माने में समुद्र किनारे के रहने वालों से लड़ाई के वक्त वसूल किया जाता था, फिर से जारी किया जाय। यह रुपया समुद्री शक्ति के बढ़ाने और तटों की रक्षा में खर्च किया जाता था। गो उस वक्त न कोई समुद्री लड़ाई थी और न ज़मीनी मगर चार्ल्स ने यह टैक्स लगा ही दिया और इस तरह अपनी फिजूलखर्चियों के भट्टे के लिए ईंधन जमा करता रहा। चूंकि यह टैक्स सरासर नाजायज़ था, बहुतेरों ने इसको देने से इंकार किया और क्रामवेल भी इसी जमात में था। वेण्टवर्थ और लाड़ जो चार्ल्स के तरफदार हो गए थे बड़े समझदार और अच्छी राय देने वाले लोग थे। कहते थे कि बेड़ा हरगिज़ पार न लगेगा अगर वह किफायतशारी से काम न लेगा। लिहाज़ा किफायत और सुलह ग्यारह बरस तक बादशाह का नियम रहा मगर परिस्थितियां कुछ ऐसी हुईं कि उसे ख़ामख़ाह पार्लमेंट बुलानी पड़ी। सन् 1638 में स्काटलैंड वालों ने गवर्नमेंट की सख्तियों और बेज़ा खर्चों से तंग आकर बगावत का झण्डा बुलंद किया। लिहाज़ा इस बगावत को दबाने के लिए रुपये की ज़रूरत हुई और पार्लमेंट की रज़ामंदी के बिना कोई ढंग की मदद मिलना मुमकिन न था। चुनांचे वेण्टवर्थ, जो अब अर्ल आफ स्टैफर्ड मशहूर था, आयरलैंड से बुलाया गया और चार्ल्स की चौथी पार्लमेंट जमा हुई। सन् 1640 की 13 अप्रैल को बाकायदा तौर पर उसके अधिवेशन शुरू हुए। क्रामवेल भी केम्ब्रिज का मेम्बर होकर आया था। नतीजा यह हुआ कि पार्लमेंट ने आर्थिक सहायता देने से कतई इंकार किया और चार्ल्स ने उसे सिर्फ तेईस दिन के बाद बर्खास्त कर दिया।

शायद बादशाह की किस्मत में लिखा हुआ था कि वह एक पार्लमेंट बुलाए जो आखिर में उसी की जान की फांसी हो जाय। स्काटलैंड ने दुबारा हमला किया और पार्लमेंट पांचवीं बार ज़मा हुई। क्रामवेल भी इसके मेम्बरों में था। यह पार्लमेंट तेरह बरस तक जारी रही जब कि क्रामवेल ही के हाथों उसका खात्मा हुआ।

यह पार्लमेंट शुरू ही से सुधार करने पर तुली हुई थी। लिहाज़ा हर एक मेम्बर ने अपने-अपने सूबे की तकलीफों की एक फेहरिस्त तैयार की और वह फेहरिस्तें पार्लमेंट में पढ़ी गईं। उनका असर यह हुआ कि पार्लमेंट ने पचास काबिल आदमियों को तैनात किया कि वह हरेक सूबे में जाकर असलियत का पता लगायें और जो कुछ अपने निरीक्षण से प्राप्त करें वह पार्लमेंट के सामने पेश करें ताकि उन्हीं के अनुसार सुधार-संशोधन किए जायं। इस प्रस्ताव ने सरकारी कर्मचारियों को हद से ज़्यादा भयभीत कर दिया क्योंकि सारे देश में उनकी ज़्यादतियों से दुहाई मच रही थी।

लांग पार्लमेंट

हम यह बयान कर चुके हैं कि स्काटलैंड ने बगावत की और उस बगावत को दबाने के लिए रुपये की ज़रूरत महसूस हुई और चार्ल्स को मज़बूरन पांचवीं पार्लमेंट बुलानी पड़ी। यह पार्लमेंट तमाम अंग्रेज़ी पार्लमेंटों से ज़्यादा मशहूर है और चूंकि वह तेरह बरस तक ज़ारी रही उसे लांग पार्लमेंट का नाम मिला। उसने बड़े-बड़े काम किये और बादशाही का पन्ना पलटकर पार्लमेंट की हुकूमत की बुनियाद डाली। यह

आज जो हम अंग्रेज़ी राज्य-व्यवस्था देखते हैं वह करीब-करीब उसी नमूने पर बनाई गई है जो उक्त पार्लमेंट ने कायम किया, गो कुछ हेर-फेर कर दिया गया। इस पार्लमेंट में वह मेम्बर जमा हुए जो हुकूमत का सुधार करने पर दिलोजान से तुले हुए थे। क्रामवेल भी इसी जमात में था। हरेक-मेम्बर अपने साथ एक ऐसा खरीता लाया जिसमें उसके सूबे के आदमियों की तकलीफें दर्ज थीं और यह खरीते आमतौर पर पढ़े गए। वह तमाम ज़ुल्म जो शाही मुलाज़िमों के हाथ रिआया को उठाने पड़ते थे, वह तमाम कर्ज़े जो रिआया से ज़बरन वसूल किए गए थे, वह तमाम टैक्स जो रिआया पर लगाए गए थे, वह तमाम यातनाएं जो शाही अदालतों की बदौलत रिआया को सहनी पड़ी थीं और हजारों तरह-तरह की शिकायतें उन खरीतों में दर्ज़ थीं और उनके प्रचार ने रिआया के दिलों में एक बगावत का जोश पैदा कर दिया। पार्लमेंट ने इतने ही पर बस न किया, पचास लायक आदमियों की एक कमेटी तैयार की गई जिसको यह काम सिपुर्द किया गया कि वह एक के बाद दूसरे सूबे का दौरा करके पता लगाए कि रिआया के ख़यालात क्या हैं और गवर्नमेंट के अत्याचारों से किस हद तक रिआया को तकलीफ पहुंची है।

यह तो जाहिर ही है कि चार्ल्स ने जो कुछ ज़्यादतियां की थीं वह सरासर अपनी ही मर्जी से नहीं की थीं। कुछ तो मलका हेनरियेटा की सलाह और इशारे से हुई थीं और कुछ स्वार्थी, खुशामदी दरबारियों की मदद से। लिहाज़ा जनता इन लोगो के खून की प्यासी हो रही थी। पार्लमेट मौका दूढ रही थी कि कब कौम के इन बुरा चाहने वालो को शिकजे मे धर कसे। चूंकि अर्ल आफ स्टैफर्ड चार्ल्स का खास दोस्त और सलाहकार था, पहले उसी की गर्दन उड़ाने का निश्चय किया गया। **(अपूर्ण)**

[उर्दू लेख। 'आवाज-ए-खल्क' उर्दू साप्ताहिक-पत्र, 1 मई, 1903 मे पहली किस्त प्रकाशित। इस लेख की अंतिम किस्त 24 सितबर, 1903 को प्रकाशित हुई। हिन्दी रूप 'विविध प्रसग' भाग-1 मे सकलित।]

हाथी-दांत

हाथी-दांत क्या है?

अवाम का खयाल है कि हाथी-दांत सिर्फ हाथी का दांत है जिसको काटकर इस्तेमाल मे लाते हैं। इसमे कोई शक नहीं कि यह खयाल एक हद तक सही है, मगर गलती यह है कि इसका मरकज़ (स्रोत) सिर्फ हाथी का दात समझा जाता है, हालांकि चन्द और जानवर भी हैं जिनके दांतों से हाथी-दात निकलता है। बस, यह देखना बहुत आसान है कि यह नाम गलत है और ज़ाहिर करता है कि पहले लोगों को उन जानवरों का इल्म न था जिनके दांतों से हाथी-दांत निकलता है।

जैसे हड्डी में जो दो जुज (हिस्से) होते हैं—एक ऊपर का सख्त खोल और दूसरा अंदर का नरम मग्ज़—वैसे ही दांत में भी दो जुज होते हैं, एक तो सफेद चिकना

निहायत सख़्त खोल होता है और दूसरा इस खोल से ज़्यादा चिकना, मगर उससे किसी कदर नरम अंदरूनी हिस्सा होता है। बाहरी हिस्से को खोले-ददा और अंदरूनी हिस्से को मग्ज़-ददा कहते हैं। जिस चीज़ का नाम हाथी-दांत है, वह चन्द दांतों का मग्ज़ है। हम आगे चलकर उन जानवरों का मुख़्तसर तस्करा लिखेंगे जिनके दांतों से हाथी-दांत मिलता है।

अगर हम अपने दांतों को गौर से देखें तो मालूम होगा कि बनावट के लिहाज़ से ये तीन किस्म के हैं। पहले तो सामने वाले कैंचीनुमा दांत हैं जिनसे हम माकूलियात (खाद्य-वस्तुओं को काटते हैं। इन दांतों के बगल में दाएं-बाएं दो-दो नुकीले तेज़ दांत हैं जो गोश्त की-सी कड़ी चीजों को चीरने-फाड़ने के लिए बनाए गए हैं। और इन नुकीले दांतों के बगल में दोनों तरफ चंद चपटे, चौड़े, मज़बूत दांत हैं जिनसे हम लुकमे को निगलने के पहले चबाते हैं। किस्म अव्वल के दांतों को इनसाइज़र यानी कैंचीनुमा किस्म और किस्म दोयम को कैनाइन (यानी संगसिफ्त या कुत्तों के-से दांत) और किस्म सोयम को मोलर (यानी आसियासिफ्त यानी चक्की के-से दांत) कहते हैं। फितरत ने कोई शै बिला मसलहत नहीं बनाई। हर शै से एक-न-एक फायदा, कोई-न-कोई गर्ज़ मद्दे-नज़र है।

ऊंट के चौड़े गद्दीदार चपटे सुम (खुर) इसलिए बनाए गए हैं कि वह रेगिस्तानों में आसानी से चल सके। उसकी गर्दन लंबी इसलिए बनाई कि अपना सिर ज़मीन तक झुका सके। बर्फिस्तानी खित्ता (इलाके) के जानवरों के जिस्म पर घने और लंबे बाल रखे, ताकि सरदी की अज़ीयत (चोट) से हलाक न हो जायं। बरअक्स इसके गरम मुल्कों के जानवरों की खाल पर बहुत छीटरे और छोटे-छोटे रोएं होते हैं। इसी तरह मुख़्तलिफ जानवरों के दांतों की बनावट भी उनकी ज़रूरियात के मुताबिक है। गोश्तखोर जानवरों के दांत लंबे, नुकीले और ज़रा खमदार होते हैं, ताकि वह कच्चे गोश्त को आसानी के साथ चीर-फाड़ सकें। घास खाने वाले जानवरों के सामने के दांत सीधे चाकू की फाल की तरह तेज़ होते हैं, ताकि वे घास को आसानी से काट सकें। उनके चबाने वाले दांत भी चपटे और मज़बूत होते हैं। फितरत का यह एक मुसल्लमा मसला है कि इस्तेमाल से आ जाए ज़िस्म के नश्वो-नुमा में तरक्की होती है। बढ़ई की कलाई के रग और पुट्ठ शबोरोज के इस्तेमाल से निहायत मज़बूत हो जाते हैं। अला हाज़ल क्यास (इस तरह) ज़िस्मों के हर एक उज़ूक (हिस्से) को जुदागाना (अलग-अलग) ताकत पहुंचाने के लिए खास-खास खेल और कसरतें मुकर्रर हैं। बरअक्स इसके अगर किसी उज़ूक को बेकार छोड़ दो तो रफ्ता-रफ्ता उसकी ताकत ज़ाईल (बेकार) हो जाती है, रगें सुस्त हो जाती हैं और वह अपना फर्जे मंसिबी अंज़ाम नहीं दे सकता। ऐसी मसालें बसाऔकात (कभी-कभी) साधुओं में मिलती हैं जो नफ्सशिकनी के एवज़ आजाशिकनी (शरीर को बेकार) कर बैठते हैं। कोई मुंह साध लेता है। इशारों-किनायों से अपने-अपने खयालात का नाकाफी तौर पर इज़हार करता है। आखिर चंद बरसों में जुबान बेकार पड़े रहने से कुव्वते-गोयाई (वाक्-शक्ति) से महरूम हो जाती है। कोई यह खयाल करके कि नफसानी हरकात हाथों ही से सरज़द होते हैं, हाथों के इस्तेमाल से हाथ उठा लेता है। इसका नतीज़ा भी मालूम

है। फितरत का यह मसला और आज़ा (शरीर के अंगों) की तरह दांतों पर भी रास्ता आता है। गोश्तखोर जानवारों के कैनाइंस और घास खाने वालों के इंसीसर्ज़ और दांतों से ज़्यादा बड़े और मज़बूत होते हैं। हत्ता के बसा औकात (कभी-कभी) ज़िस्म अव्वल के जानवरों के इंसीसर्ज़ और किस्म दोयम के जानवरों के कैनाइन होते ही नहीं। या तो फितरत ने इनको ये दांत अता ही नहीं किए या पुश्त-हा-पुश्त बेकार पड़े रहने से उनका वजूद ही जाता रहा।

हाथी-दांत कहां से आता है?

यहां हम उन जानवरों का मुख़्तसर हाल लिखते हैं जिनके दांतों से हाथी-दांत निकलता है।

1. हाथी, जैसा कि आमतौर पर मालूम है, घास खाने वाले जानवरों में से है। पर इसके इंसीसर्ज़ दूसरे दांतों से ज़्यादा बढ़ते हैं। इन दांतों की हैरत-अंगेज़ बालिदगी (बढ़ोतरी) की एक और वजह यह भी है कि दांतों के नीचे वाली कतार में इस किस्म को कोई दांत नहीं होता कि उनकी बालिदगी में मुखिल (दखल) हो सके। हाथी दो किस्म के होते हैं। एक अफ्रीका का हाथी और एशिया का। अफ्रीका का हाथी तमाम अफ्री[illegible] में पाया जाता है और एशियाई हाथी से कद्दो-कायद (कद) में कुछ निकलता होता है। चुनांचे उनके दांत भी एशियाई हाथी से बड़े होते हैं। अफ्रीकी हाथी बिलउमूम (सामान्यत:) दनतार होते हैं। हत्ता के हथिनियों में भी बाज ऐसी होती हैं जिनके दांत नहीं होते अफ्रीका के वहशियों ने इस जानवर का शिकार करने के लिए मुखतलिफ तरीके निकाले हैं।

हाथी उमूमन गोल बांधकर चरने के लिए निकला करते हैं। बस जब वह ऐसे मुर्गज़ारों (चरागाहों, जंगलों) में निकलते हैं जहां घास सूखी और लंबी होती है तो शिकरी उन मुर्गज़ारों में आग लगा देते हैं। जब चौतरफा शोला ही शोला नज़र आने लगता है तो हाथियों का गोल कहीं निकलकर जा नहीं सकता और दम घुट जाने से या नीज (जल) जाने से वह वहीं ढेर हो जाता है। गो इस तरह शिकार करने से सैकड़ों का वारा-न्यारा दम-के-दम में हो जाता है, मगर उसमें अलावा इसके कि वहशियानापन और फसादे-कल्बी (कठोर-दिली) का इज़हार होता है, एक नुक्स यह भी है कि आग की आंच लग जाने से दांत स्याह हो जाते हैं और अक्सर जलकर चूने की तरह भुरभुरे हो जाते हैं।

दूसरा तरीका यह है कि हाथियों के चरागाहों में बड़े-बड़े गड्ढे खोदते हैं और उन पर पतली-पतली लकड़ियां बिछाकर घास-फूस, पत्ते वगैरा से ढक देते हैं। जब हाथियों का गोल खतरे से बेखबर चरता हुआ आ निकलता है तो इन गड्ढों में गिर पड़ता है और किसी तरह नहीं निकल सकता। शिकारी उनको हफ्तों तक भूखा पड़ा रहने देते हैं। आखिर जब वे गिज़ा के न मिलने से नहाफतों (क्षीणता से) बेदम हो जाते हैं तो उनको एक-एक करके निकाल लेते हैं। ज़िंदा निकालना उसी सूरत में होता है जब कि शिकारियों को गोश्त की ज़रूरत होती हैं। अगर सिर्फ दांत लेना चाहते हैं तो बेचारे हाथियों को गड्ढों में भूखों मार डालते हैं।

अफ्रीकी हाथी का हाथी-दांत निहायत कीमती होता है। इसका वजन 80 पौण्ड से 100 पौण्ड तक होता है। मगर बाज़-औकात ऐसे दांत भी पाए जाते हैं जिनका वजन 400 पौण्ड होता है और लंबाई 10 फुट। इस किस्म के एक जोड़ी दांत की कीमत एक हब्शी को पांच हजार पौण्ड तक मिल जाती है।

एशियाई हाथी, जैसा हम पहले कह चुके हैं, अफ्रीकी हाथी से डील-डौल में कुछ दबता होता है और बर्मा, स्याम, लंका, गुजरात व चंद दीगर जंगली मुकामों में पाया जाता है। इस किस्म में सिर्फ हाथियों के दांत होते हैं, हथिनियां अमूमन बिला दांत के होती हैं।

2. दूसरा जानवर, जिसके दांत से हाथी-दांत निकलता है, दरियाई घोड़ा (हिप्पोपोटेमस) है। यह जानवर सुअरों की किस्म से है मगर हिन्दुस्तानी सुअरों से कहीं जसीम (बड़े शरीर वाला) होता है। ऊंचा तो भैंस से ज़्यादा नहीं होता, मगर लंबाई में भैंस का ड्योढ़ा है। इसका वतन अफ्रीका है। चूंकि वहां की आबो-हवा निहायत गरम होती है और यह जानवर गर्मी को बर्दाश्त नहीं कर सकता, अमूमन दरिया के किनारे सायेदार मुकामों में रहता है और सारा दिन पानी में डूबा रहता है। गो इसकी खुराक घास, नबादात (छोटे-छोटे पौधे) हैं और कायदे के मुताबिक इसकी इंसीसर्ज़ बढ़ना चाहिए, मगर चूंकि इस मुआफंज़त (बचाव) के लिए दूसरे जानवरों से लड़ना और उनको ज़ख़्मी करना पड़ता है--इस काम के लिए कैनाइन ज़्यादा मौजूं होते हैं और ये ही दांत दूसरे दांतों से ज़्यादा बढ़ते और हाथी-दांत के काम में आते हैं। यह हाथी-दांत निहायत सख़्त सफेद होता है और ज़ल्दी खराब नहीं होता। मगर इतना बड़ा नहीं होता कि इससे चारपाई, पाए या शमादान या इस किस्म की आराइश (सजावट) की कोई दूसरी चीज़ें बन सकें। इससे सिर्फ शतरंज के मोहरे, चौपड़ के पासे--बिलियर्ड खेलने की गेंद और नकली दांत बनाते हैं। इस जानवर को शिकार करने का वहशियों ने यह तरीका निकाला है कि लोहे के लंबे-लंबे नोकदार भाले बनवाते हैं और किश्तियों में बैठकर शिकार को निकलते हैं क्योंकि दरियाई घोड़ा ज़्यादातर पानी में ही रहता है। मगर चूंकि तबअन (आदतन) वह ख़ुश्की का जानवर है, पानी में दो-तीन मिनट से ज़्यादा नहीं ठहर सकता, पस (इसीलिए) जूं ही हवा में सांस लेने के लिए वह सिर को बाहर निकलाता है, यूं ही (वैसे ही) शिकारी, जो ताक में रहते हैं, अपने-अपने भाले उस पर सर करते हैं और आखिर मुतवातिर वारों से घबराकर वह पानी में डूब जाता है, मगर तनफ्फुस (सांस) की ज़रूरत चंद मिनटों में फिर सिर को बाहर निकालने पर मजबूर करती है और फिर पहले की तरह भालों की बौछारें पड़ने लगती हैं। यहां तक कि यह जानवर खून के जाया हो जाने पर या कारी (भारी) ज़ख़्मों के लगने से मर जाता है और कई घंटों के बाद इसकी लाश पानी में तैरती दिखाई देती है। बाज़औकात तो वह इतना बरहम (क्रोधित) हो जाता है कि अपने हमला करने वालों की कश्ती को उलट देता है और शिकारियों का शिकार कर डालता है। मगर खलकतन (आदतन) किसी कदर डरपोक होता है और ज्योंही शिकारियों की बू इसकी नाक में पहुंचती है, वह भाग जाने की कोशिश करता है, यहां तक कि वाज़े-वाज़े एक रात में सैकड़ों मील तय

करते हुए पाए गए हैं।

आज से चालीस-पचास बरस पहले इस जानवर का वजूद योरोपी दुनिया में मुतलक (पूर्णतः) मालूम में था। मगर अब तो वह योरप के अज़ायबखानों में आमतौर पर देखा जाता है। इसकी खाल एक इंच से ज़्यादा मोटी होती है। बंदूक की गोली अगर सिर में न लगे तो उसे मार नहीं सकती। अफ्रीका के वहशी इसका गोश्त बड़े चाव से खाते हैं, और एक अंग्रेज़ सैयाह (पर्यटक) का कौल है कि इसका गोश्त दुबले हिरन के गोश्त से ज़्यादा लज़ीज़ होता है।

3. तीसरा जानवर, जिसके दांत से हाथी-दांत निकलता है वालरस (Wolrus) या दरियाई शेर है। यह जानवर योरप के शुमाली समंदर में पाया जाता है यह खित्ते (इलाके) साल के बड़े हिस्से में बर्फ से ढके रहते हैं। वालरस गोश्तखोर जानवरों की किस्म से है। बस इसके दो कैनाइन बहुत ज़्यादा बढ़ते हैं। मगर हाथी-दांत बहुत कीमती नहीं होता क्योंकि इसकी रंगत ज़र्द माइल होती है और बहुत ज़ल्द खराब हो जाता है।

कहते हैं कि इसी जानवर में अक्ले-इंसानी का जितना हिस्सा है उतना शाज़ (अकेले) किसी दूसरे जानवर में न होगा। यह चश्मदीद रिवायत है कि एक बार किसी शिकारी ने एक वालरस पर बंदूक चलाई। वह इस गोली से हलाक न हुआ और फौरन पानी में डूब गया। दस-पंद्रह मिनट के बाद बहुत से दरियाई शेर किश्ती के आस-पास तैरते दिखाई दिए और किश्ती को अपनी पुश्त से उलट देने की कोशिश शुरू की। पहले तो शिकारी बहुत खाइफ (भयभीत) हुए, मगर कोई चारा न देखकर बंदूकों की मुतवातिर बाड़ें सर करनी शुरू कीं। तब कहीं जा के यह बला सिर से टली।

4. आज से कई हज़ार बरस पहले साइबेरिया में एक खास किस्म का हाथी पाया जाता था तो मौजूदा हाथियों से कद-व-कामत (लंबाई) में कहीं बड़ा होता था और जिसके जिस्म पर बड़े-बड़े रोएं हुआ करते थे। अब यह जानवर मुफहए-जमीन पर कहीं भी नहीं रहा। इसको उल्माए-इल्मे हैवानात ने इंगलिश में Mammoth कहा है। साइबेरिया दुनिया के निहायत सर्द हिस्सों में है और वहां बरफबारी की यह हालत है कि एक-एक रात में ज़मीन पर कई-कई फुट बरफ ज़म जाती है। अगर कोई जीरुह (जानवर) किस्मत का मारा इन बरफ के तूदों (टीलों) के तले दब गया तो फिर उसको उठना नसीब न होगा। गालिबन हाथियों का भी यही हाल हुआ, क्योंकि आजकल जब बरफ मामूल से ज़्यादा पिघल जाती है तो कभी-कभी हड्डी और दांत के ढेर मिलते हैं। वाज़े रहे कि बर्फिस्तानी मुकामों में सरदी के बाइस चीज़ें नहीं सड़तीं। और यह दांत बावजूद हज़ारों बरस से पड़े रहने के अब तक सही-व-सालिम पाए जाते हैं। हां, बाज़-बाज़ हालातों में वह चूने की तरह भुरभुरे हो जाते हैं। इन दांतों और हड्डियों के अंबार-के-अंबार का मिलना यह साबित करता है कि Mammoth गोल बांधकर रहा करता था और वक्तन-फवक्तन गोल-का-गोल इन्हीं बरफानियों का शिकार हुआ करता था । इन दांतों से निकला हुआ हाथी-दांत अदना दर्जे का होता है, क्योंकि मुद्दत तक पड़े रहने से इसकी खूबी में कुछ-न-कुछ फर्क

आ जाता है। अलावा इसके ज्योंही वह बरफ से निकलता है, इसमें ज़माने का असर होने लगता है।

हाथी-दांत की खासियतें

हाथी-दांत हड्डी से बहुत मुशीबेह (एक रूप) होता है। हत्ता के (यहां तक कि) दोनों में तमीज़ (पहचान) करना आसान काम नहीं। हड्डी भी सख़्त वह सफेद होती है और हाथी-दांत भी। मगर यह ज़्यादा वजनी, ज़्यादा चिकना होता है और इसके अज़्ज़ा (हिस्से) आपस में खूब खूटे होते हैं। सबसे नुमायां और बारीक-सा फर्क यह है कि हाथी-दांत में पतली-पतली स्याही-माइल धारियां होती हैं जैसी संगमरमर और अक्सर लकड़ियों में हुआ करती हैं। ऐसी धारियां हड्डियां में मुतलिक (बिल्कुल) नहीं होतीं। जब बाज़ार में हाथी-दांत की कोई चीज़ खरीदने जाओ तो पहले इसे खूब गौर से देखो। अगर इसमें धारियां नज़र आएं तो इसको हाथी-दांत होने में कोई कलाम (संदेह) नहीं, वरना समझ लो कि हड्डी है।

हाथी-दांत के इस्तेमाल

हाथी-दांत ऐसी खूबरसूरत देरपा (स्थायी) शै है कि इससे रोजाना ज़रूरियात व तकल्लफात (दैनिक प्रयोग होने वाली) की हज़ारों चीजें बनाई जाती हैं, जैसे चाकू के दस्ते, छाते और छड़ियों की मुट्ठियां, बटन, सतही पैमाने, अंगरेज़ी कलम के होल्डर, फिटरन वगैरा निहायत आम चीज़ें हैं। इसके नकली दांत भी बनते हैं जो बड़े दामों पर फरोख्त होते हैं। जापान और चीन में हाथी-दांत पर इस खूबी व सफाई से नक्काशी करते हैं कि ये दोनों मुल्क इस सनद के लिए मशहूर हैं। यूनान की पुरानी खानकाहों (आश्रमों) में हाथी-दांत की तराशी हुई मूरतें पाई जाती हैं, जो बावजूद दोरेयायाम के अभी तक ज़माने के हाथों से बची हुई हैं। मारवाड़ में इसकी चूड़ियां आमतौर पर इस्तेमाल की जाती हैं। अमृतसर में इसके रेशेनुमा तार को तराश कर खूबसूरत मोर्छल बना लेते हैं जो बिल्कुल बाल के मालूम होते हैं। आबनूस की लकड़ी जो कि बहुत स्याह होती है, इसलिए इस पर हाथी-दांत की कलिया, खूबसूरत फूल वगैरा निहायत ज़ेब (खूबसूरत) दिखाई देते हैं। मैसूर में हाथी-दांत का काम अभी तक अच्छा बनता है।

अभी हाल में महाराजा साहब बहादुर बनारस के पास चंद आरकशीं चीज़ें थीं जो उन्होंने लार्ड कर्ज़न की नज़र कर दीं। हिन्दुस्तान में मुश्किल से कोई पुराना कदीमी घराना होगा, जहां हाथी-दांत की दो-एक नादर (नायाब) अशिया (चीज़ें) न पाई जाएं। ऐसी नायाब चीज़ें गो अब तकरीबन मादूम (मिट चुकी) हैं और न उनका कोई पुरसां-हाल है, मगर कदीमी सनअतों क। देखकर हम कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान में हाथी-दांत की नक्शकारी आला दरजे पर पहुंची हुई थी। अहमदाबाद और मद्रास की नुमाइशगाहों में,जो नेशनल कांग्रेस के ज़माने में मुन्अकिद (हुई) थीं, हाथी-दांत की अज़ीबोगरीब चीज़ें पेश की गईं। उनको देखने से मालूम हुआ कि हिन्दुस्तान अब भी अहलेफनकारों से खाली

नहीं है, मगर ज़माने की नाकदरी ने इसको दिलशिकस्ता बना दिया है।

हाथी-दांत की तिजारत

योरप तमाम ज़माने की तिजारत का मरकज़ हो रहा है। चुनांचे हाथी-दांत की खरीदो-फरोख्त का बाज़ार भी वहीं लगता है। कुल योरप में दो शहर बिलखुसूस इसकी तिज़ारत के लिए मशहूर हैं। लंदन और लोरपोल, इंग्लिस्तान में और डेनमार्क में। अंगरेज़ी मक्बूज़ात (आधिपत्य) में जहां कहीं हाथी-दांत पाया जाता है (मसलन हिन्दुस्तान, बर्मा, लंका, मशरिकी, अफ्रीका, जनूबी अफ्रीका) वहां से लंदन या लोरपोल को भेजा जाता है, क्योंकि मुल्की ताल्लुकात से तिजारती ताल्लुकात बढ़ते हैं। कांगो की खुदमुख़्तार सल्तनत जो वस्ती (मध्य) अफ्रीका में है, हाथी-दांत का सबसे ज़रखेज़ अंबारखाना है, क्योंकि वहां हाथी और दरियाई घोड़ा बरकत से पाए जाते हैं, और चूंकि हाथी-दांत वहां तिजारत की कीमती चीज़ समझा जाता है, इन जानवरों की कानूनन मुहाफज़त (हिफाज़त) की जाती है। इस सल्तनत का मुल्की ताल्लुक डेनमार्क से है, क्योंकि पहले-पहल डच किसानों ने इस खित्ते (हलके) को नौ-आबाद किया था। बस यहां का हाथी-दांत अंट्रोप को जाता है जो डेनमार्क का तिज़ारती मुकाम है। हिन्दुस्तान में इसको खास तिज़ारती चीज़ नहीं समझते बस ताजरों (व्यापारियों) का खयाल भी इसकी ज़ानिब कम रागिब (दिलचस्पी से युक्त) है।

हाथी-दांत के मुतल्लिक चंद मुत्फर्रिक मालूमात

लकड़ी की तरह हाथी-दांत में बाज़-औकात, बदनुमा धब्बे और दाग पड़ जाया करते हैं जिससे इसकी वकत में फर्क आ जाता है। बाज़औकात सीधे बढ़ने के निस्फ (अर्द्ध) दायरानुमा शक्ल में बढ़ते, हैं, जिससे उसका हाथी-दांत भी टेढ़ा हो जाता है। जैसे गीली लकड़ियों की बनी हुई चीज़ों में सूखने पर इस कदर खम (टेढ़ापन) आ जाता है, उसी तरह ताज़ा हाथी-दांत की चीज़ों में भी।

बस, कब्ल इसके कि इससे चीज़ें बनाई जाएं, इसको धूप में अच्छी तरह खुश्क कर लेते हैं। कम उम्र का हाथी-दांत ऐसा ठोस नहीं आता जैसा पुराने हाथी का। अमूमन मग्ज़ददान दांतों के सिरे की तरफ होता है। ज़ड़ खोखली हुआ करती है। हाथी-दांत की बाज़-औकात तराशकर किताबों के से पतले-पलते अवराक बना लेते हैं और कैमिस्ट्री हमको उन मुरक्कबात का पता बतलाती है जिससे हम इन अवराक पर हरूफ कुंदा कर सकते हैं।

[उर्दू लेख। 'उर्दू-ए-मुअल्ला' उर्दू मासिक पत्रिका, अक्टूबर, 1904 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

खानदाने-मुश्तरका

(संयुक्त परिवार-प्रणाली)

इन तजावीज़ (उपायों) के ज़मरे (दायरे) में जो इस्लाह (सुधार) मुआशरत (सभ्यता) से तअल्लुक रखती है, खानदान मुश्तरका (पारिवारिक मेलजोल) का मसला भी निहायत अहम व नतीज़ाखेज़ (महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित) है। मगर बरअक्स (प्रतिकूल, प्रत्युत) दीगर मसाइल (अन्य समस्याओं) के अभी तक इस पर मुस्लेहे-कौम (जाति अथवा देश-सुधारक) के सहरनिगारियों (नर्म भाषणों) और आतिशबयानियों (जोशीले बयानों) का जादू नहीं चला। कई मसलों की अहमियत (महत्त्व) तो अम्रे-मुसलिमा (सर्वमान्य कार्य) हो गई है और इनका कुछ-न-कुछ अमली असर भी हो चला है। मसला अज़्दवाज़-बेवगान (शादी के बाद हुई विधवाओं की समस्या) को ही ले लीजिए जो अभी तक इसका रिवाज़ आम नहीं हुआ और न ही एक सदी तक हम यह उम्मीद करने की जुर्रअत कर सकते हैं। ताहम (फिर भी) गाहे-माहे (कभी-कभी) हमको ऐसी शादियों की मिसालें मिल जाया करती हैं और गवर्नमेंट ने भी अज़्दवाज़-बेवगान (विधवा-विवाह) का ऐक्ट पास करे इन तमाम तरद्दात व तनाज़आत (विवादों और उलझनों) को, जो ऐसी शादियों से ज़रूर वाके हुए, रफा कर दिया। एक और मसला इंसिदाद (बंद होने) शादी सिगरसिनी (बाल-विवाह) का है। इस अम्र (कार्य) में रिफार्मरों को काबिले-इत्मिमान और काबिले-मुबारकबाद कामयाबी हासिल हुई है, न यह कि चंद हिन्दुस्तानी सरबर आबुर्दा रियासतों ने (देशी राज्याध्यक्षों ने) इसकी कानूनी इमदाद की, बल्कि इस्लाहे-मुआशरत (सभ्यता के सुधार) के हर ज़लसे में इस पर बड़े शद्दोमद (ज़ोर-शोर) के साथ बहस की जाती है, और कोई ऐसी मज्ददाना (श्रेष्ठ, पुनीत) जमाअत न होगी जिसने इस मसले को अमली हैबत (कार्य रूप) में लाने की कोशिश न की हो। अलहज़ा (इसके अतिरिक्त) और भी चंद मसायल हैं जो अब मुनाज़िर (शास्त्रार्थ)-ओ-मुबाहसा (वाद-विवाद) की सख़्त मदारज (मंज़िलें) तय करके अम्रे-मुसलिमा (सर्वमान्य कार्य) के पाये तक पहुंच चुके हैं। मगर खानदान मुश्तरका (साझा परिवार) का मसला कुछ ऐसा पेचीदा है, और हमारे कौमी आदात (जातीय परंपराएं) खुजस्ता (कल्याणमयता) का एक ऐसा अच्छा नमूना हैं कि उनके खिलाफ कुछ कहते या लिखते तबीयत हिचकिचाती है। इसमें कोई शक नहीं कि मौजूदा तर्ज़े-मआशरत (जीविका की पद्धति) व तर्ज़े-तालीम ने उसके असर को कमजोर करना शुरू कर दिया है। मगर ताहम (फिर भी) अभी तक मास्वाये (उन्हें छोड़कर) उन हज़रत के जो गैरमुमालिक (दूसरे देशों) से आला दर्ज़े की तालीम पाकर आए हैं। मुतवस्सित तबके (मध्यवर्ग) में इसका रिवाज़ अगर बढ़ता नहीं है तो घट भी नहीं रहा है। इसके कई असबाब (कारण) हैं। इस्लाह (सुधार) के जितने दूसरे मसले थे, उनकी ताईद व तस्कीन (पुष्टि एवं संतोष) कमोबेश मज़हबी किताबों से दी गई, उलमाए-दीनयात (धर्माचार्यों) के फतवे लिए गए। यह जोर देकर कहा गया कि हम रिफार्म के नये रिवाज़ नहीं फैलाना चाहते, बल्कि सलफ (पूर्वजों) के रिवाज़ों के

मुर्दा कालिब (निष्प्राण शरीर) में अज़सरे-नौ (नये सिरे से) रूह फूंक रहे हैं। मसला ज्वाइंट सिस्टम की ताईद किसी किताब से न हो सकी। दोयम यह कि दसूरे मसलों का वजूद मुद्दत दराज़ (लंबे समय) से है, मसलन अक्दे-बेवगां (विधवा-विवाह) का मसला ईश्वरचन्द्र विद्यासागर मरहूम-ओ-मगफूर (स्वर्गीय) की दूरबीनी (दूरदर्शिता) का नतीजा है। मसला ज़ेरे-बहस की उम्र अभी बीस-बाईस साल से ज़्यादा नहीं, और इस ज़माने में भी उसकी परवरिश व परदाख़्त (पालन-पोषण, संरक्षण) पर काफी तवज्जो नहीं की गई। सबसे बड़ी रुकावट जो इस मसले की तरक्की में होती वह गालबन हमारे तर्जे-माशरत (रहन-सहन के तरीके) की जानिब से हुई, क्यूंकि बरअक्स (प्रतिकूल) दीगर मसायल के इसमें और दस्तूरे-एलान (घोषित कानून) के उसूलों में निहायत करीबी तअल्लुक है।

यह तो तमाम बाखबर असहाब जानते हैं कि हर मुल्क के तहज़ीब का इब्तदाई ज़माना (आरम्भिक युग) जंग-व-जदल (मार-काट) के ओसाफ (गुणो) से मुतसिन्नफ (लिखा) होता है। क्यूंकि उस वक्त रिज़्क (जीविका) का दारोमदार हरबो-ज़र्ब (लड़ाई-झगड़े) पर होता है। यही हाल हिन्दुस्तान का भी था, जब कस्बे-मआश (रोजी-रोटी) का बजुज़ (अलावा) शिकार के और कोई दूसरा वसीला (माध्यम) न हो और शबोरोज़ (रात-दिन) वहशी जानवरों के हमले का अंदेशा हो तो तकाज़ए-फितरत यही है कि इंसान वहशी बन जाए। चुनांचे उस वक्त आदमियों और जानवरों में सिवाय शक्लोशबाहत (आकार-प्रकार) के कोई दूसरा फर्क न था। दरिंदों की तरह एक-दूसरे का ख़ून का प्यासा होता था। बात-बात पर ख़ून की नदियां बहती थीं। मरना-मारना एक दिलचस्प मश्गला (कार्य) समझा जाता था। ऐसी हालत में लाज़िम आया कि इंसान भी जानवरों की तरह जत्थे बना-बनाकर रहे, और अपनी जमाअत को गज़ंदों (कष्टों) से बचा ले। जब तहज़ीब (सभ्यता) की यह हालत हो तो औरतों की हालत का क्या ज़िक्र? वह कनीज़ें (दासियां) खयाल की जाती थीं और उनका काम था कि मर्दों को खिलायें, पिलायें और हत्तलवुसू (यथा शक्ति) उनकी खिदमत करें। हुकूके-निसवां (स्त्रियों के अधिकार) तहज़ीब के साथ पैदा होते हैं और इसके साथ नश्वनमा (विकसित, विकास) पाते हैं।

अमरीका के मशहूर फिलॉस्फर इमर्सन का कौल है कि हर एक मुल्क की तहज़ीब का सबसे आला कयास (विचार) यह है कि वहां औरतों की क्या हालत है। यह रस्म किसी ज़माने में बकाये-वजूद (जीवन-रक्षा, अस्तित्व, अनश्वरता) की गरज़ से निकाली गई थी। अब बिगड़ते-बिगड़ते खानदान-मुश्तरका की मौजूदा हालत को पहुंच गई।

इसमें कोई शक नहीं कि जमानए-कदीम (प्राचीन काल) में यह रस्म हमारे वजूद (अस्तित्व) के कायम रखने का बाइस (कारण) थी। इसी की पाबंदी पर ज़िंदगी का दारोमदार (निर्भरता) था और वो अब हमारा तर्ज़े मुआशरत (रहन-सहन की पद्धति) बिल्कुल बदल गया है। ताहम (फिर भी) इस रिवाज़ की पाबंदी से मुल्क को बड़ा फायदा है। हमारे यहां बेवाएं (विधवाएं) कस्बे-मुआश (जीविका) के लिए मजबूर नहीं की जातीं। अगर एक घर में चार बेवाएं हों, और कमाने वाला सिर्फ एक, तो

उन चारों की परवरिश करता है, और अगर ऐसा न हो तो 'ज़माना' उसको मतऊन (निन्दित) करता है। यूरोप में यह हाल है कि अगर शौहर ने मरते वक्त तक अपनी अयाल (बाल-बच्चों) की किफालत (भरण-पोषण, परवरिश) का कोई माकूल इंतज़ाम न किया तो बेचारी बेवा की हालत निहायत नाज़ुक हो जाती है। अज़ीज़ व अकारिब (स्वजन, रिश्तेदार) उसकी दस्तगीरी (सहायता) करने को रहम खयाल करें तो करें, फर्ज़ (कर्त्तव्य) नहीं खयाल करते। वह तहसील-मआश (जीविका-उपार्जन) के लिए दर-ब-दर खाक फांकती फिरती है, तावक्तेकि (जब तक कि) उसका कोई दूसरा खरीददार न पैदा हो जाय। और अगर वह बदकिस्मती से जवानी से गिरी हुई है तो बेचारी की बकइया (शेष) ज़िंदगी रोते ही कटती है। बूढ़े जवान बेटों के होते चक्की पीसती है। यह इसी रस्म की पाबंदी का फैज़ (लाभ) है कि हम अपने बुज़ुर्गों की इतनी ताज़ीम व तकरीम (आदर-सत्कार) करते हैं। हमारे यहां मां-बाप के सामने हुक्का पीना या हंसकर बोलना, कंघी-आईना करना बेअदबी में दाखिल है। हम चाहे अपने जान दे दें, मगर वाल्देन का कहना नहीं टालते। गर्ज़ इसी रस्म ने सखावत (दानशीलता), गुर्बापरवरी (निर्धनों का पालन-पोषण), नफ्सकशी (इन्द्रिय-दमन) और बुज़ुर्गों की ताज़ीम (सम्मान) नीज़ (और) दीगर (इसके अलावा) खसाइल हमीदा (सराहनीय आदतें) हमारी सरिश्त (योग्यता) में खमीर (शामिल, मिश्रित) कर दिए हैं।

मगर जब हम इन फवायदों (लाभों) का उन नुक्सानात-अज़ीम (बड़ी हानियों) से मुकाबला करते हैं जो इस रिवाज़ के बाइस से पैदा हो गए हैं, तो मजबूरन कहना पड़ता है कि इस रस्म की पाबंदी हमारे लिए जांगुज़ा (घोर कष्टदायक) है। एक तजुर्बेकार फिलॉस्फर का कौल है कि जिस कौम अफराद (लोगों) को सादा खानदानी खुशियां मयस्सर नहीं हैं, वह कभी पाये-उरूज (बुलंदी) पर नहीं पहुंच सकती। और जिसने यह कहा है बहुत ठीक कहा है। हम लोग खानदानी मुसर्रतों (पारिवारिक खुशियों) से महरूम हैं। हमारे घरों में आए-दिन बमचख मची रहती है। कभी सास बहू से मुंह फुलाए बैठी है, कभी बहू सास से रूठी है। ननद और भावज के झगड़े हमारे यहां गीतों, रक्सों (नृत्यों) और कहानियों में आमतौर पर मशहूर हैं। अगर घर में बेचारी एक बहू है और मर्दाने में दस आदमी, तो वह उन दसों की कनीज़ (दासी) समझी जाती है। उनके लिए खाना पकाना, उनकी वहमी ज़रूरियात (सभी आवश्यकताओं) को रफा करना उसका फर्ज़ समझा जाता है। बेशुमार ऐसी बीवियां होंगी जो इस ज़िंदगी पर कनीज़ों (दासियों) की ज़िंदगी को तरजीह (प्रधानता) दें, और जो कहीं घर में कोई बूढ़ी सास हुई तो इस घर की कैफियत न पूछो। दुनिया में कोई बादशाह ऐसा-मुतल्लिक-उल अनान (स्वेच्छाचारी, तानाशाह), ऐसा खुदराये, ऐसा इताअतख्वाह (सेवक चाहने वाला) एसा खुशामद-पसंद, ऐसा जालिम और कट्टर और ऐसा ज़ूदरंज (शीघ्र बुरा मानने वाला) और अपने रुतबे को ऐसी हासिदाना निगाहों (ईर्ष्यालु दृष्टि) से देखने वाला न होगा, जैसी यह बूढ़ी सास होती है। इसके मारे बेचारी बहुओं की ज़िंदगी दूभर हो जाती है, और तावक्तेकि (जब तक कि) उसके कई बच्चे न हो जाएं और उनकी बीवियां घर में न आ जावें, उस बहू की किस्मत वाकई नागुफ्ताबेह

(अकथनीय) होती है। सदा नाज़ुक अंदाम (कृशांगी) नई-नवेली बहुएं इन्हीं मज़ालिम (जुल्मों) का ऐन जवानी में शिकार हो जाती हैं, और सदा अगर मर नहीं जातीं तो अपनी तंदुरुस्ती ज़रूर खो बैठती हैं। बेचारा नौजवान शौहर अपनी मां के मुकाबले में बीवी की ज़रा भी तरफदारी नहीं कर सकता और अगर करे तो कुछ तो खुद उसको नागवार मालूम होता है, और कुछ अहले-ज़माना उसको बदनाम व रुसवा (निन्दित) करने लगते हैं। जब औरत की ज़िंदगी ऐसी हो कि उसको कभी दिली खुशियां हासिल न होती हों, उसे कभी आराम से बैठना नसीब न हुआ हो, वह जब बैठती हो तब घूंघट निकालकर और सात पर्दों के अंदर, तो वह खुद क्यूंकर तंदुरुस्त रह सकती है? और उसकी औलाद क्यूंकर तंदुरुस्त हो सकती है? और वह अपने शौहर को, जो बेचारा सारे कुनबे की मआश (पालन-पोषण) की फिक्र में अपने जिस्म को घुला रहा हो, क्या खुश कर सकती है? शौहर बेचारा सास और बहू, ननद और भावज के झगड़े सुन-सुनकर अपनी किस्मत पर रोता है। गर्ज़ सारा खानदान नाखुशी, बदमिज़ाजी और उदासी का मस्कन (डेरा, घर) मालूम हो सकता है।

यह तो खानगी जिंदगी (घरेलू जीवन) का हाल है। तमद्दुनी नुक्सानात, जो मुल्क को इस रस्म से होते हैं, उनका तो कुछ शुमार ही नहीं। हमारे यहां बहुत कम ऐसे कमाने वाले होंगे जिनके घर पर आए-दिन दस-पांच मेहमान अड़े न रहते हों। कोई खालूजाद भाई है, कोई मामूंजाद भाई, कोई पट्टीदार है, किसी का ससुराल से तअल्लुक है। गर्ज़ बेचारा साहिबेखाना (गृहस्वामी) गो इतने मेहमानों के तसर्रुफात (खिदमतों) के बोझ से दबा जाता है, मगर इशारतन-किनायतन कभी अपनी बेबसी का इजहार नहीं कर सकता। सैकड़ों अच्छी तनख्वाह वाले तो इन्हीं में तबाह हो जाते हैं। जब हमारे तमाम जरूरियात जिंदगी बिला हाथ-पैर हिलाए रफा हो जावें तो हमको क्या गर्ज़ है कि ख्वामख्वाह मेहनत व मशक्कत करें? इनमें ज़्यादातर तो ऐसे होते हैं जो अपने को आली खानदान (कुलीनतम) व आलीदूदमान (श्रेष्ठ वंश के) बतलाते हैं, और मेहनत-मशक्कत करने को कस्रे-शान (अपमान) समझते हैं। अगर मुफ्त की फुलोरियां मिलने की उम्मीद न हो तो यही हजरात झक मारें और टोकरे ढोएं। इस तरह काहिलों की मदद करके 'खानदान मुश्तरका' (संयुक्त परिवार) काहिली और आरामतलबी की तहरीक (समर्थन) करता है। इतना ही नहीं, आरामतलबी और मुफ्तखोरी के नतीजे हमेशा बुरे होते हैं। ये हजरात हमेशा नाकर्दनी (अकरणीय) हरकात (कार्य) किया करते हैं। उनके खयालात निहायत गंदे होते हैं, उनके अफआल (करतूतें) निहायत नीच। खुद तो क्या बदनाम होंगे, साहिबेखाना (गृहस्वामी) को अलग्ना बदनाम करते हैं। बिला मशक्कत की रोटी हमेशा खूने-फासिद (दूषित रक्त) पैदा करती है। साहिबेखाना जब तक जीता है, उन्हीं लवाहिकीन (परिवारजनों) की साज-व-पर्दाख्त (पालन-पोषण एवं प्रबंध) में अपनी तमाम कमाई सर्फ करता है, और जब यकायक पंजए-अजल (यमराज के पंजे) में गिरफ्तार हो जाता है, तो उसके बाल-बच्चों का कोई पुरसां-हाल (पूछने वाला) नहीं होता।

रिआया की तमद्दुनी हालत (रहने-सहने की दशा) कभी मुस्तकिल और इत्मीनानबख्श नहीं हो सकती, तावक्तेकि (जब तक कि) हर फर्देबशर (प्रत्येक व्यक्ति)

अपनी ज़रूरतें आप रफा करने की कोशिश न करे। हर शख़्स को आज़ादी हासिल करने और उससे फायदा उठाने की कोशिश करनी चाहिए। दूसरे की दी हुई रोटी खाने से चाहे और तरह का आराम हो, मगर इंसान का नफ्स (मन, अस्तित्व) मुत्अम्मुल (संकुचित, लालची), डरपोक और दब्बू बन जाता है, हालांकि हर एक कौम की अज़्मत (महिमा, आदर-सम्मान)-व-उरूज़ (उत्कर्ष) के लिए ज़रूरी है कि उसके अफराद (लोग) जोश, आज़ादी और खुदमुख्तारी से भरें और जब अपने हाथों से आज़ादी को छिनते हुए देखें तो उसको हाथ से न जाने देने की पुरजोर कोशिश करें। जिस शख़्स ने खुद अपनी रोज़ी हासिल नहीं की, वह आज़ादी का मज़ा नहीं जान सकता और जब आज़ादी के मज़े से वाकिफ नहीं है, तो उसको इससे महरूम होने का अफसोस क्यूंकर हो सकता है? अब इस कशाकश के ज़माने में, जब गवर्नमेंट कुल अख़्त्यारात अपने हाथ में लेना चाहती है, रिआया का सब्रो-तहम्मुल (धैर्य और सहिष्णुता) और बुज़दिली नुक्सानात से खली नहीं। ज़रूरत है इसकी कि कौम में आज़ादी की रूह आ जाए, क्योंकि जब तक यह जोशसारी कौम के दिलों में मौज़ज़न (तरंगित) न हो, कौमी इत्तिहाद (एकता) व इत्तिफाक (सहमति) नामुमकिन ही नहीं, बल्कि मुहाल (असंभव) है। जिस शख़्स में अपने पेट को पालने की कुव्वत नहीं, उससे कौमी बहबूद (उन्नति) की क्या उम्मीद की जा सकती है? मुफ्तखोरी इंसान को बेशर्म, बेहया, बुज़दिल और खुशामदी बना देती है।

बाज़औकात 'खानदान मुश्तरका' (संयुक्त परिवार) के मुखालफीन (विरोधीगण) से एतराज़त यह कहा जाता है कि अभी हमारी कौम इस रस्म को उठा देने के लिए मुत्लक (बिल्कुल) तैयार नहीं है, क्योंकि दरहालिया (आज के समय में) एक की कमाई दस खाते हैं। रोज़गार अनका (अप्राप्य) हो रहा है और जबकि मुतलाशियाने-रोज़गार (रोज़गार तलाश करने वालों) की तादाद और बढ़ जावेगी तब तो और भी मुश्किल आ पड़ेगी। यह एतराज़ बिल्कुल बेजा है। रोज़गार इंसान के पास नहीं आता, इंसान खुद उसकी तलाश करता है। जब हम रूखी रोटी और पतली दाल पर कनाअत (संतुष्ट) करके दूसरे के माथे खाने लगते हैं तो वह हौसला और वह तमकनत (अभिमान) जो आज़ाद-मिज़ाजों में होती है, मुर्दा-व-फसुर्दा (मृत एवं जीर्ण-शीर्ण) हो जाती है। अगर आदमियों को अपनी बेकारी-व-बेशुगली महसूस होने लगे तो वह ज़रूर कस्बे-मुआश (रोज़ी-रोटी के उपार्जन) के नये रास्तों की टोह लगा लें और कौम के मालदार-व-मरफाहाल (धनी-संपन्न) अशखास (लोग) दूसरों के भार से हल्के होकर अपना-अपना पसमांदा (बची राशि) हिरकत-व-सनअत (कारीगरी की गति) की तरक्की में खर्च करें, सरमाये की बढ़ती हो, कारखाने खुलने लगें और तहसील-मुआश (जीविका-उपार्जन) का रास्ता वसीअ (विस्तृत) हो जाए। तीस करोड़ की आबादी में कम-से-कम दस करोड़ औरतें और पांच करोड़ लड़के ऐसे हैं जो कोई काम नहीं कर सकते। अगर मुफ्तखोरों की तादाद पांच करोड़ और बढ़ा दीजिए तो बेकार तबका बीस करोड़ हो जाता है। बाकी दस करोड़ों की आबादी में कितने ही बूढ़े, कितने ही मरीज़, कितने ही डाकू, कितने ही भिखमंगे, कितने ही साधु शमिल हैं। इस हिसाब से कमाने वालों की तादाद मुश्किल से पांच करोड़ तक पहुंचती है, और एक आदमी

को बहिसाब औसत छः आदमियों की परवरिश करनी पड़ती है। प्रोफेसर मनोहरलाल साहब जुत्शी ने 'ज़माना' के दिसंबर-नवंबर में इस मज़मून पर लिखते हुए यूं फरमाया है, "किसी रिवाज़ के हुस्नो-कबीह (गुण-अवगुण) को जांचने के लिए हम दो मेयार (कसौटियां) मुकर्रर कर सकते हैं। अव्वल यह कि वह अफराद (आदमियों) की खुशी-व-खुर्मी (हर्ष एवं आनंद) से ज़िंदगी बसर करने में मदद देता है, और दूसरे यह कि वह आम ज़माअत में मुत्तफिका (सर्वमान्य) कोशिश या मिलकर काम करने की काबलियत पैदा करता है।"

सतूर मुंदरज़ा बाला (उपर्युक्त पंक्तियों में) हमने यह दिखाने की कोशिश की है कि इस रस्म से उन दो फायदों में से एक भी हासिल नहीं होता। पस (अंततः), जितनी ज़ल्द कौम इस रस्म को खैरबाद (तिलांजलि) कहे, उतना ही अच्छा है।

दूसरा ऐतराज़ यह किया जाता है कि इस रस्म के उठ जाने से अज़ीज़-ओ-अकारब (प्रिय, स्वजनों) में वह मज़बूत रिश्ता कायम न रहेगा जो अब है। हम दुआ करते हैं कि वह दिन जल्द आए जब यह रिश्ते कमजोर हो जाएं, क्योंकि उनसे कौम को बेहद नुक्सान हो रहा है। यूरोप का एक बीस बरस का नौजवान घर से हज़ारों मील के फासले पर बिला खटके चला जाता है। न उसकी मां रोती है, न बाप आंसू बहाता है। हमारे यहां यह हाल है कि अगर मां सुने कि बेटा ब्रह्मा जा रहा है तो वह महीनों से दाना-पानी तर्क कर दे और या तो बेटे को रोक ले और या अपनी जान दे दे। नीची जातों में खानदान मुश्तरका (संयुक्त परिवार) अमलन (अमल के तौर पर) मादूम (समाप्त) है, क्योंकि एक आदमी की कमाई सिर्फ उसी को काफी हो सकती है। घर का हर शख्स अपनी रोज़ी कमाता है। औरतें और बच्चे भी बेकार नहीं बैठ सकते। इसका नतीज़ा यह है कि इनमें हौसला और ज़ोश बाकी है। लाखों अहीर, चमार, कुर्मी, कुम्हार अपने वतन को खैरबाद कहकर अफ्रीका, अमरीका की राह लेते हैं और वहां रुपया कमाकर अपने मुल्क को मालामाल करते हैं। न तो मां दामन पकड़कर रोती है और न बाप। बरअक्स (प्रतिकूल) इसके शुरफा (कुलीन लोग) ब्रह्मा या रंगून इसी हालत में जाना पसंद कर सकते हैं, जब अपने वतन में रोज़ी मिलने का कोई सहारा न हो और अफ्रीका या अमरीका का नाम सुनकर तो उनके होश ही पराए हो जाते हैं। इस बोदेपन की यही वज़ह है कि खानदान मुश्तरका की कयूद (कैद) में अच्छी तरह जकड़े हुए हैं।

इस रस्म का उठ जाना इस्लाहे-माशरत (जीवन-सुधार) के और कई मसाइल (समस्याओं) के हक में भी आबे-हयात (अमृत-जल) हो जाएगा। मसलन सिगरसिनी (बचपन) की शादियां आप-ही-आप बंद हो जाएंगी। ज़रूरते-मआश (जीविका की आवश्यकता) बेवाओं को भी अज़्दवाज (पुनर्विवाह) पर राज़ी कर लेंगी, और तालीमे-निस्वां (स्त्री-शिक्षा) रोज़ अफ्ज़ूं (बहुत ज़्यादा) तरक्की करने लगेगी। जब इस एक इस्लाह (सुधार) से इतनी इस्लाहें खुद-ब-खुद हो सकती हैं, तो क्यूं न उसकी तकवियत (पृष्ठ-पोषण, आश्रय, बल) में ज़्यादा तवज़्ज़ो (गौर, ध्यान) की जाए।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'उर्दू-ए-मुअल्ला', अप्रैल, 1905 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

देशी चीज़ों का प्रचार कैसे बढ़ सकता है

आजकल जब इस सवाल पर बहस छिड़ती है कि हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों की तरक्की क्यों नहीं होती तो आमतौर पर यह कहा जाता है कि अभी जनता में देश-प्रेम और कौमी हमदर्दी का खयाल ऐसा नहीं फैला है, कि वह निजी फायदे को नज़रअंदाज़ करके अपने देश की चीज़ों को, बावजूद उनकी खामियों और बुराइयों के, दूसरे देशों की चीज़ों से बढ़कर जगह दें। इसमें शक नहीं है कि यह दलील एक हद तक ठीक है और वास्तविकता पर आधारित है। मगर हम यह हरगिज नहीं कह सकते कि हमारी व्यापारिक मंदी केवल इसी कारण से है। इसके कुछ और कारण भी हैं जो नीचे की पंक्तियों से प्रकट होंगे।

व्यापार के रास्ते में पहली बाधा यह है कि अभी तक हमारे देश वालों को हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों और कारखानों की ज़रा भी जानकारी नहीं है। जिन लोगों को अखबार पढ़ने की आदत है वह अलबत्ता कुछ कारखानों से परिचित हैं। आमतौर पर यह हमको नहीं मालूम कि हिन्दुस्तान में कौन-सी चीज़ कहां बनती है। इस अज्ञान को दूर करने का सिर्फ यही इलाज है कि विज्ञापनों से अधिक से अधिक फायदा उठाया जाय और विभिन्न देशी भाषाओं में आसानी से समझ में आने वाले विज्ञापन प्रकाशित किए जायं। उनको आम रास्तों पर ज़्यादा से ज़्यादा चिपकाया जाय। हर शहर के प्रतिष्ठित लोगों की सूची बनाई जाय और समय-समय पर विज्ञापन उनके पास भेजे जायं। कारखानों और उनकी जगहों के नाम खूब रौशन कर दिए जायं। जिन कारखानों ने इस तरकीब से फायदा उठाया है उनको आज अच्छी तरक्की हासिल है। सियालकोट, कानपुर वगैरह शहरों में खास-खास चीज़ों के कारखाने खूब रौनक पर हैं। देशी दवाइयों के इश्तिहार खूब छपते हैं और आम सड़कों पर भी खूब ज़्यादा दिखाई पड़ते हैं। इसी वजह से हमारी देशी दवाएं अंग्रेज़ी दवाओं के मुकाबले में बहुत ज़्यादा गिरी हुई हालत में नहीं हैं। कई आयुर्वेदिक दवाखानों की खासी आदमनी है। अभी बहुत दिन नहीं बीते कि बनारस में नई चाल के रेशमी कपड़े बनने शुरू हुए और आज काशी सिल्क को लोकप्रियता प्राप्त है। ऐसा कौन-सा सजधज का शौकीन आदमी होगा जिसके संदूक में दो-एक जोड़े काशी सिल्क के न होंगे। इस तात्कालिक उन्नति और लोकप्रियता का यही कारण है कि हर प्रकार के नमूनों के टुकड़े आस-पास चारों तरफ काफी बड़ी संख्या में रवाना किए गए। कुछ पढ़े-लिखे लोग हर ढंग के कपड़े ले-लेकर दूर-दूर के शहरों में गए और उनकी अच्छाइयां और खूबियां जनता के दिलों पर अच्छी तरह जमा दीं।

एक बार हमने एक बज़ाज से पूछा कि तुम कानानोर से देशी कपड़े क्यों नहीं मंगाते। उसने जवाब दिया कि उन कपड़ों की बिक्री में नफ़ा बहुत कम होता है। नफे की यह कमी पूंजी के सिद्धांतों से संबंध रखती है जिन पर हम इस वक्त बहस नहीं करना चाहते। कैसा अच्छा होता कि हर शहर के कुछ जिन्दादिल, पुरजोश, पढ़े-लिखे लोग कमर कसकर थोड़ी-सी पूंजी जुटा लेते और इस पूंजी से देशी कपड़े मंगाकर मोल के दामों पर बेचते। यह ज़रूरी नहीं है कि यह लोग एक बाकायदा

दुकान खोलें और दुकान का किराया और दुकानदार की तनख्वाह बढ़ाकर कपड़े को और भी महंगा कर दें बल्कि एक उत्साही सज्जन देशप्रेम से काम लेकर आनरेरी मैनेजर हो जाएं और शाम-सबेरे घंटा-दो-घंटा समय इस काम के लिए दें। जब जनता की ओर से उनके प्रयत्नों के लिए प्रशंसा मिलने लगे, देशी कपड़ों की मांग ज़्यादा हो जाय तो पूंजी भी बढ़ाई जा सकती है, दुकान और दुकानदारी का खर्चा भी उठाया जा सकता है।

जो लोग अपनी पूंजी से व्यापारिक सिद्धांतों पर देशी कपड़ों की दुकानें खोलें, उनको चाहिए कि ग्राहकों की आव-भगत, खातिर-तवाजो अच्छी तरह करें। देशी चलन के पाबंद लोगों के लिए दो-एक बीड़ा पान, दो- चार इलायचियां, जरा-सी तंबाकू और अंग्रेज़ी चलने वालों के लिए एक-आध सिगरेट या एक प्याली चाय काफी होगी। इस थोड़े से खर्चे में यकीन है कि ग्राहकों की संख्या बहुत ज़ल्द बढ़ जायगी क्योंकि लोगों को इस दुकान से एक खास प्रेम हो जायगा। दुकानदार भी पढ़ा-लिखा होना चाहिए जो खरीददारों से सभ्यतापूर्वक बातचीत कर सके। ऐसे दुकानदारों को ग्राहकों के साथ उस बेगरज़ी और रूखेपन से नहीं पेश आना चाहिए जिससे आमतौर पर मामूली सौदागर पेश आया करते हैं। अगर इन दुकानों पर दो-एक अंग्रेजी और उर्दू अखबार भी रखने का बंदोबस्त कर दिया जाय तो यह एक और दिलचस्पी बहुत से खरीददारों को खींच लाएगी। पढ़े लिखे लोग यहां आकर बैठेंगे तो मौके और वक्त का तकाजा यही होगा कि व्यापार की उन्नति के बारे में बातचीत हो। और इस बातचीत से लोगों के दिलों में जोश पैदा होगा और यह जोश देशी व्यापार को उन्नति देने वाला होगा।

कहीं-कहीं देशी चीजों का जिस जोश और हमदर्दी से स्वागत किया गया है, वह उम्मीद दिलाता है कि अब हिन्दुस्तान का व्यापारिक जागरण बहुत दूर नहीं। लाहौर के आर्य समाज मेम्बरों को सर से पैर तक हिन्दोस्तान की बनी चीजों से सजे हुए देखना सचमुच बहुत दिलचस्प और याद रखने के काबिल दृश्य था। हम अपने समाजी भाइयों के देश-प्रेम और कौमी जोश के हमेशा से प्रशंसक रहे हैं और हमको उम्मीद है कि हमारी व्यापारिक उन्नति में यह लोग उसी सम्मान और धन्यवाद के अधिकारी होंगे जिसके कि वह राष्ट्रीय और सास्कृतिक सुधारों में है। बंबई और कलकत्ता जैसे शहरों में स्वदेशी आंदोलन बड़े जोरों के साथ किया जा रहा है मगर हमको उससे कई गुना ज़्यादा खुशी इस बात पर होती है कि हमारे सोए हुए सूबे में भी इस तरह की कमजोर आवाजें कभी-कभी सुनाई दे जाती हैं। हमको यकीन है कि इस साल बनारस में कांग्रेस के अधिवेशन का होना बनारस व लखनऊ व कानपुर के व्यापार के लिए बहुत अच्छा साबित होगा। मगर केवल पढ़े-लिखे लोगों के संरक्षण और सहानुभूति से हमारे व्यापार को भी यथेच्छ उन्नति नहीं हो सकती जब तक कि आबादी का वह बड़ा हिस्सा भी जो मुल्की और कौमी मामलों की तरफ से बेखबर है, इस अच्छे काम में हाथ न बटाए। पढ़े लिखे लोगों के नाम उगलियो पर गिने ज़ा सकते हैं। उनकी रुचि और उनकी काल्पनिक आवश्यकताओं ने कुछ ऐसा रंग पकड़ लिया है, कि अभी उनको पूरा करने के लिए हमारे व्यापार को एक लम्बी

अवधि दरकार है।

हमारी आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा देहातों में आबाद है, जिसमें बिना किसी अतिरंजना के निन्यानबे फीसदी तो ऐसे हैं जो अलिफ के नाम बे भी नहीं जानते और जिनको शहर में आने का बहुत कम इत्तफाक होता है। लिहाज़ा शहरों में स्वदेशी दुकानों का खुलना, चाहे वह कैसे ही अच्छे उसूलों पर क्यों न हों, व्यापार को बहुत लाभ नहीं पहुंचा सकता। ऐसी दशा में उचित है कि हमारे व्यापारी भी वही ढंग अख्तियार करें जो अरसे से विलायतियों ने अख्तियार किया है।

पाठक जानते हैं कि देहाती किसानों की ज़्यादातर ज़रूरतें कर्ज लेकर पूरी हुआ करती हैं। अगर आज आप किसी किसान को पचास रुपये की चीज़ उधार दे दीजिए तो वह बिना यह सोचे कि मुझमें इस चीज़ के खरीदने की योग्यता है या नहीं, फौरन मोल ले लेता है और फिर किसी न किसी तरह रो-धोकर उसकी कीमत अदा करता है। विलायतियों ने देहातियों के इस स्वभाव को बखूबी समझ लिया है। चुनांचे वह जत्थे के जत्थे आते हैं, शहरों में विदेशी और रद्दी माल सस्ते दामों पर खरीदते हैं और तब गांव में जाकर किसी एक मोतबर आदमी की ज़मानत पर किसानों के हाथ सौदा बेचते हैं। किसान अपनी माली हालत से बिल्कुल बेखबर होता है। उसमें दूरदर्शिता नहीं होती। झुंड के झुंड कपड़े खरीदने को टूट पड़ते हैं। आजकल अगर आप किसी गांव में निकल जाइए तो बजाय इसके कि लोग गंजी-गाढ़े पहने हुए नज़र आएं कोई तो इटली की बनी हुई बनियाइन पहने हुए दिखाई देता है, कोई अमरीका की बनी हुई चादर। वही चीज़ जो बाज़ार में मारी-मारी फिरती है, देहात में जाकर हाथों हाथ बिक जाती है और यह इसी वजह से कि किसानों को खरीदते वक्त दाम नहीं देना पड़ता। इन विलायतियों ने कितने ही जुलाहों को तबाह कर डाला और जुलाहों की तबाही से पूर्वी सूत की मांग जाती रही। इस तरह देशी रुई को मजबूरन इंगलिस्तान की खुशामद करना पड़ी।

हमारे देशी व्यापारियों को वह दिक्कतें हरगिज़ नहीं पेश आ सकतीं जो विलायतियों को पेश आती हैं। उनको सैकड़ों कोस की मंज़िल तय करना पड़ती है, गांव में प्रभाव रखने वाले लोगों का सहारा ढूंढ़ना पड़ता है और कभी-कभी कीमत की वसूली से हाथ धोना पड़ता है। देशी व्यापारियों को इन कठिनाइयों के बदले में सिर्फ इतना करना है कि गांव में मोतबर एजेंटों को रवाना करें, उनको उधार माल बेचने की इजाज़त दें और जहां तक हो कम मुनाफा लें। देहाती आमतौर पर ईमानदार होते हैं, सौदा ले लिया तो उसकी कीमत अदा करने में गड़बड़ी नहीं करते। अगर खुदा न ख्वास्ता उनका ईमान ज़रा डगमगाया भी तो वह डरपोक ऐसे होते हैं कि दो-चार धमकियों में सीधे रास्ते पर आ जाते हैं। हमने देखा है कि विलायतियों को दाम वसूल करने में बहुत कम दिक्कत होती है। बेचारा किसान सूद पर कर्ज़ लाता है और निश्चित समय पर चीज़ की कीमत अदा करता है। जब विलायतियों को वसूली में कोई दिक्कत नहीं होती तो कोई वजह नहीं कि हमारे देशी एजेंटों को इस काम में कोई दिक्कत हो। बस जाड़े में चीज़ दे आए, उसकी कीमत फसल तैयार होने पर वसूल कर ली। और गर्मी में जो माल बेचा, उसकी कीमत ऊख पेरने के वक्त वसूल कर ली, न

कोई ठक-ठक न कोई बखेड़ा। व्यापार का यह ढंग उससे कहीं ज़्यादा लाभदायक और देशभक्तिपूर्ण है जिसको हुण्डी कहते हैं। बनारस, मिर्ज़ापुर, इलाहाबाद वगैरह शहरों में हुण्डी का आम रिवाज है। इसका तरीका यह है कि यह हर एक गांव में महाजन की तरफ से कुछ लोग नौकर होते हैं। उनका काम यह है कि देहातियों को रुपया कर्ज़ दें और उनसे एक निश्चित अवधि के भीतर एक का सवाया वसूल कर लें। व्यापार के इस ढंग से चाहे महाजन को फायदा हो, मुल्क या कौम को सरासर नुकसान होता है। क्योंकि बेचारे किसान को दोनों तरफ से नुकसान उठाना पड़ता है। उधर तो मुगल सौदागरों को एक का डेढ़ दिया और इधर अपने महाजनों को एक का सवाया देना पड़ा। बेचारे की छोटी-सी आमदनी महाजनों ही भर को हो गई।

[उर्दू लेख। 'देसी अशिया को क्योंकर फरूग हो सकता है' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', जून, 1905 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

स्वदेशी आंदोलन

हिन्दुस्तान के लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रों और पत्रिकाओं ने इस देशभक्तिपूर्ण आंदोलन का समर्थन किया है और जो पहले थोड़ा हिचकिचा रहे थे उनका भी अब विश्वास पक्का होता जाता है। मगर अभी अक्सर भलाई चाहने वालों की ज़बान से सुनने में आता है कि वह उन मुश्किलों का सामना करने के काबिल नहीं हैं जो आंदोलन के रास्ते में निश्चय ही आयेंगी। मिसाल के लिए कपड़ा जितना हिन्दुस्तान में बनता है, उसका चौगुना विलायत से आता है, तब जाकर इस देश की ज़रूरतें पूरी होती हैं। क्योंकर संभव है कि यह देश बिना वर्षों के निरंतर अभ्यास और जिगरतोड़ कोशिश के परदेसी कपड़ा बिल्कुल रोक दे। मिलें जितनी दरकार होंगी उसका तखमीना एक साहब ने चालीस करोड़ रुपया बतलाया है। हम समझते हैं यह अत्युक्ति है क्योंकि एक दूसरे पर्चे में यह तखमीना तीस ही करोड़ किया गया है। कौन कह सकता है कि यह देश इतनी पूंजी लगाने के लिए तैयार है। अगर यह मान लिया जाय कि पूंजी मिल जायगी तो फिर सवाल होता है, क्या किया जायगा। रुई जितनी यहां पैदा होती है, उसमें से दो हिस्से तो जापान ले लेता है और एक हिस्सा हिन्दुस्तान के हाथ लगता है। विलायत यहां की रुई बहुत कम खरीदता है। अगर मान लीजिए सब रुई जो इस वक्त पैदा होती है, यहीं रोक ली जाय तो भी हमारी ज़रूरतें ज़्यादा से ज़्यादा आधी पूरी होंगी। यानी एक सौ पांच करोड़ गज कपड़ों के लिए हम फिर भी विलायत के मुहताज रहेंगे। यह आशा करना कि दो-चार बरस में किसान रुई की खेती को बढ़ाकर यह मुश्किल भी आसान कर देंगे, एक हद तक सपना मालूम होता है। फिर, यहां की रुई से महीन कपड़ा नहीं बुना जा सकता और हिन्दुस्तान में शरीक लोग ज़्यादतर महीन कपड़े इस्तेमाल करते हैं। उनके पहनाव के ढंग में यकायक क्रांति पैदा कर देना भी कठिन है। यह चंद बातें ऐसी हैं जो अभी कुछ अर्से तक हमारे संकल्पों में विघ्न डालेंगी। मगर तस्वीर का दूसरा पहलू ज़्यादा रौशन

है। पश्चिमी हिन्दुस्तान में ज़्यादातर कपड़ा देशी इस्तेमाल किया जाता है, विलायती कपड़े का खर्च बंगाल और हमारे सूबे में सबसे ज़्यादा है। हम महीन कपड़ों के बहुत ज़्यादा शौकीन नहीं हैं। हां, बंगाल वाले, क्या मर्द क्या औरत, ऐसे कपड़ों पर जान देते हैं। उनमें भी खासतौर पर वही सज्जन जो पढ़े-लिखे हैं। मगर जब यह समुदाय अपने ज़ोश में हर तरह का बलिदान करने के लिए तैयार है, तो क्या वह महीन की ज़गह मोटे कपड़े न पहनेगा। कायदे की बात है, कि शहर के छोटे लोग बड़े लोगों के कपड़ों और रहन-सहन की नकल करते हैं। जब बंगाल के बड़े लोग अपना ढंग बदल देंगे तो मुमकिन नहीं कि दूसरे लोग भी वैसा ही न करें। हमारे सूबे में ढंग तंजेब और मलमल का इस्तेमाल कुछ दिनों से उठता जाता है और उसके कद्रदां या तो कुछ पुराने ज़माने के शौकीन-मिज़ाज बूढ़े हैं या बाज़ारी बेफिकरे। हां शरीफों की औरतें अभी तक उन पर जान देती हैं, मगर उम्मीद है कि वह अपने मर्दों के मुकाबिले में बहुत पिछड़ी न रहेंगी। विशेषत: जब मर्दों की तरफ से इसका तकाज़ा होगा। इस तरह महीन कपड़े का खर्च कम हो जायगा और जब मोटा कपड़ा इस्तेमाल में आएगा तो साल में बजाय चार जोड़ों के दो ही जोड़ों से काम चलेगा। अगर शहरों में विदेशी चीज़ों का रिवाज़ कम होने लगे तो देहातों में आप से आप कम हो जायगा। हम अपने सूबे के तजुर्बे से कह सकते हैं कि यहां देहाती ज़्यादातर जुलाहों का बुना हुआ गाढ़ा इस्तेमाल करते हैं और जाड़े में गाढ़े की दोहरी चादरें। उनको परदेसी कपड़ों की ज़रूरत ही नहीं महसूस होती। गो इसमें कोई शक नहीं कि कुछ दिनों से काबुलियों और मुगलों ने वहां जा-जाकर विदेशी चीज़ों का रिवाज़ बढ़ाना शुरू कर दिया है। यह मौका है कि पढ़े-लिखे लोग, जिनमें से अधिकतर देहाती होते हैं, जब अपने मकान को जायं तो अपने पड़ोसियों को भला-बुरा सुझाकर सीधे रास्ते पर ले आएं और जब ज़रूरत देखें रुई की खेती को बढ़ाने के लिए कहें।

रुई के बाद चीनी या शक्कर दूसरी जिन्स है जो हम पांच करोड़ रुपये सालाना की बाहर से मंगाते हैं। यह खेद की बात है। हमारे देश के कारखाने टूटते जाते हैं मगर इसका ज़वाबदेह सिर्फ तालीमयाफ्ता फिरका है। देहाती बेचारे तो विलायती शक्कर को हाथ भी नहीं लगाते, और बहुतों ने तो बाज़ार की मिठाई खाना छोड़ दिया। और शक्कर ऐसी जिन्स है, जिसकी पैदावार को आसानी से बढ़ाया जा सकता है। जरा भी मांग ज़्यादा हो जाय तो देखिए ऊख की खेती ज़्यादा होने लगती है। किसान मुंह खोले बैठे हैं। यही तो एक जिन्स है, जिससे वह अपनी ज़मीन का लगान अदा करते हैं। कपड़े के रोकने में चाहे कितनी ही दिक्कतें हों मगर शक्कर बंद होना तो जरा भी कठिन नहीं। हम उन लोगों पर हंसा करते थे जो हम लोगों को विलायती शक्कर खाते देखकर मुंह बनाते थे। हमारी नज़रों में वह लोग असभ्य मालूम होते थे। अब हमको तजुर्बा होता है कि वह ठीक रास्ते पर थे और हम गलती पर। विदेशी चीज़ों का रिवाज़ सभ्य लोगों का डाला हुआ है और अगर स्वदेशी आंदोलन को सफलता होगी तो उन्हीं के किए होगी।

[उर्दू लेख। उर्दू साप्ताहिक-पत्र 'आवाज-ए-खल्क' 16 नवंबर, 1905 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

शरर और सरशार

हकीम बरहम साहब गोरखपुरी ने अगस्त-सितंबर के 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में अद्भुत योग्यता और बारीकी से शरर और सरशार की तुलना की है जिसमें आपने हज़रत शरर को ऐसा आसमान पर चढ़ाया है कि बेचारे सरशार का नाम तक उनके मुकाबले में लिया जाना ठीक नहीं समझते। उनके लेख का सारांश यह है कि सरशार का उर्दू लिटरेचर की गर्दन पर कोई एहसान नहीं है। अच्छा होता कि ऐसा लेख लिखने के पहले हकीम साहब ने यह भी देख लिया होता कि उनसे ज़्यादा योग्य आलोचकों ने जिनमें शेख अब्दुल कादिर बी० ए० भी हैं, उर्दू ज़बान में सरशार को क्या जगह दी है। यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि उर्दू शायरों या उनकी शायरी पर हर सुरुचि-सम्पन्न उर्दूदां राय दे सकता है मगर उर्दू नाविल पर कुछ लिखने की जवाबदेही वही आदमी ले सकता है जो कम से कम अंग्रेज़ी भाषा के मशहूर उपन्यासकारों की कृतियों से परिचित हो। इस लिहाज़ से शेख साहब की आलोचना हकीम साहब के मुकाबले में कहीं ज़्यादा वज़न रखती है।

मिस्टर चकबस्त का लेख आलोचनात्मक था। उसमें सरशार के गुणों के साथ-साथ उनके दोषों पर प्रकाश डाला गया था। मगर हकीम साहब ने सरशार की त्रुटियां तो सबकी सब [illegible] दीं, चाहे काल्पनिक ही सही, मगर शरर को बिल्कुल निर्दोष समझा हालांकि सब लोग जानते हैं कि आज तक कोई आदमी ऐसा नहीं हुआ जिसमें खूबियों के साथ-साथ बुराइयां न पाई जाएं।

हम हकीम साहब के कहने से इस बात को मान लेते हैं कि हज़रत शरर अरबी के फाज़िल, फारसी के बहुत बड़े आलिम और अपने वक्त के बहुत बड़े विद्वान हैं। बहुत-सी योरोपीय भाषाएं भी अच्छी तरह जानते हैं। डिक्शनरी की मदद से तर्जुमे कर सकते हैं और उर्दू गद्य में तो एक नए रंग के प्रवर्तक और आधुनिक साहित्य के जन्मदाता हैं। इसके विपरीत बेचारा सरशार फारसी में कच्चा और अरबी में नादान बच्चा है। इतिहास-भूगोल से उसको ज़रा भी लगाव नहीं, योरप की भाषाओं का क्या ज़िक्र उर्दू में भी काफी योग्यता नहीं रखता। मगर हमको इस वक्त इन बड़े लोगों की निजी योग्यताओं से बहस नहीं। हम सिर्फ यह देखना चाहते हैं कि कहानी लिखने के मैदान में किसा का कलम उड़ानें भरता है और इस कला में कौन अधिक कुशल है।

स्पष्ट है कि उपन्यास लिखना और बात है, आलिम-फाज़िल होना और बात। बिल्कुल उसी तरह जैसे शायरी का हाल है। गोल्डस्मिथ, शेली, बायरन जैसे बड़े-बड़े कवि अपने कालेज के भगाए हुए लोगों में से थे। उसी तरह थैकरे और डिकेन्स पांडित्य की दृष्टि से अपने समय के दूसरे विद्वानों से कहीं घटकर थे मगर कहानी के आसमान पर यही दोनों नाम तारे बनकर चमके।

'फसाना' और 'नाविल' हमको उस अनोखे भेद की याद दिलाते हैं जो हकीम साहब ने उनके बीच रक्खा है। हकीम साहब को मालूम होगा कि 'नाविल' अंग्रेज़ी शब्द है और अगर उसका अनुवाद हो सकता है तो वह 'फसाना' है। शाब्दिक रूप

से दोनों में कुछ अंतर नहीं है किंतु आशय की दृष्टि से दोनों का अंतर काफी स्पष्ट है। नाविल उस किस्से को कहते हैं जो उस ज़माने को, जिसका कि वह ज़िक्र कर रहा है, साफ-साफ तस्वीर उतारे और उसके रीति-रिवाज़, अदब-कायदे, रहन-सहन के ढंग वगैरह पर रोशनी डाले और अलौकिक घटनाओं को स्थान न दे या अगर दे तो उनका चित्रण भी इसी खूबी से करे कि जन-साधारण उनको यथार्थ समझने लगें। इसी का नाम है नाविल या नए ढंग का किस्सा। 'फसानये अज़ायब' या 'गुलाबकावली' या 'किस्सए मुमताज़' या 'तलिस्मे होशरुबा' या 'बोस्ताने खयाल' सब पुराने ढंग के किस्से हैं जिनमें नए किस्से का खूबियों की गंध तक नहीं। हां, मीर अम्मन देहलवी की लोकप्रिय पुस्तक 'बागोबहार' या 'दास्ताने अलिफलैला' कुछ हद तक ऊपर लिखी गई खूबियां रखती हैं यानी अपने ज़माने की तहज़ीब पर एक धुंधली रोशनी डालती हैं।

इस कसौटी को अपने सामने रखकर अगर सरशार के किस्सों को देखिए तो ऐसी कौन-सी खूबी है जो इनमें भरपूर नहीं। सच तो यह है कि उनकी सब किताबें अपने ज़माने की सच्ची तस्वीरें हैं। अगर आज़ से सौ बरस बाद कोई 'फिसाने आज़ाद' को पढ़े तो उसको आज से पच्चीस बरस पहले की तहज़ीब और सोचने-विचारने के ढंग और साधारण लोगों की साहित्य-रुचि की झलकियां साफ नज़र आएंगी जो इतिहास के अध्ययन से, चाहे वह कैसा ही विस्तृत और गंभीर क्यों न हो, हरगिज़ नज़र नहीं आ सकतीं। सांस्कृतिक जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं जिस पर सरशार की ज़बान ने अपने निराले ढंग से फूल न बरसाए हों। यहां तक कि मदारियों के खेल, भांड़ों की नकलें, बाज़ारू शराब पिलानेवालियों के नखरे और ऐसी ही बेशुमार बातों की छोटी-छोटी बारीकियों में भी अद्‌भुत चित्रकार का कौशल दिखाया है। कहने का मतलब यह है कि 'ज़माने की तस्वीर' में जितनी बातें शामिल हैं उन सब पर सरशार के जादू-भरे कलम ने अपना चमत्कार दिखाया है।

इसके विपरीत हज़रत शरर के जो उपन्यास मशहूर हैं उनमें कोई तो सलीबी लड़ाइयों (क्रूसेड) के ज़माने का है, कोई महमूद गज़नवी के हमले के ज़माने का, कोई रोम और रूस की लड़ाई के वक्त का, कोई उस ज़माने का जब मुसलमानों के कदम स्पेन से उखड़ चुके थे। मतलब यह कि सभी पाठक को दस-पांच सदियां पीछे ले जाते हैं और चूंकि हज़रत शरर को इन बातों का व्यक्तिगत अनुभव नहीं है इसलिए वह उस समय की घटनाओं का ऐसा चित्र हरगिज़ नहीं खींच सकते जो असल से मेल खाए। उनकी जानकारियों का सबसे उपजाऊ साधन इतिहास है, और ऐतिहासिक ज्ञान चाहे कितना ही व्यापक क्यों न हो, निजी और प्रत्यक्ष निरीक्षण की बराबरी नहीं कर सकता। ऐलफ्रेड लायल, जो एक जाना-माना अंग्रेज़ी आलोचक है, लिखता है कि आज तक किसी उपन्यासकार को ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में सफलता नहीं मिली और न उसका मिलना संभव है: एक ऐसे युग के विचारों और घटनाओं की फोटो उतारना जिसको बीते हुए सदियां गुज़र गईं, सरासर कल्पना की चीज़ है। हम यही अंज़ादा कर सकते हैं कि ऐसी हालतों में ऐसा हुआ होगा, विश्वास के साथ हरगिज़ नहीं कह सकते कि ऐसा हुआ। ज़ार्ज़ इलियट ने अपनी सारी उम्र

में केवल एक ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखा जिसमें इटली की एक ऐतिहासिक घटना बयान की और कई महीने तक उन्होंने वहां की सामाजिक प्रणाली का अध्ययन किया और जितने प्रामाणिक इतिहास वहां के पुस्तकालयों में प्राप्त हो सके उनको ध्यान से पढ़ा तब भी 'रमोला' के बारे में लोगों (अंग्रेज़ों) का खयाल है कि वह घटनाओं के अनुरूप नहीं। सर वाल्टर स्काट, जिसका शरर साहब ने अनुकरण किया है, ऐतिहासिक उपन्यासकारों का सरताज़ समझा जाता है मगर इसके बावजूद कि उसकी कल्पना-शक्ति बहुत प्रखर थी और वर्णन-शैली अत्यंत सशक्त तो भी उसके ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेज़ी आलोचकों की आंखों में नहीं जंचे। उसके रिचर्ड या सुल्तान सलाहउद्दीन बिल्कुल नकली मालूम होते हैं। जब स्काट और जार्ज इलियट जैसे कलम के जादूगर भी ऐतिहासिक उपन्यास सफलतापूर्वक नहीं लिख सकते तो हज़रत शरर अपूर्ण इतिहासों की सहायता से जिस हद तक ऐसे उपन्यासों के लिखने में सफल हो सकते हैं उसका अनुमान किया जा सकता है। यह एक पक्की बात है कि कल्पना कभी निरीक्षण की बराबरी नहीं कर सकती। सरशार ने पहले ही से इन कठिनाइयों को समझ लिया और जिस प्रलोभन में पड़कर औरों ने अपनी मेहनत अकारथ की उससे बचा रहा। हज़रत शरर स्काट के अनुकरण के ज़ोश में बिल्कुल भूल गए और वही गलती कर बैठे।

मगर जब शरर के उन नाविलों को देखिए जिनमें इन्होंने मौजूदा सोसाइटी की तस्वीरें खींचने की कोशिश की है तो खयाल होता है कि अच्छा ही हुआ उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास ही को अपनी कीर्ति का साधन बनाया क्योंकि भगवान् ने उनको तस्वीर खींचने की वे योग्यताएं नहीं दीं जिनके बिना प्रत्यक्ष घटनाओं की सच्ची तस्वीर खींचना असंभव है और ऐतिहासिक उपन्यासों ने उनकी इस कमजोरी पर पर्दा डाल दिया।

आश्चर्य होता है कि हकीम बरहम जैसा आदमी यह लिखने की क्योंकर हिम्मत कर सका कि सरशार के 'फसानये आज़ाद' या दूसरे उपन्यासों में कोई कथानक या कोई निष्कर्ष नहीं है और न उनमें कोई समस्या है और न कोई उद्देश्य ही उनमें रक्खा गया है। जिनको भगवान ने न्यायपूर्ण दृष्टि दी है वे देख सकते हैं कि सरशार का कोई उपन्यास निष्कर्ष या उद्देश्य से खाली नहीं है। 'फिसाने आज़ाद' को ही ले लीजिए। क्या उसमें कोई कथानक नहीं? आज़ाद का गहरी छान-बीन करने वाली निगाहें लेकर गलियों-बाजारों की खाक छानना, नवाब के दरबार में नौकरी करना, बटेर की तलाश में जाना, और बी भटियारी की तिरछी चितवनों का शिकार बनना, फिर हुस्नआरा के इश्क में गिरफ्तार होना, बड़ी हिम्मत से काम लेकर रोम को जाना, वहां बहादुरी के जौहर दिखाना, पौलेंड की शहज़ादी के जाल में फंसना, फिर विजयी होकर हिन्दुस्तान को लौटना, हुस्नआरा से ब्याह करना—यह कथानक नहीं है तो क्या है? एतराज़ करने वाला कहेगा कि कथानक है तो ज़रूर लेकिन बिल्कुल मामूली। हां, बहुत ठीक। प्लाट बिल्कुल मामूली है और वह भी सरासर ऊपरी। भीतरी प्लाट से ज़रा भी काम नहीं लिया गया। मगर ध्यान रहे कि उपन्यास-कला का शिखर यही है कि साधारण और सीधी-सादी लेखन-शैली में जादू का रंग पैदा कर दिया जाय। जार्ज इलियट

का कायदा था कि वह अपने उपन्यासों के कथानक कभी बयान नहीं किया करती थी। इस मौके पर यह अर्ज़ करना और भी मुनासिब मालूम होता है कि ऐतिहासिक उपन्यास के लिए इन दो तरह के कथानकों की अत्यंत आवश्यकता है, उनके बिना किस्सा चल ही नहीं सकता। मगर ऐसे उपन्यासों के लिए जिनमें समाज के चित्र दिखाए जाएं, बहुधा कथानक कथा के पात्रों को इस घर से उस घर और इस शहर से उस शहर तक ले जाने पर ही खत्म हो जाता है, ताकि लेखक को समाज के हर एक पहलू पर कलम चलाने का मौका मिले। चार्ल्स डिकेन्स की मशहूर किताब 'पिकविक' पढ़िए और उन पर एतराज़ कीजिए। ऐसे उपन्यासों के कथानक आमतौर पर ऊपरी हुआ करते हैं। उस पर सरशार ने यह कमाल किया है कि आज़ाद के किस्से के साथ-साथ शहज़ादे हुमायूंफर और बी अलारक्खी का किस्सा भी लिखा है ताकि पढ़ने वाले का दिल एक ही किस्सा पढ़ते-पढ़ते घबरा न जाय। इसके अलावा बीच-बीच में समाज की बुराइयां बड़े मोहक ढंग से दिखाता गया है जिनका सिलसिला किस्से से नहीं मिलता और न लिखने वाले की यह नीयत थी।

पाठक जानते हैं कि 'फिसाने आज़ाद' अखबार की सूरत में प्रकाशित हुआ करता था और उस सुर्खी से कभी-कभी ऐसे लेख भी निकला करते थे जिनका जोड़ किस्से से नहीं मिलता था और गो इस किताब के कई संस्करण छप चुके हैं मगर मालिकों ने कभी इतनी तकलीफ गवारा न की कि उन लेखों को फसानाये आजाद से अलग कर दें ताकि किस्सा सिलसिलेवार हो जाय और उसके प्रवाह में कोई बाधा न पड़े। 'फिसाने आजाद' के अलावा सरशार के तीन उपन्यास और हैं जो लोकप्रिय हो चुके हैं यानी 'कामिनी', 'सैरे कोहसार' और 'जामे सरशार'। इन तीनों किताबों में कथानक का तो वही रंग-ढंग है जो 'फिसाने आज़ाद' का मगर कुछ ज्यादा सुलझा हुआ। दैनन्दिन जीवन की घटनाएं उसी हास्यपूर्ण शैली में लिखी गई हैं कि पाठक पन्ने के पन्ने पढ़ता जाता है मगर उसका जी नहीं भरता। कोई दूसरा आदमी जिसने वही दिमाग और वही दिल न पाया हो ऐसा रूखी-सूखी साधारण घटनाओं में ऐसी दिलचस्पी और रंगीनी नहीं पैदा कर सकता। जिस तरह कविता में सहज बात कहना हर आदमी का काम नहीं उसी तरह किस्सा लिखने में भी रूखे-फीके विषय में घुलावट पैदा करना कुछ ही लोगों के बस की चीज़ है।

हकीम बरहम साहब ने फरमाया है कि सरशार के उपन्यासों में न कोई उद्देश्य है न विचार। जितना ही इस पर गौर करते हैं उतनी ही उलझन मालूम होती है कि इस बात पर हंसें या गंभीरता से उसका जवाब दें। सरशार ने उन सामाजिक रोगों के उपचार का बीड़ा उठाया था जिनके पंजे में फंसकर समाज की जान निकली जा रही थी और दूसरे अनुभवी वैद्यों और हकीमों की तरह उसने भी कड़वी बदमजा दवायें शक्कर और मिश्री में घोलकर पिलाई। जिन लोगों के पास आंख है वह जानते हैं कि बीमारियों की रोक-थाम का कोई साधन ऐसा उपयोगी और असरदार नहीं है जितना कि दिल्लगी का कोड़ा और सरशार ने बड़ी बेरहमी से ऐसे कोड़े लगाए हैं। मसलन रेवेन्यू एजेंट और सलारबख्श जो मजाक का निशाना बनाए गए हैं, उसका उद्देश्य सिर्फ इतना है कि वकीलों की बहुतायत और उनकी महत्त्वहीनता का खाका

उड़ाया जाय और इस घटना से यह भी प्रकट होता है कि दुष्ट लोग भोली-भाली औरतों को कैसी-कैसी ऊपरी दिखावे की चीज़ों से अपने धोखे के जाल में फंसाया करते हैं। डिकेन्स ने भी सर्जेन्ट बजफज के परदे में वकीलों की खूब खबर ली है। मगर सरशार की बेधड़क ठिठोली डिकेन्स के गंभीर व्यंग्य से अधिक प्रभावशाली है।

इसी तरह बी अलारक्खी का अपने खूसट शौहर के नाम खत लिखवाना उन कामुक बुड्ढों पर हमला है जो कब्र में पांव लटकाए बैठे हैं मगर कमसिन औरतों से शादी करने का चाव दिल में रखते हैं। इसी तरह नवाब के दरबार, घर-बार का जो खाका खींचा है उससे वसीका खाने वालों का बुद्धूपन और उनके मुसाहिबों की ऐयारी दिखाना इष्ट है। और 'जामे सरशार' तो शुरू से आखिर तक शराबखोरी के बुरे नतीज़ों से लोगों को सावधान करने के लिए लिखा गया है। कामिनी लाजवन्ती, वफादार, पति-परायणा स्त्री का सुंदरतम उदाहरण है और हुस्नआरा का कौमी जोश, जिसने साधारण ऐन्द्रिक इच्छाओं का दबा लिया है, मिस नाइटिंगेल के लिए भी गौरव का कारण हो सकता है। कहने का अभिप्राय यह कि सरशार के जितने उपन्यास हैं वे मनुष्य के विचारों, उनके अच्छे और बुरे आचरणों और उनको सुंदर और नीच भावनाओं के सच्चे चित्र हैं जिन पर हंसी-ठिठोली का शोख रंग बेहद खुशनुमा और लुभावना होता है। ऐसी कोई घटना नहीं जिसको सरशार ने अपनी किताबों में अनावश्यक स्थान दिया हो। यहां पर यह कह देना जरूरी मालूम होता है कि बहुधा किसी घटना का वर्णन करना स्वयं एक निष्कर्ष होता है।

मगर गालिबन हकीम साहब ऐसे निष्कर्षों या नतीज़ों को नतीज़ा न समझेंगे। उनके नज़दीक उस नाविल के शीशे में निष्कर्ष, उद्देश्य और विचार भरे होते हैं जिस पर इस तरह का कोई लेबुल लगा होता है–

'इस उपन्यास में पर्दे के बुरे नतीजे दिखाए गए हैं।'

या

'इस उपन्यास में यह सिद्ध किया गया है कि मर्ज़ी के खिलाफ शादियों का हमेशा बुरा नतीजा होता है।'

या

'इस उपन्यास में सलीबी लड़ाइयों का जोशो-खरोश और आपस के मज़हबी झगड़ों के भयानक नतीजे बड़ी खूबी से दिखाए गए हैं।' आदि-आदि।

हज़रत शरर और उनके शिष्य स्वर्गीय आशिक हुसेन साहब लखनवी और मौलवी मुहम्मद अली साहब के सभी उपन्यासों के टाइटिल पेज पर इस तरह की कोई न कोई इबारत ज़रूर मिलती है, गोया उपन्यास न हुए कोई दर्शन की किताब हुई जिसमें किसी न किसी थ्योरी को स्थापित करना जरूरी है। इस तरह नतीजा निकालना चाहे ईसप के किस्सों के लिए उचित ठहराया जा सके मगर ऊंचे दर्जे के उपन्यासों के लिए हरगिज़ ठीक नहीं है। मज़ा तो जब है कि नतीजा ऊपर से नीचे तक भरा हो और ऐसे सरल, अनायास ढंग से कि पाठक के दिलों में खुब जाय। किसी किस्से के ऊपर उसका उद्देश्य लिखा हुआ देखकर हमको उसके पढ़ने की इच्छा बाकी नहीं

रह जाती। अंग्रेज़ी में शायद ही कोई उपन्यास ऐसा होगा जिसमें ऐसे निकृष्ट ढंग से निष्कर्ष दिखाए गए हों, बल्कि आस्कर ब्राउनिंग ने तो एलानिया कह दिया है कि, 'सबसे निकृष्ट उपन्यास वे हैं जिनमें कोई विशेष समस्या रक्खी जाय।' और उसने बहुत ठीक कहा है। मनुष्य की भावनाओं और स्थितियों व प्रकृति के दृश्यों और संसार के चमत्कारों की तस्वीर खींचना स्वयं एक निष्कर्ष या नतीजा है। विज्ञान या दर्शन की बरीकियों को हल करने के लिए उपन्यासकार बनाया ही नहीं गया है बल्कि सच तो यह है कि दार्शनिक कभी उपन्यास लिख ही नहीं सकता।

कथानक के बाद जब उन पात्रों को लीजिए जो उपन्यास के स्टेज पर ऐक्ट करते हैं तो ज़ाहिर होता है कि ऊंचे दर्जे के उपन्यासों में खास-खास पात्रों की आदतें, तौर-तरीके और सोचने-विचारने के ढंग में एक न एक विशेषता पाई जाती है और वही विशेषताएं भिन्न-भिन्न अवसरों पर और भिन्न-भिन्न स्थितियों में प्रकट होती हैं। इसके विपरीत निम्न श्रेणी के उपन्यासों में या तो पात्र साधारण सीधे-सादे आदमी होते हैं या उनकी विशेषताएं जाति, स्थान, पेशे या कुछ घिसी-पिटी बातों पर आधारित होती हैं और ऐसे ही उपन्यास उर्दू में अधिकांशत: दिखाई पड़ते हैं।

बंगाली जब आएगा अपने बोदेपन का सबूत देगा। मारवाड़ी हमेशा कंजूस-मक्खीचूस बनाया जाता है। लाला साहब बेचारे हमेशा अपनी घर की बनाई हुई फारसी बोलते सुनाई देते हैं। राजपूत हमेशा अक्खड़ और उग्र स्वभाव का होता है। ननद-भौजाई में आठों पहर दांता-किलकिल हुआ करती है। मौलवी साहब हमेशा अपनी जुमेराती की फिक्र में परीशान रहते हैं।

मगर यह हरगिज़ न खयाल करना चाहिए कि बड़े उपन्यासकार इस तरह के पात्रों से काम नहीं लिया करते बल्कि सचमुच अच्छे उपन्यासों में दोनों तरह के पात्र मौजूद होते हैं। मसलन् डिकेन्स् के 'पिकविक' को ले लीजिए। उसमें पिकविक, विन्कल, स्नाडग्रास, टपमैन, वार्ड और विलियर में जो विशेषताएं हैं वह सरासर उनकी अपनी हैं। और परकर, बज़फज़, डॉडसन और स्टिगिन्स आदि में जो भेद किया गया है वह किसी खास पेशे का मजाक उड़ाने के लिए। इसी तरह और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

चार्ल्स डिकेन्स की तरह हज़रत सरशार ने भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्रों से सहायता ली। यह बिल्कुल ठीक है कि सब पात्र लखनवी हैं। मगर जब उसने सारे किस्से लखनऊ ही के लिखे तो पात्र क्या लन्दन से लाता? हां, यह देखना चाहिए कि उनमें लखनऊ के बेफिक्रों की ऐसी विशेषताएं जो उन्हें दूसरों से अलग करती हैं, किस नफासत से दिखाई हैं। मिर्ज़ा हुमायूंफर भी लखनवी हैं और आज़ाद भी लखनवी मगर दोनों के स्वभाव में बहुत स्पष्ट अंतर रक्खा गया है। अगर आज़ाद की ज़गह पर हुमायूंफर को रख दीजिए तो किस्सा बिल्कुल पलट जाएगा। नवाब साहब भी लखनवी हैं मगर हुमायूंफर से बिल्कुल अलग-थलग। मिर्ज़ा असकरी भी लखनवी हैं मगर हुमायूंफर या आज़ाद से उनको मिलाइए तो ज़रा भी मेल नहीं खाते। उसी तरह हुस्नआरा, जहानआरा, सिपहआरा, गेतीआरा, बहारुन्निसा सब लखनऊ की शरीफज़ादियां हैं मगर सबों के स्वभाव में सूक्ष्म और गंभीर विशेषताएं पाई जाती हैं।

बहारुन्निसा को भूलकर भी हुस्नआरा का अक्स नहीं समझ सकते और न सिपहआरा को हुस्नआरा से मिला सकते हैं। इसी को उच्चकोटि की उपन्यास-कला कहते हैं।

निम्नकोटि के पात्र भी बहुत से मौजूद हैं। मौलवी साहब, नए, जेंटिलमैन, बी अल्लारक्खी और बी अब्बासी, हकीम साहब और रेवेन्यू एजेन्ट वगैरह-वगैरह हज़ारों लोग हैं जो किसी खास फिरके या पेशे का मज़ाक उड़ाने के लिए लाए गए हैं।

मगर इसके साथ ही यह भी खयाल रहे कि सरशार जब कभी अपने पात्रों को लखनऊ से बाहर, दूर-दूराज की जगहों पर ले गया है तो वहां उनको गैर-लखनवी बनाने का खूब ध्यान रक्खा है। मिस मोडा या मिस रोज या पोलैंड की शहजादी लखनऊ की शरीफजादियां नहीं कही जा सकतीं। अलीकूपाशा या कुस्तुनतुनिया के होटल का सौदागर लखनऊ के आवारा और बाज़ारी बेफिक्रे नहीं हैं।

हकीम साहब ने जो कमजोरियां सरशार में दिखाई थीं वह सब की सब शरर के पात्रों में पाई जाती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने पात्रों का चुनाव बड़ी खूबी से किया–किसी को रोम से बुलाया, किसी को अरब से, किसी को मिस्र से, किसी को फारस से, मगर न तो उनकी जातीय विशेषताओं को और न उनकी अपनी निजी विशेषताओं को सफलतापूर्वक दिखा सके। उनके जितने नायक हैं वह सब मनचले, स्वाभिमानी, सुंदर, लंबे-तड़ंगे और सुसंस्कृत हैं। लिहाज़ा अगर हसन की जगह मलिकुल अजीज चला आए तो वह भी अपना हिस्सा इसी खूबी से अदा करेगा। इसी तरह उनके स्त्री पात्रों में भी यही दोष मिलता है। अजरा, वर्जीना, एंज़ेलिना, फ्लोरिन्डा सब की सब हर हालत में बिल्कुल एक-सी हैं, उनमें अंतर है तो इतना ही कि वह अलग-अलग कौमों की बताई गई हैं। हम एक को दूसरे से अलग नहीं पहचान सकते। अगर अज़रा का हिस्सा एंज़ेलिना को दे दिया जाय तो भी अस्ल किस्से पर कुछ असर न पड़ेगा। यह त्रुटि शरर के सब उपन्यासों में पाई जाती है और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं जिस उपन्यास में ऐसे साधारण पात्र पाए जाते हैं उसकी गिनती निम्नकोटि के उपन्यासों में होती है।

सरशार पर वह अभियोग लगाया गया है कि उसके सब पात्र लखनऊ ही के स्त्री-पुरुष हैं। फिर इसमें हर्ज की क्या है? एक शहर तो क्या एक मुहल्ले और परिवार में अलग-अलग स्वभावों और तौर-तरीकों के लोग हो सकत हैं और एक सचमुच कला का धनी उपन्यासकार उन्हीं की रोजमर्रा की जिंदगी में जादू का-सा असर पैदा कर सकता है। इसके अलावा एक खास जगह के दृश्यों और संस्कृति का विस्तृत चित्र दिखाना कहीं ज़्यादा अच्छा है बजाय इसके कि सारी दुनिया के भौगोलिक नक्शे दिलाएं जाएं।

मगर इसका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि उपन्यास लिखने की सफलता यही नहीं है कि पात्रों में केवल विशेषताएं पैदा कर दी जाएं। यह तो कुछ ऐसा मुश्किल काम नहीं। सच्ची कारीगरी तो इसमें है कि पात्रों में जान डाल दी जाय, उनकी जबान से जो शब्द निकलें वह खुद ब खुद निकलें, निकाले न जाएं, जो काम वह करें खुद करें, उनके हाथ-पांव मरोड़कर ज़बर्दस्ती उनसे कोई काम न कराया जाय। इस कसौटी पर सरशार के पात्रों को कसिए तो वह आमतौर पर खरे निकलेंगे। उनमें वही

चलत-फिरत है जो जीते-जागते आदमियों में हुआ करती है। उनमें वही छेड़-छाड़, वही हंसी-मज़ाक, वही गुप-चुप इशारे, वही गुल-गपाड़े होते हैं जो हम अपनी बेतकल्लुफी की मजलिसों में किया करते हैं। उनकी एक-एक बात से हमको हमदर्दी हो जाती है। वह हमको हंसाते हैं, रुलाते हैं, चिढ़ाते हैं, सताते हैं, उनके कहकहे की आवाजें हमारे कान में आती हैं, हमारे दिल में गुदगुदी पैदा होती है और हम खुद ब खुद खिलखिला पड़ते हैं। उनके रोने की दिल हिला देने वाली आवाजें हम सुनते हैं और हमारी आंखों में बरबस आंसू भर आते हैं। कौन ऐसा गंभीर आदमी है जो बुआ जाफरान और ख्वाज़ा बदीया की लगावट-बाजियों पर हंस न पड़े। ऐसा कौन संगदिल होगा जो शहजादा हुमायूंफर की हत्या के समय प्रभावित न हो जाए या कामिनी को रंडापे का बिलाप करते देखकर रोने न लगे। और पात्रों को जाने दीजिए, सरशार का खोजी ही एक ऐसी अमर सृष्टि है जो दुनिया की किसी ज़बान में उसकी ज़बर्दस्त शोहरत का सिक्का बिठाने के लिए काफी है। माशा अल्लाह कैसा हंसता-बोलता आदमी है। सुबह हुई, आप उठे, अफीम घोली, हुक्के का दम लगाया, दाढ़ी फटकारी, और अपने भुजदंड को देखते अकड़ते अपने जोम में मस्त चले जा रहे हैं। ज्योंही रास्ते में किसी चंद्र-बदन सुंदरी को धीमे-धीमे आते देखा वहीं आपकी बांछें खिल गईं। ज़रा और अकड़ गए। उसने जो कहीं आपके रंग-ढंग पर मुस्करा दिया तो आप फूल गए। गुमान हुआ मुझ पर रीझ गई। फौरन मूछों पर ताव दिया और मुस्कराकर तीखी-बांकी चितवनों से आस-पास के लोगों को देखने लगे, कि पांव में ठोकर लगी और चारों खाने चित्त। यारों ने कहकहा लगाया मगर क्या मज़ाल कि हज़रत के चेहरे पर ज़रा भी मैल आने पाए। गर्द झाड़ी, उठ खड़े हुए और बस 'ओ गीदी' का नारा लगाया, करौली म्यान से निकल पड़ी और चारों तरफ सुथराव हो गया, सर धड़ों से अलग नज़र आने लगे और लाशें फड़कने लगीं। शाबाश खोजी ! तुमको खुदा हमेशा ज़िन्दा सलामत रक्खे। तेरे एहसानों से एक दुनिया का सर झुका हुआ है। तेरी करौली ऐसे मीठे घाव लगाती है कि किसी की अधखुली शर्बती आंखों का तीर भी ऐसी प्यारी चुभन नहीं पैदा कर सकता, और तेरे तेवर बदलने में वह मजा आता है जो किसी सज़ीले माशूक के रूठने में भी नहीं आ सकता। बेशक तू हंसी का पुतला और दिल्लगी की जान है।

हजरत शरर ने भी बहुत से पात्रों की सृष्टि की और उनके उपन्यास पसंद भी किए गए मगर उनके मानस-पुत्रों में से किसी ने भी ऐसी ख्याति प्राप्त न की कि उसका नाम हर आदमी की ज़बान पर हो। सच तो यह है कि उनके स्वभाव में वह मौलिक सृजन की शक्ति ही नहीं जो अमर पात्रों को जन्म देने के लिए आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब वह किसी नए पात्र को बुलाते हैं तो पहले उसका स्वागत बड़ी धूम-धाम से करते हैं और पाठकों से उसका परिचय कराते हुए फरमाते हैं कि यह हज़रत ऐसे हैं और वैसे हैं, आप आंतरिक और बाह्य सद्गुणों की खान हैं आदि-आदि। मगर केवल उनकी भूमिकाओं से पात्र में जान नहीं पड़ती क्योंकि वह बोलते हैं तो शरर की ज़बान से और उनकी एक-एक हरकत, उनकी एक-एक अदा, उनकी एक-एक बात साबित करती है कि लेखक परदे की आड़ में बैठा हुआ

कैरेक्टर का पार्ट अदा कर रहा है। हमारे दिल में खुद ब खुद यह खयाल नहीं पैदा होता कि हम कुछ आत्मीय मित्रों की संगत का मजा ले रहे हैं। वह रोए हमको परवाह नहीं, वह हंसे हमको खबर नहीं, हम जानते हैं कि वह काल्पनिक हैं।

शरर ने अरब, अजम, फारस, तुर्किस्तान, रूस, रोम, अलीगढ़, लखनऊ, और खुदा जाने कितनी जगहों के दृश्य दिखाए मगर उनके किसी उपन्यास से वहां के जन-साधारण के रहन-सहन और सोचने-विचारने के ढंग का पता नहीं चलता।

सरशार के जादू-भरे कलम ने हमको गली-कूचों, मेलों-ठेलों और बाग-बगीचों की सैर ऐसी खूबी से करा दी कि शायद हम वहां जाकर खुद उनको देखते तो इतना लुत्फ न उठा सकते। हमको कदम-कदम पर लखनऊ के अमीर-फकीर, गंवार, ऐय्यार, भांड़, दिल्लगीबाज, मसखरे, तिरछे, बांके, कुलीन-नीच, सभ्य-असभ्य, बूढ़े-जवान गरज हर रंग और हर तरह के आदमी नज़र आते हैं। वह हंसते-बोलते हैं, दिल्लगी-मज़ाक करते हैं, नाचते-गाते हैं मगर इसलिए नहीं कि हम देख रहे हैं बल्कि यह उनका रोजमर्रा का तरीका है, हमारा जी चाहे तो हम भी देख लें।

आस्कर ब्राउनिंग ने लिखा है कि उपन्यासकार में इन चार मानसिक गुणों का होना उपन्यास के लिए नितांत आवश्यक है–

1. [illegible] वर्णन-शैली, 2 हंसी-मज़ाक कर सकना, 3 दर्शन, 4 ड्रामा या किसी घटना में अनायास प्रभाव उत्पन्न कर देना। अब सरशार को देखिए तो उसमें दर्शन को छोड़कर और तीनों गुण खूब मिलते हैं और हजरत शरर अगर इन गुणों में से कोई रखते हैं तो वह एक हद तक दर्शन है मगर वह दर्शन जो धर्म और जाति से संबंध रखता है और दिलों में फूट डाल देना जिसका खास, सबसे खास काम है।

यहां पर एक ऐसी बात की चर्चा करना भी आवश्यक मालूम होता है जो कुछ लोगों को शायद बुरी लगे। सरशार ने जितनी किताबें लिखीं उनमें एक भी ऐसी नहीं कि जिसको मुसलमान या ईसाई एक-सी दिलचस्पी से न पढ़े। वह सब धार्मिक विद्वेष से मुक्त हैं। इसके विपरीत हजरत शरर के हीरो तो हर हालत में मुसलमान होते हैं मगर हीरोइन कभी हिन्दू होती है कभी ईसाई। हज़रत शरर तो फिलासफर हैं, कम से कम उन्हें इतनी समझ होनी चाहिए कि वह उस भड़कावे का अनुमान कर लें जो हिन्दू और ईसाईयों के दिल में उनकी इस गलती से पैदा होता है। क्या मुसलमानों में इतनी सुंदर, सुशील स्त्रियां नहीं हैं जिनको हीरोइन बनने का गौरव मिल सके? शायद कोई साहब फरमायेंगे कि कुछ हिन्दू लोगों ने भी हिन्दू हीरो से मुसलमान हीरोइन का जोड़ा मिलाया है। मगर क्या ज़रूरत है कि हज़रत शरर भी वही गलती करें। हमने खुद देखा है कि अक्सर हिन्दू लोग मंसूर और मोहना को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, उसी तरह जैसे कि कुछ मुसलमान दुर्गेशनन्दिनी को देखते हैं। प्रेम का यह ढंग बहुत बुरा है। कमजोर दिमाग वाले चाहे इन विद्वेषों का शिकार हो जाएं मगर एक जिम्मेदार आदमी की तरफ से उनका प्रकाश में आना अनुचित है। हिन्दुस्तान में यह आम रिवाज है कि लड़की के जाति वालों या रिश्तेदारों या भाई-बन्दों का महत्त्व लड़के वालों के रिश्तेदारों से कम हुआ करता है और साधारण

लोगों में भोंडी रुचि के लोग दूसरों को अपना साला कहकर खुश होते हैं कि जैसे पति का तरफदार होना पत्नी के तरफदारों पर हावी होना है। बहुत बार यह भी देखने में आता है कि बेहूदा बकने वाले शोहदे अपने मस्तरंगी मुहब्बत का बड़े घमंड से ज़िक्र किया करते हैं। हजरत शरर इन्हीं ओछी से ओछी भावनाओं का शिकार हो गए। बहुत कम ऐसे हिन्दू होंगे जो उनके प्रशंसक हो हालांकि सरशार के सामने इज़्ज़त से सर झुकाने वालों में अक्सर मुसलमान साहबान हैं। यहां उन लोगों का ज़िक्र नहीं है जो कौमी एकता की आड़ में फूट का बीज बोते हैं।

उपन्यासकार के लिए रसीली, रंगीन, चुलबुली, शौकीन तबीयत का होना जरूरी है। इसके बजाय हज़रत शरर को जिहादियों का जोश और मुल्लाओं का दिल मिला है जो इस काम के लिए ठीक नहीं। किसी आदमी की काबलियत की एक दलील यह भी है कि वह समझ जाये कि मैं कौन-सा काम सबसे अच्छी तरह कर सकता हूं। सरशार ने अपने दिल को समझा, हज़रत शरर न समझ सके।

मगर सबसे बड़ा जुल्म जो हकीम बरहम ने सरशार पर किया है वह उसकी लेखन-शैली पर है। हम यह कहने पर मज़बूर हैं कि इस मौके पर बड़ी बेरहमी से इंसाफ का गला घोंटा गया है। अब आज उस चोटी के कलाकार के उन अधिकारों को झुठलाना जो उर्दू जबान पर कयामत तक रहेंगे सरासर धार्मिक विद्वेष और संकीर्ण-हृदयता का प्रमाण है। कोई कितनी ही लंबी-चौड़ी बघारे मगर इस सच्चाई को नहीं झुठला सकता कि सरशार ही वह पहला जोरदार लिखने वाला है जिसने नये अंग्रेजी ढंग की कहानियां उर्दू में लिखनी शुरू कीं। उसके साथ ही अनुकरण के जोश में आकर यहां तक नहीं बढ़ा कि उर्दू ज़बान और उसके लिखने के ढंग को बिगाड़ दे। सिर्फ तर्ज अंग्रेजी ले लिया या यों कहो कि खाका अंग्रेजी लिया उस पर हिन्दुस्तानी रंग चढ़ाये। अंग्रेजी उपन्यास की कोई खूबी ऐसी नहीं जो सरशार की कृतियों में न पाई जाय।

बरहम साहब कहते हैं कि 'फिसाने आज़ाद' और 'फसानये अज़ायब' की शैली में कोई अंतर नहीं है। हमको यकीन नहीं आता कि हकीम साहब के कलम से यह रिमार्क निकला। 'जामे सरशार' से जो दो उद्धरण लिये गये हैं वह खुद इस दावे का खंडन करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कहीं-कहीं पंडितजी ने 'सुरूर' के रंग में लिखा है मगर यह उनका खास रंग नहीं है बल्कि जहां कहीं तिरछे-बांके छैलों की बातचीत लिखी है वहां ज़बान की रंगीनी और काफियेबंदी पर ज़्यादा जोर दिया है और इसकी उनको दाद देनी चाहिए कि बेफिकरों से बहुत गंभीर नपी-तुली बातचीत नहीं कराई जो उनके मुंह से बिल्कुल्ल पराई मालूम होती। यह भी ख़याल रहे कि यद्यपि उपन्यासकार का खास रंग एक ही होता है मगर चूंकि वह हर ढंग और फैशन के आदमियों को बचाना-बिगाड़ता रहता है इसलिए उसकी ज़बान भी हर मौके पर रंग बदलती रहती है। 'फिसाने आजाद' में जब कभी हकीम साहब तशरीफ लाते हैं तो परतो में बातें किया करते हैं। अब अगर कोई उनकी ज़बान को सरशार की ज़बान बतलाये तो इसका जवाब चुप रह जाने के सिवा और क्या हो सकता है। हकीम साहब ने मौलिकता के अर्थ समझने में भूल की। मौलिकता इसका नाम नहीं कि

अंग्रेज़ी की अजनबी-सी तरकीबों, बंदिशों, उपमाओं और रूपकों के बेजोड़ रूखे अनगढ़ अनुवाद कर दिये जायं जैसा कि हज़रत शरर ने किया है। इसी का नाम तो नक्काली है। उस पर तुर्रा यह कि बेचारे सरशार पर नक्काली का इल्जाम इसलिए लगाया है कि वह अपने पात्रों से मौके के हिसाब से बातें करवाता है। हकीम साहब को जानना चाहिए कि उर्दू कहानी कला में इसी को मौलिकता कहते हैं।

हज़रत शरर जब किसी उपन्यास का आरंभ करते हैं तो पहले सीनरी का बहुत लंबा-चौड़ा बयान करते हैं और इसके बाद हर अध्याय के आरंभ में ऐसे ही बयान होते हैं जो कहानी के प्रवाह में बाधा उपस्थित करते हैं और साधारण पढ़ने वाला घबराकर उनको छोड़ देता है। हकीम बरहम साहब ने भी हाल ही में एक उपन्यास लिखा। उसमें शरर का अनुकरण इस सीमा तक किया कि नब्बे पन्नों के उपन्यास में पच्चीस पन्नों से ज़्यादा सिर्फ सीनरियों पर ही खर्च कर दिये थे। यही कला का दोष है। यहां पर इतना कहना और ज़रूरी मालूम होता है कि पश्चिमी हीरोइन की तस्वीर जो हकीम साहब ने हमारे सामने बड़ी शान से पेश की है कांट-छांटकर थोड़े से शब्दों में बयान की जा सकती है। यह बात मान ली गई है कि लेखक किसी पात्र के नाक-नक्शे, चेहरे-मोहरे का बयान कैसी ही खूबी से क्यों न करे मगर पढ़ने वाले के सामने जैसी तस्वीर खींचना चाहता है हरगिज नहीं खींच सकता। जितने नये अंग्रेज़ी उपन्यास हैं उनमें शरीर-संबंधी बातों का बयान थोड़े से शब्दों में समाप्त हो जाता है और मानसिक गुणों को पहले से प्रकट करना तो अपने आपको उपन्यास-रचना के सिद्धांतो से नितांत अपरिचित सिद्ध करना है।

यह भी गौर करने की बात है कि हज़रत सरशार के रंग में लिखने को बहुतों ने कोशिश की मगर किसी को सफलता न मिली। जैसे आज़ाद का अनुकरण कठिन है उसी तरह सरशार के भी रंग में लिखना मुश्किल है, हालांकि कुछ उपन्यासकारों ने शरर से पाला मार लिया है। यही वजह है कि उनके उपन्यासों की जितनी कद्र मुल्क न की उसकी आधी भी शरर के किसी उपन्यास की नहीं हुई।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'उर्दू ए-मुअल्ला', मार्च-अप्रैल, 1906 में प्रकाशित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'विविध प्रसंग' भाग-1 मे सकलित।]

चित्रकला

कविता की तरह चित्रकला भी मनुष्य की कोमल भावनाओं का परिणाम है। जो काम कवि करता है वही चित्रकार करता है, कवि भाषा से, चित्रकार पेंसिल या कलम से। सच्ची कविता की परिभाषा यह है कि तस्वीर खींच दे। उसी तरह सच्ची तस्वीर का यह गुण है कि उसमें कविता का आनंद आये। कवि कान के माध्यम से आत्मा को सुख पहुंचाता है और चित्रकार आंख के द्वारा और चूंकि देखने की शक्ति सुनने की शक्ति की अपेक्षा अधिक कोमल और संवेदनशील होती है इसीलिए जो बात चित्रकार एक चिह्न एक रेखा या जरा से रंग से पूरा कर देगा वह कवि की सैकड़ों

पंक्तियों से न अदा हो सकेगी। कवि जब अपनी कविता पढ़ने लगता है तो केवल भाषा को भाव की अभिव्यक्ति के लिए काफी न समझकर आंखों, भंवों और उंगलियों से ऐसे इंगित करता है जिनसे उसकी कविता का आनंद दुगना हो जाये, गोया उसे अपना मतलब अदा करने के लिए चित्रकला की आवश्यकता होती है मगर चित्रकार की तस्वीर ही उसका भाव व्यक्त करने के लिए काफी होती है।

मगर जिस कला की हम चर्चा कर रहे हैं वह उस सच्ची चित्रकला की नकल है। चूंकि कवि का संबंध वाणी या भाषा से है इसलिए उसके दिल में बात पैदा हुई और उसने वाणी से उसे व्यक्त किया। चित्रकला के लिए निगाह का ठीक होना, हाथ की सफाई और रंगों की मिलावट का ज्ञान बेहद ज़रूरी है। इसलिए चित्रकार ऐसी आसानी से अपना भाव व्यक्त नहीं कर सकता जैसे कि कवि। हर देश के इतिहास में कविता के बहुत दिनों बाद चित्रकला का उदय होता है। इटली में कविता ईसवी सन् से पहले अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गई थी मगर चित्रकला का उदय चौदहवीं सदी में हुआ। उसी तरह इंगलिस्तान में मिल्टन और शेक्सपियर के लगभग दो सदी बाद चित्रकला ने जोर पकड़ा।

हिन्दुस्तान में अन्य कलाओं की तरह चित्रकला भी अपने शिखर पर पहुंची हुई थी। यद्यपि आजकल उस ज़माने की तस्वीरें नहीं मिलतीं मगर जिन हाथों ने एलोरा और अजंता के मंदिरों में जादूगरी की, उनकी उन्नत चित्रकला में कोई संदेह नहीं हो सकता। पुराने देशों की चित्रकला का अंदाज़ा करने के लिए ज़रूरी है कि उसकी पुरानी इमारतें देखी जाएं क्योंकि तस्वीरें बहुत अर्से तक असली आबो-ताब पर कायम नहीं रह सकतीं बल्कि बहुत समय बीत जाने पर वह आप ही आप खत्म हो जाती हैं।

अकबरी दौर या उसके बाद के भारतीय चित्रों से भी यहां की उन्नत चित्रकला का कुछ अनुमान किया जा सकता है। गो वह ज़माना हिन्दुस्तान के लिए तरक्की का युग न था तो भी उस वक्त की तस्वीरें बहुत ही अनमोल हैं। निस्संदेह आकृति-चित्रण में वह बेजोड़ थे। हां, चित्रकला की अन्य विद्याओं में वह बहुत सिद्धहस्त न थे और दृष्टि-क्रम के नियमों से भी वह बहुत परिचित न थे। 'आइने अकबरी' की तस्वीरों में अगरचे चलत-फिरत, जिंदादिली, अनुपात का ज्ञान, सब कुछ मौजूद है मगर दृष्टि-क्रम का बिल्कुल लिहाज़ नहीं किया गया। दरवाज़े के सामने सहन में जिस कद-कामत की शकलें नजर आती हैं उतनी ही बड़ी महलसरा के अंदर भी दिखाई देती हैं और यह आधुनिक चित्रकला की दृष्टि से बहुत बड़ा दोष है। इसके अलावा धूप-छांव के लिहाज़ से भी उन तस्वीरों में अक्सर दोष दिखाई देते हैं। सहन और महलसरा के अंदर एक ही अंदाज़ और वज़न की रोशनी पाई जाती है। ये दोष शायद इस कारण से पैदा हुए कि हिन्दुस्तान में चित्रकला भवन-निर्माण के समान पेशेवर लोगों के हाथों में थी और वे पढ़े-लिखे न होने के कारण अपनी कला की उपलब्धि में दृष्टि-क्रम के ज्ञान की सहायता नहीं ले सकते थे। इसलिए जहां तक हाथ की सफाई का संबंध है उन चित्रों में कोई दोष नहीं मगर विज्ञान की दृष्टि से उनमें बहुत से दोष मौजूद हैं।

यद्यपि चित्रकला पिछली कई शताब्दियों से हमारे शिक्षा-क्रम का कोई उल्लेखनीय अंग नहीं रही है मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्नति के युग में यह कला यहां अवश्य प्रचलित थी। योरप ने अगर तस्वीरों से मज़हबी इमारतों और कलीसाओं को सजाया तो हिन्दुस्तान ने उन्हें सांस्कृतिक रीति-रिवाज़ में सम्मिलित कर दिया। शादी-ब्याहों में औरतें अपने हाथों से घर में तस्वीरें बनाती हैं। कैसा ही गरीब आदमी क्यों न हो मगर जब वह अपने बेटे या बेटी का ब्याह करता है तो अपने दरवाजे पर हाथी, घोड़े, ऊंट, प्यादों की तस्वीरें जरूर बनवाता है। ये तस्वीरें एक रुई लपटे हुए तिनके से बनाई जाती हैं और गेरू, खड़िया या चावल पीस कर रंगी जाती हैं और अगरचे बहुत बेडौल और भद्दी होती हैं मगर इसमें कोई शक नहीं कि वह किसी पुरानी रस्म की बिगड़ी हुई यादगारें हैं। इसी तरह हिन्दुओं में कई ऐसे त्योहार हैं जिन मौकों पर औरतें घरों में दीवारों पर तस्वीरें बनाती हैं और वह तस्वीरें सिर्फ जानवरों या फूल-पत्तियों की नहीं होतीं बल्कि एक लंबी कहानी उन्हीं निशानों से अदा की जाती है। इनमें न अनुपात होता है, न धूप-छांव, न पर्सपेक्टिव या दृष्टि-क्रम का कुछ ध्यान रक्खा जाता है, न रंगों की मिलावट का। हां, उनसे यह बात यकीनी तौर पर साबित हो जाती है कि पुराने जमाने में इस कला की सभी विधाएं हमारी स्त्रियों के शिक्षा-क्रम में सम्मिलित थीं।

योरप में चित्रकला का आरंभ तेरहवी सदी के आस-पास हुआ और पंद्रहवीं सदी तक वहां न सिर्फ एक से एक अनमोल तस्वीरों का खजाना ज़मा हो गया बल्कि इस कला पर अनेक पुस्तकें भी तैयार हो गई जिनमें लियोनार्डो डा विन्ची की किताब अभी तक सजग क्षेत्रों में बहुत सम्मान से देखी जाती है। इटली वह पवित्र भूमि थी जहां योरोपीय चित्रकला का सूर्योदय हुआ और जहां से उसकी किरणें तीन शताब्दी तक दूसरे देशों को आलोकित करती रहीं। यहीं इस कला के जन्मदाता पैदा हुए—रफायल, माइकेलएंजिलो, जोलियो रोमीनो और कोरेजियो जैसे प्रसिद्ध चित्रकार इसी मिट्टी में पैदा हुए जिनकी तस्वीरें आज के बड़े-बड़े उस्ताद देखते हैं और दांतों तले उंगली दबाते हैं। इस कला में उनका वही स्थान था और वह उसी तरह अनुकरण से परे हैं जैसे होमर, वर्जिल, कालिदास या शेक्सपियर। उनकी तस्वीरों के सामने जाते ही ऐसा लगता है कि जैसे किसी तरोताजा बाग में आ पहुंचे। हां यह आनंद प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार का रुचि का संस्कार अपेक्षित है। इसके बगैर अच्छी तस्वीर से आनंद नहीं प्राप्त हो सकता बिल्कुल उसी तरह जैसे कविता के संस्कार के बिना कविता की खूबियों का आंनद उठाना असंभव है।

इटली केवल आकृति चित्रण से संतुष्ट नहीं हुआ बल्कि उसने चित्रकला की हर विधा में ऊंचा स्थान प्राप्त किया। प्राकृतिक दृश्य, धार्मिक किंवदंतियां, कविता के विषय आदि विधाएं उसने पैदा कीं और उन्हें पाला-पोसा। उनमें के कुछ चित्र ऐसे लोकप्रिय हो गये हैं कि दुनिया का कोई कोना उनसे खाली नहीं है। रफायल की बेजोड़ तस्वीर 'मरियम का बेटा' हिन्दुस्तान के हर शहर में शरीफों के कमरों में तंबोलियों की दुकानों पर समान रूप से शोभा देती है। उसकी रंगत की सादगी और विचारों की पवित्रता ऐसी आनंददायक है कि रुचिहीन व्यक्ति भी उसे देखकर

कुछ न कुछ आत्मिक आनंद पा लेता है। यह तस्वीरें इस तरह संभाल कर रक्खी हुई हैं और उन पर रोगन ऐसे पक्के और ठहरने वाले दिये हुए हैं कि तीन सदियां गुजर जाने के बावजूद अभी तक उनकी ताजगी और आबो-ताब में फर्क नहीं आया। हां, कुछ तस्वीरें जिनकी काफी एहतियात न हो सकी, अलबत्ता कुछ खराब हो गई हैं। रेनाल्ड्स कहा करता था कि वह जिन उस्तादों की बनाई हुई हैं वह इंसान नहीं फरिश्ते थे। इटली की शान सारे योरप पर अभी तक ऐसी छाई हुई है कि किसी देश का आदमी अपनी कला का उस्ताद नहीं माना जाता जब तक कि वह दो-चार बार इटली की चित्रशालाओं को ठीक से देख न ले। खासतौर पर रोम की चित्रशाला वैटिकन तो हमेशा कला-प्रेमियों के लिए एक दर्शनीय स्थान रहा है।

उसकी बुनियाद पोप लियो के मुबारक जमाने में पड़ी थी और उसी वक्त से बड़े-बड़े उस्ताद उसकी मेहराबों और ताकों को अपनी जादू-भरी तूलिका से सुशोभित करने लगे। दुनिया में कोई दूसरी चित्रशाला ऐसी नहीं जो महत्त्व या महानता की दृष्टि से उसकी बराबरी का दम भर सके। यहां तक कि उसकी सैर करने ही से आधुनिक युग के चित्रों पर दावे के साथ कहने का अधिकार मिल जाता है। योरप में कितने ही ऐसे कला-प्रेमी पड़े हुए हैं जो उनमें की एक-एक तस्वीर के लिए दस-दस लाख पौण्ड तक देने को तैयार हैं। यहां बड़े-बड़े उस्तादों ने सौन्दर्य और यौवन, वीरता और पौरुष, पवित्रता और उपासना, तप और साधना, प्रेम और वात्सल्य के अच्छे से अच्छे नमूने अपने जादू-भरे कलम से बनाकर रख दिये हैं जो प्रकृति-चित्रकार की अच्छी से अच्छी कारीगरियों से टक्कर लेते हैं।

सब कलाओं का नियम है कि जब वह आरंभिक दशाओं को पार करके उत्कर्ष को पहुंचती हैं तो उनमें विभिन्न रंग पैदा हो जाते हैं। हिन्दुस्तान में दर्शन और धर्म-चर्चा के सात रंग मौजूद हैं। उसी तरह उर्दू शायरी में दिल्ली और लखनऊ की शैलियां अलग-अलग हैं। उसी तरह इटली में चित्रकला के अलग-अलग रंग हो गये जिनमें रोम, वेनिस, फ्लोरेन्स और मिलान बहुत प्रसिद्ध हैं। हर रंग को अपनी विशेषताओं पर गर्व है। कोई आकृति-चित्रण पर जान देता है, कोई प्रकृति-चित्रण पर, कोई कल्पना की रंगीनी पर। उनकी कला की सूक्ष्मताओं में भी अंतर है और हर रंग के साथ बड़े-बड़े उस्तादों के नाम जुड़े हुए हैं।

रोम से फ्रांस, स्पेन और डेनमार्क ने सबक सीखा और इन्हीं तीनों देशों के कुछ बड़े चित्रकारों ने इंगलिस्तान में इस कला का प्रचार किया। इटली के बाद चित्रकला में फ्रांस का स्थान है और वहां की चित्रशाला 'लूव्र' भी दूसरा वैटिकन है।

जो लाभ मनुष्य को कविता से प्राप्त होते हैं वही लाभ चित्र से भी प्राप्त होते हैं। कविता स्वयं एक मोहक वस्तु है, चित्र का भी यही गुण है। कवि की दृष्टि सौंदर्य पर लोट-पोट हो जाती है, चित्रकार तड़पने लगता है। श्रेष्ठ कविता मनुष्य के भावों को दिखाती और हमारे हृदय की कोमल स्थितियों को व्यक्त करती है, दिलों को उभारती और हमारे विचारों को हीनता से निकालकर उत्कर्ष पर पहुंचाती है। यानी कवि का श्रेष्ठतम कर्त्तव्य मनुष्य को सुंदरतर बनाना है। श्रेष्ठ चित्रकला भी हमारे सामने मानव समाज के सबसे अच्छे पहलू दिखाती और अच्छे-अच्छे कामों के नमूने पेश करती है।

यानी कविता की तरह उसका कर्त्तव्य भी आदमी को इंसान बनाना है। कभी-कभी कविता की तरह चित्रकला भी जमाने की बुराइयों पर कोड़े लगाती है। मगर दोनों कलाएं गुलदस्ते सजाने वाले बागवान हैं न कि घास-पात उखाड़ने वाले माली।

कविता के समान चित्रकला भी व्यक्तियों को राष्ट्रीयता की ओर ले जाती है बल्कि इस वक्त हिन्दुस्तान को कविता से अधिक चित्रकला की ज़रूरत है। ऐसे देश में जहां सैकड़ों विभिन्न भाषाएं प्रचलित हैं, अगर कोई सर्व-सामान्य भाषा चल सकती है तो वह तस्वीर है। यही भाषा कश्मीर से कन्याकुमारी तक हर आदमी की समझ में यकसां आ सकती है। स्वर्गीय राजा रवि वर्मा अगर तेलुगू भाषा में कविता करते तो उनके नाम से यह प्रदेश आज परिचित भी न होता और न उससे समग्र राष्ट्र का कुछ भला होता। मगर उनके चित्रों ने सारे देश में एक सामीप्य, एक आत्मीयता की भावना उत्पन्न कर दी है। बंगाली भी शकुन्तला के चित्र से उतना ही आनंदित होता है जितना कि पंजाबी या मरहठा हो सकता है क्योंकि सब हिन्दू समुदायों में कालिदास और उसकी नायिका का नाम बच्चे-बच्चे की ज़बान पर है। उसी तरह अनगिनत ऐसे धार्मिक और सांस्कृतिक विषय हैं जो सब हिन्दुस्तानियों के दिलों में एक ही विचार, एक ही उत्साह, एक ही भावना उत्पन्न कर सकते हैं और जो चित्र ऐसे पवित्र विषयों को अंकित करता है वह देश में सच्ची राष्ट्रीयता फैलाता है क्योंकि एक ही विचार से प्रभावित हो जाने का नाम राष्ट्रीयता है। कौन ऐसा हिन्दू होगा जो राजा रामचन्द्र के बनवास पर आंसू न बहाये। श्रीकृष्ण की बांसुरी की मोहक पुकार से कौन विभोर न हो जायगा। दमयंती के सतीत्व की कसम कौन हिन्दुस्तानी न खायेगा। यह तो खैर धार्मिक बातें हैं। सिर्फ एक हिन्दुस्तानी घराने की तस्वीर, एक भारतीय पति का अपनी प्यारी पत्नी से विदा लेना, एक हिन्दू औरत का अपने परदेश जाने वाले बालम के घर लौटने के लिए आंचल उठाकर सूरज से प्रार्थना करना, एक हिन्दू लड़के का अपनी मां की गोद में खेलना--ऐसे विषय हैं जो एक जादू-भरे चित्रकार के हाथों में सच्ची जातीयता के चिह्न बन सकते हैं।

चित्रकला से हमारा अभिप्राय फोटोग्राफी कदापि नहीं है। फोटोग्राफी सीखना दिनों का काम है, चित्रकला वर्षों का, बल्कि उससे भी कहीं ज़्यादा। यद्यपि आजकल चित्रकला की तुलना में फोटोग्राफी की उसके सस्तेपन के कारण बहुत उन्नति हो रही है लेकिन कला-मर्मज्ञ फोटोग्राफी को कला की श्रेणी में लाते ही नहीं। इसमें संदेह नहीं कि फोटोग्राफर बहुत थोड़े समय में असल चीज़ की नकल उतार लेता है मगर यह नकल, बेजान, मुर्दा और बेरंग होती है। प्रकृति की चित्र-विचित्र रंगारंगी दिन की तरह रौशन है। ऐसी कोई प्राकृतिक वस्तु नहीं जो कोई न कोई रंग न रखती हो। फोटोग्राफर इस बात को बिल्कुल आंख से ओझल कर देता है। मसलन् अगर किसी पहाड़ी दृश्य की तस्वीर उतारेगा तो पहाड़ का दामन, उसकी चोटी, उस पर के हरे-भरे पेड़, उसके दर्रे और गुफाएं और उसके सामने का विस्तृत और मोहक दृश्य सब एक ही रंग के होंगे। आसमान नीले के बजाय कुछ पीलापन लिये होगा। अगर इस पहाड़ में कोई झरना होगा तो फोटो में एक सफेद लकीर की तरह दिखाई देगा जिसमें गति, तेजी और झाग नाम को न होगी। उसको देखकर हम यह न पहचान सकेंगे कि यह किस दृश्य का चित्र है चाहे वह दृश्य हमारी आंखों

में कैसा ही परिचित क्यों न हो। इसके विपरीत, चित्रकार अगर इसी दृश्य का समां सुबह के वक्त दिखायेगा तो पहाड़ की चोटियों पर धुंधली सुनहली किरणें होंगी, पहाड़ की तलहटी ऊपरी हिस्से से कुछ ज़्यादा कालापन लिये होगी, पेड़ हरे-भरे और सुनहरे होंगे, आसमान पर सूर्योदय की लाली फूली हुई, झरने का पानी मचलता और लहराता हुआ, पहाड़ के सामने का मैदान पीलापन लिये हुए शबनमी रंग का नजर आयेगा। अगर हमने कभी इस दृश्य को देखा है तो तस्वीर के देखते ही फौरन पहचान जायेंगे। निस्संदेह फोटोग्राफर यथार्थ-चित्रण में चित्रकार से बढ़ा रहता है मगर कला वह है जो प्रकृति की सुंदरताओं में और भी कुछ जोड़े, सुंदर को सुंदरतर बनाये, न कि प्राकृतिक सौंदर्य को और घटाकर और उसे प्राकृतिक अलंकारों से वंचित करके हमारे सामने प्रस्तुत करे। चित्रकार अगर कोई दृश्य दिखाता है तो केवल यथार्थ-चित्रण करके संतुष्ट नहीं हो जाता बल्कि वह अपनी मौलिक सृजन-शक्ति और विवेक से काम लेता है। अगर कोई भद्दी चीज़ सामने आ गई है तो वह उसे आंख की ओट कर जाता है और किसी दूसरे दृश्य की सुंदर चीजें ऐसे सुरुचिपूर्ण ढंग से लाकर मिला देता है कि चित्र का सौंदर्य दुगना हो जाता है। वह प्रकृति की नकल नहीं करता बल्कि प्रकृति को संवारता और सुधारता है। बेचारा फोटोग्राफर अपनी कला के बंधनों से विवश है। वह नकल करता है और नकल भी ऐसी जिसका असल में कोई मेल नहीं होता।

कवि के समान चित्रकार में भी उन्मेष हुआ करता है मगर कवि तो होश संभालते ही अपनी कवि-प्रकृति का परिचय देने लगता है और बेचारा चित्रकार बहुत दिनों तक प्राकृतिक दृश्यों, मानव स्वभावों और वृत्तियों और जानवरों की आदतों का अध्ययन और निरीक्षण करता रहता है। उसके लिए इन बारीकियों को बहुत ध्यान से देखने की कवि की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यकता है। चित्रांकन वह कला है जिसके लिए बहुत अवकाश, बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि, बड़ी व्यापक और ज्वलंत कल्पना, बड़ा दर्दमंद और नाजुक दिल होना चाहिए। इन खूबियों के होने पर भी आदमी बगैर दिन-रात अभ्यास किये और रंगों के रहस्य और उनकी बारीकियां समझे, बगैर उस्तादों की बनाई हुई तस्वीरें देखे और उनकी खूबियों को समझे इस कला में दक्षता नहीं प्राप्त कर सकता। उसकी एक-एक विधा बल्कि एक-एक विधा की एक-एक शाखा में दक्षता प्राप्त करने के लिए एक जिंदगी दरकार है। कोई चित्रकार फूलों का प्रेमी होता है और वह उन्हीं की खूबियां दिखाने में अपनी जिंदगी खर्च कर देता है, कोई जिंदगी भर कुत्तों की तस्वीरें खींचता है। किसी ने बच्चों की तस्वीरें खींचना अपने जीवन का कार्य बना लिया है और कोई समुद्री दृश्यों पर मुग्ध है। यह क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इस पर संपूर्ण अधिकार कर लेना एक आदमी की शक्ति से बाहर है। उसके एक छोटे से टुकड़े को ले लीजिए और उसी पर अपनी इमारतें बनाइये और तब वह इमारत ऐसी होगी कि देखने वाले उसकी तारीफ करेंगे और वह बहुत दिनों तक कायम रह सकेगी।

योरप की बहुत-सी पत्रिकायें नियमपूर्वक चित्रकला पर लेख प्रकाशित किया करती हैं। खास इंगलिस्तान में ऐसी कई पत्रिकायें हैं। इन लेखों का जनता के हृदय में क्या महत्त्व है वह इससे स्पष्ट है कि ऐसे लेख हमेशा बहुत ऊंचा स्थान पाते

हैं। वहां कोई अच्छी तस्वीर निकल जाती है तो चारों ओर उसकी चर्चा होने लगती है, पत्रिकाएं उसकी अनुकृतियां छापती हैं, उस पर टीका-टिप्पणी की जाती है, उसकी अच्छाइयों और बुराइयों पर बहसें होती हैं। हिन्दुस्तान में इस कला की उन्नति की यह मंजिल कोसों दूर है। देखा चाहिए हम कब तक वहां पहुंचते हैं।

[उर्दू लेख। 'फने-तस्वीर' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', मार्च, 1907 में प्रकाशित। 'मज़ामीन-ए-प्रेमचंद' में संकलित। हिन्दी रूप 'चित्रकला' शीर्षक से 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

टॉमस गेन्सबरो

चित्रकला की विभिन्न विधाओं में प्रकृति-चित्रण को सबसे कठिन और सूक्ष्म ठहराया गया है और आकृति-चित्रण को सबसे सरल। अगर रेनाल्ड्स, जो अंग्रेज़ी चित्रकला का ब्रह्मा समझा जाता है, आकृति-चित्रण की कला को उत्कर्ष के शिखर पर ले गया तो गेन्सबरो ने प्रकृति-चित्रण को कमाल के दर्जे तक पहुंचाया। रेनाल्ड्स के पहले इंगलिस्तान में वैन्डाइक और रुबेन्स जैसे-जैसे बड़े चित्रकार आकृति-चित्रण की कला का प्रवर्तन कर चुके थे और सामान्य रुचि भी उसी की ओर झुकी हुई थी। गेन्सबरो के पहले इंगलिस्तान में किसी ने प्रकृति-चित्रण का साहस न किया था और इस दृष्टि से वह अपने देश में इस कला का प्रवर्तक और जन्मदाता कहा जा सकता है।

टॉमस गेन्सबरो सन् 1747 ई॰ में सफोक नामक सूबे के एक नगर में पैदा हुआ। उसका बाप बजाज था और अपनी ईमानदारी, लेन-देन की सफाई और मेहनत के लिए आस-पास मशहूर था। उसकी मां साधारण मांओं की तरह मुहब्बती, गंभीर और अपने लड़कों पर गर्व करने वाली थी। यह खानदान वहां बड़ी इज़्ज़त से देखा जाता था। टामस अपने तीन भाइयों में सबसे छोटा था लेकिन अक्ल और मिजाज की तेजी में सबसे बढ़कर था। चित्रकला का प्रेम वह मां के पेट से लेकर आया था। उसे इससे स्वाभाविक लगाव था। उसके मकान के पास एक बहुत खूबसूरत, चार मील के घेरे की झील थी। उसके किनारे-किनारे बड़े-बड़े पुराने छतनार छांहदार पेड़ लगे हुए थे। झील के पेचीदा नाले बड़ी बांकी अदा से धीमे-धीमे अठखेलियां किया करते थे। टामस स्कूल जाता तो उन्हीं सुहानी जगहों के सैर-सपाटे किया करता और उस सुंदर, मोहक दृश्य को देखते-देखते उसे प्राकृतिक दृश्यों से प्रेम-सा हो गया और आखिरकार वह दृश्य-चित्रण में कमाल पर पहुंचा। अब भी वह कोने, वह पेड़ मौजूद हैं जहां बैठकर वह फूलों, पत्तियों, पेड़ों और सुंदर दृश्यों के चित्र खींचा करता था और कहा जाता है कि उनमें आने वाले जमाने के कमाल का पूर्वाभास मिलता है, केवल अभ्यास की कमी है। दस ही बरस की उम्र में उसके हाथों की तेजी और आंखों की सफाई के जौहर खुलने लगे और बारह बरस की उम्र में तो वह कुशल चित्रकार बन गया। ज़ाहिर है कि ऐसी हालत में उसकी स्कूली शिक्षा नाममात्र को हुई होगी मगर जो लोग प्रकृति से कलाकार उत्पन्न होते हैं वह अपने किताबी ज्ञान की कमी को अपने निजी अनुभव और प्रत्यक्ष निरीक्षण से बहुत जल्द पूरा कर लिया

करते हैं।

कुछ दिनों तक तो टॉमस अपने इस व्यसन को अपने मां-बाप से छिपाता रहा। मगर कब तक छिपाता। एक रोज उसके जी में आयी कि झील के किनारे बैठकर खूब प्रकृति की सैर कीजिए, मगर स्कूल बंद न था। आखिर अपने पिता की ओर से मास्टर के पास एक खत लिखा कि टामस को आज की छुट्टी दे दीजिए। उस वक्त तो चकमा चल गया मगर बाद को जब भेद खुला और मास्टर ने टामस के पिता के पास वह खत इसलिए भेजा कि बेटे को सावधान कर दिया जाय तो बाप ने बड़े दुख से कहा—यह छोकरा तो एक ही घाघ निकला ! यह कभी न कभी जरूर फांसी पर चढ़ेगा ! मगर जब गांव वालों ने कहा कि उस दिन तो टॉमस झील के किनारे बैठकर तस्वीरें बना रहा था और बाप ने उन तस्वीरों को देखा तो दुख की जगह हार्दिक प्रसन्नता हुई। बोल उठा—टॉमस, तुम तो चित्रकार हो गये।

एक बार वह अपने बाप के बागीचे में बैठा हुआ एक पुराने, ठूंठे लेकिन सुंदर पेड़ की तस्वीर उतार रहा था कि उसने गांव के एक आदमी को चहारदीवारी के ऊपर से कुछ लाल-लाल पके हुए आड़ुओं की तरफ ललचाई आंखों से ताकते देखा। सूरज की तिरछी किरणें उसके ललचाये हुए चेहरे पर कुछ इस तरह पड़ रही थीं कि उस पर धूप-छांव को बड़ी सुहानी कैफियत पैदा हो रही थी। टॉमस ने उसी वक्त उसका चेहरा भी उतार लिया। बाद में जब उसके पिता ने यह तस्वीर देखी तो बहुत खुश हुआ और किसान को बुलाकर कहा, जरा अपनी सूरत देखो ! बेचारा किसान बहुत लज्जित हुआ। यह तस्वीर खुद टॉमस को ऐसी भली मालूम होती थी कि उसने बहुत अरसे के बाद उसे रंग-रौगन से सजाया और कला के पारखियों ने उसकी बड़ी तारीफ की। ऐसी ज़ल्दी में उसने जो तस्वीरें बनायी हैं उनमें ऐसी स्वच्छंदता और सहजता है कि वह उसकी सबसे अच्छी तस्वीरों में हैं।

उसके बचपन के दिनों के खाकों में अब कोई खाका बाकी नहीं मगर किसी वक्त वे सैकड़ों की तादाद में थे। चरती हुई गायें, शाखों पर चहचहाती हुई चिड़ियां, पानी पीती हुई भेड़ें, बांसुरी बजाता हुआ किसान, गाय को दाना खिलाती हुई अहीरिन, नदी किनारे का वातावरण, खुशनुमा घाटियां, कोई चीज़ ऐसी न थी जिस पर उसने अपनी पेंसिल न चलायी हो। वह उनके खाके खींच-खींचकर रखता जाता कि आगे चलकर उनकी तस्वीरें बनाऊंगा मगर जब वह इस कला में निपुण हुआ तो ये खाके आंख में न जंचे, उन्हें यार-दोस्तों में बांट दिया। एक कला-मर्मज्ञ ने इन खाकों में से एक देखा था जिसमें एक पेड़ का कुंज बना हुआ था। उसकी राय थी कि यह अपने ढंग की एक बेजोड़ तस्वीर थी।

गेन्सबरो जब चौदह बरस का हो गया और चित्रकला की ओर उसके रुझान को काफी ख्याति मिल चुकी तो लोगों की सलाह हुई कि उसे इस कला का और भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी चित्रकार के पास भेजा जाय। होगार्थ के मित्रों में एक हेमैन नाम का आदमी था। टामस को उसका शिष्य बना दिया गया। उसकी बुद्धि, मौलिकता, विनयशीलता और हाथ की तेजी ने उसे मित्रों की दृष्टि में बहुत प्रतिष्ठा दे रक्खी थी मगर अभी तक न उसको और ने उसके गुण के किसी पारखी

को यह खयाल हुआ था कि वह इस कला के शिखर पर पहुंच सकेगा। वह समझते थे कि किसी छोटे-मोटे शहर में वह इस पेशे से अपने गुजारे भर को कमा लेगा। टॉमस को शुरू ही से आकृति-चित्रण में रुचि न थी और ऐतिहासिक घटनाओं के चित्रों में दिमाग बहुत खर्च होता था और कमाई बहुत कम। शायद वह इन दोनों विधाओं में चित्रकारी करने के लिए बनाया ही नहीं गया था। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण से उसे स्वाभाविक लगाव था और उसी को चमकाने और उसकी बदौलत खुद चमकने का उसने निश्चय कर लिया था। अंग्रेज़ी चित्रकला के क्षेत्र में अब तक इस फन को जानने वाला कोई नहीं निकला था। निस्संदेह विल्सन की तबीयत इस ओर बहुत झुकी हुई और इसके उपयुक्त थी मगर वह जीविकोपार्जन की आवश्यकताओं से विवश होकर लोगों की आकृतियां बनाने लगा था। टॉमस चार बरस तक लंदन में रहा और रंग बनाने और उसमें तेल मिलाने की कला में निपुण होकर अपने शहर को लौट आया।

वह अब अपने अठारहवें साल में था। उसकी ख्याति अपने मित्रों की मंडली से निकलकर आस-पास फैलने लगी थी। उसका हंसमुख स्वभाव, उसकी मर्दाना खूबसूरती और उसका हंसोड़पन ऐसे गुण थे जो उसे हर जगह एक विशेष स्थान दिला सकते थे। एक रोज वह शाम को सैर कर रहा था कि संयोग से एक पेड़ की खूबसूरती ने उसे अपनी तरफ खींचा। उसके नीचे भेड़ें खामोश आराम कर रही थीं और ऊपर फाख्ते और कबूतर बसेरा ले रहे थे। वह वहीं जमीन पर बैठ गया और उस दृश्य का खाका उतारने लगा कि एक सुंदर युवती भी घूमती हुई आ पहुंची। युवक चित्रकार ने फौरन उसको उस तस्वीर में और साथ ही अपने दिल में जगह दे दी। थोड़े दिनों के बाद दोनों की शादी हो गई और वह दोनों इस्पियोक में एक छोटा-सा मकान छः पौंड सालाना के किराये पर लेकर बसर करने लगे। मियां-बीवी एक दूसरे पर जान देते थे और गो अभी पेशे से बहुत कम आमदनी होती थी मगर यह किफायतशार, सुघड़ स्त्री दिलों में बदमगजियां नहीं पैदा होने देती थी।

यहां टॉमस की मुलाकात मिस्टर फिलिप से हुई जो एक किले के गवर्नर थे। मिस्टर फिलिप तबियत के रईस थे और गोष्ठियों के प्रेमी। उस बीहड़ जगह में इस तरह की गोष्ठियों का कोई मौका न था और न ऐसे लोग थे जो महफिल को गरमा सकें। ऐसे लोगों को तो कुछ शहरों ही से लगाव है। उसने जब टॉमस को ऐसा नेक, हंसमुख और कला का धनी पाया तो उससे मेल-जोल पैदा किया। टॉमस भी इस जगह पर अभी तक गुमनाम था और उसकी जरूरत थी कि रईसों की मंडली में उसकी पहुंच हो और लोग उसको जानें। अतः उस गवर्नर की संरक्षता उसने स्वीकार कर ली। फिलिप नेक मिजाज का आदमी तो था मगर घमंडी बहुत ज़्यादा था। जितना वह किसी के लिए करता उससे ज़्यादा कहता। वह ऐसा आदमी न था कि किसी के साथ भलाई करे और भूल जाय बल्कि एक बार भी किसी के साथ कोई सलूक कर लेता तो बार-बार कहा करता। यह बात टामस जैसे स्वाभिमानी आदमी को क्योंकर पसंद आ सकती थी। तब भी वह बहुत अर्से तक सिर्फ इस खयाल से कि मैं कहीं कृतघ्नता का दोषी न ठहरूं, गवर्नर साहब की ये घमंड भरी बातें सहता रहा। मगर

जब उसकी ख्याति फैली और इधर दिलों में भी गांठ पड़ी तो फिलिप टामस का वैरी बन गया। दुनिया में ऐसे बहुत आदमी मिलेंगे जो आपके साथ उस वक्त तक हर तरह से अच्छा बर्ताव करते रहेंगे जब तक आप उनको अपना देवता, अपना बुजुर्ग और अपना आदर-पात्र समझते रहेंगे। मगर ज्योंही वह आपके तौर-तरीकों में स्वतंत्रता की जरा भी गंध पायेंगे त्योंही आपके दुश्मन हो जायेंगे क्योंकि ऐसे लोगों की निगाह में इससे बढ़कर कृतघ्नता दूसरी नहीं हो सकती।

फिलिप ने टॉमस से फरमाइश की कि मेरे किले और उसके आस-पास के दृश्य खींचो। पारिश्रमिक तीस पौंड ठहरा। टॉमस ने इस तस्वीर में अपनी जान खपा दी। एक नामी मूर्तिकार ने उसे पट्टी पर खोदा और थोड़े ही दिनों में उस तस्वीर की बहुत-सी कापियां बिक गईं। असली तस्वीर अब वक्त के हाथों तबाह हो गई। इस तस्वीर के अलावा टॉमस ने इस्पियोक के तमाम सुहाने दृश्यों की तस्वीरें लीं और इस सीमित क्षेत्र में उसकी ख्याति स्थापित हो गई और जरूरत हुई कि वह अब इस जगह से हटकर किसी ज्यादा आबाद और रौनकदार जगह पर रहना शुरू करे। बाथ इंगलिस्तान का शिमला या नैनीताल है। यहां पचास पौंड सालाना का मकान किराया करके उठ आया। गर्वनर फिलिप इस जगह के फैशनेबुल लोगों में बहुत मशहूर था। लिहाजा उसने टॉमस गेन्सबरो से अपनी तस्वीर खींचने की फरमाइश की ताकि उसकी तस्वीर देखकर दूसरे रईसों का ध्यान भी उसकी ओर जाय। मगर टॉमस उस वक्त तक इस घमंडी आदमी के नाज उठाते-उठाते तंग आ गया था। उसने उसकी तस्वीर शुरू तो की मगर पूरी न कर सका और यही गोया गवर्नर साहब के कुपित होने का पहला कारण था। मगर टॉमस को गवर्नर साहब के कोप की क्या परवाह थी। वह अपना समय दृश्य-चित्रण, आकृति-चित्रण और गाने-बजाने में खर्च करता था। पहले उसकी बनायी हुई एक पोरट्रेट की फीस पांच पौंड थी फिर आठ पौंड हुई और ज्यों-ज्यों ख्याति बढ़ती गई फीस भी बढ़ती गई। यहां तक कि उसे आधे कद की तस्वीर के चालीस और पूरे कद की तस्वीर के सौ पौंड मिलने लगे। अब चारों तरफ से दौलत बरसने लगी। उसके हाथ में तेजी थी और स्वभाव परिश्रमी था। अब उसको अपने शौक की उन चीजों में रुपया खर्च करने का मौका मिला जो अब तक गरीबी के कारण न कर सकता था। किताबों से उसे प्रेम न था और न लेखकों से अनुराग था बल्कि शहर वाले उसकी संगत के जितने इच्छुक थे टॉमस उनसे उतना ही घबराता था। वह कहा करता कि मैंने प्रकृति की किताब पढ़ी है और मेरी जरूरतों के लिए यही काफी है। हां, उसे संगीतज्ञों से गहरी निष्ठा थी। उनकी संगत में बैठने से उसकी आत्मा को आनंद मिलता था। वह एक अच्छे गवैये को अत्यंत सम्मानित और एक अच्छे बाजे को ज़माने की सबसे अच्छी ईजाद समझता था। तस्वीर खींचने से जो अवकाश उसे मिलता उसको वह संगीत के ज्ञान की प्राप्ति में खर्च करता था। एक जीवनीकार कहता है कि यद्यपि टॉमस गेन्सबरो का पेशा चित्रकारी था और संगीत फुर्सत का दिल बहलाव मगर इस कला में वह जितना अभ्यास करता था उससे मालूम होता था कि वह संगीत को जीविकोपार्जन का साधन और चित्रकारी को मनोरंजन समझता है। गाने से उसे कितना प्रेम था वह इस किस्से

से प्रकट होता है। एक मर्तबा उसने वैंडाइक की किसी तस्वीर में एक बांसुरी की तस्वीर देखी और उससे समझा कि बांसुरी कोई बहुत अच्छा बाजा होगा। फिर उसे याद आया कि मैंने एक जर्मनी के प्रोफेसर को बांसुरी बजाते देखा है। उनके पास पहुंचा। प्रोफेसर साहब मेज पर बैठे हुए भुने सेब चख रहे थे और बांसुरी बगल में रक्खी हुई थी। टॉमस ने सलाम-बंदगी के बाद कहा—जनाबमन, मैं आपकी बांसुरी खरीदने आया हूं। दाम कहिए और यह नकद हाजिर है।

प्रोफेसर ने कहा—जनाबमन, मैं अपनी बांसुरी नहीं बेचता।

टॉमस—दाम पर मत जाइए, जो कहिए हाजिर है।

प्रोफेसर—उसका दाम बहुत है, आपके दिये न दिया जायेगा, दस पौंड।

टॉमस—बस, ये लीजिए दस पौंड, इसको आप बहुत कहते थे।

यह कहकर बांसुरी ले ली। रुपये गिने। थोड़ी दूर चला था कि फिर लौटा।

टॉमस—जनाब, मैं अधूरा काम करके चला जाता था। ये बांसुरी मेरे किस काम की है जब तक आपकी किताब भी न हो।

प्रोफेसर—कैसी किताब?

टॉमस—अजी वही जो आपने इस बांसुरी को बजाने के लिए बनाई है।

प्रोफेसर—वह किताब मैं नहीं बेच सकता।

टॉमस—लाइए, लाइए, दिल्लगी न कीजिए। आप जब चाहें ऐसी किताब बना सकते हैं। लीजिए दस पौंड। आदाबअर्ज।

चंद कदम चला था कि फिर लौटा।

टॉमस—आपने मुझे अच्छा फांसा, भला यह खाली-खुली किताब लेकर मैं क्या करूंगा? इसे समझायेगा कौन और बांसुरी कैसे बजेगी? उठिए तशरीफ ले चलिए और मुझे सिखा दीजिए।

प्रोफेसर—आप चलिए, मैं कल आऊंगा।

टॉमस—नहीं, आपको अभी चलना होगा।

प्रोफेसर—जरा कपड़े तो पहन लूं।

टॉमस—कपड़े पहनकर क्या कीजिएगा, आप यूं ही हज़ारों में एक हैं।

प्रोफेसर—जरा हजामत तो बना लूं।

टॉमस—वाह! तब तो आपका हुलिया ही बिगड़ जाएगा। क्या आप समझते हैं वैंडाइक आपकी तस्वीर खींचता तो दाढ़ी सफाचट करने देता?

गरज कि इतनी माथा-पच्ची के बाद वह प्रोफेसर साहब को खींच-खांचकर अपने घर ले गया। उसे इस कला से ऐसा प्रेम था कि उसका घर गाने के बीसों ही यंत्रों से भरा रहता था और उसकी मेज और दस्तरखान पर हमेशा संगीत के प्रोफेसर बैठे नजर आते थे। वह उठते-बैठते गाने की ही चर्चा किया करता। तस्वीर बनाते वक्त भी यही चर्चा रहती और ज्योंही फुरसत मिलती एक न एक बाजे पर गाने लगता।

साथ में एक गाड़ी वाला रहता था जिसके हाथ में सरकारी डाक का इंतज़ाम था। उससे टॉमस की दोस्ती हो गई। गाड़ी वाले के पास एक अच्छा घोड़ा था। टॉमस ने दो-तीन दिन के लिए उसे उधार मांगा ताकि उसको एक तस्वीर में लाये। गाड़ी

वाला चित्रकला का आदर करता था। उसने घोड़े को साज-सामान से दुरुस्त करके टॉमस के सुपुर्द कर दिया। टॉमस ने भी इस दरियादिली का जवाब दिया। उसने उसके घोड़े और गाड़ी की तस्वीर उतारी और उसके कुनबे को मय अपने उस गाड़ी में बिठा दिया। कहते हैं कि यह तस्वीर उसकी बेहतरीन तस्वीरों में से है।

अब गेन्सबरो की आमदनी, ख्याति और सम्मान इतना हो गया कि उसे साथ से लंदन में आकर रहने का साहस हुआ। यहां वह गवर्नर फिलिप की नाज-बरदारी से आजाद हो गया और पोरट्रेट बनाने प्राकृतिक दृश्यों के चित्र खींचने में दिनों-दिन उन्नति करने लगा। उसका मकान बहुत लंबा-चौड़ा और उसकी चित्रशाला बहुत सुंदर और सुरुचिपूर्ण ढंग से सजी हुई थी। और चूंकि उसने इसके पहले बहुत-सी पोरट्रेट बनाई थीं उसे लंदन में ज़्यादा दिनों बेकार न बैठना पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि उन दिनों रेनाल्ड्स की तूती बोलती थी मगर शौकीनों की तादाद इतनी ज्यादा थी कि वह अकेले सबकी फरमाइशें पूरी न कर सकता था और एक ऐसे आदमी के लिए काफी गुंजाइश थी जो जोर, आज़ादी और स्वभाव-चित्रण में कभी-कभी वैन्डाइक से टक्कर खाता था। शाही खानदान ने भी कद्रदानी की। बादशाह, मलिका और तीन शाहजादियों ने छोटे-छोटे पैमाने पर उससे तस्वीरें बनवाई। इसमें शक नहीं कि अगर उसके स्वभाव में जरा ज्यादा सहिष्णुता, जरा ज्यादा धीरज और जरा ज्यादा शिष्टाचार होता तो वह रेनाल्ड्स से भी बाजी ले जाता। उसके रंगों में ठहरने वाली शोखी थी और जिस चीज पर वह पेंसिल उठाता उसमें जान और ताजगी डाल देता था। उसकी ख्याति ने जिन शौकीनों को उस तक पहुंचाया उनमें डेवनशायर की बेगम भी थी। वह रूप और सौंदर्य की दृष्टि से अपने समय की तमाम सुंदरियों की रानी समझी जाती थी। मगर जब टामस तस्वीर लेने बैठा तो उसके सर्वजयी सौंदर्य और उसकी मोहक बातचीत का उसके दिल पर इतना असर हुआ कि उसके हाथों से चपलता, स्वच्छंदता और सहजता जाती रही। उसने कई बार कोशिश की, अपनी कला का सारा जोर खर्च कर दिया मगर बेगम के सौंदर्य की जो कसौटी उसके दिल में कायम हो गई थी उसे किसी तरह अदा न कर सका। आखिर कई बार नाकाम कोशिश करने के बाद उसने यह कहकर कि यह शकल मेरी ताकत से परे है, उसे छोड़ दिया। उसके मरने के बाद इस तस्वीर के दो-तीन मसौदे मिले जो बहुत ही खूबसूरत थे।

इसी तरह एक रईस उसके यहां तस्वीर खिंचवाने आए। कपड़े बिल्कुल नए और भड़कीले थे। बैठने का ढंग भी ऐसा था जिससे रोब-दाब झलकता था। जब गेन्सबरो ने हाथ में पेंसिल ली तो आपने फरमाया, 'जनाबमन, मेरी ठुड्डी पर एक गड्ढा है, उसे न भूल जाइएगा।' टामस आपकी चाल-ढाल देखकर हंस रहा था। खुशामद से उनको चिढ़ थी, न जबान से न पेंसिल से वह किसी की खुशामद करना पसंद करता था। बोल उठा—जनाब, तशरीफ ले जाइए, मैं आपकी तस्वीर खींचने से बाज आया।

एक बार मशहूर ऐक्टर डेविड गैरिक टॉमस के यहां तस्वीर खिंचवाने आया मगर जब चित्रकार ने उसके चेहरे पर निगाह डाली उसने एक नये अंदाज और

अनोखे ढंग का चेहरा बनाया, कभी आंखें छोटी कर दीं, कभी होंठ मोटे कर दिये। आखिर गेन्सबरो इन शरारतों से घबरा गया। गैरिक खुश होते हुए लौटे और रेनाल्ड्स से अपनी इस शरारत को बड़े गर्व से बयान किया। इस मंडली में इस पर खूब कहकहे रहे।

लेकिन बहुत कम ऐसे लोग हैं जो किसी कला की हर विधा में कमाल रखने का दावा कर सकते हों। आकृति-चित्रण में टॉमस निश्चय ही अभ्यस्त था लेकिन रेनाल्ड्स उससे बढ़ा हुआ था। उसकी स्वाभाविक रुचि प्रकृति-चित्रण में थी और इस क्षेत्र में वह बेजोड़ था। नेचर को उसने बेशुमार दिलचस्प सूरतों में तस्वीर खींची और उसको पेंसिल ने अछूती सहजता से नेचर की कोमल से कोमल भावनाओं को लिपिबद्ध किया। कभी एक बड़े पेड़ की तस्वीर, कभी बेलों से लिपटी हुई झाड़ी, कभी अपनी हँसिया तेज करता हुआ घसियारा, कभी सीटी बजाता हुआ हलवाहा, कभी बांसुरी बजाता हुआ चरवाहा—प्रकृति के ये तमाम दृश्य उसने ऐसी सफाई, खूबी और नजाकत से दिखाये हैं कि कोई दूसरा नहीं दिखा सकता।

टॉमस को कवियों और लेखकों से बहुत लगाव न था। तो भी प्रसिद्ध व्याख्याता एडमंड बर्क, और नाटककार शेरिडन आदि जैसे कलाप्रेमी लोगों से उसे विशेष प्रेम था। सर जार्ज बोमान्ट इस जमाने के शौकीन-मिजाज रईस थे। अधिकांश कवि और कलाकार उनके आतिथ्य-सत्कार का लाभ उठाया करते थे। बर्क, शेरिडन गेन्सबरो के यहां दिलबहलाव के लिए जमा हुआ करते थे। जार्ज बोमान्ट अपने एक किस्से में बयान करते हैं कि 'एक बार गेन्सबरो को मैंने दावत की। बर्क वगैरह भी शामिल थे। उस रोज टॉमस ने सबको खूब हंसाया, खूब हाजिरजवाबी दिखाई, ऐसी कि हम सब उसकी तीक्ष्ण बुद्धि के कायल हो गए और दस बजे रात खूब चहल-पहल रही। आखिर चलते वक्त यह वादा हुआ कि दूसरे दिन फिर लोग जमा हों। उस दिन फिर लोग आए मगर टॉमस की हाज़िरजवाबी विदा हो गई थी। वह चुपचाप एक तरफ बैठा रहा। लोगों ने बहुत चाहा कि उसकी तबीयत को गरमाएं मगर नाकाम रहे। आखिर उसने शेरिडन का हाथ पकड़ लिया और एक ओर अकेले में ले जाकर बड़ी गंभीरता से बोला—अब मेरे मरने के दिन पास आ गये हैं। मैं देखने में जवान नजर आता हूं मगर मेरी मौत के दिन दूर नहीं। इसलिए मैं चाहता हूं कि कम से कम अपने एक दोस्त को हमदर्दी के लिए अपने साथ ले चलूं। तुम चलोगे या नहीं? साफ बोलो, हां या नहीं। शेरिडन ने हंसकर कहा, जरूर चलूंगा। इतना सुनते ही टॉमस की दिल्लगीबाजी फिर लौट आयी। वह फिर बुलबुल की तरह चहकने लगा और बाकी वक्त नाच-गाने में कटा।'

कलाकारों में और गुणों के साथ-साथ ईर्ष्या का गुण भी आमतौर पर ज्यादा होता है। एक व्यक्ति दूसरे की रचना को तुच्छ समझता है और अपने को उससे बड़ा साबित करने की कोशिश करता है। रेनाल्ड्स और गेन्सबरो में बराबर खटपट रहा करती थी। रेनाल्ड्स पोरट्रेट बनाता था और उस जमाने में पोरट्रेट बनाने की जितनी कद्र थी उतनी प्रकृति-चित्रण की नहीं हो सकती थी। इसी कारण से सब चित्रकार उससे जलते थे। गेन्सबरो खुल्लमखुल्ला उसकी बुराई किया करता था। एक बार आपसी

मेल-जोल का जोर यहां तक हुआ कि दोनों आदमी एक दूसरे की तस्वीर खींचने के लिए तैयार हो गये थे मगर फिर बिगाड़ हो गया और फिर दोनों आदमी अलग हो गये। गेन्सबरो ने मृत्यु-शैया पर अपने प्रतिद्वंद्वी को याद किया। रेनाल्ड्स की साफदिली देखिए कि उसी वक्त हाजिर हो गया। दोनों कलाकार गले मिले और दिलों में जो दोनों के डाह के कांटे चुभे हुए थे वह उसी वक्त निकल गये। अनबन और अदावतें उसी वक्त तक रहती है जब तक उनसे तबीयत को कोई खुशी हासिल होती है। जब दुनिया की तरफ से दिल बुझ जाते हैं तो स्वाभाविक रूप से दुख होता है कि हम क्यों इतने दिनों तक एक-दूसरे की बुराई और एक-दूसरे को नुकसान पहुंचाने की कोशिश करते रहे।

गेन्सबरो अपनी तस्वीरों पर दस्तखत नहीं किया करता था। उसका खयाल था कि किसी तस्वीर का आदर इसलिए नहीं होता कि वह किसी चित्रकार की बनाई हुई है बल्कि इसलिए कि उसमें स्वयं क्या गुण हैं। उसको विश्वास था कि मेरे चित्रों में ऐसे गुण मौजूद हैं जो मेरी विशेषतायें हैं और इन विशेषताओं के कारण मेरे चित्र हमेशा सबसे अलग पहचाने जाएंगे। अपनी तस्वीरों में 'लकड़हारा और उसका कुत्ता आंधी में' उसे बहुत पसंद थी। लकड़हारे की आंखों में जो आसमान की तरफ उठी हुई हैं कि जैसे भगवान से प्रार्थना कर रही हैं कि मुझे इस आंधी, बिजली, पानी से मुक्ति दे, एक ग्रामीण की भावना का बेजोड़ चित्र खिंच गया है। उसी तरह 'गड़रिये का लड़का और बरखा' भी देहाती ज़िंदगी के एक बहुत दिलचस्प पहलू की तस्वीर है। दोनों तस्वीरों के भीगने वालों के चेहरे से ऐसी निराशा और बेबसी टपक रही है जिसे किसी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता। पहला चित्र नष्ट हो गया है लेकिन उसका खाका अभी तक मौजूद है और जाहिर करता है कि तस्वीर बहुत ऊंचे पाये की होगी। टॉमस उसकी कीमत एक सौ गिनी खयाल करता था मगर उसकी जिंदगी में ऐसा कोई कद्रदां न मिला जो सौ पौंड भी उसके लिए दे सके। उसके मरने के बाद मिसेज गेन्सबरो ने वही तस्वीर पांच सौ पौंड में बेची। टॉमस के अन्य लोकप्रिय चित्रों में 'घड़ा लिये पनिहारिन और उसका कुत्ता' है। हमारे देश में अभी तक किसी ने इस दैनंदिन घटनाओं का चित्र खींचने का प्रयत्न नहीं किया। स्वर्गीय राजा रवि वर्मा कवित्वपूर्ण और काल्पनिक विषयों की ओर झुक गये। कभी-कभी अंग्रेज़ी पर्यटकों के फोटो अलबत्ता दिखाई दे जाते हैं मगर फोटो की तस्वीरें कभी ऐसी प्रभावोत्पादक, सुंदर और आकर्षक नहीं हो सकतीं जैसी कि हाथ की बनाई हुई तस्वीरें।

रेनाल्ड्स की तरह गेन्सबरो भी खड़े-खड़े तस्वीर बनाया करता था और जो पेंसिल वह इस्तेमाल करता था उनमें लंबी-लंबी नोकें लगी होती थीं जो कभी-कभी दो गज से भी ज़्यादा लंबी होती थीं। वह अपनी तस्वीर के नमूने यानी माडल से जितनी दूरी पर खड़ा होता था उतनी ही दूरी पर तस्वीर को भी रखता था ताकि दोनों के रंगों में निगाह के फेर से कोई गड़बड़ी न पैदा हो जाए। वह बहुत सबेरे उठता और सबेरे ही से काम में लग जाता था। बारह-एक बजे तक काम करने के बाद वह अपने दिल बहलाने के कामों में लग जाता था। उसे शाम के वक्त अपनी

पत्नी के साथ बैठकर तरह-तरह के खाके खींचने में बहुत मजा आता था। खाके खींच-खींच वह मेज के नीचे फेंकता जाता था। उसमें से जो मन के अनुकूल हो जाते उन पर ज्यादा ध्यान देकर उन्हें तस्वीर की सूरत में लाया करता था। गर्मी में वह देहात के हरे मैदानों और साफ हवा में घूमा करता था और जाड़े में जब काम करके थक जाता तो अपनी खिड़की से सर निकालकर धूप खाया करता।

इस चित्रकार में तन्मयता का कुछ विशेष गुण था। एक जीवनीकार लिखता है कि टॉमस को बीन बजाने का बहुत शौक था। एक रोज कर्नल हैमिल्टन नाम के एक व्यक्ति ने उसके सामने बीन बजाना शुरू किया। टामम पर इस आनंद का ऐसा नशा छाया कि उसने कर्नल से कहा, 'गाये जाओ मैं तुम्हें 'लड़का छप्पर पर' वाली तस्वीर दूंगा जिसके खरीदने की तुम कई बार दरख्वास्त कर चुके हो।' कर्नल ने खूब दिल लगाकर गाया और टॉमस मुग्ध भाव से बैठा सुनता रहा। खुशी के आंसू आंखों से जारी थे और सच्चा आत्मिक उल्लास चेहरे से झलक रहा था। कर्नल हैमिल्टन ने उसी वक्त गाड़ी किराया की और उस तस्वीर को घर ले गया।

जिस दावत का सर जार्ज बोमान्ट ने ज़िक्र किया है उसे मुश्किल से एक साल गुजरा होगा कि गेन्सबरो के नाम सचमुच मृत्यु का संदेश आ गया। वारेन हेस्टिंग्स उस जमाने में हिन्दुस्तान से ताजा-ताजा वापिस गया था और उसकी उन ज्यादतियों के सिलसिले में जो उसने यहां पर देशी रियासतों के साथ की थीं, उसकी अच्छी तरह मरम्मत की जा रही थी। एडमंड बर्क अपनी भाषण-शक्ति का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे थे। हर रोज हाउस ऑफ कॉमन्स के सामने भीड़ लगी रहती थी। गेन्सबरो भी शेरिडन के साथ बर्क का भाषण सुनने गया और एक खिड़की के सामने पीठ करके बैठ गया। थोड़ी देर के बाद यकायक उसे मालूम हुआ कि किसी ने मेरी गरदन पर बर्फ रख दी, फिर रगें तन गई और दर्द होने लगा। घर आकर उसने फलालैन वगैरह बांधा मगर कुछ फायदा न हुआ। आखिर जर्राहों और डॉक्टरों को दिखाया। सबने कहा, यह मामूली सर्दी है, कोई खतरे की बात नहीं। मगर गेन्सबरो के दिल में कोई बैठा हुआ कह रहा था कि तुम्हारा अंत निकट है। आखिरकार अंत आ गया। दूसरी अगस्त, सन् 1788 को इकसठवें साल में उसका देहांत हो गया। मरने के पहले उसने रेनाल्ड्स को याद किया और दोनों आदमियों में मेल हो गया था। रेनाल्ड्स और शेरिडन लाश के साथ साथ कब्र के दरवाजे तक गये।

गेन्सबरो की मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी ने सभी तस्वीरें बेचने के लिए पेश कीं जिनमें छप्पन तस्वीरें और सौ से ज्यादा खाके थे। बहुत उसी मौके पर बिक गई। कुछ नीलाम कर दी गई। उनमें की दो तस्वीरें वक्त की तबाही से बचते-बचते बच रही हैं। एक का नाम 'नीला लड़का' और दूसरे का 'झोंपड़े का दरवाजा' है। पहली तस्वीर रेनाल्ड्स की जिद में खींची गई थी। रेनाल्ड्स ने अपने भाषण में कहा था कि 'नीला रंग कपड़े वगैरह के लिए ठीक नहीं।' गेन्सबरो ने 'नीला लड़का' बनाकर इस दावे का खंडन किया। बहुत से आलोचकों का कहना है कि अंग्रेज़ी चित्रकारिता में किसी लड़के का चित्र ऐसे ऊंचे पाये का नहीं। नीले रंग का इस्तेमाल बहुत मुश्किल है और इसी लिहाज से टॉमस वैंडाइक से बहुत मिलता था जो इस खूबी के लिए

दुनिया में मशहूर है। इस लड़के के चेहरे से ऐसा प्राकृतिक सौंदर्य प्रकट होता है और उसकी भंगिमा ऐसी सहज़ है कि देखने वालों को आश्चर्य होता है। दूसरी तस्वीर में एक खूबसूरत-सा झोंपड़ा है जिसके दरवाजे पर एक औरत एक बच्चे को गोद में लिये बैठी है और उसके इधर-उधर कई बच्चे खेल-कूद रहे हैं। यह झोंपड़ा बहुत घने पेड़ों की छाया में बनाया गया है और पेड़ों के बीच से पानी के सोतों और हरे-भरे लहलहाते हुए मैदानों का दृश्य दिखाई देता है। उसके रंग बहुत शोख हैं। उसमें एक तरह का भूरा सुनहरापन पाया जाता है जो इस चित्रकार की एक विशेषता है। औरत खुद एक तंदुरुस्त, गदरायी हुई देहाती औरत की बेहतरीन मिसाल है जिसके चेहरे का सौंदर्य और सलोनापन उसकी आंखों की सादगी और होंठों की मुस्कराहट से और भी दुगना हो जाता है।

शक्ल-सूरत में गेन्सबरो बहुत सुंदर कहा जाता है। उसने भी होगार्थ की तरह यूनिवर्सिटी की शिक्षा न पाई थी मगर उसके पत्र जो मिले हैं उनमें जो हास्यप्रियता और कोमलता है वह बहुत कम अंग्रेज़ी लेखकों की कृतियों में पाई जाती है। हां, इसमें शक नहीं कि वह जरा हंसोड़ आदमी था और इस वजह से अपने लिखने में भी वह गंभीरता नहीं बरत सकता था जो किसी दार्शनिक के लेख में होनी चाहिए। उसके इरादे बहुत मजबूत हुआ करते थे। जिस बात से एक बार जी हट गया फिर नहीं जमता था। सन् 1774 में उसने जब एक तस्वीर रॉयल एकेडेमी में नुमाइश के लिए भेजी तो यह ताकीद कर दी कि उसको जहां तक हो सके नीचे लटकाया जाय। मगर एकेडेमी में कोई शर्त उसके खिलाफ थी। लोगों ने विरोध किया। गेन्सबरो ने तस्वीर वापस ले ली और फिर कभी न भेजी।

उसके खाके बहुत से हैं और कोई ऐसा नहीं जिससे उसके जमाने का पता न चलता हो। शायद किसी चित्रकार ने भी इतने खाके नहीं छोड़े। उनमें से कुछ उसकी बेहतरीन तस्वीर के मुकाबले के हैं। उस सबों में नफासत और अनोखापन मौजूद है। एक अलोचक लिखता है कि लेडियों के जो खाके मैंने उनके देखे वैसे और कहीं देखने में नहीं आये। इनमें बहुत से खाकों के नाम मिट गये हैं मगर हाल में इसी चित्रकार के एक परपोते रिचर्ड लेन ने जो स्वयं भी उच्चकोटि के चित्रकार हैं इन स्केचों को प्रकाशित करना शुरू किया है। अब तक दो-ढाई दर्जन निकल चुके हैं और शायद यह सिलसिला बहुत दिनों तक चलेगा।'

मगर टॉमस गेन्सबरो केवल दृश्यों का चित्रकार न था। ऐसे चित्रकारों का नियम है कि अपने बगीचों को स्वर्ग का उपवन बना देंगे। उनकी नदियां तूबा की नहर को शरमायेंगी। उनके मैदान, उनकी पहाड़ियां, उनके झरने सभी ऐसे नजर आयेंगे कि जैसे वह इंसान के लिए नहीं बने हैं बल्कि फरिश्ते और देवता उनकी सैर का मजा उठाते हैं। इन तस्वीरों में इंसान का काम नहीं होता, बागीचे सजे रक्खे हुए हैं मगर सजाने वाले आंखों से ओझल हैं। झरनों से पानी बड़ी खूबसूरती से गिर रहा है मगर इस दृश्य का मज़ा उठाने वाला कोई तस्वीर में नहीं है। इसके विपरीत गेन्सबरो जब किसी दृश्य का चित्र उतारता है तो उसमें आदमी का पार्ट बड़ी खूबी से दिखाता है। उसके बागीचे फरिश्तों के बसने के लिए नहीं बल्कि इंसान की सैर और तफरीह

के लिए बने हुए होते हैं और उसमें इंसान चलते-फिरते नज़र आते हैं। उसकी नदियां, उसके झरने, सभी मौकों पर हज़रत इंसान मौजूद नज़र आते हैं। वह किसी खास उसूल या किसी खास स्कूल का पाबंद न था। वह फ्लोरेन्स या वेनिस या डेनमार्क का अनुकरण करने वाला न था। वह वैंडाइक या टिशियन या रफायल का अनुकरण करने वाला न था। वह इंगलिस्तान में पैदा हुआ था और वहीं अपनी कला की उपलब्धि की। इसीलिए उसके दृश्य सब अंग्रेज़ी दृश्य हैं। उसके स्त्री-पुरुष सब अंग्रेज़ हैं। उसकी नदियां, झोंपड़े सब अंग्रेज़ी हैं। वह रेनाल्ड्स की तरह उस्तादों से अपनी तस्वीरों के नमूने नहीं लेता था और न विल्सन की तरह स्विटजरलैंड और इटली की सीनरी खींचता है। किसी स्कूल, किसी पद्धति और किसी शैली से वह परिचित नहीं। उसने प्रकृति की पाठशाला में शिक्षा पाई और इसी शिक्षा के बल पर दुनिया के पन्ने पर अपनी मुहर लगा गया।

कभी-कभी तस्वीरें जल्दबाजी या कम ध्यान देने के कारण खराब हो गई हैं। जैसा आमतौर पर बहुत मेधावी लोगों का नियम है कि वह किसी एक बात पर तबियत को बहुत देर तक नहीं लगा सकते, उसी तरह गेन्सबरो भी एक तस्वीर को बनाते-बनाते जब घबरा जाता था तो उसे जल्दी-जल्दी खत्म कर देता और फिर पलटकर उस पर नजर न डालता। दिमाग में खयालात बिजली की दमक की तरह आते हैं। यकायक कोई ताजा, तस्वीर के काबिल खयाल आया और फौरन पेंसिल से उसका खाका खींच लिया। अब जब तक इस खाके को तस्वीर की सूरत में लाये, उस पर रंग भरे और उसमें बहुत सी ऐसी-ऐसी छोटी-मोटी खूबियां पैदा करे जो अभ्यास और चिंतन से पैदा होती हैं, तब तक खयाल की वह ताजगी बिदा हो गई। इसलिए वह बड़ी तेजी से काम किया करता था ताकि जहां तक जल्द मुमकिन हो खयाल अदा हो जाये। इस जल्दबाजी के कारण उसकी कुछ बड़ी अनमोल तस्वीरें खराब हो गई हैं। रेनाल्ड्स अपने समकालीनों के दोष और गुण पर कभी जबान नहीं खोला करते थे मगर जब गेन्सबरो के देहांत ने उसको समकालीनों की सूची से अलग कर दिया तो कभी-कभी उसकी कला की प्रशंसा करने लगे। कहते हैं, 'गेन्सबरो की तस्वीरों को जब नजदीक से जाकर खूब गौर से देखिए तो बेशुमार छोटे-छोटे निशान और लकीरें नज़र आती हैं जो बारीकियां समझने वाले चित्रकारों की दृष्टि में भी उस समय ऐसो मालूम होती है कि जैसे संयोग से रह गई हैं और उनसे चित्रकार का कोई विशेष अभिप्राय नहीं है, लेकिन जब कुछ फासले पर चले जाइए तो यही लकीरें, यही बेजोड़ अनावश्यक निशान जैसे जादू के जोर से आकार ग्रहण करने लगते हैं और जो काम उनके सुपुर्द किया गया है उसे पूरा करने लगते हैं। इसलिए मज़बूरन यह कहना पड़ता है कि गेन्सबरो में जल्दबाजी और लापरवाही के परदे में मेहनत छिपी हुई है। गेन्सबरो खुद अपनी तस्वीरों की इस खूबी को जानता था जो उसका इस ताकीद से पता चलता है कि प्रर्दशनी में हमेशा मेरी तस्वीरें पहले नजदीक और तब जरा फासले से देखी जाया करें।'

गेन्सबरो के दृश्यों में छोटे-छोटे हंसते-खेलते बच्चों का इधर-उधर आज़ादी से

दौड़ना बहुत प्यारा मालूम होता है, खासतौर पर जब रेनाल्ड्स के बच्चों से उनकी तुलना करके देखिए। इसमें संदेह नहीं कि शहरों के बच्चे भी बड़ी प्यारी चीज़ें हैं, बड़े सहज, स्वच्छंद और सुंदर लेकिन ऐसा मालूम होता है कि वह मखमली गद्दों पर सोने और सुनहरे चमचों से खिलाये जाने के आदी हैं। गेन्सबरो के बच्चों में एक प्रकार का ग्रामीण सौंदर्य, एक स्वच्छंद बांकपन, एक स्वस्थ अबोधता पाई जाती है जिससे उनके देहाती और अक्खड़ होने का पता चलता है। वह प्रकृति के बच्चे मालूम होते हैं जो प्रकृति के उपवन में आज़ादी से हंसी-खुशी दौड़ रहे हैं। उनको इस बात की परवाह नहीं कि मेरे साटन के कोट खराब हो जायेंगे या मेरे नरम-नरम जूते भीग जायेंगे। वह हरी-हरी घास पर लोटते, खरगोशों की तरह झाड़ियों में फुदकते और नालों और चश्मों में मछलियों की तरह तैरते फिरते हैं।

[उर्दू लख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना' सितम्बर, 1907 मे प्रकाशित। उर्दू में संकलित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

तुर्की में वैधानिक राज्य

उन्नीसवीं सदी में एक बार आज़ादी की हवा चली तो उसने इटली, फ्रांस, स्विटजरलैंड, संयुक्तराष्ट्र अमरीका आदि देशों को आज़ाद कर दिया। इस हवा का असर योरप ही तक सीमित रहा मगर बीसवीं सदी के आरंभ में जो हवा चली है वह अपेक्षाकृत बहुत ज्यादा स्वास्थ्यप्रद और शक्तिशाली है। इस थोड़ी-सी अवधि में उसने फारस को आजाद कर दिया है और अब खबरें आ रही हैं कि तुर्की की बूढ़ी-पुरानी हड्डियों में भी उसने रूह फूंक दी।

तुर्की की सल्तनत योरप में स्थित होने के बावजूद एशियाई सल्तनत है और योरप के इतिहासकार और विचारक उसे बहुत दिन से निरंकुश शासन का केंद्र समझते आए हैं। कोई उसे योरप का बुड्ढा आदमी कहकर पुकारता था, कोई दूसरा ही खिताब देता था। मगर सुल्तान अब्दुल हमीद की इस उदार व्यवस्था ने सबकी आंखें खोल दी है। योरप वालों के नजदीक यह पक्की बात थी कि आजादी का पौधा सिर्फ योरप की सरजमीन मे ही फूल-फल सकता है। एशिया की ज़मीन और आबहवा उसके लिए ठीक नहीं है। लार्ड मॉरले जैसा विद्वान् भी खुलेआम यह ख्याल जाहिर करने से न चूका। मगर तुर्की और फारस दोनों ही ने इस पक्की बात की जड़ खोदकर फेंक दी और साबित कर दिया कि जिस आजादी और आईन (विधान) के लिए योरप में बादशाहों के सार कटे हैं और रिआया के खून की नदियां बही हैं, वह आजादी और आईन एशिया में बिला शोर-शर के मिल जाते हैं। जनता के विचार और राय को जो महत्त्व इस अवसर पर इन दोनों देशों में दिया गया है वह योरप की दुनिया मे कहीं दिखाई नहीं देता। इसमें कोई शक नहीं कि तुर्की के सुल्तान ने यह विधान बिना काफी प्रयोग और परीक्षा के नहीं दे दिया। मिस्र और हिन्दोस्तान की तरह वहां भी कुछ दिनों से नौजवान देश-

भक्तों की एक संस्था पैदा हो गई थी जो लिखकर, बोलकर वैधानिक राज्य की ज़रूरत रिआया को समझाती रहती थी और वह सख्तियां जो आज़ादी के पहले झेलनी पड़ती हैं, वहां भी खूब की गईं। अखबारों की जबानें बंद की गईं, नौजवान देशभक्तों को फसादी और बागी खयाल किया गया और कितनों ही को देश निकाला भी हुआ। पुलिस ने मनमाना राज किया और कमिश्नर पुलिस ने खूब दिल खोलकर नवाबी की। उपद्रव हुए। यह सब कुछ होना जरूरी था, और हुआ। उसका होना इसकी दलील थी कि रिआया अपने इरादों में मजबूत हैं, और वह जिस चीज़ की मांग कर रही है उसको लिए बगैर न मानेगी। सुल्तान अब्दुल हमीद इस तमाम कशमकश को एक सच्चे दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की दृष्टि से न कि एक निरंकुश शासक की दृष्टि से देखते रहे और जब उन्हें विश्वास हो गया कि रिआया अपने इरादे में मजबूत है तो उन्होंने और ज्यादा इम्तहान लेना मुनासिब न समझा। एक पूरी कौम के विचारों की गति को समझना बहुत मुश्किल काम है और इन दमनकारी दुष्प्रवृत्तियों के लिए सुल्तान पर कोई अभियोग नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यही वह तरीका है जिससे रिआया के जीवट और मजबूत इरादे की जांच हो सकती है। वह दिन मुबारक था जब कि पूरब के एक बादशाह ने, जिसे मजहब के खयाल से अल्लाह का अक्स समझा जाता है, और जो बारह सदियों से किसी कैद और कायदे का पाबंद न था, कुरान शरीफ पर हाथ रखकर कसम खाई कि मैं रिआया की राय और मशविरे पर अमल करूंगा और तयशुदा कानून से कभी अलग न होऊंगा। वह दिन मुबारक था और शायद दुनिया के इतिहास में उससे ज्यादा भाग्यशाली और शुभ दिन दूसरा न होगा। आज तुर्की का हर आदमी सुल्तान के नाम पर गर्व कर रहा है और हर तरफ से सदाएं आ रही हैं कि खुदा सुल्तान अब्दुल हमीद को हमेशा हमेशा अमन-चैन से रक्खे। वह देशभक्त जो देश निकाले की मुसीबतें झेल रहे थे, खुश खुश अपने प्यारे वतन को वापस आ रहे हैं। वह अखबार जिनकी जबानें बंद थीं और वह भाषण देने वाले जिनके होंठों पर जबरन खामोशी की मुहर लगा दी गई थी आज हर जगह हर तरफ पुकार पुकारकर आज़ादी का स्वागत कर रहे हैं और खुशियां मना रहे हैं। आजादी का झंडा बुलंद है और वह सब दमनकारी कानून जो कुछ दिन पहले जारी किए गए थे, रद किए जा रहे हैं। पुलिस अपने करतूत का फल भोग रही है और कमिश्नर पुलिस अपने दिनों को रो रहे हैं। ऐ तुर्की के रहने वालो, ऐ हमारे एशियाई भाइयो, तुम खुशकिस्मत हो, तुम दिलेर हो, तुम्हें यह आईन और यह आज़ादी मुबारक हो।

देखिए हमारे मुसलमान देशभाई लायल्टी का राग कब तक अलापते हैं, कब तक नौकरियों-चाकरियों के लिए सिजदे में सर झुकाए और दुआ का हाथ उठाए रहते हैं। क्या ताज्जुब है खिलाफत के मुकाम की पुरजोर हवा का असर उनके दिलों पर भी हो। अगर दिल में मर्दाना भाव बाकी है तो जरूर ऐसा होगा। सुल्तान ने लायल्टी के जल्सों पर यह आईन नहीं अता किया, उसका राज ही कुछ और है। हमने लायल्टी की क्या मिट्टी पलीद की है। आंखें खोलकर देखो कि वह लोग जो एक महीना पहले तक डिसलायल और फसाद करने वाले और बागी

और गर्दन उड़ा देने के काबिल थे, वह आज देशभक्त हैं और कौम के रहनुमा हैं और आज़ादी की इमारत के मेमार हैं।

[उर्दू लेख। 'तुर्की में आइनी सल्तनत' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', अगस्त, 1908 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

अकबर की शायरी पर एक नज़र

वली और मीर से लेकर अमीर और दाग तक उर्दू जबान ने जो रंग बदले हैं वह एशियाई शायरी के समझने वालों से छिपे नहीं हैं। निस्संदेह शायरी की कल्पनाओं में गालिब को छोड़कर कोई नया ढंग नहीं अपनाया गया। तो भी मुहावरों, बंदिशों और बयान के ढंग में अलग-अलग कवियों में स्पष्ट अंतर पाया जाता है। वली ने जिन विचारों को लिया है वे हैं तो बहुत ऊंचे लेकिन उनकी शैली और इस जमाने की शैली में बड़ा अंतर है। मीर और सौदा और इंशा का रंग भी अलग-अलग है लेकिन भाव एक ही है यानी अधिकतर भाव फारसी से मिलते हुए हैं और ऐसे भाव ही हैं जो फारसी से उद्धृत नहीं कहे जा सकते। सैकड़ों मुहाविरे और तरकीबें फारसी से भिन्न हैं। उर्दू के तमाम मशहूर उस्तादों ने फारसी और अरबी की किताबें पढ़ी हैं और अरबी में अगर ज्ञान के सागर नहीं हैं तो कम से कम फारसी और सर्फ ओ नहव (व्याकरण) पढ़ी है क्योंकि इस ज्ञान के बिना रुचि का संस्कार नहीं हो सकता और उर्दू के कुछ कवि तो सचमुच बड़े आलिम-फाजिल थे मगर ये सब कल्पनाओं के गठन और अर्थ-सौंदर्य में फारसी कवियों का अनुकरण करते थे और उर्दू के पिछले उस्तादों का सामाजिक रहन-सहन भी पुराना और इस जमाने से बिल्कुल अलग था। और दाग और अमीर ने जिस जमाने में नाम हासिल किया उस जमाने की तहजीब मीर वगैरह के जमाने से हट गई थी लेकिन वह उससे प्रभावित नहीं हुए और उसका बड़ा कारण यह था कि वह न खुद अंग्रेज़ थे और न उनकी सरकारें अंग्रेज़ी रुचि रखती थीं। इस वजह से उनकी शायरी का रंग पुराना था। लेकिन जनाब अकबर प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के अलावा अंग्रेज़ी भाषा के भी विद्वान हैं और अपने इसी लगाव के कारण जनाब अकबर ने अपनी शायरी में जगह-जगह अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों को भी खपाया है और कहीं-कहीं बड़े प्यारे ढंग से खपाया है। हंसी-दिल्लगी के शेरों में यह तरकीबें सोने में सुहागा हो गई हैं लेकिन ज्यादातर गजलें पुरानी कल्पनाओं की पाबंदी के साथ कही गई हैं। अक्सर शेर मीर और मिर्जा और गालिब के रंग के हैं। कुछ गजलें जनाब अकबर ने अपने खास रंग में कही हैं जो पाठक आगे चलकर देखेंगे।

आज की उर्दू शायरी एक अजीब कशमकश में गिरफ्तार है। अंग्रेज़ी शिक्षा का विचारों पर ऐसा चुंबक जैसा प्रभाव पड़ा है कि लोग पुरानी बातों से तंग आ गए हैं। उर्दू कविता में यही हालत दिखाई देती है और आज के कवियों की साफ-साफ दो श्रेणियां हो गई हैं। दाग और हाली के असर में उर्दू शायरों के दो परस्पर विरोधी

स्कूल कायम हुए जो कई लिहाज से 'दरबारी' और मुल्की' के नाम से पुकारे जा सकते हैं। इन दोनों संप्रदायों में दो ध्रुवों की दूरी है। एक ने पुरानेपन की कसम खा ली है और दूसरे हैं कि नई-नई बातों और आज़ादी पर मिटे हुए हैं। कविता की दुनिया में इन दोनों विरोधी संप्रदायों के कारण एक तरह का तहलका मचा हुआ है। मुल्क में एक तरफ तो शायरी के दरबार से उनको निकालने की फिक्र हो रही है उन्हें काफिर करार दिया जा रहा है और दूसरी तरफ उनके शायराना अधिकारों पर झगड़ा छिड़ा हुआ है। सामान्य कविता-प्रेमी इन दोनों को जरूरत से ज्यादा जोशीला पाते हैं और खुदा बीच का रास्ता पसंद करते हैं। यही सबको अच्छा भी लगता है। इसमें शक नहीं कि पुराने किस्सों और रूपकों और उपमाओं को सिर्फ दुहराने से आधुनिक युग के लोग मुग्ध तो क्या संतुष्ट भी नहीं हो सकते। दिल शायरी से शब्दों के उलटफेर के सिवा कुछ और की भी उम्मीद रखता है। इसके साथ ही अभी बिल्कुल आज़ादी भी ठीक नहीं जो कविता के अनिवार्य बंधनों का भी ध्यान न रक्खा जाए। निरे रूखे-सूखे उपदेश दिल कुबूल नहीं करता। कविता से लोग फायदे की बनिस्बत खुशी की ज्यादा उम्मीद रखते हैं मगर इस पहलू को बिल्कुल भुला देना भी ठीक नहीं।

खुशी की बात है कि इन दोनों संप्रदायों के बीच कुछ ऐसे कवि भी हैं। जिन्होंने भाषा और कविता पर पूर्ण अधिकार रखने के साथ-साथ युग की आवश्यकताओं को भी अच्छी तरह अनुभव कर लिया है और उसमें हम जनाब खान बहादुर सैयद अकबर हुसैन साहब जज इलाहाबाद का दर्जा बहुत ऊंचा पाते हैं। आपने युग के विचारों और आवश्यकताओं का सही अंदाजा कर लिया है। उनकी शायरी में दोनों रंग उचित मात्रा में मिलते हैं और इसी वजह से आपकी शायरी खास और आम सबको इतनी ज्यादा पसंद है। आपको दिलचस्पी और दिलफरेबी के लिहाज से पुरानी शायरी का ढंग भी आता है और इसके साथ ही विचारों में उसकी संकीर्ण सीमाओं का बंधन भी स्वीकार नहीं। इसी वजह से आपकी शायरी मौजूदा कसौटी पर खरी उतरती है। उसमें बात कहने के एशियाई ढंग में पश्चिमी विचारों से सुंदरतम नमूने मिलते हैं। आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर भी आपने शिक्षा दी है और सहानुभूति दिखलाई है। मानव भावनाओं की भी झलक आपकी शायरी में रहती है और क्या अजब है कि कुछ दिनों मे देश के विभिन्न प्रभाव आपकी काव्य-शैली पर स्थायी रूप से छा जायं और इस तरह काव्य-क्षेत्र के वर्तमान विरोधी संप्रदाय मिलकर एक हो जाएं। मगर फिलहाल कशमकश जारी है और इसको जनाब अकबर ने बड़े मज़ेदार ढंग से बयान किया है—

कदीम वज़्अ पे कायम रहूं अगर अकबर
तो साफ कहते हैं सैयद यह रंग है मैला
जदीद तर्ज अगर इख्तियार करता हूं
खुद अपनी कौम मचाती है शोर वावेला
जो एतदाल की कहिए तो वो इधर न उधर
ज्यादा हद से दिये सबने पांव हैं फैला
इधर से ज़िद है कि लेमनड भी छू नहीं सकते
उधर ये ज़िद है कि साकी, सुराहिए मै ला

इधर है दफ्तरे तदबीर व मसलहत नापाक
उधर है वहिए विलायत की डाक का थैला
गरज़ दोगूना अजाबस्त जाने मजनूं रा
बलाये सोहबते लैला व फुरकते लैला

मगर इस मुश्किल को अकबर ने बड़ी खूबसूरती के साथ आसान कर दिखाया है और हर आदमी अपनी रुचि के अनुसार आपकी शायरी में से शेरों का चुनाव कर सकता है। इश्क और मुहब्बत की जिन भावनाओं को आपने कविता में व्यक्त किया है वह बड़ी खूबी से कविता में आए हैं। गजल का रंग ऐसा प्यारा है कि आशिक मिजाज कविता-प्रेमी आपकी शायरी पढ़कर बेचैन हो सकता है। कविता में सहजता ही वह चीज है जो दिलों को अपनी तरफ खींचती है। जनाब अकबर के दीवान में अक्सर शेर तीर और नश्तर का काम देने वाले हैं। शेरों का आशय स्पष्ट है और अतिशयोक्ति भी कल्पनातीत नहीं है बल्कि बड़े अच्छे ढंग से आई है। वह तमाम खूबियां जो एक सिद्धहस्त और अच्छे कवि की कविता में होनी चाहिए आपके कुल्लियात में मौजूद हैं।

आपको कुल्लियात (संपूर्ण रचनाओं का संग्रह) चालीस साल की मेहनत का नतीजा है। गजलें, रुबाइयां, कते और मसनवियां, हंसाने वाले और दूसरे फुटकर शेर, वह इन सबका एक दिलचस्प संग्रह है। यह जरूर है कि कुल्लियात में संकलन की दृष्टि से ऐसे कुछ दोष हैं कि दूसरे संस्करण में उनका संशोधन कर देना चाहिए। लेकिन इस बात को असल कविता से अधिक प्रयोजन नहीं है। कविता-मर्मज्ञ और आलोचक तो काव्य की खूबियों को देखता है और इस लिहाज से यह कुल्लियात बहुत ही कद्र के काबिल है। इसके प्रकाशन से एशियाई शायरी में आधुनिक युग के अनुसार उचित अभिवृद्धि हुई है। कुछ चुने हुए शेर सुनिए-

मेरी हकीकते हस्ती ये मुश्ते खाक नहीं
बजा है मुझसे जो पूछे कोई पता मेरा

सचमुच यह शेर अपने अर्थ की दृष्टि से बहुत सारगर्भित है। सचमुच इंसान की हस्ती सिर्फ मुट्ठी भर राख ही नहीं। ज्ञानी मुट्ठी भर राख की असलियत को समझ सकता है और इसी वास्ते एक इस्लामी लीडर या पेशवा ने कहा है मन अरफा नफ्सहू, फकद रब्बहू। यानी जिसने अपनी आत्मा को पहचाना उसने अपने परमात्मा को पहचाना। दूसरा मिसरा साफ है और हकीमत के तलबगार तो चाहते हैं कि काश वह उस रहस्य को खोले। एक उर्दू शेर में यह नाजुक खयाल पैदा करना मामूली बात नहीं।

इस्लाम के पैगम्बर की स्तुति में यह शेर खूब कहे हैं-

दुरफिशानी ने तेरी कतरों के दरिया कर दिया
दिल को रौशन कर दिया आंखों को बीना कर दिया
खुद न थे जो राह पर औरों के हादी बन गये
क्या नजर थी जिसने मुर्दा को मसीहा कर दिया

दोस्त

दिल मेरा जिससे बहलता कोई ऐसा न मिला
बुत के बंदे मिले अल्लाह का बंदा न मिला

प्रेम की बेसुधी

वाह क्या राह दिखाई है हमें मुर्शिद ने
कर दिया काबे को गुम और कलीसा न मिला

इसी जमीन में दो हास्यरस के शेर हैं–

रंग चेहरे का तो कालिज ने भी रक्खा कायम
रंगे बातिन में मगर बाप से बेटा न मिला
सैयद उट्ठे जो गजट लेकर तो लाखों लाये
शेख कुरआन दिखाते फिरे पैसा न मिला

अगर यह शेर गजल से अलग किसी नज्म में शामिल किए जाते तो दिलचस्पी बढ़ जाती मगर जनाब अकबर की बेतकल्लुफ तबीयत ने इसका खयाल नहीं किया।

आशिकाना रंग में यह शेर तारीफ के काबिल हैं और खूबी यह है कि इनमें तसव्वुफ की झलक भी मौजूद है–

गुन्चये दिल को नसीमे इश्क ने वा कर दिया
मैं मरीजे होश था मस्ती ने अच्छा कर दिया
दीन से इतनी अलग हद्दे फना से यूं करीब
इस कदर दिलचस्प क्यूं फिर रंगे दुनिया कर दिया
सबके सब बाहर हुए वहमो खिरद होशोतमीज
खानये दिल में तुम आओ हमने परदा कर दिया

ईश्वर एक है

तसव्वुर उसका जब बंधा तो फिर नजर में क्या रहा
न बहसे ईनो आं रही न शोरे मासेवा रहा

आज़ादी

जो मिल गया वो खाना दाता का नाम जपना
इसके सिवा बताऊं क्या तुमसे काम अपना

आशिकाना

अक्ल को कुछ न मिला इल्म में हैरत के सिवा
दिल को भाया न कोई रंग मुहब्बत के सिवा
बढ़ने तो जरा दो असरे जजबये दिल को
कायम नहीं रहने का ये इनकार तुम्हारा
बाइसे तसकीं न था बागे जहां का कोई रंग
जिस रविश पर मैं चला आखिर परीशां हो गया

जनाब अकबर ने यह शेर खूब कहा है और गोया गालिब के मजमून को दूसरे

ढंग से नज्म में बांधा है–

बूये गुल नालये दिल दूदे चिरागे महफिल
जो तेरी बज्म से निकला सो परीशां निकला

बुढ़ापे की शिकायत

बस यही दौलत मुझे दी तूने ऐ उम्रे अजीज
सीना इक गंजीनए दागे अजीजां हो गया

है गजब जलवा तेरे दैरे फानी का
पूछना क्या है उसके बानी का
होश भी बार है तबीयत पर
क्या कहूं हाल नातवानी का

मआरिफत (ब्रह्मज्ञान)

नसीम मस्ताना चल रही है चमन में फिर रुत बदल रही है
सदा ये दिल से निकल रही है वही है यह गुल खिलाने वाला

वैराग्य

खुदी गुम कर चुका हूं अब खुशी व गम से क्या मतलब
ताल्लुक होश से छोड़ा तो फिर आलम से क्या मतलब
जिसे मरना न हो वह हस्र तक की फिक्र में उलझे
बदलती है अगर दुनिया तो बदले हमसे क्या मतलब
मेरी फितरत में मस्ती है हकीकत में है दिल मेरा
मुझे साकी की क्या हाज़त है ज़ामे जम से क्या मतलब

दिल हो वफा-पसंद नज़र हो हया-पसंद
जिस हुस्न में यह वस्फ हो वह है खुदा-पसंद
तोड़ों 'प तेरे झूमने लगती है शाखे गुल
बेहद है तेरा नाच मुझे ऐ सबा पसंद

उर्दू के सिलसिले में कुछ फारसी गजलें भी दर्ज कर दी गई हैं और इंसाफ यह है कि जनाब अकबर फारसी में भी एक फारसीदां की हैसियत से कहते हैं। दो-एक शेर मुलाहिजा हों–

वक्ते बहारे गुल दिलम अज़ होश दूर बूद
मोजे नसीम दुश्मने शमये शऊर बूद
यक जलवा गरदद सूरते परवाना सोख्तम
आरी हमीं इलाज दिले नासुबूर बूद
खुश बूद आं जमां खुदी आज खुद खबर न दाश्त
हाशम ब ख्वाब बूद दिलम अज़ हुजूर बूद

उर्दू

मोकूफ कुछ नहीं है फकत मैपरस्त पर
जाहिद को भी है वज्द तेरी चश्मे मस्त पर

उस बावफा हो हस्र का दिन होगा रोजे वस्ल
कायम रहा जो दह्र में अहदे अलस्त पर

नई तरकीब और दिल्लगी के रंग में यह शेर मुलाहिजा हो–

मैले नजर है जुल्फे मिसे कज कुलाह पर
सोना चढ़ा रहा हूं मैं तारे निगाह पर

आशिकी और उम्मीद

तबा करती है तरे इश्क की ताईद हनोज
इन जफाओं पे भी टूटी नहीं उम्मीद हनोज

दूसरा शेर अक्सर हिन्दुस्तानियों के हाल के मुताबिक है–

न खुशी होती है दिल को न तबीयत को उभार
फिर भी सालाना किये जाते हैं हम ईद हनोज

विरह की रात का दृश्य

विरह की रात का काल्पनिक चित्र कवियों ने अलग-अलग ढंग से उतारा है। गालिब ने इस खयाल को यूं नज़्म किया है–

दागे फिराके सोहबते शब की ज़ली हुई
एक शम्अ रह गई है सो वह भी खमोश है

ज़नाब अकबर ने भी इस खयाल को बड़े पुरअसर अंदाज़ से बिठाया है–

नहीं कोई शबे तारे फिराक में दिलसोज
खमोश शम्अ है खुद जल रहे हैं शाम से हम
निगाहे पीरे मुगां कहती है मुरीदों से
रहे सलूक में वाकिफ हैं हर मुकाम से हम

ज़नाब अकबर का यह शेर हाफिज शीराज़ी के इस शेर से मिलता-जुलता है–

ब मय सज्जादा रंगीं कुन गरत पीरे मुगां गोयद
के सालिक बेखबर न बुवद जे राहो रस्मे मंजिलहा

जमाने का इंकलाब

फलक के दौर में हारे हैं बाजीए इकबाल
अगरचे शाह थे बदतर हैं अब गुलाम से हम

नाजुक खयाली

मेरी बेताबियां भी जुज्व हैं इस मेरी हस्ती की
ये जाहिर है कि मौजें खारिज अज दरिया नहीं होतीं

दिल की उदासी

हुआ हूं इस कदर अफसुर्दा रंगे बाग हस्ती से
हवाएं फस्ले गुल को भी निशात-अफजा नहीं होतीं
कजा के सामने बेकार होते हैं हवास अकबर
खुली होती हैं गो आंखें मगर बीना नहीं होतीं

आज़ादी के लाले

इतनी आज़ादी भी गनीमत है सांस लेता हूं बात करता हूं

सच्चाई के रास्ते में कठिनाइयां

मआरिफत खालिक की आलम में बहुत दुश्वार है
शहरेतन में जब कि खुद अपना पता मिलता नहीं

दोस्तों की याद

जिंदगानी का मजा मिलता है जिनकी बज्म में
उनकी कब्रों का भी अब मुझको पता मिलता नहीं

परदेश की बेकसी

बेकसी मेरी न पूछ ऐ जादए राहे तलब
कारवां कैसा कि कोई नक्शे पा मिलता नहीं
यूं कहो मिल आऊं उनसे लेकिन अकबर सच ये है
दिल नहीं मिलता तो मिलने का मजा मिलता नहीं

आशिकाना जिंदगी

दिल जीस्त से बेजार है मालूम नही क्यूं
सीने पै नफ्स बार है मालूम नहीं क्यूं
जिससे दिले रंजूर को पहुंची है अजीयत
फिर उसका तलबगार है मालूम नहीं क्यूं
अंदाज तो उश्शाक के पाये नहीं जाते
अकबर जिगर अफगार है मालूम नहीं क्यूं

नीचे लिखी हुई तरह में आपने एक लंबी लिखी है गज़ल और खूब-खूब शेर निकाले हैं। गालिबन यह गज़ल मुशायरे में कही है। यह सारी गज़ल बहुत सजी हुई है। दो-तीन शेर मुलाहिजा हों—

हिज्र की रात यूं हूं मैं हसरते कद्देयार में
जैसे लहद में हो कोई हस्र के इंतजार में
रंगे जहां कि शाद काश मेरी भी यूं ही हो बसर
जैसे गुलो नसीम की निभ गई चाह प्यार में
आंख की नातवानियां हुस्न की लनतरानियां
फिर भी हैं जांफिशानियां कूचए इंतजार में

सदाचार की शिक्षा

आइना रख दे बहारे गफलत अफजा हो चुकी
दिल संवार अपना जवाना भी खुद-आरा हो चुकी
खानए तन की खराबी पर भी लाज़िम है नज़र
ज़ीनते आराइशे कस्रे मुअल्ला हो चुकी
बेखुदी की देख लज्जत करके तर्के आरज़ू
हो चुकी हद्दे हवस मश्के तमन्ना हो चुकी

चल बसे याराने हमदम उठ गए प्यारे अजीज
आखिरत की अब कर अकबर फिक्रे दुनिया हो चुकी

एयादत को आये शिफा हो गई
अलालत हमारी दवा हो गई
पढ़ी यादे रुख में जो मैंने नमाज
अजब हुस्न के साथ अदा हो गई
बुतों ने भुलाया जो दिल से मुझे
मेरे साथ यादे खुदा हो गई
मरीजे मुहब्बत तेरा मर गया
खुदा की तरफ से दवा हो गई
न था मंजिले आफियत का पता
कनाअत मेरी रहनुमा हो गई
इशारा किया बैठने का मुझे
इनायत की आज इंतहा हो गई
दवा क्या कि वक्ते दुआ भी नहीं
तेरी हालत अकबर ये क्या हो गई

दुनिया की हकीकत

दो आलम की बिना क्या जाने क्या है
निशाने मासेवा क्या जाने क्या है

ईश्वर एक है

मेरी नजरों में है अल्लाह ही अल्लाह
दलीले मासेवा क्या जाने क्या है
जुनूने इश्क में हम काश मुबतिला होते
खुदा ने अक्ल जो दी थी तो बाखुदा होते

जबान की लुत्फ

ये खाकसार भी कुछ अर्जे हाल कर लेता
हुजूर अगर मुतवज्जो इधर जरा होते
ये उनकी बेखबरी जुल्म से भी अफजूं है
अब आरजू है कि वो मायले जफा होते

संसार की असारता

दो ही दिन में रुखे गुल ज़र्द हुआ जाता है
चमने दह्र से दिल सर्द हुआ जाता है

प्रेम से होड़

मेरे हवास इश्क में क्या कम हैं मुंतशर
मजनूं का नाम हो गया किस्मत की बात है

हुस्न ओ इश्क के ताल्लुक

सौ रंगे तसव्वुर में हम ऐ जान दर आए
हर रंग में तुम आफते ईमां नजर आए

आशिकाना

दम लबों पर था दिलेज़ार के चबराने से
आ गई जान में जान आप के आ जाने से

जमाने का इंकलाब और एकता का लोप

कल तक मुहब्बतों के चमन थे खिले हुए
दो दिल भी आज मिल नहीं सकते मिले हुए
तुम्हीं से हुई मुझको उल्फत कुछ ऐसी
न थी वरना मेरी तबीयत कुछ ऐसी
गिरे मेरी नजरों से खूबाने आलम
पसंद आ गई तेरी सूरत कुछ ऐसी

नीचे के गज़ल में काफिया और रदीफ किस कदर चुस्त है। नाजुक खयाली के साथ तगज्जुल की शान भी देखने काबिल है–

ये दर्दे दिल भी न था सोजिशे जिगर भी न थी
इन आफतों की तो उल्फत में कुछ खबर भी न थी
जमानासाजी है अब यह कि मुंतजिर था मैं
हमारे आने की तुमको तो कुछ खबर भी न थी
लिपट गये वो गले से मेरे तो हैरत क्या
वह संगदिल भी न थे आह बेअसर भी न थी
शहीदे जल्वये मस्ताना हो गया शबे वस्ल
खुशी नसीब में आशिक के रात भर भी न थी

यहां तक जो कुछ चुना गया वह गज़ल के पुराने रंग को लिए हुए हैं। अकबर ने हुस्नो-इश्क, माशूक की शोखी और जिद सब चीजों पर खूब-खूब लिखा है मगर हम उस प्रसंग में लेख के लंबे हो जाने के डर से अब इतना उद्धरण देना काफी समझते हैं और अब आपकी शायरी की उस विशेषता की ओर ध्यान देते है जिसने आपको आज के शायरों का सरदार बना दिया है और जिसने आपकी शायरी को एक निराली और बहुत प्यारी शान दे दी है। हमारा मतलब आपकी हसी-दिल्लगी के रंग की शायरी से है जो आपकी तमाम रचनाओं में पाई जाती है और जिसने आपकी नसीहतें बहुत सुहानी और पुरअसर और आपकी लताड़ दिल में बहुत घर करने वाली और कामयाब होती है। संयोग कहिए या भगवान की इच्छा कहिए आपका जन्म देश के बौद्धिक उत्थान की दृष्टि से भारतीय इतिहास के एक नाजुक जमाने में हुआ है जिसमें दो शानदार ताकतवर तहजीबों की कशमकश हो रही है। एक तरफ पश्चिमी सभ्यता का सिक्का फिर रहा है दूसरी तरफ पूर्वी सभ्यता दिलों पर आधिपत्य जमाए हुए है। विचारों और सामाजिक रहन सहन, गरज कि जिंदगी के हर पहलू में उलट-पुलट जमाना है। अभी तक किसी हालत पर

ठहराव की सूरत पैदा नहीं हो रही हैं और इसलिए तरह-तरह की बुराइयां दिखाई दे रही हैं और देशवासियों के विचारों और बातों, ज्ञान और आचार, धर्म और सामाजिकता, भावनाओं और संवेदनाओं में अजब विरोध और जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तन और तरह-तरह की एक-दूसरे की विरोधी चीज़ें दिखाई दे रही हैं। ऐसी हालत में एक प्यार से नसीहत करने वाला आदमी दिल्लगी और मजाक से जो काम ले सकता है वह नीति और उपदेश के वाक्यों से संभव नहीं है और यही जनाब अकबर की हंसी-दिल्लगी का असल कारण है। इस रंग में उनकी शायरी ने जो कमाल हासिल किया है वह उर्दू में आज तक किसी को नसीब ही नहीं हुआ। एक लफ्ज, एक फिकरे में आप वह बात पैदा कर देते हैं[1] जो दूसरों से पन्ने के पन्ने रंग डालने पर भी मुमकिन नहीं। कुछ शेर तो बिल्कुल केसर की क्यारियां हैं। पोलीटिकल वाकयात का भी आपने मजाक उड़ाया है–

कर्जन ओ किचनर की हालत पर जो कल
वह सनम तशरीह का तालिब हुआ
कह दिया मैंने कि है यह साफ बात
देख लो तुम जन पे नर गालिब हुआ

वक्त की मुनासिबत

शेख साहब यह तो अपने अपने मौके की है बात
आप किब्ला बन गए मैं एस्क्वायर हो गया

इस जमाने के नौजवानों के हाल पर ये शेर भी खूब कहा है–

परी के जुल्फ में उलझा न रीशे वाइज में
दिले गरीब हुआ लुकमा इम्तहानों का
वह हाफिजा जो मुनासिब था एशिया के लिए
खजाना बन गया योरप की दास्तानों का
आसाइशे उम्र के लिए काफी है
बीबी राजी हों और कलक्टर साहब

पर्दा और हिन्दुस्तानी

परदे में जरूर है तवालत बेहद
इंसाफ-पसंद को नहीं चाहिए हट
तशबीह बुरी नहीं अगर मैं यह कहूं
बेगम साहब पेचवां लेडी सिगरेट

हर रंग की बातों का मेरे दिल में है झुरमुट
अजमेर में कुचला हूं अलीगढ़ में हूं बिस्कु

[1] मसलन् जब लार्ड कर्जन ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी में आम एशियाई कौमों और खासकर हिन्दुस्तानियों पर झूठ बोलने का अभियोग लगाया तो आपने 'ज़माना' में क्या खूब लिखा था कि–

बेढब ये झूठ सच की छिड़ी हिन्द में बहस
झूठे हैं हम तो आप हैं झूठों के बादशाह

पाबंद किसी मशरब ओ मिल्लत का नहीं हूं
घोड़ा मेरी आज़ादी का अब आता है बगटुट

बी शेखानी भी हैं बहुत जीहोश
कहती हैं शेख से बजोशो खरोश
ख्वाह लुंगी हो ख्वाह हो तहमत
दर अमलकोश हरचे ख्वाही पोश

शमा से तशबीह पा सकते हैं यह ऐयाश अमीर
रात भर पिघला करें दिन भर रहें बालाए ताक
मेरे मन्सूबे तरक्की के हुए सब पायेमाल
बीज़ मगरिब ने जो बोया वह उगा और फल गया
बूट डासन ने बनाया मैंने एक मजमूं लिखा
मुल्क में मजमूं न फैला और जूता चल गया

कोठी में जम है न डिपाजिट है बैंक्स में
कुल्लाश कर दिया मुझे दो चार थैंक्स में
पाइनियर के सफे अव्वल में जिसका नाम हो
मैं वली समझूं जो उसको आकबत की फिक्र हो

ज़ाले दुनिया से बेखबर हैं आप
गो तकद्दुस मआब बेशक हैं
शेख जी पर यह कौल सादिक है
चाहे जमजम के आप मेंढक हैं

माशा अल्लाह वह डिनर खाते हैं
बंगाली भाई उनका सर खाते हैं
बस हम हैं खुदा के नेक बंदे अकबर
उनकी गाते हैं अपने घर खाते हैं

मुवक्किल छुटे उनके पंजे से सब
तो बस कौमे मरहूम के सर हुए
पपीहे पुकारा किये पी कहां
मगर वह पिलीडर से लीडर हुए

शू मेकरी शुरू जो की एक अज़ीज़ ने
जो सिलसिला मिलाते थे बहराम गोर से
पूछा कि भाई तुम तो थे तलवार के धनी
मूरिस तुम्हारे आये थे गजनी व गोर से
कहने लगे हैं इसमें भी एक बार नोक की
रोटी अब हम कमाते हैं जूती के ज़ोर से

अपने भाई के मुकाबिल किब्र से तन जाइए
गैर का जब सामना हो बस कुली बन जाइए
चंदे की मजलिस में पढ़िए रो के कुरआने मजीद
मतहबी महफिल में लेकिन मिस्ले दुश्मन जाइए
आपकी अंजुमन की है क्या बात
आह छुपती है वाह छपती है
अपनी गरह से कुछ न मुझे आप दीजिए
अखबार में तो नाम मेरा छाप दीजिए
मुहताज और वकील ओ मुख्तार हैं आप
सारे अमलां के नाज़बरदार हैं आप
अवारा ओ मुंतशार हैं मानिन्दे गुबार
मालूम हुआ मुझे जमीन्दार हैं आप

पाठक देखें कि अकबर ने हंसी-मजाक में भी कैसी खूबियां पैदा की हैं और सचमुच आधुनिक सभ्यता और समाज-व्यवस्था का खाका खींच दिया है। इस रंग में सैकड़ों शेर लिखे हैं। हंसी-दिल्लगी के इस नये रंग में आपको बड़ी मेहनत करनी पड़ी होगी इसलिए कि यह हंसी-दिल्लगी का रंग बिल्कुल नया है।

ऊपर के उद्धरणों से पाठकों को मालूम हो गया होगा कि हज़रत अकबर राजनीति की बारीकियों में भी कैसी खूबी के साथ मजाक के ढंग में अपनी बात कहते हैं। आपके विचार बिल्कुल स्वतंत्र हैं। राष्ट्रीय मामलों में अनुचित जोश को बुरा समझते हैं। इसके साथ ही साथ खुशामद और चापलूसी की पॉलिसी भी पंसद नहीं करते। कहते हैं–

मेरे नजदीक यह पंजाब का बलवा भी बुरा
साथ ही इसके अलीगढ़ का ये हलवा भी बुरा
आप इजहारे वफा कीजिए तमकीन के साथ
लेट जाना भी बुरा नाज का जलवा भी बुरा
न निरे ऊंच हो न हो बुलडाग
न तो मिट्टी ही हो न हो तुम आग
चाल है एतदाल की अच्छी
साजे हिकमत का जोड़ा है यह राग

मगर नरम रास्ते पर चलने का मतलब यह नहीं कि आज की जमाने की असलियत को सही तौर पर महसूस न किया जाए या उससे आंख बंद कर ली जाए। आपने क्या खूब कहा है–

यह बात गलत दारुस्सलाम है हिन्द
यह झूठ कि मुल्के लछमन ओ राम है हिन्द
हम सब हैं मुतीअ व खैरख्वाहे इंगलिश
योरप के लिए बस एक गोदाम है हिन्द
दिल उस बुते फिरंग से मिलने की शकल क्या

मेरी जबान और है उसकी जबान और
बंगाली हाथ में कलम ले तो क्या
मुस्लिम जो मिसाले बज्मे जम ले तो क्या
हिन्दी की नजात है निहायत मुश्किल
सौ मर्तबा मरके वो जन्म ले तो क्या
या स्टेशन के बदले दूध चा और खांड ले
या एजीटेशन के बदले तू चला जा मांडले

बहसे मुल्की में तो पड़ना है तेरी दीवानगी
पॉलिसी उनकी रहे कायम हमारी दिल्लगी

दिलचस्प हवायें सूए गुलशन पहुंचीं
जुल्फें शिमले से ता-ब-दामन पहुंचीं
दुर्गाबाई से राजा की जब रूठे
सदके होने को बी नसीबन पहुंचीं

आप हिन्दू-मुसलिम एकता की सख्त जरूरत को महसूस करते हैं और उस पर बड़े मजेदार और असर करने वाले ढंग से जगह-जगह जोर देते हैं और अफसोस करते हैं कि–

वह लुत्फ अब हिन्दू व मुसलमां में कहां
अगियार उन पर गुजरते हैं खंदाजना
झगड़ा कभी गाय का जबां की कभी बहस
है सख्त मुजिर यह नुसखये गाओजबां

फिर कहते हैं कि–

हिन्दू व मुस्लिम एक हैं दोनों
यानी ये दोनों एशियाई हैं
हम-वतन हम-जवां व हम-किस्मत
क्यों न कह दूं कि भाई भाई हैं

समय की आवश्यकता को समझने वाले एक विचारक की हैसियत से आप आपसी झगड़ों और दोनों की कमजोरियों को समझते हैं। आप जानते हैं कि आए दिन की आपस की होड़ और कनबतियां दिलों को एक-दूसरे से फेर रही हैं। दोनों–

चुगलियां एक दूसरे की वक्त पर जड़ते भी हैं
नागहां गुस्सा जो आ जाता है लड़ पड़ते भी हैं
हिन्दू व मुस्लिम हैं फिर भी एक और कहते हैं सच
है नजर आपस में हम मिलते भी हैं लड़ते भी हैं

कहता हूं मैं हिन्दू व मुसलमां से यही
अपनी अपनी रविश पे तुम नेक रहो
लाठी है हवाए दहर पानी बन जाओ
मौजों की तरह लड़ो मगर एक रहो

आप एक जगह मजाक के ढंग में यहां तक कहते हैं कि एक को अपनी हजल छोड़ कर दूसरे के जटल तक में शरीक हो जाना चाहिए। इसमें यह जरूर होगा कि 'न लाट साहब खिताब देंगे न राजा जी से मिलेगा हाथी' लेकिन 'यह तो कोई न कह सकेगा तुम्हारे दुश्मन कहां, बगल में।'

आप समझते हैं और किस खूबी से इस बात को कहते हैं कि कौम अपनी ही बाजुओं की ताकत से उभर सकती है क्योंकि–

दुनिया में जरूरत जोर की है और आप में मुतलक जोर नहीं
यह सूरते हाल रही कायम तो अम्न की जा जुज गोर नहीं
ऐ भाइयो बाबू साहब से खिंचने का नहीं है कोई महल
गो नस्ले अलाउद्दीन में हो मसकन तो तुम्हारा गोर नहीं

एक दूसरे राजनीतिक मसले को कैसे कविता के रूपक में बांधा है–

ऊंट ने गावों की जिद पर शेर को साझी किया
फिर तो मेंढक से भी बदतर सबने पाया ऊंट को
जिसपे रक्खा चाहते हो बाकी अपनी दस्तरस
मुंह में हाथी के सभी ऐ भाई वह गन्ना न दो

देश की उन्नति के सब अच्छे आंदोलनों के साथ आपको पूरी सहानुभूति है। आपकी शायरी में ऐसे शेर अक्सर मिलते हैं जो देश का काम करने वालों के लिए मशाल बन सकते हैं। मजाक उड़ाने के काबिल बातों का खाका उड़ाने के साथ-साथ अच्छे आंदोलनों के समर्थन में आप दिल भी किस तरह बढ़ाते हैं। स्वदेशी के आंदोलन पर क्या खूब कहा है–

दाखिल मेरी दानिस्त में यह काम है पुन में
पहुंचायेगा कूते शजरे मुल्क के बुन में
तहरीके स्वदेशी पे मुझे वज्द है अकबर
क्या खूब ये नगमा है छिड़ा देस के धुन में

आधुनिक सभ्यता के मजाक के काबिल पहलुओं पर हम हज़रत अकबर के खयाल ज़ाहिर कर चुके हैं। इस वक्त चंदों की भरमार और अमली और असली काम की कमी इस नई सभ्यता की एक निराली शान है जिस पर हंसी आती है। रुपये का जोर, रुपये का वक्त-बेवक्त जिक्र, इसके वसूल करने की भांति-भांति की युक्तियां–गरज इन सब बातों पर आपने खूब ले-दे की है। आप अलीगढ़ कालेज के संस्थापक के मित्रों में हैं मगर किसी के पिछलग्गू नहीं बल्कि बिल्कुल स्वतंत्र विचार के आदमी हैं और जिसमें जो कमजोरी देखते हैं इस तरह कह देते हैं कि किसी को बुरा भी न लगे और सबके कान भी खुल जायं।

अलीगढ़ कालेज के नामी संस्थापक की आपने अक्सर मौकों पर बड़े जोर से तारीफ की है मगर पकड़ की बातों पर मजाक भी खूब उड़ाया है। यहां पर हम सिर्फ कुछ बातों पर आपके हंसा देने वाले रिमार्क और फब्तियां पाठकों के मनोरंजन के लिए पेश करते हैं–

कीजिए साबित खुश अखलाकी से अपनी खूबियां
यह नमूदे जुब्बा ओ दस्तार रहने दीजिए
जालिमाना मशविरों में मैं नहीं हूंगा शरीक
गम ही को महरमे असरार रहने दीजिए
खुल गया मुझ पर बहुत हैं आप मेरे खैरख्वाह
खैर चन्दा लीजिए तूमार रहने दीजिए
असीरे दामे जुल्फे पालिसी मुद्दत से बंदा है
फसाहत नज़्रे लेक्चर है रियासत नज़्रे चंदा है
जजिये को सिधारे हुए मुद्दत हुई अकबर
अलबत्ता अलीगढ़ की लगी एक यह पख है
अब कहां तक बुतकदे में सर्फे ईमां कीजिए
ता कुजा इश्के बुताने सुस्त पैमां कीजिए
है यही बेहतर अलीगढ़ जाके सैयद से कहूं
मुझसे चंदा लीजिए मुझको मुसलमां कीजिए
ज़ेब खाली फिरा किया बंदा
ले गये अहबाब इस कदर चंदा
ईमान बेचने पे हैं अब सब तुले हुए
लेकिन खरीद हो जो अलीगढ़ के भाव से
शेख साहब चल बसे कालिज के लोग उभरे हैं अब
ऊंट रुखसत हो गये पोलो के घोड़े रह गये

गरज कहां तक चुनिए, उस युग-कवि ने जिंदगी के हर पहलू पर बड़ी गहरी नजर डाली है और मजाक-मजाक में सब कुछ दिल में बैठा दिया है। निजी बातों की भी कहीं-कहीं झलक मिल जाती है। हजरत अकबर ने अपने कुल्लियात से जीवन चरित का काम नहीं लिया है तो भी कहीं-कहीं पर दिल के भावों के साथ एक-आध निजी विचार भी शमिल हो गए हैं। कई साल से आपको आंखों की सख्त शिकायत है–

कौंसिल से हर तरह का कानून आ रहा है
मतबे से हर तरह का मजमून आ रहा है
लेकिन पढ़ूं मैं क्योंकर आंखों की है यह हालत
अश्क आ रहे थे पहले अब खून आ रहा है
बिसारत ने कमी की इनहिताते उम्र में अकबर
बसीरत है तो आंखें मुझसे अब आंखें चुराती हैं

एक लंबे अर्से तक आपके साहबजादे लंदन में और आप यहां, निश्चित अवधि के बाद उनकी जल्द वापसी के लिए बेचैन थे। अक्सर जगहों पर यह बेचैनी जाहिर हो गई है–

हिन्द में मैं हूं मेरा नूरे-नजर लंदन में है
सीना पुरगम है यहां लख्ते जिगर लंदन में है

दफ्तरे तदबीर तो खोला गया है हिन्द में
फैसला किस्मत है ऐ अकबर मगर लंदन में है

अब हम इस लेख को समाप्त करते हैं। आपकी शायरी बहुत-सी खूबियों का खजाना है और शायरी की उस कसौटी पर, जो आपने खुद अपने यहां कायम की है, पूरी उतरती है।

[उर्दू लेख। 'कलामे अकबर पर एक नजर' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', जनवरी, 1909 में प्रकाशित 'मज़ामीन-ए-प्रेमचंद' में संकलित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

संयुक्त प्रांत में आरम्भिक शिक्षा

दिसंबर के मॉडर्न रिव्यू में सेंट निहालसिंह ने एक अनूठा लेख लिखा है जिसमें अमरीका के एक देहात की कैफियत बयान की है। उसे पढ़कर हैरत भी होती है, और मायूसी भी। हैरत इसलिए कि तहजीब की जो आसानियां और जो सुविधाएं इस गांव में हैं, वह हिन्दोस्तान के बड़े-बड़े शहरों को भी नसीब नहीं। और मायूसी इसलिए कि शायद हिन्दोस्तान की किस्मत में तरक्की करना लिखा ही नहीं। दो हजार आदमी का मौजा और हाईस्कूल। उसकी इमारत, उसके पुस्तकालय, उसकी लेबोरेटरी पर हिन्दोस्तान का कोई कालेज गर्व कर सकता है। क्या हिन्दोस्तान के कभी ऐसे नसीब होंगे।

अब एक तरफ तो इस देहाती मदरसे को देखिए और दूसरी तरफ एक हिन्दोस्तानी देहाती मदरसे का ख्याल कीजिए। एक पेड़ के नीचे, जिसके इधर-उधर कूड़ा-करकट पड़ा हुआ है और जहां शायद वर्षों से झाड़ू नहीं दी गई, एक फटे-पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लड़के बैठे ऊंघ रहे हैं। सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है। उस पर जनाब मास्टर साहब बैठे हुए हैं। लड़के झूम-झूमकर पहाड़े रट रहे हैं। शायद किसी के बदन पर साबित कुर्त्ता न होगा। धोती जांघ के ऊपर तक बंधी हुई, टोपी मैली-कुचैली, शकलें भूखी, चेहरे बुझे हुए। यह आर्यावर्त का मदरसा है जहां किसी जमाने में तक्षशिला और नालंदा के विद्यापीठ थे। कितना फर्क है। हम तहजीब की दौड़ में दूसरी कौमों से कितना पीछे हैं, कि शायद वहां तक पहुंचने का हौसला भी नहीं कर सकते।

हमारी आरंभिक शिक्षा के सुधार और उन्नति के लिए सबसे बड़ी जरूरत योग्य शिक्षकों की है। और योग्य आदमी आठ रुपये या नौ रुपये माहवार के वेतन पर दुनिया के पर्दे में कहीं नहीं मिल सकते। जिस आदमी को पेट की फिक्र से आज़ादी ही नसीब न होगी वह तालीम की तरफ क्या खाक ध्यान देगा? ऐसे बहुत से जिले हैं जहां अभी तक मुदर्रिसों को चार और पांच रुपये से ज्यादा तनख्वाह नहीं मिलती। ऐसे आदमियों के हाथों में हमारी सरकार ने रिआया की तालीम रख दी है और ताज्जुब किया जाता है कि तालीमी हालत क्यों ऐसी रही है। जब सरकारी मदरसों का यह हाल है तो इमदादी मदरसों का जिक्र ही क्या। उनमें कम से कम तीन चौथाई ऐसे

हैं, जिन्हें सरकार चार रुपये माहवार इमदाद देती है और उसमें एक आना मनीआर्डर का महसूल कट जाता है, तीन रुपये पंद्रह आने में कौन महीना भर दर्दसरी गवारा करेगा। शहरों में कहारों की तनख्वाहें छः और सात रुपये माहवार हैं बल्कि अक्सर तो इससे भी ज्यादा। मामूली मजदूर चार आने पैसे रोज कमा लेता है। मगर गरीब मुदर्रिस इनसे भी जलील समझा जाता है। मजबूरन या तो वह गरीब खेती की तरफ चला जाता है या सरकारी कायदे के खिलाफ पाव आने की जगह एक आना या इससे ज्यादा फीस लेना शुरू करता है। इसका नतीजा यह है कि लड़कों की तादाद में बढ़ती नहीं होने पाती। बहुत से इमदादी मदरसे तो सिर्फ इसलिए कायम हैं कि एक गरीब आदमी तीन-चार रुपये घर बैठे पा जाता है। फर्जी लड़कों के नाम लिख लिए जाते हैं और जब कोई मुआइना करने वाला अफसर पहुंच जाता है, तो थोड़े से लड़के इधर-उधर से बटोर कर दिखा दिए जाते हैं।

वेतन का तो यह हाल है। अब यह देखिए कि एक मुदर्रिस के सर काम का कितना बोझ लादा जाता है। आमतौर पर लोअर प्राइमरी में एक मुदर्रिस रहता है और प्राइमरी मदरसे में दो या तीन। गौर कीजिए कि एक मुदर्रिस चार दर्जों की तालीम क्योंकर दे सकता है। मदरसों के एक इंस्पेक्टर साहब बहुत सही तौर पर पूछते हैं कि एक आदमी दर्जा अलिफ के पैंतीस, दर्जा बे के पंद्रह, दर्जा अव्वल के सात, दर्जा दोयम के पांच लड़कों की पढ़ाई की देखभाल क्योंकर कर सकता है। अपर प्राइमरी मदरसों में दो-दो, तीन-तीन दर्जे एक-एक आदमी के सिपुर्द रहते हैं। इसका लाजमी नतीजा यह होता है कि मुदर्रिस किसी दर्जे को भी ठीक से नहीं पढ़ा सकता। लड़के साल-साल भर से पढ़ने आते हैं मगर अभी हरूफ लिखना भी नहीं आया। मां-बाप देखते हैं कि जब उसका मदरसे जाना न जाना बराबर है तो घर ही पर क्यों न रहे, ताकि कुछ घर का काम-काज ही संभालें। नार्मल स्कूलों से जो लोग पढ़ाने का तरीका सीखकर आते हैं, वह भी मदरसों में आकर अपना सब तरीका भूल जाते हैं। बेचारे क्या करें, वहां उन्हें एक वक्त एक दर्जे की तालीम का सबक दिया गया। यहां उन्हें एक वक्त में चार दर्जे पढ़ाने को मिले। उन उसूलों पर क्योंकर अमल करें। एक दर्जे के पढ़ाने में लगे तो दूसरे दर्जे को हिसाब दे दिया, किसी दर्जे को इमला, किसी दर्जे को भूगोल। आंख तो एक ही है कैसे इमले को सुधारे, कैसे हिसाब समझाए, कैसे ठीक ढंग से भूगोल की शिक्षा दे, गरज यह कि हड़बोंग-सा मचने लगता है। लड़के शैतान, मुदर्रिस को मशगूल देखा तो धौल-धप्पा शुरू किया।

इसलिए सरकार अगर सचमुच शिक्षा की उन्नति चाहती है, सच्ची उन्नति, कागजी और नुमाइशी नहीं, तो मिस्टर डिलाफास की राय के अनुसार मुदर्रिसों की तादाद और तनख्वाह बढ़ाए। किसी मुदर्रिस की तनख्वाह पंद्रह रुपये से कम न रहनी चाहिए, और कोई मुदर्रिस नौकर न रखा जाना चाहिए जिसने उर्दू और हिन्दी मिडिल की सनद न हासिल की हो और पढ़ाने के ढंग का जानकार न हो। और कोई मदरसा ऐसा न रहना चाहिए जिसमें कम से कम दो मुदर्रिस न हों। तभी तालीम की हालत सुधर सकती है। इसमें कोई शक नहीं कि इन सब तरक्कियों के लिए बहुत रकम

की जरूरत है मगर कौम की तालीम एक ऐसा मसला है जिस पर कितना ही खर्च हो, उसे बेकार नहीं कहा जा सकता। पिछले साल संयुक्त प्रांत में उन्नीस लाख आरंभिक शिक्षा में खर्च हुआ और औसत के हिसाब से प्रति छात्र साढ़े तीन आने। यह औसत दूसरे सभ्य देशों के मुकाबिले में बहुत ही कम है। क्या सरकार ऐसे पवित्र काम के लिए पचास लाख सालाना भी खर्च नहीं कर सकती? रुपये की कमी एक ऐसा बहाना है जो गवर्नमेंट के लिए कभी सच्चा नहीं कहा जा सकता। गवर्नमेंट के साधन असीम हैं और इतनी रकम वह बड़ी आसानी से खर्च कर सकती है। जब लड़ाई के खर्च इतने जोरों से साल-ब-साल बढ़ते चले जाते हैं, अफसरों के ऐश और सहूलतों पर रुपया कौड़ियों की तरह लुटाया जा रहा है तो गरीबी या तंगदस्ती का हीला कभी यकीन करने के काबिल नहीं ठहर सकता। यह भी गवर्नमेंट की एक चालाकी है कि उसने डिस्ट्रिस्ट बोर्डों पर शिक्षा का बोझ डालकर अपने को अलग कर लिया और अब 'एक जंजाल से और छुट्टी मिली' के तरीके पर अमल कर रही है। बोर्ड कहां से रुपया लगायें जब प्राविंशियल गवर्नमेंट अपने मुकर्रर किए हुए हिस्से को सख्ती से वसूल करती चली जाती है। पिछले दो-तीन वर्षों से हरेक जिले में मास्टरों को पढ़ाने का ढंग सिखाने के लिए दो-तीन मदरसे कायम किए गए हैं। हरेक मदरसे में सालाना छः मुदर्रिसों की तालीम होती है और सनद हासिल करने के बाद वह सरकारी मदरसों में नौकर रक्खे जाते हैं। इस मामले में भी सरकार ने गलती की है। अब मदरसों में मास्टर एक नार्मल स्कूल का सनदयाफ्ता होता है जिसकी तनख्वाह पंद्रह रुपये महवार होती है। जाहिर है कि जो आदमी खुद मिडिल तक तालीम पाए हुए हो वह मिडिल पास मुदर्रिसों को पढ़ाने का ढंग क्या सिखाएगा? हकीकत में यह रुपया बिल्कुल बर्बाद होता है। बहुत अच्छा होता अगर एक-एक जिले में ऐसे तीन-तीन मदरसों के बजाय सिर्फ एक मदरसा होता और उसमें इलाहाबाद के ट्रेनिंग कालेज का सनदयाफ्ता सीनियर या जूनियर आदमी तालीम देता। वह अंग्रेज़ी तालीमयाफ्ता होने और तालीम के उसूलों का जानकार होने के कारण मुदर्रिसों की तालीम ज्यादा खूबी से कर सकता।

कुछ तो रुपये की कमी है और कुछ बेजा खर्च। कभी-कभी सरकार ने दो-चार लाख ज़्यादा दिया भी तो वह इंस्पेक्टर और डायरेक्टरों और मैं और तू के बांट-बखरे में पड़ जाता है और मुदर्रिस ज्यों का त्यों भूखा रह जाता है। इस साल तीन इंस्पेक्टर और बढ़ाए गए जिनके माने यह हैं कि चालीस हजार रुपये का खर्च और बढ़ गया। दुर्भाग्य से सरकार का खयाल है कि मुआइना ज्यादा होना चाहिए चाहे तालीम हो या न हो। मुआइने पर रुपया खर्च किया जाता है मगर तालीम की खबर नहीं ली जाती। पिछले साल मिस्टर चौधरी ने बंगाल में वहां की गवर्नमेंट पर एक एतराज किया था कि तालीम के मुकाबिले में मुआइने पर ज्यादा खर्च किया गया। यही एतराज गालिबन यहां भी किया जा सकता है। गवर्नमेंट कब यह समझेगी कि मुआइना कभी तालीम की जगह नहीं ले सकता।

उस पर से आफत यह है कि मुदर्रिसों के सर काम का इतना बड़ा बोझ भी काफी नहीं समझा जाता। कम से कम पच्चीस फीसदी हल्केबंदी मदरसे ऐसे

हैं जिनमें मुदर्रिस तालीम के अलावा डाकखाने का काम भी किया करते हैं। इस अतिरिक्त काम के लिए उन्हें तीन रुपये से लेकर पांच-छः रुपये तक मिलते हैं। चूंकि बोर्ड जानती है कि मुदर्रिसों को सरकार से काफी तनख्वाह नहीं मिलती इसलिए वह उन्हें डाकखानों का काम हाथ में लेने से रोकने की कोशिश नहीं करती। बल्कि अक्सर मुदर्रिसों की कारगुजारियों का पुरस्कार इसी पोस्टल अलाउंस की शकल में दिया जाता है। गवर्नमेंट की यह कंजूसी तालीम के हक में जितनी नुकसानदेह है उसका अंदाजा करना मुश्किल है। डाकखाने का काम रोज-ब-रोज ज्यादा होता जाता है। मुदर्रिस इस काम के लिए कोई खास वक्त मुकर्रर नहीं कर सकता। देहात के जमींदार और काश्तकार जिस वक्त फुरसत पाते हैं, मुदर्रिस के पास पहुंच जाते हैं, और गरीब मुदर्रिस को उनकी दिलजोई करते ही बन पड़ती है। अगर वह कायदे बघारने लगे तो जमींदार साहब नाराज हो जाएं, पोस्टमास्टर जनरल के यहां शिकायत कर बैठें, या मुदर्रिस की लान-तान करना शुरू करें और उसकी हस्ती खतरे में डाल दें। इसलिए वह जिस वक्त आ जाते हैं, मुदर्रिस को उनका काम करना पड़ता है। यह सिलसिला सबेरे से शाम तक जारी रहता है और चूंकि मुदर्रिस को भी डाकखाने के काम से कुछ जाती फायदा हो रहता है वह इस बेवक्त आने को बेजा नहीं खयाल करता। लगान के फसल में एक-एक दिन कई-कई सौ के मनीआर्डर आ जाते हैं, और हरेक मनीआर्डर पर मुदर्रिस को कुछ आने पैसे मिल जाते हैं। यह बहुत स्वाभाविक बात है कि मुदर्रिस जैसी छोटी हैसियत का आदमी जाती फायदे के इन मौकों को हाथ से न जाने दे। अफसोस की बात है कि हमारी गवर्नमेंट की निगाहों में हमारी शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं।

दूसरी बड़ी जरूरत पाठ्यक्रम में सुधार करने की है। इस प्रश्न पर न शिक्षा विभाग और न गवर्नमेंट कोई पक्की राय कायम कर सकी, कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। कुछ लोगों का खयाल है कि आरंभिक शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ यह होना चाहिए कि लड़का अक्षर पहचानने लग जाय और कुछ मोटा हिसाब जान ले। दूसरी जमात का यह खयाल है कि लड़के की आरंभिक शिक्षा इस ढंग पर हो कि उसे आगे चलने में मदद मिले। हमारे खयाल में दोनों रायें एक-दूसरे की विरोधी हैं। जिस शिक्षा को हम आरंभिक शिक्षा कहते हैं वह देहातों के लिए आरंभिक शिक्षा नहीं है बल्कि नब्बे फीसदी लड़कों के लिए वही अंतिम शिक्षा है। अपर प्राइमरी पास करने के लिए औसतन छः वर्ष लगते हैं, मगर मुश्किल तो यह है कि छात्रों का दो तिहाई हिस्सा अपर प्राइमरी दर्जे तक भी नहीं पहुंचने पाता, लोअर प्राइमरी दर्जे तक ही उसकी शिक्षा का अंत हो जाता है। इसलिए जरूरी और बहुत जरूरी है कि हमारी आरंभिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा स्थिर किया जाय कि चार वर्ष तक पढ़ने के बाद लड़का अपनी जरूरतों के लिए काफी तौर पर शिक्षा पा जाय। एक कलक्टर साहब बहुत सही लिखते हैं कि 'हल्केबंदी वाले मदरसों के लगभग तमाम लड़के मदरसा छोड़ने के बाद बिन पढ़े लड़कों की जमात में जा मिलते हैं। शिक्षा का कोई दिखाई पड़ने वाला प्रभाव उन पर नहीं पाया जाता और चूंकि उनकी शिक्षा नाममात्र के लिए होती है, वह थोड़े ही दिनों में सब कुछ भुला बैठते हैं।'

हमारा खयाल है कि अपर प्राइमरी दर्जे की पढ़ाई अगर जरा और व्यापक कर दी जाय तो किसानों की जरूरतों के लिए काफी है। रीडरें जो इस वक्त चल रही हैं, भाषा की दृष्टि से सब निकम्मी हैं। उनके पढ़ने से लड़के मामूली बोलचाल के सिवा न तो हिन्दी भाषा जानते हैं और न उर्दू। उनकी भाषा का सुधार होना चाहिए ताकि लड़के रामायण तो समझ लें। व्याकरण की कोई जरूरत नहीं, उसे खारिज कर देना चाहिए। भूगोल की शिक्षा काफी है। हिसाब में भी कुछ कसर नहीं। अमली सवालों की मश्क ज्यादा होना चाहिए। ड्राइंग व्यर्थ है। उसके बदले तंदुरुस्ती के बारे में एक छोटी-सी प्राइमर होनी चाहिए और भाषा के व्याकरण की जगह पर खेती के कुछ उसूल सिखाए जाने चाहिए। इस वक्त चिट्ठी-पत्री का तरीका नहीं सिखाया जाता। यह एक बहुत जरूरी चीज़ है। इसका भी कुछ प्रबंध होना चाहिए। और तब आरंभिक शिक्षा का मसला गोया हल हो जायगा। यह खयाल रहे कि यह सब कुछ सिर्फ चार सालों का कोर्स है और जब तक कि मुदर्रिसों की तादाद में उचित वृद्धि न की जाय यह नतीजे इतने कम समय में नहीं हासिल हो सकते। मगर यह बात नि:संकोच कही जा सकती है कि इस कोर्स को खतम करने के लिए चार साल की मुद्दत हरगिज कम नहीं। जनसाधारण में शिक्षा के लोकप्रिय न होने का एक बड़ा कारण यह है कि लड़के बर्सों पढ़ते रहते हैं और कुछ नतीजा नहीं निकलता। इसके लिए मास्टरों की कमी, उनके पास उचित योग्यता का न होना और शिक्षा के पाठ्यक्रम में खामी तीनों जवाबदेह हैं।

शिक्षा के लिए तीसरी जरूरत ठीक मकान की है। आमतौर पर मदरसों की इमारती हालत बेहद अफसोसनाक है। तहसीली मदरसों में तो खैर कहीं-कहीं पक्के मकान बन गए हैं मगर लोअर प्राइमरी और प्राइमरी मदरसों की हालत बहुत रद्दी है। उन्हें देखकर मवेशीखाने या अनाथालय का खयाल पैदा होता है। दीवारें पुरानी, दरवाज़े टूटे हुए, छतें गिरी हुई, जमीन का फर्श कच्चा। यहां भी रिश्वत और गबन की गर्म-बाज़ारी है। अगर किसी निर्माण के लिए हजार रुपया मंजूर हुआ है तो यह यकीनी बात है कि कम-से-कम आधी रकमं जरूर बीच की मंजिलें तय करने में खर्च हो जायगी। जिम्मेदार अफसरों में लाज-शरम की भावना ऐसी ठंडी हो गई है कि इस अच्छे काम की अमानत में भी खयानत करने से वह बाज नहीं आते। एक तो बोर्डों की गरीबी, उस पर मंजूरशुदा रकम की यह नोच-खसोट मदरसों की हालत को बहुत ही बुरा बनाए हुए है। अक्सर बोर्ड की तरफ से मदरसों के लिए इमारत भी नहीं होती। अगर गांव में कोई समझदार आदमी हुआ तो उसने अपने दरवाजे पर या तो कोई झोंपड़ा डलवा दिया था, अपने गऊशाले में एक टाट बिछाने की जगह दे दी। मुदर्रिस और मदरसे पर इतना करके वह अपनी निगाहों में हातिम बन बैठता है। ज़ाहिर है कि ऐसी जगहों में शिक्षा की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जा सकता। जमींदार साहब दरवाजे पर असामियों को लेकर बैठ जाते हैं और बुलंद आवाज में फरमाते हैं कि डिप्टी साहब ने मुझसे यह सवाल किया तो मैंने उसका यह जवाब दिया और मुद्दालेह के वकील को यों लाजवाब कर दिया। उपस्थित लोग कान लगाए उनकी बातें सुन रहे हैं। क्योंकर मुमकिन है कि लड़के का ध्यान इस

तरफ न खिंच जाए। लड़कों में ध्यान जमाने की योग्यता यों भी कम होती है और जब उस ध्यान को हटाने के लिए कोई हीला हाथ आ जाए तो फिर पूछना ही क्या है। यह तो हुआ उन मौजों का हाल जहां के जमींदार साहब जरा उदार हृदय हैं। जिन गांवों में ऐसे आदमी नहीं हैं वहां का हाल तो ऐसा है कि क्या कहें। मुदर्रिस पेड़ के नीचे बैठ जाता है और उस खुली हुई जगह में जाड़े की सर्दी और ग्रीष्म की गर्मी सब झेल डालता है। ऐसी हालत में वह मदरसा आस-पास के लोगों में मकबूल नहीं होने पाता और शिक्षा के फैलने में रुकावट डालता है। जब तक कि हरेक मदरसे के लिए सरकारी इमारत न हो जाए शिक्षा के ढंग में सुधार होना बहुत मुश्किल है क्योंकि मुदर्रिस आम लोगों के सामने हंसी और मजाक के डर से शिक्षा के बेहतरीन तरीकों पर अमल नहीं कर सकता।

हमारी शिक्षा का तो यह हाल है और हमारे पब्लिक काम करने वाले इन मसलों की तरफ से बिल्कुल गाफिल बैठे हुए हैं। कितने ऐसे पत्रकार या रिजोल्युशन पास करने वाले वकील हैं, जिन्होंने किसी जिले में दौरा करके यह पता लगाया हो कि कितने मदरसों में इमारत है और कितनों में नहीं। डायरेक्टर साहब की रिपोर्ट से जाहिर नहीं होता कि फीसदी कितने मदरसे सरकारी इमारत पर गर्व कर सकते हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर साहबान जैसे लायक और तालीमयाफ्ता होते हैं उनसे यह उम्मीद करना कि इन मसलों पर वह कुछ कर सकते हैं, एक बेकार की उम्मीद है।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', मई-जून, 1909 मे 'सूबा-ए-मुत्तहदा म इब्तदाई तालीम' शीर्षक से प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसग' भाग-1 में संकलित।]

जुलेखा

फारसी हुस्न-ओ-इश्क की दुनिया में जुलेखा को जो आम शोहरत हासिल है वह बयान की मुहताज नहीं। उसकी जिंदगी हुस्न-ओ-इश्क की एक लाजवाब और दिलकश दास्तान है। एक बादशाह के महल में पैदा हुई, लाड़-प्यार में पली और बहार आते ही इश्क में कैद हो गई। फिर मुद्दत तक मुसीबतें झेलीं, शहज़ादी से फकीर बनी, सब कुछ इश्क में लुटा दिया मगर लगातार नाकामियों पर भी मुहब्बत की गली न छोड़ी। कभी-कभी माशूक की बेवफाई और दुनिया के तानों से मजबूर होकर अपने माशूक पर सख्तियां भी कीं, मगर यह भी अथाह मुहब्बत का तकाज़ा था। इस इश्क के खंजर की घायल के नाम को फारसी के अमर कवि जामी ने अमर बना दिया है। उसके सौंदर्य की तारीफ यों की है–

> कफे राहत दहे हर मेहनत.अंदेश
> निहादा मरहमे बर हर दिले रेश।

उसका हाथ परीशान को आराम पहुंचाता और दिल के ज़ख्म पर मरहम रखता था–

मियानश मूए, बल कज मूए नीमे
जे बरीकी बरद अज मूए बीमे।

उसकी कमर क्या थी, बाल थी, बल्कि बाल से भी आधी थी। बरीकी में उसे आधा बाल भी कहते डर लगता है–

सहीसवाँ हवादारीश करदे
परी-रूयां परस्तारीश करदे।

खूबसूरत लौंडियां उसकी खिदमत करतीं और परी जैसी सूरत वाली उसको पूजती थीं।

शुरू जवानी में इश्क की घातें उस पर होने लगती है मगर यह इश्क माशूक के देखने से नहीं पैदा होता बल्कि आम कायदे के खिलाफ वह चैन की नींद सो रही थी कि अचानक–

दर आमद नागहश अज दर ज़वाने
चेमी गोयम जवाने, नै कि जाने।

उसके दरवाजे से एक जवान आया, वह जवान क्या आया बल्कि जान आया।

हुमायूं पैकरे अज़ आलमे नूर
..आगे खुल्द करदा गारजे हूर।

सर से पांव तक एक मुबारक नूर जिसने जन्नत के बाग की हूरों को लूट लिया। इस खूबसूरत जवान को देखते ही जुलेखा पर उसकी खूबसूरती का जादू चल गया–

गिरिफ्तज कामतश दर दिल खयाले
निशांद अज दोस्ती दर दिल निहाले।

उसके सजीले बदन का खयाल दिल में बैठ गया और उसने दिल में दोस्ती का बीज बो दिया -

जे रूयश आतशी दर सीना अफरोख्त
वजां आतश मताये सब्रो-दीं सोख्त।

उसके आग-जैसे चेहरे ने दिल में आग लगा दी और उस आग से धरम और धीरज की पूंजी जल गई। मगर जुलेखा यह जलन, यह दिल की आग सहती है लेकिन किसी पर जाहिर नहीं करती। सखियों-सहलियों से हंसती-बोलती है मगर दिल का भेद नहीं कहती–

निहां मी दाश्त राज़श दर दिले तंग
चू काने लाल लाल अंदर दिले संग।

ये भेद वह अपने दिल में ऐसे छुपाए रहती थी जैसे पत्थर अपने दिल में लाल छिपाए रहता है–

फरो मी खुर्द चूं गुंचा बदिल खूं
न मी दाद अज दुरूं यक शिम्मा बेरूं।

वह अपने गम में दिल ही दिल में खून पीती थी मगर दिल का हाल कली की तरह दिल ही में बंद रखती थी, जरा भी जाहिर न करती थी–

नजर बर सूरते अगियार मीदाश्त
वले पैवस्ता दिल बायार मीदाश्त।

नजर गैरों पर रखती थी और दिल में माशूक का खयाल।

कभी-कभी जब वह जलन से बेचैन हो जाती है तो यार से यों बातें करती है–

कि ऐ पाकीजा गौहर अज चे कानी
कि अज तू दारम ईं गौहर फिशानी।

ऐ कीमती मोती, तू किस खान का है, मुझे तुझसे कुछ कहना है।

न मी दानम कि नामत अज के पुरसम
कुजा आयम मुकामत अज के पुरसम।

मैं तेरा नाम नहीं जानती, किससे पूछूं। मैं तेरी जगह नहीं जानती, कहां जाऊं।

मगर यह इश्क का भेद कब छुपता है। जुलेखा जबान से कुछ नहीं कहती मगर उसकी खून बरसाने वाली आंखें और पीली-पीली सूरत यह भेद खोल देती हैं। गुलाब की-सी सूरत पीले फूल की तरह जर्द पड़ जाती है, ठंडी आहें भरती है, लौंडियां आपस में खुसुर-फुसुर करने लगती हैं। कोई कहती है 'ऊपर का असर है', कोई कहती है, 'जादू है'। इन्हीं लौंडियों में जुलेखा की एक दाई भी है। इश्क की दास्तानें में ऐसी औरतें बहुत आती हैं मगर इनमें शायद ही किसी का हवाला इस खूबसूरती से चंद शेरों में दिया गया हो-

अजां जुमला फुसूंगर दायाए दाश्त
कि अज अफसूंगरी सरमायाए दाश्त।

उसकी लौंडियों में एक जादूगर दाई भी थी जो अपने जादू-जैसे करतब का खजाना रखती थी–

बराहे आशिकी कार आजमूदा
गहे आशिक गहे माशूक बूदा।

वह मुहब्बत के रास्तों को खूब जानती थी। वह कभी आशिक और कभी माशूक बन जाती थी–

बहम वसलत दहे माशूकी आशिक
मुआफिक साज यारे नामुआफिक।

वह आशिक और माशूक को मिला देती थी। फिरे हुए दोस्त को सच्चा दोस्त बना देती थी। यह जादूगरनी एक दिन जुलेखा से यह प्यारी-भरी बातें करती है-

वगर रफ्तम तराज दोश बूदे
चू खुफ्तम खुफ्ता दर आगोश बूदे।

मैं चलती थी तो तू मेरे कंधे की शोभा होती थी और जब मैं सोती थी तो तू मेरी गोद में सोती थी–

चू ब नशस्ती बखिदमत ईस्तादम
चू खुस्पीदी बपायत सद निहादम।

जब तू बैठती थी तो मैं तेरी खिदमत में खड़ी हो जाती थी और जब तू सोती थी तो मैं तेरे पांव पर सिर रख देती थी–

जेमन राजे दिलत पिनहा चे दारी
न खुद बेगाना अम जे निसियां चे दारी।

तू मुझसे अपने दिल का हाल क्यों छिपाती है। मैं कोई गैर नहीं हूं। तू भूल कर रही है।

जुलेखा मेहरबान दाई से रो-रोकर अपनी रामकहानी कह सुनाती है मगर दाई या तो आसमान के तारे तोड़ लाने को तैयार थी या यह दास्तान सुनकर बोल उठती है—

वले हर्फे बनक्शे हर खयालस्त
के नादानिस्ता रा जुस्तन मुहालस्त।

हां, हर तस्वीर के लिए एक खयाल है मगर अनजान को ढूंढ़ना मुश्किल है।

इसके कुछ दिनों बाद जुलेखा एक दिन गम के बिस्तर पर पड़ी हुई अपने दिल से फरियाद कर रही है कि उसे फिर दोस्त का सुंदर मुखड़ा दीखता है और वह उसे सपने में देखते ही उसके पांव पर गिर पड़ती है और अपनी बेचैनी का बयान करती है। उसकी बेचैनी देखकर माशूक या माशूक की तस्वीर यह कहती है—

तुरा अज़ मा अगर बरसीना दागस्त
न पिन्दारी कज़ां दागम फरागस्त।

अगर मेरे इश्क का दाग तेरे सीने पर है तो तू यह न समझ कि मैं इस दाग से खाली हूं-

मराहम दिल बदामे तुस्त दरबंद
जेदागे इश्के तू हस्तम निशामंद।

मेरा दिल भी तेरी मुहब्बत के जाल में फंसा हुआ है और तेरे इश्क के दाग की मुझे खबर है।

दोस्त की तस्वीर की यह तडप जुलेखा के इश्क की आग को और भी भड़का देती है। कुछ दिन और इस तकलीफ में बीतते हैं, फिर तीसरी बार उसे माशूक का दुनिया को जला देने वाला हुस्न नज़र आता है। इश्क के पैदा होने और बढ़ने की यह सूरत मुहब्बत की दास्तानों में बिल्कुल निराली है। जुलेखा फिर दोस्त की तस्वीर के पांव पर गिर पड़ती है और इन शब्दों में उससे मुहब्बत भरी निगाह करने की विनती करती है—

न मी गोयम के दर हश्तम अज़ीज़म
न आखिर मर तुरा कमतर कनीज़म।

मैं यह नहीं कहती कि मेरी शान बादशाह की-सी है। मैं तो तेरी एक छोटी-सी लौंडी हूं।

चे बाशद गर कनीज़ेरा नवाज़ी
ज़े बंदे मेहनतश आजाद साज़ी।

क्या अच्छा हो कि तू इस लौंडी को अपना ले और दुखों के बंधन से छुटकारा दे। मगर दूसरी बार की तरह इस खयाली माशूक ने अबकी इस रोने-धोने पर उसकी तसल्ली नहीं की और न अपना दुख ज़ाहिर किया, बस इतना कहा--

अज़ीज़े मिस्रअम व मिस्रम मुकामस्त

मैं मिस्र का (बादशाह-लकब) वज़ीर हूं और मिस्र मेरा मुकाम है। इतना ही कहा और गायब हो गया।

शायर ने यहां ठोकर खाई है। जब इश्क की सूरत बिल्कुल खुदा की तरफ से दिल पर ज़ाहिर हुई है तो चाहिये था कि दोस्त की तस्वीर का यह पता सही होता। मगर वाकयात इसके खिलाफ हैं क्योंकि हजरत यूसुफ मिस्र के वज़ीर न थे। फिर भी जुलेखा को बहुत तसल्ली हो गई। जब माशूक का पता मिल गया तो उसे ढूंढ़ निकालना क्या मुश्किल था। थोड़ी देर के लिए उसका पागलपन दूर हो गया। इधर जुलेखा दोस्त की जुदाई में परीशान थी उधर उसके रूप का सारी दुनिया में चर्चा फैला हुआ था–

सराने मुल्क रा सौदाये ऊ बूद
बबज़्मे खुसरवां गौगाये ऊ बूद।

देश के सरदारों के सर में उसकी चाह थी और बादशाहों की सभा में उसका चर्चा था।

बहरवक्त आमदे अज़ शहरयारे
ब उम्मीदे विसालश ख्वास्तगारे।

हर वक्त शहर का बादशाह आता और उससे मिलने की इच्छा करता।

ज़ंग, रूम और शाम के बादशाहों ने अपने-अपने राजदूत जुलेखा के बाप शाह तीमूस के पास भेजे मगर मिस्र के अज़ीज़ की तरफ से कोई पैगाम न आया। शाह तीमूस ने जुलेखा को अपने सामने बुलाया और प्यार से अपने पास बिठाकर सब बादशाहों के पैगामों का ज़िक्र किया। मगर जब मिस्र के अज़ीज़ का ज़िक्र न आया तो वह निराश होकर बेद की टहनी की तरह कांपती हुई अपने एकांत में आ बैठी और रो-रोकर कहने लगी–

मरा ऐ काश के मादर नमीजाद
वगर मीज़ाद कस शीरम नमीदाद।

क्या अच्छा होता कि मुझे मेरी मां न जनती और अगर जनती तो कोई मुझे दूध न देता–

कयम मन अज़ वुजूदे मन चे खेज़द
वज़ीं बूदे न बूदे मन चे खेज़द।

मैं वह हूं कि मेरी ज़िंदगी से क्या हो सकता है। इस जिंदगी के होने से न होती तो क्या नुकसान होता। मजबूर होकर शाह तीमूस ने अजीज़े मिस्र को अपनी तरफ से पैगाम भेज़ा। अज़ीज़े मिस्र खुशी के मारे फूला न समाया। गरज यह कि जुलेखा बड़ी शान के साथ मिस्र की तरफ रवाना हुई। हज़रत जामी ने इस जुलूस का ज़िक्र बहुत फैलाकर और बड़ी आन-बान से किया जिसका ज़िक्र इस फाकेमस्ती और बर्बादी के ज़माने में बेकार है। जुलेखा खुश-खुश चली जा रही थी कि अब कामनाओं के पूरे होने के दिन आये–

शबे गम रा सहर ख्वाहद दमीदन
गमे हिजरां बसर ख्वाहद रसीदन।

गम की रात का सबेरा हो जायेगा, बिरह का दुख खत्म हो जायेगा।

मगर उसे क्या खबर थी कि जादूगर आसमान उसे सब्ज़ बाग दिखा रहा है। अज़ीज़े मिस्र राजधानी से उसके स्वागत के लिए आया हुआ था। ज़ुलेखा ने तम्बू के झरोखे से उसे देखा मगर ज्योंही–

जुलेखा कर्द अज़ां खीमा निगाहे
बरावुर्द अज़ दिले गमदीदा आहे।

ज़ुलेखा ने तंबू से एक निगाह की और गम-भरे दिल से एक आह भरकर रह गई–

के बावेला अज़ब कारेम उफ्ताद
बसर तापाये दीवारेम उफ्ताद।

दुहाई है कि मेरा बना-बनाया काम बिगड़ गया और मेरे सर से पांव तक दीवार गिर पड़ी–

न आनस्त आंके अक्लोहाश मन बुर्द
इनाने दिल बबेहोशेम बसपुर्द।

यह वो नहीं है जिसने मेरी अक्ल और मेरा होश लूटा और मेरे दिल की लगाम पागलपन को सौंप दी–

[illegible] बख्ते सुस्तम सुस्ती आवुर्द
तुलूए अख्तरम बदबख्ती आवुर्द।

अफसोस है कि मेरी फूटी किस्मत और भी फूट गयी और मेरे नसीबे के सितारे बदनसीबी लाये–

मनम आं बादबां कश्ती शिकस्ता
बरहना बरसरे लौहे नशस्ता।

मैं कश्ती की फटी हुई पाल हूं और कश्ती के बदले एक लकड़ी के तख्ते पर हर तरफ से खुली हुई बैठी हूं–

रुबायद हरज़मा अज़ जाये मौजम
बरू गह दर हज़ीज़े गहे दर औजम।

मुझे दरिया की लहरें एक जगह से दूसरी जगह ले जाती हैं। कभी मैं दरिया की गहराई में चली जाती हूं और कभी ऊपर आ जाती हूं–

ज़िनागह जोर मी आयद पिदीदार
शवम खुर्रम कज़ू आसां बुवद कार।

कभी जोर की लहर आती है और मुझे दरिया के सतह पर फेंक देती है तो मैं खुश हो जाती हूं कि अब मेरी मुश्किल आसान हो जायेगी–

चू नज़दीके मन आयद बे दिरंगे
बुवद बहरे हलाकत मन निरंगे।

फिर वह लहर मेरे पास आती है और मुझे मार डालनेवाला घड़ियाल बन जाती है।

इसी तरह पेचोताब खाकर उसने बहुत देर तक नाकामी के आंसू बहाये और खुदा के दरबार में दुआ की कि मेरी इज़्ज़त और आबरू का रखवाला तू है। खुदा के दरबार में उसकी दुआ मंजूर हुई और आवाज़ आयी–

के ऐ बेचारा रूये खाक बरदार
कज़ां मुश्किल तुरा आसां शवद कार।

ऐ मजबूर, ज़मीन पर से सर उठा, तेरी मुश्किल आसान हो जायेगी–

अज़ीज़े मिस्र मकसूदे दिलत नीस्त
वले मकसूद बेऊहासिलत नीस्त।

तेरे हृदय का लक्ष्य अज़ीज़े मिस्र नहीं है मगर उसके बिना वह पूरा भी न होगा–

अज़ू ख्वाही जमाले दोस्त दीदन
वज़ू ख्वाही बमकसूदत रसीदन।

तू उसी के ज़रिये से दोस्त का रूप देखेगी और उसी के ज़रिये से अपने मतलब को पहुंचेगी–

मुबादा अज़ सोहबते ऊ हेच बीमत
कज़ूमानद सलामत कुफ्ले सीमत।

तू उसकी संगत से न डर क्योंकि तू उसके साथ रह कर भी कुंवारी रहेगी।

इस आवाज़ ने दिल को ताकत पहुंचाई। अब वह अज़ीज़े मिस्र की बेगम थी और अज़ीज़ वहां के सरदारों का रईस था। रुपया-पैसा, शान-शौकत और लौंडी-गुलामों की कमी न थी। रंगरेलियों की सभायें गर्म रहती थीं मगर यह सब चीज़ें ज़ुलेखा के दिल को दुख पहुंचाती थीं। अक्सर रातों को सब सो जाते तो वह ज़ालिम आसमान से शिकायत के दफ्तर खोल देती।

चे दानिस्तम बवक्ते चारासाज़ी
ज़े खानूमां मरा आवारा साज़ी।

मुझे क्या खबर थी कि मेरे इलाज के वक्त तू मुझे घर से बेघर करके आवारा कर देगा।

मरा बस बूद दागे बेनसीबी
फुज़ूं करदी बरां दर्दे गरीबी।

मुझे बेनसीबी का दाग ही कुछ कम न था लेकिन तूने परदेस का दुख भी दिखाया।

उसके सिर पर जड़ाऊ ताज शोभा देता था, उसके रनिवास पर स्वर्ग निछावर था और उसका तख्त जड़ाऊ था मगर जब दिल पर गम का बोझ हो तो ऊपर की टीम-टाम से क्या सुख। इस ढंग से ज़ुलेखा ने अज़ीज़े मिस्र के साथ एक मुद्दत तक उम्र काटी। शायद उसका भेद अज़ीज़े मिस्र पर भी खुल गया था मगर ज़ुलेखा उसको छिपाने की कोशिश करती रही।

लबश वा खल्क दरगुफ्तार मी बूद
वले जानी दिलश वा यार मी बूद।

वह लोगों से बातें करती थी लेकिन उसकी ज़ान और दिल अपने माशूक में रहते थे।

बसूरत बूद वा मरदुम नशस्ता
बमाने अज़ हमां खातिर गुसस्ता।

वह ज़ाहिर में लोगों के साथ बैठती थी लेकिन दिल दोस्त में रहता था। इस तरह जब दिन कट जाता और रात की काली बला आ जाती तो वह–

खयाले दोस्त रा दर खिलवते राज़
निशांदे ता सहर बर मसनदे नाज़।

एकांत में दोस्त के खयाल को सबेरे तक सामने रखती और–

बज़ानूए अदब ब नशस्तियश पेश
ब अर्ज़े ऊ रसानीदे गमे खेश।

उसके सामने अदब से बैठकर उससे अपना गम बयान करती।

न जाने कितने वर्षों तक वह इस दिल की आग में जलती रही। आखिर उसकी मुहब्बत में सच्चाई देखकर खुदा को उस पर तरस आया। रंग बदलने वाला ज़माना उसके लिए अनुकूल हुआ। हज़रत यूसुफ को उनके दुश्मन भाइयों ने डाह के मारे कुएं में डाल दिया। यह यूसुफ ही थे जिनके रूप का दर्शन जुलेखा को सपने में हुआ था। संयोग की बात, कुछ सौदागरों ने यूसुफ को कुएं से ज़िंदा निकाल लिया और उन्हें गुलाम बनाकर बेचने के लिए मिस्र के बाज़ार में लाये। जब यहां पहुंचे तो उनके हुस्न का चर्चा कस्तूरी की खूशबू की तरह फैला। जो देखता हैरान रह जाता। धीरे-धीरे मिस्र के बादशाह के कानों तक यह खबर पहुंची। उसने अज़ीज़े मिस्र को हुक्म दिया कि जाकर गुलाम को देखो। अज़ीज़ ने उसे देखा तो अचम्भे से उंगलियां चबाने लगा और आकर बादशाह से गुलाम की बहुत तारीफ की।

इन दिनों जुलेखा को और दिनों से ज़्यादा बचैनी थी। जब से हज़रत यूसुफ कुएं में गिरे थे जुलेखा को उनसे दिली लगाव होने की वजह से किसी सूरत चैन नहीं था। एक दिन वह दिल बहलाने के लिए शहर के पास एक जंगल में गयी और आराम की बहुत सी चीजें ले गई मगर वहां भी उसका जी न लगा। महल की तरफ आ रही थी कि रास्ते में बादशाह के महल के सामने एक भीड़ देखी। यूसुफ की तारीफ हर आदमी कर रहा था। लोग उनकी मुहब्बत में पागल हो रहे थे। जुलेखा ने भी अपना हाथी रोका और ज्योंही यूसुफ पर उसकी निगाह पड़ी उसकी आंखों से एक पर्दा-सा हट गया और बेअख्तियार दिल से एक ठंडी आह निकल आयी और वह बेहोश हो गयी। लौंडियों ने यह हालत देखी तो हाथी ज़ल्दी से एकांत में लायीं। जुलेखा जब होश में आयी तो दाई ने उसके पागलपन का कारण पूछा। जुलेखा बोली–

बगुफ्त ऐ मेह्‌रबां मादर चे गोयम
के गरदद आफते मन हर चे गोयम।

ऐ मेरी प्यारी मां, मैं तुझसे क्या कहूं क्योंकि इसमें हर तरह से मेरी ही परीशानी है।

दरां मजमां गुलामे रा के दीदी
ज़े अहले मिस्र वस्फे ऊ शनीदी।

'ूने उस भीड़ में जिस गुलाम को देखा और मिस्र वालों से जिसकी तारीफ सुनी

ज़े आलम किबलागाहे जानेमन ऊस्त
फिदायश जानेमन जानानेमन ऊस्त।

मैं जिसे चाहती हूं यह वही है और जिस पर जान निछावर करती हूं यह वही है–

बतन दरतप बदिल दरताब अज़वेम
ज़े दीदा गर्क खूने नाब अज़वेम।

मेरे बदन में बेकरारी और दिल में तड़प उसी से है और मेरी आंखें उसी के गम में खून रोती हैं–

ज़े खानूमा मरा आवारा ऊ साख्त।
दरीं बेचारगी आवारा ऊ साख्त।

मुझे घर से बेघर उसी ने किया और इस बेबसी में उसी ने डाला।

दाई ने ज़ुलेखा की तसल्ली की। उधर मिस्र वालों ने यूसुफ की खरीददारी में अपनी कद्रदानियों का सबूत देना शुरू किया। जो आता मोल बढ़ाता था। ज़ुलेखा को एक एक पल की खबर मिलती थी और वह हर दफा बोली का दुगना कर देती थी। यहां तक कि कोई गाहक उसके सामने न ठहर सका। मगर अज़ीज़े मिस्र के पास इतनी दौलत न थी। जो कुछ पूंजी और जवाहिरात उसके खज़ाने में थे वो उसकी कीमत से आधे भी न थे। अज़ीज़े मिस्त्र ने यही बहाना पेश किया लेकिन–

ज़ुलेखा दाश्त दुर्जे पुर, ज़े गौहर
न दुर्जे बल्के बुर्जे पुर ज़े अख्तर।

ज़ुलेखा के पास एक मोतियों का डब्बा भरा हुआ था। वह मोतियों का डब्बा क्या था बल्कि सितारों की एक बुर्ज थी।

बहाये हर गुहर ज़ां दुर्रे मकनूं
खिराजे मिस्र, बूदे बल्कि अफज़ूं।

हर मोती की कीमत मिस्र के खिराज के बराबर थी बल्कि उससे भी ज़्यादा।

अज़ीज़े मिस्त्र ने जब देखा कि यह बहाना नहीं चला तो कहने लगा कि मिस्र के बादशाह इस गुलाम को अपने गुलामों का सरदार बनाना चाहते हैं। अगर मैं इसे मोल लूंगा तो वह नाराज होंगे। ज़ुलेखा ने जवाब दिया–

बगुफ्ता रौ सूए शाहे जहांदार
हके खिदमतगुज़ारीरा बजा आर।

ज़ुलेखा ने कहा कि बादशाह की खिदमत में जाओ और यह अर्ज़ करो–

बिगो बर दिल ज़ुज़ीं बंदे न दारम
कि पेशे दीदा फर्ज़न्दे न दारम।

मैं इस गुलाम को इसलिए चाहता हूं कि मेरे औलाद नहीं है, इसे औलाद समझकर अपने पास रक्खूंगा।

सरफराज़ी मरा ज़ीं एहतरामम
के आयद ज़ेरे फरमां ईं गुलामम।

मेरी इज़्ज़त इसी में है कि इस लड़के को अपनी गुलामी में रक्खूं–

बबुर्ज़म अख्तरे ताबिन्दा बाशद
मरा फर्ज़न्द शहरा बंदा बाशद।

यह मेरे बुर्ज का चमकदार सितारा होगा। मेरा बेटा बादशाह का गुलाम होगा।

आखिर अज़ीज़ ने मजबूर होकर जुलेखा को खरीददारी की इजाज़त दे दी मगर यह समझ में नहीं आता कि जुलेखा यूसुफ को अपना बेटा बनाने की हिम्मत कैसे कर सकी। जुलेखा ने जो सूरत सपने में देखी थी वह बच्चे यूसुफ की नहीं बल्कि जवान यूसुफ की थी। हां, यह हो सकता है कि यूसुफ पर नबी होने की वजह से उम्र का असर न हुआ हो। जुलेखा अपना मतलब पाकर खुश हुई और कुछ दिनों उसकी आराम से बीती। कहती है–

चू बूदम माहीए दर मातमे आब
तपां बर रेगे तुफ्ता अज़ गमे आब।

जब मैं गम के पानी में मछली की तरह थी और जलती हुई मिट्टी पर जलती हुई मछली–

दर आमद सैले अब्रे करामत
बदरिया बुर्द अज़ां रंगम सलामत।

तेरी मेहरबानी की बाढ़ आयी और मुझे खुशी के दरिया में ले गई।

के बूदम गुम रहे दर जुल्मते शब
रसीदा जां ज़े गुमराहेम बरलब।

क्योंकि मैं रात के अंधेरे में भटक रही थी और गुमराही तक मेरी जान पहुंच गई थी।

बरामद अज़ उफक रख्शिंदा माहे
बकूए दौलतम बनुमूद राहे।

क्षितिज से एक चमकता हुआ चांद निकला और उसने मुझे रास्ता दिखा दिया।

जुलेखा को अब यूसुफ की दिलजोई और खातिरदारी के सिवा दूसरा कोई काम न था।

चू ताजे ज़र ब फर्कश निहादे।
निहांरा बोसअश बरफर्क दादे।।

कभी उसके सर पर जड़ाऊ मुकुट रखती और छुपकर उसका सर चूम लेती–

चू पैराहन कशीदे बर तने ऊ
शुदे हमराज़ बा पैराहने ऊ।

कभी उसके कपड़े उतारती और उसे नंगा देखती–

कमर चूं चुस्त करदे बरमियानश
गुज़श्ते ईं तमन्ना बरजबानश।

कभी उसकी कमर बांधती तो अपनी ज़बान से यह इच्छा पकट करती–

के गर दस्तम कमर बूदे चे बूदे
ज़े वस्लश बहरावर बूदे चे बूदे।

अगर मेरा हाथ तेरी कमर में होता तो क्या होता और अगर मैं एकांत में तुझसे

मिलती तो कितना अच्छा होता।

मुसलसल गेसुवश चू शाना कर्दे
मदावाए दिले दीवाना कर्दे।

बार-बार उसके बालों में कंघी कर-करके अपने पागल दिल को तसल्ली देती।

गमश खुर्दे व गम ख्वारीश कर्दे
बखातूनी परस्तारीश कर्दे।

उसका गम खाती, खयाल रखती और उसकी सेवा स्त्री की तरह करती।

मगर चूंकि यूसुफ पैगम्बर के लिए गड़रिया होना ज़रूरी था, इस आराम में उनका जी न लगा। जुलेखा ने उनके दिल का झुकाव देखा तो उनकी दिलजोई के खयाल से उनके लिए गड़रिये के काम का सामान कर दिया। रेशम की रस्सियां बनवाईं, जड़ाऊ लकड़ी तैयार कराई और हज़रत यूसुफ चरवाही करने लगे मगर इश्क का जादू निराला है।

उम्मीदे कामरानी नीस्त दर इश्क
सफाये ज़िंदगानी नीस्त दर इश्क।

इश्क में दिल की मुराद पाना और साफ ज़िंदगी गुज़ारना मुश्किल है।

जुलेखा बूद यूसुफ रा न दीदा
ब ख्वाबे ऊ खयाले आरमीदा।

जुलेखा यूसुफ को बिन देखे बेचैन रहती और नींद में भी उसी का ध्यान रहता।

बजुज़ दीदारश अज़ हर जुस्तजूए
न मीदानिस्त खुद रा आरज़ूए।

वह सिवाय यूसुफ को देखने के और कोई इच्छा नहीं रखती थी।

चू शुद अज़ दीदने ऊ बहरा मंदी
ज़े दीदन ख्वास्त तबए ऊ बलंदी।

जब उसे देखती तो अपनी आत्मा में एक तरह की खुशी और बलंदी पाती।

ज़े लाले ऊ बबोसा काम गीरद
ज़े सर्वश वा कनार आराम गीरद।

उसके होंठ चूमने और सर गोद में रखने से आराम महसूस करती।

वले नज्जारगी कामद सुए बाग
ज़े शौक गुल चू लाल्ला सीना बरदाग।

अगर कभी बाग देखने आती तो लाला की तरह अपने दिल पर माशूक का दाग पाती।

न ख़ुस्त अज़रूये गुल दीदन शवद मस्त
ज़े गुल दीदन बगुल चीदन बरूदस्त।

फूलों को देखकर मस्त हो जाती और फूल चुनने लगती।

जब तक जुलेखा ने यूसुफ को न देखा था, सिर्फ देखने की इच्छा थी। अब मिलने का शौक पैदा हुआ, मगर

जुलेखा बह्रे यक दीदन हमी सोख्त
वले यूसुफ ज़े दीदन दीदा बरदोख्त।

जुलेखा यूसुफ को एक नज़र देखने के शौक में दिल ही दिल में जलती थी और यूसुफ ने जुलेखा को न देखने के खयाल से आंखें सी ली थीं।

ज़े बीमे फितना सूए ऊ न मी दीद
ब चश्मे फितना रूये ऊ न मी दीद।

जुलेखा जब यूसुफ को देखती, बुरे खयाल से देखती और उसकी उन पर जो नजर पड़ती बुरी होती। लेकिन यूसुफ की लापरवाही ने जुलेखा को गम के भंवर में डाल दिया। फिर उसकी तबीयत में पागलपन पैदा हो गया। कंघी चोटी से घिन हो गई। मेहरबान दाई ने बड़े प्यार से इस हार्दिक दुख का कारण पूछा। जुलेखा ने अपनी कहानी निराशा के साथ शुरू की और उसे यूसुफ के पास मिलने का संदेशा देकर भेजा। मगर यूसुफ का कदम सच्चाई के रास्ते से न डिगा और उन्होंने जवाब दिया।

जुलेखा रा गुलामे जर खरीदम
बसा अज वै इनायतहा के दीदम।

जुलेखा ने मुझे रुपया देकर मोल लिया है और मुझ पर बड़ी-बड़ी मेहरबानियां की हैं।

गिलो आबम इमारत कर्दये ऊस्त
दिलो जानम वफ़ा परवर्दये ऊस्त।

मुझे उसने बड़ी मेहरबानी से पाला पोसा और बनाया-संवारा है।

अगर उम्रे कुनम नेमत शुमारी
नियारम कर्दन ऊरा हक गुज़ारी।

अगर मैं सारी उम्र उसकी मेहरबानियों का हिसाब करूं तो भी उसका हक अदा नहीं कर सकता।

बफरज़ंदे अज़ीज़म नाम बुर्दस्त
अमीने खानए खेशम सपुर्दस्त।

मुझे अजीज़े मिस्र के बेटे का नाम दिया और अपने घर की निगरानी मुझे सौपी।

नयम जुज़ मुर्गे आबोदानये ऊ
खयानत चू कुनम दर खानये ऊ।

मैं उसका खिलाया-पिलाया और पाला पोसा हूं। उसके घर में डाका कैसे डाल सकता हूं।

जब दाई के जादू से काम न चला तो जुलेखा खुद सवाल की सूरत बनकर यूसुफ के पास आई और यूसुफ से मेहरबानी की भीख मांगी मगर यूसुफ ने उसे भी बड़ी समझदारी से जवाब दिया।

खुदावंदे मजू अज़ बंदये खेश
बदीं लुत्फम मकुन शर्मिन्दए खेश।

ऐ मेरी मालिक, अपने गुलाम से ऐसे काम की उम्मीद न रख और अपनी मेहरबानियों से शर्मिन्दा न कर।

कियम मन ता तुरा दम साज़ गरदम
दरी ख्वां बाअज़ीज़ अंबाज़ गरदम।

मैं वो नहीं हूं कि तेरे इस हुक्म को बजा लाऊं और अज़ीज़ की थाली में शरीक हो जाऊं।

ब बायद बादशाह आं बंदा रा कुश्त
कज़ू बायक नमकदां बावै अंगुश्त।

बादशाह को चाहिए कि उस गुलाम को मार डाले जो उसके नमकदान में अपनी उंगली डाले।

यूसुफ का जवाब साफ और सच्चाई से भरा हुआ था। हयादार औरत को डूब मरने के लिए इशारा बहुत था मगर इश्क ने जुलेखा को अंधा कर दिया था। उसने यूसुफ को जब इंसानियत के पर्दे में छुपते देखा तो उसे पर्दे को हटा देने की कोशिश शुरू की। उसके पास एक बाग था। उसे खूब सजाकर, बहुत सी खूबसूरत लौंडियां वहां भेजीं और यूसुफ को भी सैर करने के लिए भेजा। लौंडियों से ताकीद कर दी कि यूसुफ को रिझाने में कोई कसर उठा न रखना और यूसुफ को यह दोस्ती-भरी राय दी–

अगर मन पेशे तू बर तू हरामम
वज़ीं मानी ब गायत तल्ख कामम।

अगर मैं तेरे लिए हराम हूं और तू इसीलिए मुझे बुरी समझता है–

बसूए हर के ख्वाही गाम बरदार
ज़े वस्ले हर के ख्वाही काम बरदार।

इनमें से जिसे जी चाहे उससे जी बहला और अपना मतलब पूरा कर।

इन चालों का मतलब यह था कि जब यूसुफ इन लौंडियों में से किसी से अपना मतलब पूरा करने का खयाल ज़ाहिर करें तो जुलेखा -

निशानद खेश रा पिनहा बजायश
खुरद बर अज़ निहाले दिलरुबायश।

छुपकर उस लौंडी की जगह बैठ जाये और इस तरह अपना मतलब पूरा करे।

इससे साफ ज़ाहिर होता है कि जुलेखा का प्रेम वासना का दूसरा नाम था। मगर उसकी कोई कोशिश कारगर न हुई। यूसुफ ने इन लौंडियों को खुदा की मुहब्बत का ऐसा पाठ पढ़ाया कि वो अपने गंदे खयाल से हाथ धो बैठीं और जब जुलेखा पिया मिलन की इच्छा लिये हुए वहां पहुंची तो लौंडियों को खुदा के सामने सजदे में सर झुकाये पाया। निराश होकर वहां से वापस लौटी और रो-रोकर दाई से अपने दिल का दुख सुनाने लगी। दाई ने समझाया, खुदा की मेहरबानी से आप भी एक ही सुंदरी हैं। आप अपने ढंग और अदाओं से यूसुफ को पिघला सकती हैं। जुलेखा ने जवाब दिया यह तो सच है मगर वह ज़ालिम मेरी तरफ आंख उठाकर देखे तो। वह तो मेरी तरफ ताकता ही नहीं। आंखें चार हों तब तो दिल मिले।

न तनहा आफतम ज़ेबाइये ऊस्त
बलाये मन ज़े नापरवाइये ऊस्त।

उसका रूप ही मेरे लिए आफत नहीं है, उसकी लापरवाही और भी बड़ी आफत है।

आखिर जब परखने से साबित हो गया कि इन छोटी-छोटी चालों से काम न चलेगा, तो दाई ने एक बड़ी चाल चली। रुपये की कमी न थी। एक बहुत बड़ा महल बनवाया गया जिसमें सात ख़ंड थे। इस सतखंडे महल को उस्ताद ने ऐसा अच्छा बनाया कि हर खंड पहले खंड से बढ़-चढ़कर था और सातवां ख़ंड तो जैसे सातवें आसमान का ज़वाब था। हीरे-जवाहिरात, कस्तूरी, अम्बर और फलदार पेड़ और दुनिया भर की सजावट वहां मौजूद थी। उसकी हवा दिलों में नशा पैदा करती थी। उसकी सजावट निराली थी।

दरां खाना मुसव्विर साख्त हर जा
मिसाले यूसुफ ओ नक्शे ज़ुलेखा।

इस महल में चित्रकार ने जगह-जगह यूसुफ और ज़ुलेखा की तस्वीरें बनाई थीं।

बहम बनशस्ता चूं माशूक ओ आशिक
ज़े मेहरे जानो दिल बाहम मुवाफिक।

आपस में प्रेमी और प्रेमिका ऐसे बैठे थे जैसे दिल और जान एक-दूसरे से अलग नहीं हो सकते।

बयक जा ईं लबे आं बोसा दादा
बयक जा आं मियाने ईं कुशादा।

कहीं यह उसका मुंह चूम रहा है और कहीं वह इसका नाड़ा खोल रही है।

जब यह महल हर तरह सज गया तो ज़ुलेखा ने भी अपने को खूब दिल खोलकर सजाया और जाकर पहले हिस्से में बैठी। यूसुफ भी बुलाये गये। उन्हें देखते ही ज़ुलेखा बेचैन हो गयी, सब्र हाथ से जाता रहा। यूसुफ का हाथ एक खास अंदाज से पकड़कर इधर-उधर की सैर कराने लगी। यहां सिवाय आशिक और माशूक के कोई रंग में भंग डालने वाला न था। ज़ुलेखा बार-बार इश्क का जोश जताती थी मगर यूसुफ धर्म और इंसानियत की दलीलों से उसे चुप कर देते थे।

सवाल और ज़वाब--

यूसुफ--

मरा अज़ बंदे गम आज़ाद गर्दां
ब आज़ादी दिलम रा शाद गर्दां

मुझे गम की कैद से आज़ाद कर दे और आज़ादी से मेरा दिल खुश कर दे।

मरा खुश नीस्त कीं जा बा तू बाशम
पसे ईं पर्दा तनहा बा तू बाशम।

मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि इस जगह पर्दे के पीछे तेरे साथ रहूं।

ज़ुलेखा--

तिही क़र्दम खज़ाइन दर बहायत
मताए अक्लो दीं कर्दम फिदायत।

मैंने तेरी कीमत पर खजाना खाली कर दिया और तुझ पर अक्ल और धर्म की पूंजी निछावर कर दी।

ब आं नियत कि दरमानम तू बाशी
रहीने तौके फरमानम तू बाशी।

इस ख्याल से कि तू मेरे दुख का इलाज करेगा और मेरे हुक्म में रहेगा।

यूसुफ–

बिगुफ्ता दर गुनह फरमांबरी नीस्त
ब इसियां ज़ीस्तन खिदमतगरी नीस्त।

वह हुक्म जिसमें पाप हो उसे बजा लाना आज्ञा-पालन नहीं है और पाप की ज़िंदगी बिताना सेवा नहीं है।

ज़ुलेखा एक घर से दूसरे घर में जाते वक्त उसके दरवाज़े पर ताला लगा देती थी कि यूसुफ भाग न जाए। इश्क उसकी अक्ल पर धुएं की तरह छा गया था कि वह उस नतीजे को, जो दिल के लगाव ही से मुमकिन है, जबर्दस्ती हासिल करना चाहती थी। सातवें खंड में पहुंचकर ज़ुलेखा ने बहुत ही नर्मी से अपनी दास्तान कही कि जैसे अपना कलेजा ही निकालकर रख दिया मगर यूसुफ का दिल न पसीजा। आखिर जब उसकी कामना हद से आगे बढ़ गई तो यूसुफ ने यह कहकर उसकी तसल्ली की कि जल्दी से काम बिगड़ता है। ज़ुलेखा उसका यों जवाब देती है–

ज़े शौकम जां रसीदा बर लब इमरोज़
नियारम सब्र करदन ता शब इमरोज़।

तेरे इश्क में मेरी जान होंठों पर आ गई। अब आज रात तक मैं धीरज नहीं रख सकती।

कै आं ताकत मरा आयद पिदीदार
के बावक्ते दिगर अंदाजम ई कार।

मुझमें इतनी ताकत कहां है कि दूसरे वक्त पर यह काम छोड़ूं।

ज़ुलेखा पिया-मिलन के नशे में मतवाली हो रही है और यूसुफ कहते हैं, इसमें दो बातें रुकावट डालती हैं। एक तो खुदा का डर और दूसरे अज़ीज़े मिस्र का। तो वह उन दोनों को दूर करने की तरकीब बताती है कि अज़ीज़े मिस्र को–

दिहम ज़ामे कि बा जानश सतेजद
ज़े मस्ती ता कमायत बर न खेज़द।

मैं एक ऐसा प्याला पिला दूंगी कि उसके नशे से वह फिर उठ न सकेगा और खुदा से इस पाप की माफी के लिए अपना सारा खजाना गरीबों और फकीरों को दे दूंगी। इस पर यूसुफ कहते हैं, न तो मेरा खुदा रिश्वत खाता है और न मैं ऐसा एहसान भुला देने वाला हूं कि अपने ही मालिक को मारने की राय दूं। आखिर ज़ुलेखा की जब एक न चली तो उसने एक तेज़ तलवार हाथ में लेकर खुद मरने का इरादा ज़ाहिर किया।

चू यूसुफ आं बिदीद अज़ जाय बरजस्त।
चू ज़र्री मार बिगिरिफ्तश सरे दस्त।।

यूसुफ फौरन अपनी जगह से उठे और एक सुनहरे सांप की तरह उसके हाथ को पकड़ लिया।

कज़ीं तुंदी बियाराम ऐ ज़ुलेखा।
वज़ीं रू बाज़ कश काम ऐ ज़ुलेखा।

ऐ ज़ुलेखा, इतनी जल्दी न कर और इस खयाल से मुंह मोड़।

ज़ुलेखा ने जब यूसुफ को ज़रा नर्म होते देखा तो उनकी गर्दन में हाथ डालकर लिपट गई और ऐसी हरकतें करने लगी जो एक कुंवारी लड़की को शोभा नहीं देतीं। शायद इस वक्त हज़रत यूसुफ नबी के पद पर होते हुए भी सीधे रास्ते से डगमगा गये थे। मगर इस एकांत की हालत में उनकी नज़र एक सुनहरे पर्दे पर पड़ी जो सामने लटक रहा था। ज़ुलेखा से पूछा, यह पर्दा क्यों पड़ा है। ज़ुलेखा बोली, इसके अंदर मेरा खुदा है। मैंने उसके ऊपर पर्दा डाल दिया है कि उसकी निगाह मुझ पर न पड़ सके। ज़ुलेखा का इतना कहना गजब हो गया। यूसुफ बोले, तू एक पत्थर की मूरत का इतना लिहाज करती है और मैं अपने सब कुछ देखने और सब जगह हाज़िर रहने-वाले खुदा से जरा भी न डरूं। यह कहकर फौरन वहां से उठ खड़े हुए और बाहर की तरफ चले। खुदा का करना भी कुछ ऐसा ही हुआ कि हर दरवाजे पर पहुंचते ही लोहे के ताले खुलते गये। ज़ुलेखा ने जब यूसुफ को भागते देखा तो झल्लाकर -

पये बाज़ आमदन दामन कशीदश
ज़े सूए पुश्त पैराहन बुरीदश।

उनके पीछे लपकी और पीछे से दामन पकड़ा जिससे उनका कुर्ता फट गया।

बुरूं रफ्त अज़ कफे आं गमरसीदा
बसाने गुंचा पैराहन दरीदा।

लेकिन हज़रत उसके पंज़े से ऐसे बाहर निकल गये जैसे कली पंखुड़ियों के पर्दे से बाहर निकल आती है।

यूसुफ इस महल से निकल ही रहे थे कि अज़ीज़े मिस्र आते दिखाई दिये। उन्होंने यूसुफ का हाथ मुहब्बत के जोश में पकड़ लिया और फिर महल में दाखिल हुए। ज़ुलेखा ने जब यूसुफ को अज़ीज़ के साथ देखा तो समझी कि इसने मेरी शिकायत की है। फौरन त्रिया-चरित्र खेली, बोली कि आज मैं इस कमरे में सोती थी तो यह गुलाम, जिसे मैंने अपना बेटा कहा है, दबे पांव मेरी सेज की तरफ आया और मेरी इज्ज़त लेनी चाही। इतने में मैं जाग पड़ी और यह भाग निकला। अज़ीज़ ने यह दास्तान सुनी तो यूसुफ को खूब भला-बुरा कहा कि मैंने तुझे बेटे की तरह पाला-पोसा और तू ऐसा जानवर निकला। तब यूसुफ ने मजबूर होकर सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाया मगर ज़ुलेखा के रोने-धोने ने अज़ीज़ को पिघला दिया और हज़रत यूसुफ जेल में डाल दिये गये। यहां खुदा के दरबार में उनकी पुकार यहां तक म[illegible]र हुई कि ज़ुलेखा की चालों और यूसुफ के बेकुसूर होने की गवाही एक दूध-पीते बच्चे ने दी। अज़ीज़े मिस्र को अब शक की कोई गुंजाइश बाकी न रही। उसने यूसुफ को छोड़ दिया और ज़ुलेखा को सजा दी। जब यह किस्सा चारों तरफ फैला और लोग ज़ुलेखा को ताने

देने लगे तो उसने अपने शौहर से कहा कि मैं इस गुलाम के पीछे बदनाम हो रही हूं, आप इसे मेरी नज़रों से दूर कर दीजिए। अज़ीज़ ने यूसुफ को फिर कैद किया मगर–

चे मुश्किल ज़ां बतर बर आशिके ज़ार
कि बेदिलदार बीनद जाये दिलदार।

उस आशिक की बुरी हालत का क्या ठिकाना है जो अपने माशूक की जगह खाली देखे–

चू खाली दीद अज़ गुल गुलशने खेश
चू गुंचा खाक ज़द पैराहने खेश।

जब उसने अपने बाग में अपना फूल न देखा तो कली की तरह अपनी पंखुरियां मिट्टी पर गिरा दीं। जब विरह का दुख न सह सकती तो छिपकर अपनी दाई के साथ जेल में जाती और यूसुफ को देख आती। इधर यूसुफ जेलखाने में सपनों का मतलब बताने में मशहूर हो गये। सपना सुनते ही उसका मतलब बता देते। उन्हीं दिनों मिस्र के बादशाह ने सपना देखा कि मेरे मकान में पहले सात मोटी-मोटी गायें आयीं, उनके बाद सात दुबली-पतली गायें आयीं और इन मोटी-मोटी गायों को सूखे गेहूं की तरह खा गईं। इस सपने का कोई मतलब न बता सकता था। यूसुफ के सपने का हाल बताने का ज़िक्र बादशाह तक पहुंच गया था। बादशाह ने उन्हें दरबार मे बुलाया और यूसुफ ने सपने का मतलब बताया कि पहले मिस्र में सात बरस तक खूब गल्ला पैदा होगा, लोग आराम से रहेंगे, उसके बाद अकाल और मंहगाई के बरस आयेंगे और उस ज़माने में प्रजा को बड़े कष्ट का सामना होगा। बादशाह इस मतलब से बहुत खुश हुआ और उसी वक्त से यूसुफ उसकी नज़र में चढ़ गये। इज्ज़त और पद बढ़ने लगा मगर ज्यों-ज्यों उनका पद बढ़ता गया अज़ीज़े मिस्र का पद घटता गया यहां तक कि इसी दुख में वह मर गया। अज़ीज़े मिस्र के मरते ही जुलेखा के भी बुरे दिन आये। आखिर यह हालत हो गई कि यूसुफ के रास्ते पर एक छोटी-सी मड़ैया बना कर–

ब हसरत बर सरे राह नशस्ते
खरोशां बर गुज़रगाहश नशस्ते।

उसके रास्ते में बैठ जाती और पागलों की तरह रोती-धोती और चीखती-पुकारती रहती थी। लड़के आते, उसे छेड़ते। इश्क ने पागलपन की जगह ले ली थी। कैसी दुख-भरी तस्वीर है। यह वही महलों वाली जुलेखा है जो आज इस हालत को पहुंच गई है।

जब इस पागलपन को एक मुद्दत बीत गई तो एक रोज नाकामी और निराशा से झल्लाकर जुलेखा ने अपने खुदा को चूर-चूर कर डाला और इसी पागलपन की हालत में हज़रत यूसुफ के पास गई। यूसुफ ने हैरान होकर नाम-पता पूछा, जुलेखा को पहचान न सके। जुलेखा बोली–

बिगुफ्त आनम कि चूं रूये तू दीदम
तुरा अज़ जुमला आलम बरगुज़ीदम।

मैं वह हूं कि जब मैंने तेरी सूरत देखी तो तुझे सारी दुनिया से अच्छा समझकर चुन लिया।

फिशांदम गंजो गौहर दर बहायत
दिलोज़ां वक्फ् कर्दम दर हवायत।

तेरे मोल पर अपना खजाना और ज़वाहिरात लुटा दिये और अपना दिल और जान तुझ पर निछावर कर दी।

जवानी दर गमत बरबाद दादम
बरीं रोजे कि मो बीनी फितादम।

तेरे गम में अपनी जवानी बर्बाद कर दी जिसका नतीजा आज तू देख रहा है।

यह सुनकर हज़रत यूसुफ को बहुत तकलीफ हुई और वह रोने लगे। किस्सा कोताह, उनकी दुआओं ने ज़ुलेखा के दुबारा जवानी और रूप दिलवाया और तब खुदा की इज़ाजत से उन्होंने ज़ुलेखा से शादी कर ली।

यह है ज़ुलेखा का बहुत मशहूर किस्सा। ज़ुलेखा किसी तरह ऊंचे चरित्र का नमूना नहीं कही जा सकती। उसके प्रेम का स्थान बहुत नीचा है। वह एक चंचल स्वभाव और विचारों की स्त्री है और गंदी इच्छाओं पर ईमान और सब कुछ लुटा सकती है। जिन हालतों में जो कुछ उसने किया वही हर एक मामूली औरत करेगी। इसलिए कहा जा सकता है कि ज़ुलेखा एक हद तक सच्चाई के रंग में रंगी हुई है। इससे हजरत जामी का शायद यह मतलब होगा कि उसकी कमज़ोरियां दिखाकर यूसुफ की बड़ाइयों की इज़्ज़त बढ़ायें और इस इरादे में वह ज़रूर कामयाब हुए हैं।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना' अगस्त, 1909 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग 1 में संकलित।]

गालियां

हर एक जाति का बोल-चाल का ढंग उसकी नैतिक स्थिति का पता देता है, अगर इस दृष्टि से देखा जाए तो हिन्दुस्तान सारी दुनिया की तमाम जातियों में सबसे नीचे नजर आएगा। बोलचाल की गंभीरता और सुथरापन जाति की महानता और उसकी नैतिक पवित्रता को व्यक्त करती है और बदजबानी नैतिक अंधकार और जाति के पतन का पक्का प्रमाण है। जितने गंदे शब्द हमारे जबान से निकलते हैं शायद ही किसी सभ्य जाति की जबान से निकलते हों। हमारे जबान से गालियां ऐसे धड़ल्ले से निकलती हैं कि जैसे उनका जबान पर आना एक जरूरी बात है। हम बात-बात पर गालियां बकते हैं और हमारी गालियां सारी दुनिया की गालि ं से निराली, घृणित और गंदी होती हैं। हमीं हैं कि एक दूसरे के मुंह से मांओं, बहनों, बेटियों के बारे में गंदी से गंदी गालियां सुनते हैं और पैतरे बदलकर रह जाते हैं बल्कि बहुत बार हमें इसका एहसास भी नहीं होता कि हमारा कुछ अपमान हुआ है। जिन गालियों

का जवाब किसी दूसरी कौम का आदमी तलवार और पिस्तौल से देगा उससे कई गुना घृणित और गंदी गालियां हम इस कान से सुनकर उस कान उड़ा देते हैं। हमारी गालियों से मां, बहन, बीबी, भाई, कोई नहीं बचता। हम अपनी नापाक जबानों से इन पाक रिश्तों को नापाक करते रहते हैं।

यों तो गालियां बकना हमारा सिंगार है मगर खासतौर पर जबर्दस्त गुस्से की हालत में हमारी जबान के पर लग जाते हैं। गुस्से की घटा सर पर मंडलाई और मुंह से गालियां मूसलाधार मेह की तरह बरसने लगीं। अपने दुश्मन या विरोधी को दूर से खड़े खरी-खोटी सुना रहे हैं, आस्तीनें चढ़ाते हैं, पैतरे बदलते हैं, आंखें लाल-पीली करते हैं और सारा जोश चंद नापाक गालियों पर खत्म हो जाता है। विरोधी की सत्तर पुश्तों को जबान की गंदगी से लथपथ कर देते हैं। उसी तरह विरोधी भी दूर ही से खड़ा हमारी गालियों का तुर्की बतुर्की जवाब दे रहा है। इसी तरह घंटों तक गाली-गलौच के बाद हम धीमे पड़ जाते हैं और हमारा गुस्सा पानी हो जाता है। इससे बढ़कर हमारे जातीय कमीनेपन और नामर्दी का सुबूत नहीं मिल सकता कि जिन गालियों को सुनकर हमारे खून में जोश आ जाना चाहिए उन गालियों को हम दूध की तरह पी जाते हैं। और फिर अकड़कर चलते हैं कि जैसे हमारे ऊपर फूलों की वर्षा हुई है। यह भी जातीय पतन की देन है। जातीय पतन दिलों की इज्जत और स्वाभिमान की चेतना मिटाकर लोगों को बेगैरत और बेशर्म बना देती है। जब अनुभूति की शक्ति मिट गई तो खून में जोश कहां से आए। जो कुछ थोड़ा-बहुत बासी कढ़ी का-सा उबाल आता है उसका जोर जबान से कुछ थोड़े से गंदे शब्द निकाल देने पर ही खत्म हो जाता है।

गुस्से की हालत में जबान की यह रवानी औरतों में ज्यादा रंग दिखाती है। दो हिन्दुस्तानी औरतों की तू-तू मैं-मैं देखिए और फिर सोचिए कि जो लोग हमको अर्ध-बर्बर कहते हैं वे किस हद तक ठीक कहते हैं। कुंजड़े, खटिक, भठियारे यह सब जातियां जबानी गंदगी के लिए (क्या नैतिक गंदगी नहीं?) खासतौर पर मशहूर हैं। क्या-क्या गंदगियां उनकी जबान से निकलती हैं कि तौबा! जिन शब्दों की याद एक लज्जाशील स्त्री के गालों को लाज से लाल कर देगी, वे शब्द इन औरतों की जबान से बेधड़क और मोटरकार की रवानी के साथ निकलते हैं। अब्बासी और दुलरिया जरा पुरजोर लहजे में विचारों का लेन-देन कर रही हैं। अब्बासी दुलरिया के बेटे को चबा जाती है। दुलरिया उसके शौहर को कच्चा खा जाती है। तब अब्बासी उसके दामाद को निगल लेती है। इसके जवाब में दुलरिया उसके दामाद को देवी की भेंट चढ़ा देती है। अब्बासी झुंझलाकर दुलारिया के बूढ़े दादा की लंबी दाढ़ी को जलाकर खाक कर देती है क्योंकि इस गरीब के बदन में अब हड्डियों को छोड़कर गोश्त का नाम भी नहीं रहा वर्ना शायद उसे भी निगल जाती। दुलरिया जामे से बाहर होकर अब्बासी के सातों पुश्त के मुंह पर तारकोल लपेट देती है। बदकिस्मती से यह रवानी अधिकांश श्रेणियों की औरतों में कमोबेश पाई जाती है, और यह गालियां उन गंदी नापाक गालियों के मुकाबले में कुछ भी नहीं हैं जो हम आए दिन बाजारों और गलियों में सुना करते हैं।

गालियों से हमें कुछ प्रेम-सा हो गया है। गालियां बकने और सुनने से हमारा जी ही नहीं भरता। साफ-सुथरा मजाक हमारे यहां करीब-करीब गायब है। मजाक जो कुछ है वह गाली-गलौज पर खत्म हो जाता है। हमने गालियां देने और सुनने के लिए रिश्ते मुकर्रर कर लिए हैं। बीवी का भाई अपने बहनोई और बहनोई के दोस्त और उन दोस्तों के परिचितों और टोले-मुहल्ले के हर आदमी के लिए यकसां तौर पर फोहश मजाक का निशाना है। जो होता है उसे अपनी हैसियत के हिसाब से गालियां देता है। उसकी बहनें और उसके घर की बड़ी-बूढ़ियां एक भी इस भेड़ियाधसान हमले से बेदाग नहीं रहने पातीं। इस गरीब को गंदी-गंदी बातें सुनाना हर आदमी अपना हक समझता है। उसे गंदे शब्दों से पुकारना, उसे ललचाई नजरों से देखना हर बड़े-बूढ़े का जरूरी काम है। उसी तरह जब कोई आदमी अपने ससुराल जाता है तो सारा मुहल्ला उसे गालियां सुनाता है। जवान लोग खामखाह उसकी बहन से ब्याह करने पर आमादा होते हैं और बूढ़े उसकी मां से औरत-मर्द का रिश्ता मिलाते हैं और यह बेहूदा बातचीत जिंदादिली में दाखिल समझी जाती है। शादियों में दूल्हे के साथ ससुराल में कदम-कदम पर जबानी और अमली मजाक किए जाते हैं। सालियां, सलहजें, सास सभी उसे गालियां देने और उसके मुंह से गालियां सुनने की तमन्ना रखती हैं। देवर-भौजाई की नोक-झोंक कौन नहीं जानता। भावज के साथ हर तरह की दिल्लगी जायज है। और वह दिल्लगी क्या है? गालियां। हमारे यहां गालियों का कुछ कम घृणित नाम दिल्लगी है।

हमारे देश में गालियां केवल गद्य में ही नहीं पद्य में भी दी जाती हैं। हम गालियां गाते हैं और वह भी खुशी के मौके पर। अगर शोक के अवसर पर गालियां गाई जाएं तो शायद उसकी यह व्याख्या की जा सके कि हम जालिम आसमान और बेवफा तकदीर को कोस रहे हैं। लेकिन खुशी के जलसों में गालियां गाना अनोखी बात है। हां, इन गालियों में वह शैतानियत, वह खूंखारी और वह दिल को दुख पहुंचाने की बात नहीं होती जो गुस्से की हालत में गालियों में पाई जाती है। तब भी इन गीतों का एक-एक शब्द दिलों में गंदे खयाल और गंदी भावनाएं उभारता है। इसकी व्याख्या इसके सिवा और क्या की जा सकती है कि हमारा कामुक स्वभाव वासना उभारने वाली गालियां सुनकर खुश होता है। बारात दरवाजे पर आई और गालियों से उसका स्वागत किया गया और फिर लोग उसके आतिथ्य-सत्कार में लग गए लेकिन ज्योंही खाने का वक्त आया, लोग हाथ-पांव धो-धोकर पत्तलों पर कढ़ी-भात खाने बैठे कि चारों तरफ से गालियों की बौछार होने लगी और गालियां भी ऐसी-वैसी नहीं, पंचमेल, कि शैतान सुने तो जहन्नुम से निकल भागे। लोग सपड़-सपड़ भात खा रहे हैं, ढोल-मजीरे बज रहे हैं, वाह-वाह मची है और गालियां गाई जा रही हैं गोया पेट भरने के लिए भात के अलावा गालियां खाना भी जरूरी है। और है भी ऐसा ही। लोग ऐसे शौक से गालियां सुनते हैं कि शायद रामायण, महाभारत और सत्यनारायण की कथा भी न सुनी होगी। मुस्कराते हैं, मुग्ध होकर गर्दन हिलाते हैं और एक दूसरे का नाम गंदगी में लिथेड़े जाने के लिए पेश करते हैं। जिन महाशयों के नाम इस तरह पेश होते हैं वे इसे अपना सौभाग्य समझते हैं। और दावत खत्म

होने के बाद कितने ही ऐसे लोग बच रहते हैं जिनके दिल में गालियां खाने की हवस बाकी रहती है। खुशनसीब है वह आदमी जो इस वक्त गालियां खाता है। सारी बिरादरी की आंखें उसकी तरफ उठती हैं। बावजूद इस आदर-सम्मान के वह गरीब बड़े विनयपूर्वक गर्दन झुकाए हुए है। कहीं-कहीं घर की औरतें यह फर्ज अदा करती हैं लेकिन ज्यादातर जगहों में डोमनियां यह पाक रस्म अदा करने के लिए बुलाई जाती हैं। नहीं मालूम ये गीत किसने बनाए हैं। किन्हीं-किन्हीं गीतों में शायरी का रंग पाया जाता है। क्या अजब है, किसी रौशन तबीयत के आदमी ने इसी रंग में अपने फन का कमाल दिखाया हो। इस गाने के लिए गानेवालियों को इनाम देना पड़ता है। दुनिया में हिन्दुओं के सिवा और कौन ऐसी जाति है जो गालियां खाए और गांठ से रुपया खर्च करके इस मैदान में कायस्थ लोग सभी फिरकों से बाजी ले गए हैं। उनके यहां बहुत जमाना नहीं गुजरा कि महफिलों में गालियां बक-बककर इल्मी लियाकत दिखाई जाती थी। दूसरी जातियां शास्त्रार्थ और इल्मी बहसें करती हैं और कायस्थ हजरात गंदी गालियां बकने में अपना पांडित्य दिखाते हैं। क्या उल्टी अक्ल है। शुक्र है कि यह रिवाज अब कम होता जाता है वर्ना गांव में किसी लड़के या लड़की की शादी ठहरी और गांव भर के नौजवान और होनहार लड़के गालियों की गजलें याद करने लगते थे। हफ्तों और महीनों तक गालियों को रटने के अलावा उन्हें और कोई काम नहीं था। घर के बड़े-बूढ़े शाम को दफ्तर और कचहरी से लौटते तो लड़कों से यह गंदी गजलें सबक की तरह सुनते और लबोलहजा दुरुस्त करते। जब बच्चों को गालियां मां के दूध के साथ पिलाई जाएं तो नैतिक शक्ति क्योंकर आ सकती है।

गुस्से में हम गाली बकें, दिल्लगी में हम गाली बकें, गालियां बककर लियाकत का जोर हम दिखाएं, गीत में गली हम गाए–जिंदगी का कोई काम इससे खाली नहीं, यहां तक कि धार्मिक मामलों में भी हमारे यहां गाली बकने की जरूरत है। दूसरे सूबों का हमें तजुर्बा नहीं मगर संयुक्त प्रांत के कुछ हिस्सों में दीवाली के दो दिन बाद दूज के रोज गाली बकने वाली पूजा होती है। सारे गांव या मुहल्ले की औरतें नहा-धोकर जमा होती हैं,जमीन पर गोबर का एक पुतला बनाया जाता है, इस पुतले के इर्द-गिर्द औरतें बैठती हैं और कुछ पान-फूल चढ़ाने के बाद गाली बकना शुरू कर देती हैं। यह त्योहार इसीलिए बनाया गया है। आज के दिन हर औरत का फर्ज है कि वह अपने प्यारों को गालियां दे। जो आज के दिन गालियों से बच जाएगा उसे साल भर के अंदर जरूर यमराज घसीट ले जाएंगे। गोया यमराज से बचने के लिए गालियों की यह मोटी दीवार उठाई गई है। हमने काल से लड़ने के लिए कैसा हथियार निकाला ! कहीं-कहीं यह रिवाज है कि दूज के दिन बजाय अपने प्यारों के दुश्मनों को गालियां दी जाती हैं और गोबर का पुतला फर्जी दुश्मन समझा जाता है। दुश्मन को खूब जी भर कोसने के बाद औरतें इस पुतले की छाती पर ईंट का एक टुकड़ा रख देती हैं और फिर उसे मूसल से कूटना शुरू करती हैं। इस तरह दुश्मन का निशान गोया हस्ती के सफे से मिटा दिया जाता है। गालियों से केवल धर्म खाली था, वह कसर भी पूरी हो गई।

हमारी रुचि इतनी विकृत हो गई है कि हममें से कितने ही शौकीन, रंगीन तबियत के लोग ऐसे निकलेंगे जो सुंदरियों के मुंह से गालियां सुनना सबसे बड़ा सौभाग्य समझते हैं। बदजबानी भी गोया हसीनों के नखरे में दाखिल है। प्रेमीजनों का यह संप्रदाय उस सुंदरी को हरगिज प्रेमिका न कहेगा जिसकी जबान में शोखी और तेजी नहीं। जबान का शोख होना माशूकियत का सबसे जरूरी जुज समझा जाता है। मगर अफसोस कि जबान की शोखी का मतलब कुछ और ही खयाल किया जाता है। अगर माशूक दिल्लगीबाज हाजिरजवाब हो तब तो गोया चार चांद लग गए। मगर हमारे यहां जबान की शोखी गाली बकने का दूसरा नाम है। मियां मजनूं लैला से हुस्न का जकात तलब करते हैं। लैला तेवर बदलकर गाली दे बैठती है। मियां मजनूं जरा और सरगर्म होते हैं तो लैला उनकी मैयत देखने की तमन्ना जाहिर करने लगती है। इस गाली-गलौच का शुमार माशूकाना शोखी में दाखिल है। जिस हालत में कि जबान से सच्चाई और आत्मीयता में डूबे हुए शब्द निकलने चाहिए उस हालत में हमारे यहां गाली-गलौज होने लगता है, और अक्सर निहायत गंदा, फोहश। मगर हमारे स्वर्ग-जैसे देश में ऐसे लोग भी हैं जिन्हें इन गालियों में मुहब्बत की दुगनी तेज शराब का मजा आता है और जिनकी महफिलें इस जबानी तेजी के बगैर सूनी और बेरौनक रहती हैं। हमारी तहजीब का ढंग ही निराला है। इसी नैतिक पतन ने हिन्दुस्तान को आज ऐसी बेगैरत और बेशर्म कौम बना रक्खा है।

विलायत में बिलिंग्सगेट नाम का एक बाजार है। वहां की बदजबानी सारे इंगलिस्तान में मशहूर है और किताबों में उसकी मिसाल दी जाती है, मगर हमारे हिन्दुस्तान की मामूली बोलचाल के आगे बिलिंग्सगेट के मल्लाह भी शर्म से पानी-पानी हो जाएंगे।

गाली हमारा जातीय स्वभाव हो गई है। किसी इक्के पर बैठ जाइए और सुनिए कि इक्केवान अपने घोड़े को कैसी गालियां देता है ऐसी गंदी कि जी मतलाने लगे। वह गरीब घोड़ा और उसकी नेक मां और बुजुर्ग बाप और नालायक दादा, सब इस नेकबख्त औलाद की बदौलत गालियां पाते हैं। हिन्दुस्तान ही तो है, यहां के जानवरों को भी गालियों से लगाव है। बैलगाड़ी वाला भी अपने बैलों को ऐसी फर्माइशी गालियां देता है। और तो था ही, सरकार बहादुर ने आजकल गालियां बकने के लिए एक महकमा कायम कर रक्खा है। इस महकमे में शरीफजादे और रईसजादे लिए जाते हैं, उन्हें अच्छी-अच्छी तनख्वाहें दी जाती हैं और रिआयाके अमन-चैन की जिम्मेदारी उन पर रक्खी जाती है। इस महकमे के लोग गालियों से बात करते हैं। उनके मुंह से जो बात निकलती है, गंदी, घिनौनी। ये लोग गालियां बकना हुकूमत की निशानी और अपने ओहदे की शान समझते हैं। यह भी हमारी टेढ़ी अक्ल की एक मिसाल है कि हम गाली बकने को अमीरी की शान समझते हैं। और देशों में जबान का सुथरापन और मिठास, चेहरे की गंभीरता, शराफत और अमीरी के अंग समझे जाते हैं और हिन्दुस्तान में जबान की गंदगी और चेहरे का झल्लापन हुकूमत का जुज खयाल किया जाता है। देखिए मोटे जमींदार साहब अपने असामी को कैसी गालियां देते हैं। जनाब तहसीलदार साहब अपने बावर्ची को कैसी खरी-खोटी सुना रहे हैं और सेठ

जी अपने कहार पर किन गंदे शब्दों में गरम होते हैं, गुस्से से नहीं सिर्फ अपनी हुकूमत की शान जताने के लिए। गाली बकना हमारे यहां रईसी और शराफत में दाखिल है। वाह रे हम !

इन फुटकर गालियों से तबियत भरती न देखकर हमारे बुजुर्गों ने होली नाम का एक त्योहार निकाला कि एक हफ्ते तक हर खास व आम खूब दिल खोलकर गालियां देते हैं। यह त्योहार हमारी जिंदादिली का त्योहार है। होली के दिनों में हमारी तबियतें खूब उभार पर होती हैं और हफ्ते भर तक जबानी गंदगी का एक गुबार-सा हमारे दिल व दिमाग पर छाया रहता है। जिसने होली के दिन दो-चार कबीर न गाये और दो-चार दर्जन गंदी बातें जबान से न निकालीं वह भी कहेगा कि हम आदमी हैं ! जिंदगी तो जिंदादिली का नाम है। लखनऊ में एक जिंदादिली अखबार है। वह भी होली में मस्त हो जाता है और मोटे-मोटे अक्षरों में पुकारता है–

आई होली आई होली, हमने अपनी धोती खोली

यह इस जिंदादिल अखबार की जिदादिली है ! वह सभ्य और सुसंस्कृत रुचि का समर्थक समझा जाता है। लेकिन जिस देश में गालियों का ऐसा रिवाज हो वहां इसी का सुथरे मजाक में शुमार है। कुछ हिन्दी अखबारों की जिंदादिली उन दिनों अथाह हो जाती है। निरंतर कबीरें छपती हैं और अधिकांश कबीरें शब्दों के अलंकार के पर्दे में गालियों से भरी हुई होती हैं। अगर किसी दूसरी कौम का आदमी इन दो हफ्तों के हिन्दी अखबार उठाकर देखे तो शायद दुबारा उनकी सूरत देखने का नाम न लेगा ! हमारे कौमी अखबारों की यह हालत हो जाती है।

तकिया कलाम के तौर पर भी गालियां बकने का रिवाज है और इस मर्ज में ज्यादातर नीम-पढ़े लोग गिरफ्तार पाए जाते हैं। ये लोग कोई एक गाली चुन लेते हैं और बातचीत के दौरान में उसे इस्तेमाल करना शुरू करते हैं, यहां तक कि वह उनका तकिया कलाम हो जाती है और बहुत बार उनके मुंह से अनायास निकल पड़ती है। यह निहायत शर्मनाक आदत है। इससे नैतिक दुर्बलता का पता चलता है और बातचीत की गंभीरता बिल्कुल धूल में मिल जाती है। जिन लोगों को ऐसी आदत पड़ गई हो उन्हें तबियत पर जोर डालकर जबान में सफाई पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए।

किस्सा कोताह, हम चाहे किसी और बात में शेर न हों, बदजबानी में हम बेजोड़ हैं। कोई कौम इस मैदान में हमको नीचा नहीं दिखा सकती। यह हम मानते हैं कि हममें से कितने ही ऐसे लोग हैं जिनकी जबान की पाकीजगी पर कोई एतराज नहीं किया जा सकता मगर कौमी हैसियत से हम इस जबर्दस्त कमजोरी का शिकार हो रहे हैं। कौम की उन्नति या अवनति थोड़े से चुने हुए लोगों के निजी गुणों पर निर्भर नहीं हो सकती।

सच तो यह है कि अभी तक हमारे मार्गदर्शकों ने इस महामारी को जड़ से खोदने की सरगर्म कोशिश नहीं की, शिक्षा की मंदगति पर इसके सुधार को छोड़ दिया और जनसाधारण की शिक्षा जैसी कुछ उन्नति कर रही है वह सूरज की तरह रौशन है। इस बात को दुहराने की जरूरत नहीं कि गालियों का असर हमारे आचरण

पर बहुत खराब पड़ता है। गालियां हमारी बुरी भावनाओं को उभारती हैं और स्वाभिमान व लाज-संकोच की चेतना को दिलों से कम करती हैं जो हमको दूसरी कौमों की निगाहों में ऊंचा उठाने के लिए जरूरी है।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', दिसंबर, 1909 में प्रकाशित। 'मजामीन-ए-प्रेमचंद' में संकलित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

भारतीय चित्रकला

भारत की राष्ट्रीय जागृति का सबसे महत्त्वपूर्ण और शुभ परिणाम वे बैंक और डाकखाने नहीं हैं जो पिछले कुछ सालों में स्थापित हुए और होते जाते हैं, न वे विद्यालय हैं जो देश के हर भाग में खुलते जाते हैं बल्कि वह गौरव जो हमें अपने प्राचीन उद्योग-धंधों और ज्ञान-विज्ञान व साहित्य पर होने लगा है और वह आदर का भाव जिससे हम अपने देश की कारीगरी के प्राचीन स्मारकों को देखने लगे हैं। हम अब होमर और मिल्टन को कविता का सम्राट् नहीं मानते बल्कि सादी और कालिदास को। यही स्वाभिमान हर एक क्षेत्र में दिखाई देता है। हमारी प्राचीन मूर्तिकला और स्थापत्य कभी कद्रदानी का मुहताज नहीं रहा। वह अब भी दुनिया में आश्चर्य की दृष्टि से देखा जाता है और उसके जो कुछ चिह्न वक्त की तबाही से बच रहे हैं वह इस कला में हमको हमेशा बेजोड़ साबित करते रहेंगे। मगर हमारी प्राचीन चित्रकला बहुत जमाने से गुमनामी के गड्ढे में पड़ी रही और न सिर्फ योरप के छान-बीन करने वालों ने यह नतीजा निकाल लिया था कि भारत में इस कला का कभी उन्नयन नहीं हुआ बल्कि हिन्दुस्तानी भी इस विचार में उनका साथ देने लगे थे। मगर इस राष्ट्रीय जागृति ने हमारा ध्यान इस कला की ओर उन्मुख कर दिया है और जहां कुछ साल पहले एक व्यक्ति भी ऐसा न था जो विश्वास के साथ कह सके कि हिन्दुस्तान ने इस कला में भी कमाल हासिल किया था वहां आज हजारों हिन्दुस्तानी ऐसे हैं जो अपनी प्राचीन चित्रकला का महत्त्व समझने लगे हैं, और वह आसानी से इस बात को हरगिज न मानेंगे कि इस ललित कला को कमाल पर पहुंचाने का सेहरा इटली के सर है। जिस दिमाग ने कविता और स्थापत्य में अपने चमत्कार दिखाए वह चित्रकला में कैसे न दिखाता। यह तीनों कलायें परस्पर इतनी संबद्ध हैं कि एक का उन्नति करना और दूसरे का जन्म ही न लेना असंभव है यद्यपि यह संभव है कि कविता की तुलना में मूर्तिकला और चित्रकला की उन्नति अधिक दिनों में हो। बड़े संतोष की बात है कि इतने दिनों की बेखबरी के बाद दिलों में इस कला का सम्मान करने का भाव उत्पन्न हुआ और इसके लिए हमको कलकत्ते के महान् चित्रकार बाबू अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का कृतज्ञ होना चाहिए। उन्होंने प्राचीन पद्धति पर नये रंग का रोगन देकर भारत की नई चित्रकला की नींव डाल दी है और योरोपियन चित्रकारों की नक्काली के कलंक से इस कला को बचा लिया है। उनके कई शिष्य जिनमें से कुछ के चित्र योरप और हिन्दुस्तान में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे गए हैं, उन्हीं

पद चिह्नों पर चल रहे हैं। इस स्कूल का नैतिक मानदण्ड बहुत ऊंचा है, और वह अपने चित्रों पर राष्ट्र के सर्वोत्तम विचारों और भावों का प्रतिबिम्ब उत्पन्न कर देता है जो हर देश की चित्रकला की जान है। बाबू अवनीन्द्रनाथ के चित्र अधिकतर ऐतिहासिक और धार्मिक होते हैं। कालिदास के ऋतुसंहार के भी कई दृश्य आपने अपने जोरदार कलम से खींचे हैं। मगर यह चित्र चाहे साहित्यिक हों, चाहे ऐतिहासिक उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वे जातीयता की भावना से भरपूर होते हैं। सीलोन के प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डा॰ आनन्दकुमार स्वामी ने भी हमारी चित्रकला को अंधेरे और गुमनामी के कोने से निकालने में जबर्दस्त कोशिश की है।

पिछले तीन-चार साल से आपने इसी विषय पर हिन्दुस्तान और योरप की नामी पत्रिकाओं में कई जोरदार लेख लिखे हैं और प्राचीन चित्रकला के कितने ही ऐसे नमूने पेश कर दिए हैं जिनसे यह खयाल जम जाता है कि इस कला में कभी हमको भी कमाल था। यह उन्हीं की जोरदार आलोचनाओं का प्रभाव है कि योरप में हमारी चित्रकला की कुछ-कुछ चर्चा होने लगी है और शायद इस विषय पर आगे चलकर जो किताब लिखी जाएगी उसका लेखक भारतीय चित्रकला को इतनी उपेक्षा की दृष्टि से न देख सकेगा कि उसकी चर्चा ही न करे। इन्हीं महानुभावों की प्रेरणा और प्रभाव से लंदन के कुछ नामी चित्रकारों और आलोचकों ने एक संस्था स्थापित की है जिसका उद्देश्य यह है कि वह भारतीय चित्रकला की छान-बीन करे और योरप की कलारुचि में भारतीय चित्रों और भारतीय भावनाओं को समझने की योग्यता पैदा करे और हमारे प्राचीन चित्रों को जमा करने और प्रकाशित करने का प्रबंध करे। अभी हाल ही में मेजर बर्डवुड साहब ने भारतीय चित्रकला को बुरा-भला कहा था और इस धरती को उच्चकोटि की कला के पनपने के लिए हानिकर ठहराया था। यह महाशय बहुत दिनों तक हिन्दुस्तानी उद्योग-धंधों प्रशंसक रहे हैं और कई प्रामाणिक पुस्तकें इस विषय पर लिखी हैं। मगर जब आपकी वाणी से यह विचार निकले तो लोगों की आंखें खुलीं लेकिन उनका व्यावहारिक खंडन इसी संस्था के सदस्यों ने किया। उन्होंने अंग्रेजी पत्रों में एक लेख प्रकाशित किया जिसमें बर्डवुड की रुचि-हीनता की कलई खोली गई थी। खेद है कि यह लेख जितने लोगों के नाम से प्रकाशित हुआ उनमें सिर्फ दो हिन्दुस्तानी नाम नज़र आते थे, बाकी सब अंग्रेज थे। ऐसी संस्था का लंदन में स्थापित होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि भारतीय चित्रकला की खूबियों के पारखी जितने अंग्रेज हैं उतने हिन्दुस्तानी नहीं। हमारे शिक्षित देशवासी अपने निजी व्यस्तताओं में इस हद तक फंसे हुए हैं कि उन्हें इन प्रश्नों की ओर ध्यान देने की जरा भी फुर्सत नहीं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारा शिक्षा-क्रम कलारुचि के संस्कार की ओर से बिल्कुल उदासीन है और हमारी चेतनाओं में वह अनुभूति नहीं जो अपने पुरखों के बड़े कामों पर उत्साह और उमंग के साथ गर्व करे। क्या यह दुख की बात नहीं है कि योरप और अमरीका के पर्यटक जो कुछ हफ्तों के लिए हिन्दुस्तान आएं वे अजन्ता और सांची का दर्शन करना अपना कर्त्तव्य समझें और हिन्दुस्तानियों को अपने पुरखों की कारीगरी के इन चमत्कारों को देखने की फुर्सत न हो।

भारतीय चित्रकला ऐतिहासिक दृष्टि से तीन युगों में विभाजित होती है—प्राचीन, मध्य और आधुनिक। पहला युग ईसा के दो शताब्दी पूर्व से ईसा की सातवीं शताब्दी तक चलता है। यह युग बौद्धों के उदय और विकास का था। बौद्धों ने मूर्तिकला और स्थापत्य को जिस उत्कर्ष तक पहुंचाया उस पर आज सारी दुनिया के लोग अचरज करते हैं मगर जो अधिकार उन्हें चित्रकला पर प्राप्त था उसके बारे में आमतौर पर लोग नहीं जानते और न उस युग के चित्र इतनी संख्या में मिलते हैं जिनसे उनकी महान उपलब्धि का अनुमान सामान्यत: किया जा सके। इस युग के सबसे प्रसिद्ध और प्रशंसनीय स्मारक अजंता की गुफाओं के चित्र हैं। यह गुफायें जो संख्या में उन्नीस हैं शायद दूसरी और सातवीं शताब्दी के बीच बनाई गईं और इन्हें बौद्धों की मूर्तिकला, स्थापत्य और चित्रकला की प्रौढ़ता के आरंभ और उत्कर्ष का इतिहास समझना चाहिए। आमतौर पर लोग यह जानते हैं कि यह गुफा निजाम की सल्तनत के दक्षिणी भाग में स्थित है। उस युग के चित्रकारों और मूर्तिकारों ने इस गुफा की छतों और दीवारों को अपनी उत्कृष्ट कला के नमूनों से सजाया था। मूर्तियां और बेल-बूटे अब तक अच्छी हालत में हैं किंतु अधिकांश चित्र जमाने की उदासीनता के कारण मिट गए फिर भी उनमें से कुछ अब तक कायम हैं। ये चित्र उस युग के सामाजिक रहन-सहन, आचार-विचार, और रीति-रिवाज के विशद इतिहास हैं। इन चित्रों में शरीर के अंगों का अनुपात, शिल्प की सहजता और भावनाओं की वास्तविकता अपने चरम शिखर पर पहुंची हुई है। योरप के कला-पारखियों ने दिल खोलकर इन चित्रों की प्रशंसा की है और उन्हें इटली के चौदहवीं सदी के चित्रों का समकक्ष ठहराया है। इन चित्रों का विषय अधिकतर बौद्ध धर्म से संबंध रखता है मगर कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थितियां भी बड़ी खूबी से दिखाई गई हैं। उस युग की एक आश्चर्यजनक विशेषता यह है कि जहां कहीं उस युग के चित्र मिलते हैं उन सब में एक विशेष प्रकार का साम्य और सादृश्य मिलता है कि जैसे सब एक ही स्कूल के कारीगरों का काम हो। और यह साम्य केवल भारतवर्ष तक सीमित नहीं। सिगरिया नामक स्थान में जो सीलोन में स्थित है, छठी और सातवीं शताब्दी के चित्र पाए गए हैं, वे अजंता के चित्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं। जावा द्वीप में उस युग के चित्रों का पता चला है और उनमें भी वही सादृश्य और विशेषता पाई गई है। अधिकांश कलामर्मज्ञों का विचार है कि यह साम्य उससे जरा भी कम नहीं है जो आधुनिक योरपीय चित्रकला में पाई जाती है। योरप के रुचि-साम्य का रहस्य समझ में आ जाता है क्योंकि उसे अनगिनत साधन उपस्थित हैं। मगर उस पुराने युग में इस प्रकार का रुचि-साम्य जिन बातों पर आधारित था उनका अंदाजा लगाना कठिन है। चूंकि बौद्ध स्थापत्य और चित्रकला का जन्म-स्थान बिहार था इसलिए आवश्यक है कि बिहार के कारीगर हिन्दुस्तान के हर हिस्से में गए होंगे और सारे देश में एक ही रंग का रिवाज पैदा हुआ होगा जो सदियों तक क्रमिक विकास के साथ जारी रहा। मगर यह केवल साधारण अनुमान है जिसकी पुष्टि का कोई साधन उपस्थित नहीं है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय चित्रकला के सुंदर मुखड़े पर एक अंधेरा पर्दा-सा पड़ जाता है और मुगल बादशाहों के जमाने तक उसका कुछ हाल नहीं मालूम

होता, न इस बीच के दौर की तस्वीरें मिलती हैं जो अपनी खामोश जबान से अपना कुछ किस्सा सुनाएं। इस बीच में देश की बिल्कुल कायापलट हो गई। बौद्ध धर्म जड़ से उखड़ गया है और उसके साथ उसका स्थापत्य, उसकी मूर्तिकला और चित्रकला ने भी भारतवर्ष को अंतिम नमस्कार कर लिया है। देश के उत्तरी भाग में इस्लामी आक्रमणकारियों ने पैर जमा लिए हैं और आखिरकार मुल्क का बड़ा हिस्सा उनके अधिकार में आ गया है। इन बड़े-बड़े उलटफेरों के साथ-साथ तुर्रा यह कि हिन्दुस्तान के इन नये बादशाहों को चित्रकला से घृणा थी जिसे मौलवी लोग कुफ्र (पाप) खयाल करते थे। ऐसी हालत में चित्रकला का विकास करना तो दूर की बात है जिंदा रहना मुहाल था। कुछ तो उनके अत्याचारों और कुछ उस अशांति और हलचल से जो ऐसे सार्वदेशिक उलटफेरों का जरूरी नतीजा हुआ करती है, भारतीय चित्रकला अगर एक सिरे से मिट नहीं गई तो मिटने के करीब जरूर हो गई।

शहंशाह अकबर के जमाने तक हमको इस कला के फलने-फूलने की तनिक भी सूचना नहीं मिलती। मगर अकबर का जमाना हर तरफ तरक्कियों का जमाना था। चित्रकला ने भी इसमें अपना हिस्सा पाया। अकबर खुद पढ़ा-लिखा न था मगर उसको प्रकृति ने वे योग्यताएं प्रदान की थीं जिनमें पुस्तकीय ज्ञान कोई वृद्धि नहीं कर सकता। उसको संगीत और मूर्तिकला, इतिहास और साहित्य, चित्रकला और स्थापत्य से समान अनुराग था। फतेहपुर सीकरी में उसने जो इमारतें बनवाई उनमें हिन्दू और मुसलमान स्थापत्य को इस खूबी से मिलाया है कि उसकी निगाह पर हैरत होती है। हिन्दू चित्रकारों की उसने बड़ी कद्र की। एक मौके पर उसने उनके बारे में कहा था-''उनके चित्र हमारी कल्पना से परे होते हैं।'' इससे पता चलता है कि जब तक हिन्दू चित्रकारों की कला में कुछ विशेष गुण न होते अकबर जैसा सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति, जो फारस की चित्रकला की महान उपलब्धियों से परिचित था, हरगिज ऐसा न कहता। चित्रकारों की उसकी सच्ची कद्रदानी का सुबूत इन शब्दों में मिलता है-

''ऐसे बहुत से लोग हैं जो चित्रकला से घृणा करते हैं। मेरी दृष्टि में ऐसे लोगों का कुछ मूल्य नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि चित्रकार को परमात्मा के ज्ञान के विशेष अवसर प्राप्त हैं क्योंकि जब चित्रकार जीवित प्राणियों की तस्वीरें उतारता और उनकी अंग-रचना को रेखाओं में बांधता है तो उसके दिल में यह खयाल जरूर आता है कि मैं काया में प्राण नहीं डाल सकता और इस तरह खुदा का बड़प्पन और उसकी जबर्दस्त ताकत तस्वीर बनाने वाले के दिल में घर कर लेती है और वह योगी के पद पर पहुंच जाता है।''

फतेहपुर सीकरी के कुछ महलों की दीवारों पर, खासतौर पर अकबर के शयनकक्ष में, उस युग के चित्रों के कुछ मिटे हुए चिह्न बाकी हैं मगर उनकी संख्या बहुत कम है। उस जमाने की सबसे अनमोल यादगार किताबी तस्वीरें हैं। पढ़ने वालों को ऊपर मालूम होगा कि बौद्धों के युग में चित्र दीवारों पर बनाए जाते थे। कागज पर तस्वीरें खींचकर, चौखटों पर सजाकर उन्हें दीवारों पर लटकाने का रिवाज उस वक्त क्या अकबर के जमाने तक नहीं था। यह रिवाज योरप से आया है। मुगलों के जमाने तक दीवारों पर तस्वीर बनाने का रिवाज कमोबेश बाकी

था मगर उसका पतन उसी जमाने में शुरू हो गया। लिहाजा उस जमाने की सब तस्वीरें किताबों की शक्ल में हैं। मगर उस पुराने रिवाज का हिन्दुस्तान में अब तक कुछ कुछ निशान बाकी है और अब भी पुराने ढंग के कुछ मकानों की दीवारों पर हाथी, घोड़े, ऊंट, मछली, सिपाही, प्यादे वगैरह की रंगीन तस्वीरें नजर आ जाती हैं। हां, अब यह कला बहुत भोंड़े हाथों में आ गई है और इसके कद्रदां अब बहुत थोड़े से लोग रह गए हैं। मुगल जमाने की तस्वीरों का जिक्र करते हुए योरप का एक जाना-माना आलोचक लिखता है–

''उनके प्रकृति-चित्रण में वह उमंग और चाव है जो इस नए जमाने के प्राकृतिक दृश्यों के चित्रों में दिखाई देता है, और धूप-छांव का सुहाना असर दिखाने में वे विशेष रूप से दक्ष थे। जहां चित्रकार ने इंसानों की तस्वीरें उतारीं वहां मानव-अंगों के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण मिलता है। उसकी पैनी दृष्टि, उसके निरीक्षण की स्वच्छता, रेखाओं पर उसका अपना अधिकार और उसके चेहरे से मन की भावनाओं को प्रकट करने की योग्यता ने मिल-जुलकर ऐसी तस्वीरें बनाई हैं जो पश्चिम के छोटे पैमाने की बेहतरीन तस्वीरों से आंख मिला सकती हैं।''

मगर अकबर का युग चित्रकला के चरम विकास का युग नहीं था। यह गौरव शाहजहां के युग को प्राप्त है। शाहजहां के साथ साथ चित्रकला का बड़ा उत्साही पारखी था। मुगल खानदान के पत और विनाश के साथ-साथ चित्रकला का भी पतन और विनाश हो गया। वह लूट पाट जो इस खानदान के पतन के बाद देश में आई, चित्रकला के लिए जानलेवा साबित हुई। अठारहवीं सदी के अंत तक इस कला की दशा रद्दी होती गई। आखिर उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी सभ्यता और कला की अंधी गुलामी ने हमारी इस कला का किस्सा तमाम कर दिया।

मुगल जमाने की ज्यादातर तस्वीरें आमतौर पर गैर-मजहबी हैं। उनमें संसार के इतिहास के एक महान् युग की समाज-व्यवस्था और आचार का प्रतिबिम्ब मिलता है। कहीं चित्रकार इश्क और मुहब्बत की कहानी और लड़ाई के मैदानों और नाच-गाने की महफिलों की दास्तान सुनाता हुआ नजर आता है, कहीं दरबार के अमीरों और उनके माशूकों की तस्वीरें और उनकी मजेदार सोहबतों का जलवा दिखाता है। कभी-कभी उसकी दृष्टि एकांत के उन अवसरों पर जा पहुंचती है जहां साधारण आंखों की पहुंच नहीं। कहीं पहलवानों के ताल ठोंकने की आवाज कानों में आती है और कहीं शिकार के मैदान का दृश्य आंखों के सामने आ जाता है। ब्रह्मज्ञान की सुरा पीने वाले और उनके सुराही-प्यालों के दृश्य भी बीच-बीच में दिखाई दे जाते हैं। गरज यह कि उस युग की चित्रकला शुरू से आखिर तक शाही दरबार के रंग में रंगी हुई है जिसका उद्देश्य शौकीन अमीरों की नर्म- नाजुक तबीयतों को खुश करना है। इन तस्वीरों में अक्सर यथार्थ-चित्रण अपनी सीमा पर पहुंच गया है। चित्रकार वास्तविकता पर ऐसा असलियत का रंग चढ़ाता है और ऐसे खास कोमल ढंग से कि कहीं गाने की महफिल की सुहानी पुकार कानों मे आन लगती है, कहीं उन स्वर्ग से स्पर्धा करने वाले बगीचों की ठंडी-ठंडी हवा और फूलों की सुगंध दिलोदिमाग को ताजा कर देती है, जहां परिस्तान की परियां बारीक रेशमी कपड़े पहने गाने और

सितार का लुत्फ उठा रही हैं।

इन चित्रों में एक और विशेषता उनके हाशिए की नफीस सजावट है। अक्सर बहुत अच्छे रंगों के खूबसूरत फूल बनाए जाते थे जो उस जमाने की संगमरमर की गुलकारियों से बहुत ही मिलते-जुलते हैं।

रंगों की मिलावट में उस युग के चित्रकारों का कमाल था। वह आमतौर पर पानी के रंग इस्तेमाल करते थे। उस जमाने में कलाकार अपने रंग खुद बना लिया करते थे। बहुत बार वह रंग मिलाने के लिए बुरुश वगैरह यहां तक कि अपने मतलब का कागज भी खुद ही बना लेते थे। जमीन आमतौर पर सफेद चीनी मिट्टी से तैयार की जाती थी। कुछ नमूनों में सिर्फ स्केच या खाका बनाकर संतोष कर लिया गया है।

इस मौके पर मुगल जमाने की सिर्फ तीन तस्वीरें दी जाती हैं।[1]

पहली तस्वीर एक ऐतिहासिक घटना की है। जहांगीर का जमाना है। फारस से राजदूत आए हैं। उस जमाने के रिवाज के मुताबिक राजदूत बादशाह के लिए बेशकीमत घोड़े और अनमोल तोहफे साथ लाए हैं। बादशाह सलामत अभी नहीं आए। दोनों राजदूत उनके इंतजार में सर झुकाए बैठे हैं। उनके चेहरे से सम्मान और संभ्रम प्रकट हो रहा है। नौबतखाने में शाही स्वागत का राग अलापा जा रहा है। दरबार के सहन में दरबारी बड़े अदब के साथ खड़े हैं। इस नकल से असल तस्वीर के कमाल का अंदाजा नहीं किया जा सकता मगर तस्वीर के देखने से दिल पर बादशाह के तेज और प्रताप का रोब पड़ता है। नौबतखाने का दृश्य चित्रकार के सूक्ष्म निरीक्षण का सुंदर प्रमाण है।

दूसरी तस्वीर जहांगीर या शाहजहां के जमाने के किसी मुंशी की है। इस तस्वीर में चित्रकार ने आकृति-चित्रण की कला को कमाल पर पहुंचा दिया है धूप और छांव ऐसे उस्तादी ढंग से मिलाए गए हैं कि तस्वीर में पत्थर की मूर्ति की शान आ गई है। चेहरे की गंभीरता बहुत उपयुक्त है और कंधों का झुकाव कहे देता है कि कागजों के बोझ ने मेरी यह गत बना रक्खी है। जिन लोगों को योरप के मशहूर पोरट्रेट बनाने वालों मसलन् रेम्ब्रान्ट की तस्वीरों की नकलें देखने का मौका मिला है वह खुद यह फैसला कर सकते हैं कि इस तस्वीर का उनके मुकाबले में क्या स्थान है।

तीसरी तस्वीर हिन्दू धार्मिक रंग में है। यह अकबर के जमाने के हिन्दू चित्रकारों की श्रेष्ठ कला का नमूना है। रात का वक्त है। तस्वीर में बड़ी आकर्षक गंभीरता और सुखदाई शांति मिलती है।

उमा अपनी दो सखियों के साथ शिव की पूजा के लिए आई हैं। दाहिनी ओर शिवजी की मूर्ति सुशोभित है। ऊपर से पानी की एक पतली धार मूर्ति के ऊपर गिरती हुई दिखाई देती है। यह गंगा हैं जो पहले शिवजी के सिर से होकर जमीन पर आती हैं। उमा के चेहरे से वर्णनातीत भक्ति का भाव प्रकट हो रहा है और चित्र

1 इस लेख के साथ 'ज़माना' के उस अंक में ये तीन रंगीन चित्र भी प्रकाशित हुए थे। --सं०

समग्र रूप से दर्शक के हृदय पर एक पवित्र शांतिदायक प्रभाव उत्पन्न करता है।

खेद है कि मुगल जमाने और मध्य युग की भारतीय चित्रकला की अब तक योरप वालों और उनके साथ ही साथ हिन्दुस्तानियों ने वह कद्र नहीं की जिसकी वह अधिकारी हैं। उनको जमा करने और उनके कमाल को जाहिर करने की अब तक कोई बाकायदा कोशिश नहीं की गई। मगर इसका कारण यह हरगिज नहीं कि उस जमाने के चित्र लुप्त हैं बल्कि यह कि जिनके बाप-दादों के विचार कल्पना और सामाजिक जीवन के भंडार वे चित्र हैं वे लोग खुद उनकी खूबियों और उनके महत्त्व से अपरिचित हैं। भारतीय चित्रकला पर अब तक जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं वे सब योरप वालों ने लिखी हैं और यह स्वाभाविक बात है कि वे योरपीय चित्रकला की तुलना में भारतीयों की कला को नीचा समझें। यह बड़ी लज्जाजनक लेकिन सच बात है कि भारतीय कला के पारखी हिन्दुस्तान में इतने नहीं हैं जितने कि योरप में और शायद हिन्द वाले उस पर गौर करना उस वक्त तक न सीखेंगे जब तक कि योरप वाले उसकी सिफारिश न करेंगे।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अक्तूबर, 1910 में प्रकाशित। 'मजामीन-ए-प्रेमचंद' में संकलित। उर्दू में यह लेख 'हिन्दुस्तानी मुसव्विरी' शीर्षक से छपा। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग 1 में संकलित।]

हिन्दू सभ्यता और लोक-हित

इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता से जिंदगी की खुशियों और सांसारिक सुख-सुविधाओं में बहुत कुछ वृद्धि हुई है और इन सुख-सुविधाओं का शुक्रिया दुनिया काफी तौर पर जबान से नहीं अदा कर सकती। शिक्षा, शारीरिक रोगों का उपचार, अनाथों की सहायता इत्यादि कामों को पश्चिमी सभ्यता ने जोर पहुंचाया है, इससे कोई सच्चाई पसंद आदमी इंकार नहीं कर सकता। मगर जब यह कहा जाता है कि ईसाई धर्म के अवतरित होने से पहले यह सारी बातें हरेक दूसरे मजहब में गायब थीं या नाममात्र के लिए थीं तो यह जरूरी मालूम होता है कि इस गलत खयाल को उचित और प्रामाणिक वृत्तांतों और युक्तियों से काटा जाय। भौतिक सुख-सुविधाओं और ऐश्वर्य की दृष्टि से हिन्दूओं की प्राचीन सभ्यता का पल्ला संभव है हलका दिखाई पड़े। मगर आध्यात्मिक और नैतिक संपदाओं और आत्मोत्सर्ग तथा सहानुभूति की प्रेरणाओं की दृष्टि से हिन्दू कौम जिस शिखर पर पहुंच गई थी वहां तक कोई पश्चिमी कौम नहीं पहुंच सकी और न उसके वर्तमान रंग-ढंग से यह आशा की जा सकती है कि वह भविष्य में भी इस शानदार सफलता के नजदीक पहुंच सकेगी। वह ईसाई कौम जो बेजबान और बेकस जानवरों के मारने को जिंदगी की जरूरतों में दाखिल समझती है, जिसमें कम-से-कम पंचानबे आदमियों की खुराक गोश्त है, जिस पश्चिमी कौम ने पशुओं की कितनी ही जातियों को दुनिया के पर्दे से मिटा दिया और जो अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमरीका में हब्शियों के

साथ ऐसी कायरों-जैसी क्रूरता से पेश आ रही है वह अपनी बाजू की कूवत, अपनी ताकत और अन्य भौतिक उपलब्धियों पर चाहे जितना घमंड करे, मगर जब वह इतने पर संतोष न करके बुलंद आवाज से पुकारती है कि अस्पताल, मदरसे, जानवरों के अस्पताल वगैरह ईसाई सभ्यता के आने के बाद अस्तित्व में आए तो वह तथ्यों के घेरे से बाहर हो जाती है। भौतिकता पश्चिमी सभ्यता की आत्मा है। अपनी जरूरतों को बढ़ाना और सुख-सुविधाओं के लिए आविष्कार इत्यादि करना, अपने नफे के लिए दूसरों के जान-माल की परवाह न करना—यह पश्चिमी सभ्यता की विशेषताएं हैं। जीवन के हर क्षेत्र में व्यापार के नियम को लागू करना और नफे या नुकसान के खयाल को एक क्षण के लिए भी आंख से ओझल न होने देना यह पश्चिमी सभ्यता के लक्षण हैं। यह सभ्यता स्वार्थ और लाभ को एक क्षण के लिए भी भूल नहीं सकती। अगर वह कभी उदारता करती है तो उसकी उदारता अलिफ-लैला के उस देव जैसी उदारता होती है जो आदमियों को पकड़कर कैद करता और बादाम खिलाता था ताकि उनके शरीर पर गोश्त चढ़े और वह गोश्त ज्यादा मजेदार और मात्रा में अधिक हो। मगर हिन्दूओं ने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक आदर्शों को सांसारिकता से दूर रखकर केवल नैतिकता और आध्यात्मिकता के आधार पर जन-साधारण की समृद्धि, लोकहित और मानव कष्टों और आपदाओं को दूर करने में जितनी सफलताएं प्राप्त की थीं उन्हें आज की पश्चिमी सभ्यता ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकती है। इन कोशिशों में हम जरूरत से ज्यादा लग गये। नैतिक बंधनों की पाबंदियों में अपने व्यक्ति और स्वार्थ की परवाह न की और इन्हीं कारणों ने हमको दुर्बल और दरिद्र बना दिया। वहां हम जहां कहीं चूके हैं, सच्चाई की दिशा में चूके हैं। हम आज उस दरिद्र व्यक्ति के समान हैं जिसने अपनी सारी सम्पदा अच्छे कामों में खर्च कर दी हो। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि पर हम आपत्ति कर सकते हैं मगर उसके ऊंचे आदर्श, उसकी दानशीलता, उसके आत्मोत्सर्ग और उसके चारित्रिक साहस से इंकार नहीं कर सकते। लेकिन पश्चिम के विद्वानों और इतिहासकारों की दृष्टि की संकीर्णता और अनुचित राष्ट्र-गौरव उन्हें यह नहीं स्वीकार करने देता कि प्राचीन काल में हिन्दूओं ने मनुष्य और पशु दोनों ही के शारीरिक कष्टों को दूर करने और उनके साथ सहानुभूति का बर्ताव करने में दुनिया के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। हाल की एक अंग्रेजी पुस्तक में जो योरप में बहुत पसंद की गयी है विद्वान लेखक लिखता है, 'यह खयाल रखना चाहिए कि हिन्दोस्तान के शानदार धार्मिक संप्रदाय, चाहे वह हिन्दू हों या बौद्ध या मुसलमान, उन्हें इन परोपकारी, उदार और सहानुभूतिशील कार्यों का बिल्कुल पता न था जो ईसाइयत की अपनी विशेषता हैं। उनके चिकित्सालय, अनाथालय और औषधालय कहां हैं? कोढ़ के मरीजों, अंधों, गूंगों और बहरों के लिए घर कहां हैं? इन धर्मों की समाज-व्यवस्था में इन चीजों की दखल नही है।' इसी तरह एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में जो एक जानी मानी प्रामाणिक पुस्तक है और जो इस बात का दावा करती है कि वह योरोपियनों की जानकारी का भंडार है, उसमें भी इन्हीं विचारों को व्यक्त किया गया है—'संभव है कि प्राचीनकाल में यात्रियों और पर्यटकों की सुविधा के लिए सराएं बनाई जाती हों लेकिन इस बात में संदेह है कि

उस जमाने में रोगियों के कष्ट दूर करने के लिए ऐसे खैराती अस्पताल भी थे जो ईसाई मजहब के साथ-साथ दिखाई दिए।' इन दो उद्धरणों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि इस बारे में योरोपियन विद्वानों के क्या विचार हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि धन-संपदा के अंतिम शिखर तक पहुंची हुई योरोपियन कौमें किसी दूसरी कौम की, जिसे अब वह नीची दृष्टि से देख रही हैं, प्राचीन महत्ता को स्वीकार न करें और इस खयाल में डूबे रहें कि दुनिया में जो कुछ शिक्षा और संस्कृति, रोशनी और तरक्की है वह सब उन्हीं के प्रयत्नों का फल है। इसलिए उनसे इस बारे में निष्पक्ष होकर न्याय कर सकने की आशा करना व्यर्थ है। मगर ऐसा होता है कि हम भी योरोपियन दावों को अपने अज्ञान के कारण आंख बंद करके स्वीकार कर लेते हैं और इस तरह अपनी कौम के पुराने कारनामों और मौजूदा खूबियों पर ठीक से कोई राय कायम नहीं करते बल्कि खुद अपने आपको धिक्कारने लगते हैं। नीचे की पंक्तियों में पाठकों के सामने वह प्रमाण प्रस्तुत किए जाएंगे जिनसे इस योरोपियन दावे का खंडन होता है और जिनसे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि वह तमाम साधन और योजनाएं जो कि ईसाइयों की उदरता के कारण योरप में दिखाई दे रही हैं वह ईसाई धर्म के जन्म से हजारों वर्ष पहले हिन्दोस्तान में भी किसी न किसी सूरत में मौजूद थीं और हिन्दू संस्कृति का एक आवश्यक अंग समझी जाती थीं। यह प्रमाण हम ज्यादातर सीलोन के इतिहास से लेंगे जिसने न सिर्फ सभ्यता को ग्रहण कर लिया था बल्कि उसको खूब उजागर भी किया था। यह बात आंख के सामने रखनी चाहिए कि योरप में लोकहित की ये योजनाएं, बावजूद इसके कि बाइबिल में गरीबों की मदद और अनाथों की सहायता पर विशेष रूप से जोर दिया गया है, दसवीं सदी के पहले बिलकुल गायब थीं। सोलहवीं सदी तक यह काम धार्मिक संस्थाओं के हाथ में रहा और इस वक्त तक उसमें कुछ ज्यादा तरक्की न हुई। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में योरप ने इन साधनों को इकट्ठा करने में जो आश्चर्यजनक और प्रशंसनीय प्रयत्न किए हैं वह धार्मिकता के प्रभाव से नहीं बल्कि साधारण सभ्यता के प्रभाव से और यह वजह है कि पादरियों और वैरागियों के हाथ में इस काम को उन्नति नहीं प्राप्त हुई।

सीलोन का इतिहास प्रमाण देता है कि अकाल और सूखे से पैदा करने वाली तकलीफों को दूर करने के लिए वहां पुराने जमाने में बहुत बड़े पैमाने पर इंतजाम किए गए थे। इसके बार में अभी स्पष्ट और सबल ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं और इस बात को स्वीकार करने में कुछ कहने-सुनने के लिए स्थान नहीं है कि इस अच्छे काम में हिन्दुओं ने जो व्यवस्थाएं की थीं वह पश्चिमी उदारता की कल्पना से भी बाहर हैं। हजारों झीलें, हजारों तालाब बीस से पचास मील तक के घेरे में बनाए गए थे जिनमें इतना पानी भरा रहता था कि अगर लगातार कई साल तक बारिश न हो तब भी मुसीबत का सामना न करना पड़े। यह कोशिश की जाती थी कि आसमान से जितना पानी जमीन पर आए उसकी एक बूंद भी बेकार समुद्र में न जाने पाए। सब पानी जमीन पर कृत्रिम साधनों से रोक लिया जाता था, और यह सारी कोशिशें धर्म के लोकहितकारी पक्ष का परिणाम थीं। आजकल की पश्चिमी कौमों की तरह

वह लोग इन नेक कामों को इजाफा लगान या किसी और व्यावसायिक विचार के साथ लपेटते न थे। सीलोन का प्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर टेंट सीलोन के अपने इतिहास में लिखता है कि 'सीलोन के अगले बादशाहों ने सिंचाई के लिए ऐसे बड़े और इतने ज्यादा तालाब बनवाए थे कि आज उन पर विश्वास करना कठिन है।' आनरेबुल जार्ज टर्नर ने जो सीलोन सिविल सर्विस में एक ऊंचे ओहदे पर थे, सीलोन का एक बहुमूल्य इतिहास लिखा है। वह कहते हैं, 'सीलोन के बादशाहों ने पानी के ऐसे बड़े-बड़े खजाने और सिंचाई के ऐसे विस्तृत साधन एकत्रित किए थे कि यद्यपि अब वह बहुत बुरी हालत में पड़े हुए हैं, मगर उनकी लंबाई-चौड़ाई और घेरा देखकर योरोपियन पर्यटक आश्चर्य के दांतों तले उंगली दबाते हैं। और इतना ही नहीं, परती जमीन को खेती के काबिल बनाने और कृषि को उन्नत करने में भी उन्होंने आश्चर्यजनक प्रयत्न किए थे और यह समस्त पवित्र कार्य धर्म की प्रेरणा पर आधारित था। हिन्दू धर्म ने लोकमंगल और आचार की संस्कृति, स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ऐसा समन्वय कर दिया है कि एक कदम आगे बढ़ाना और दूसरे पहलू को नजर से ओझल कर देना नामुमकिन है। मिस्टर टेंट कहते हैं, 'कालावापी तालाब के खंडहर साबित करते हैं कि उसका घेरा चालीस मील से किसी तरह कम न होगा। बारह मील लंबा तो सिर्फ बांध था। यह झील राजा धातुसेन ने चौथी सदी में बनवाई थी।' सिंहली इतिहास 'राज-रत्नाकर' में इतिहासकार लिखता है कि राजा महासेन ने 'मनहरी' नाम की झील बनवाई। उसके पानी से बीस हजार धान के खेतों की सिंचाई होती थी। सीलोन मे चावल की पैदावार बढ़ाने के लिए इस राजा ने गुलगामी, सालूरा, काला, महामन्या, सोकूरम, रतमल, कादू और इनके अलावा पच्चीस और बड़े-बड़े तालाब बनवाए।' गरज यह है कि सिंचाई के साधन जुटाने में हिन्दूओं की उदारता ने जो प्रयत्न किए और जो नतीजे हासिल किए उनकी मिसाल दुनिया के किसी दूसरे हिस्से में मिलनी कठिन है। मिस्टर टेंट कहते हैं, '.राजा पराक्रमबाहु ने खेती को बहुत लाभ पहुंचाया। उसने एक हजार चार सौ सत्तर तालाब सीलोन के विभिन्न भागों में बनवाए जिनमें से तीन इतने बड़े थे कि उन्हें पराक्रम-सागर के नाम से याद करते थे। उसने तीन सौ तालाब सिर्फ साधू-संतों के लिए बनवाए। इनके अलावा नदियों को बांधकर उसने छोटी-बड़ी पांच सौ चौंतीस नहरें निकालीं और तीन हजार चार सौ इक्कीस पुरान तालाबों की मरम्मत करवाई।' ऐसे निर्माणों की यह संख्या वास्तव में आश्चर्यजनक है। इससे उन सुंदर प्रयत्नों का अंदाजा किया जा सकता है जो सीलोन के हिन्दू राजाओ ने बारहवीं सदी में खेती को उन्नत करने के लिए किये थे। कितनी आबादी को इन साधनों से लाभ पहुंचता था और कितनी जमीन की सिंचाई इससे होती थी, इसका अंदाजा करना मुश्किल है। हजारों झीलें अब भी इस्तेमाल में आ रही हैं हालांकि वह टूट-फूट गई हैं और बेमरम्मत हैं। टूटी-फूटी झीलों की संख्या कहीं ज्यादा है। जहां किसी जमाने में सुनहरी खेती लहराती थी वहां अब घना जंगल है और पाच हजार से ज्यादा तालाब सूखे पड़े हैं।

आनरेबुल एलफ्रेड डीकन जो आस्ट्रेलियन कामनवेल्थ के प्रधानमंत्री थे, और हिन्दोस्तान में सिंचाई के साधनों की जांच-पड़ताल के लिए तशरीफ लाए थे, अपनी

किताब 'हिन्दोस्तान की आबपाशी' में जो सन् 1893 में प्रकाशित हुई थी कहते हैं कि 'सीलोन में सिंचाई का रिवाज हजारों वर्ष से है और ऐसे लंबे-चौड़े पैमाने पर कि इस द्वीप की लंबाई-चौड़ाई और पानी इकट्ठा करने की दिक्कत के लिहाज से सचमुच उस पर अचंभा होता है। इन झीलों को बनाने में जिस मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया गया है और इन झीलों की कल्पनातीत लंबाई-चौड़ाई आज के इंजीनियरों के लिए एक न सुलझने वाली गुत्थी है। जब यह कोशिशें सीलोन में इस दर्जे पर पहुंची हुई थीं तो कोई अजब नहीं कि बकौल मिस्टर डीकन, 'मद्रास के सूबे में कुओं के अलावा साठ हजार से ज्यादा तालाब और पानी के खजाने हैं, जहां बारिश का पानी गर्मी के मौसम की जरूरतों के लिए जमा किया जाता था। उनकी लंबाई-चौड़ाई अलग-अलग है और अंदाजा किया गया है कि अगर सूबे भर के तालाबों के बांध एक कतार में खड़े कर दिए जाएं तो वह धरती के घेरे के चारों तरफ छः फुट ऊंची दीवार बनाने के बाद आधे बाकी रह जाएंगे। इन आश्चर्यों के स्रोत हिन्दूओं के धार्मिक विश्वास थे। इन विश्वसनीय प्रमाणों से पाठकों के समक्ष यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो गई होगी कि सिंचाई के लिए नहरें बनाने और तालाब बनवाने में हिन्दूओं ने कैसी शानदार व्यवस्था से काम लिया था। मगर हमारा अभिप्राय इन निर्माणों की विशालता और संख्या पर जोर देना या हिन्दुओं की इंजीनियरों या निर्माण कला की प्रशंसा करना नहीं है। हमारा अभिप्राय केवल ये दिखलाना है कि हिन्दू धर्म ने सिंचाई और कृषि को भी, पश्चिमी सभ्यता के विपरीत, अपने लोक-हितकारी कार्यक्रम का एक जरूरी अंग समझ लिया था। और है भी ऐसा ही क्योंकि फाकाकशी और भूख के मर्ज से ज्यादा तकलीफदेह और कोई मर्ज नहीं होता।

हिन्दुओं की उदारता केवल सिंचाई तक सीमित न थी। शारीरिक रोगों के उपचार के लिए भी, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, हिन्दुओं ने उसी व्यापक सहानुभूति और असीम प्रेम से काम लिया था। राजा चन्द्रगुप्त के जमाने में जब कि बौद्ध धर्म अपने शैशव में था और हिन्दोस्तान व सीलोन दोनों ही में ब्राह्मण धर्म का जोर था, चिकित्सालयों के स्थापित होने का प्रमाण मिलता है। राजा चन्द्रगुप्त का मंत्री चाणक्य एक बड़ा विलक्षण पंडित था। उसने एक मोटी पोथी 'अर्थशास्त्र' के नाम से लिखी है, जिसमें उसने राजा चन्द्रगुप्त के राज्यकाल की व्यवस्थाओं और प्रबंध, कायदे और कानून, संस्कृति और जीवन प्रणाली और देश की सामान्य अवस्था का विस्तार के साथ विवेचन किया है। इस पुस्तक से उस युग के घटाटोप अंधेरे पर कुछ प्रकाश पड़ता है। वह शहरों की आबादी के बारे में निर्देश करते हुए लिखता है–

'उत्तर की तरफ लुहार, बढ़ई, संगतराश और ब्राह्मणों को आबाद करना चाहिए। पश्चिम की तरफ जुलाहे, सूत कातने वाले, बांस की चटाइयां बनाने वाले, चमड़ा बेचने वाले, हथियार बनाने वाले और शूद्र आबाद किए जाएं। दक्षिण की तरफ शहर के प्रबंधकर्ता, कारबार और व्यापार करने वाले, शराब और गोश्त का रोजगार करने वाले, नाच-गाने वाले और वैश्यओं के मकान बनाए जाएं। पूरब की तरफ इत्रफरोश, गल्ला बेचने वाले और क्षत्रिय वर्ण के लोग आबाद हों। दक्षिण-पूर्व की तरफ खजाना, हिसाब-किताब के दफ्तर और कारखाने बनाए जाएं। उत्तर-पश्चिम की तरफ दुकानें

और अस्पताल कायम किए जाएं। उत्तर-पूरब की तरफ गौशाले और अस्तबल वगैरह बनाए जाएं।'

इस उद्धरण से सिद्ध हो जाता है कि इस प्राचीनकाल में हिन्दू कौम सामाजिक जीवन के किस ऊंचे शिखर पर पहुंची हुई थी और स्वास्थ्यरक्षा के सिद्धांतों का किस बुद्धिमत्ता से पालन किया जाता था। और चिकित्सालयों के स्थापित होने का एक ऐसा शक्तिशाली प्रमाण मिल जाता है जिसका खंडन नहीं किया जा सकता। मानो चिकित्सालय हर एक आबादी के आवश्यक अंग समझे जाते थे। ऐसे प्रमाणों के होते हुए भी योरप में यह खयाल फैला हुआ है कि चिकित्सालय पश्चिमी सभ्यता के परिणाम हैं और लॉर्ड कर्जन जैसे जानकार व्यक्ति ने अपने एक भाषण में जो उन्होंने ग्लासगो यूनिवर्सिटी के रेक्टर की हैसियत से हाल में दिया है, कहा कि, 'गैर-ईसाई धर्म जनता की भलाई की ऊंची भावनाओ से अपरिचित थे।' इसे देखने वाले की दृष्टि की संकीर्णता और राष्ट्रीय द्वेष के अलावा और क्या कहा जा सकता है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं सीलोन अपनी सभ्यता के स्तर के लिए हमेशा हिन्दोस्तान पर आश्रित रहा। चन्द्रगुप्त ईसा से लगभग पांच सौ बरस पहले हुआ और विद्वान् चाणक्य ने साफ बतला दिया है कि उस समय हिन्दोस्तान में चिकित्सालयों का आम रिवाज था। इस जमाने में सीलोन में भी अस्पतालों के कामय होने का सबूत मिलता है। महावंश के दसवें अध्याय में, जो सीलोन के प्राचीन युगों का एक प्रामाणिक इतिहास है, सिंहली इतिहासकार राजा पण्डूक भाई के राज्यकाल का जिक्र करते हुए लिखता है, 'राजा ने पांच सौ चाण्डाल (यानी मेहतर) शहर की सफाई के लिए नियुक्त किए। डेढ़ सौ चाण्डाल लावारिसों की लाश उठाने के लिए और इतने ही आदमी चिताओं की निगरानी और सफाई के लिए नियुक्त किए। विभिन्न धर्मों के मानने वालों की सुविधा के लिए पांच सौ मकान बनवाए और इसी तरह और भी कई जगहों में राजा ने अनेक धर्मशाले और चिकित्सालय बनवाए।'

यह तो ईसा से पांच सौ बरस पहले की बात हुई और इस वक्त हिन्दू कौम पतन की ओर बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म ने गिरती हुई दीवार को संभाला। महाराज अशोक के जमाने में बौद्ध धर्म ने बड़ी तेजी से कदम बढ़ाया और धर्म के साथ-साथ जनता की भलाई के साधन भी बढ़ते गए। अशोक के अभिलेख नं॰ 2 और 13 से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि, 'महाराज अशोक की निगरानी में और उनकी आज्ञा से हिन्दोस्तान, सीलोन, हिन्दोस्तान के उत्तरी और पश्चिमी सीमाप्रान्त, पूर्वी योरप, पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ्रीका के देशों में जहां के सम्राटों से महाराज अशोक के मैत्रीपूर्ण संबंध थे, आदमियों और जानवरों दोनों ही की तकलीफें दूर करने के लिए औषधालय और चिकित्सालय बनवाए गए। आदमियों और जानवरों दोनों ही को लाभ पहुंचाने वाली बूटियां दूसरी-दूसरी जगहों से मंगाकर लगाई गईं और सड़कों पर मुसाफिरों और जानवरों की सुविधा के लिए कुएं और बावलियां बनवाई गईं और पेड़ लगा दिए गए।'

महाराज अशोक के जमाने में सीलोन के राजा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और तब से तेरहवीं शताब्दी तक चिकित्सालयों का निर्माण, सड़कों की सफाई

और मरम्मत, अपाहिजों की देख-भाल और दूसरे ऐसे ही लोकहितकारी कार्यों की तरफ उत्साह और संकल्प की कमी नहीं रही और मुफ्त और सबको मिलने वाली शिक्षा की ऐसी चर्चा रही कि कोई बौद्ध मंदिर ऐसा न था जहां पाठशाला न हो। आज भी बर्मा और सीलोन में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या हिन्दोस्तान के मुकाबिले में बहुत ज्यादा है। इन बातों के बहुत से लिखित और प्रामाणिक साक्ष्य मिलते हैं। हम उनमें से कुछ पाठकों के सामने पेश करते हैं।

1. राजा बुद्धदास ने (सन् 341 से लेकर 363 ई०) सिंहल द्वीप के रहने वालों पर कृपा-दृष्टि करके अनेक चिकित्सालय स्थापित किए और हरेक गांव के लिए वैद्य नियुक्त किए।
2. राजा दुतगामिनी ने (161 से लेकर 137 ई० पू०) अठारह स्थानों पर चिकित्सालय बनवाए जहां मरीजों के भोजन का प्रबंध भी किया जाता था।
3. राजा अपातीसू ने (368 से 410 ई०) गर्भवती स्त्रियों, अंधों और अपाहिजों के लिए अस्पताल बनवाए।
4. राजा धातुसेन ने (459 ई०) अपाहिजों के लिए अस्पताल बनवाए।
5. राजा दिकपोला द्वितीय ने (795 ई०) अस्पताल बनवाए और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए एक विद्यालय स्थापित किया।
6. राजा दिकपोला तृतीय ने (843 ई०) लंगड़े और अंधे आदमियों के लिए विभिन्न स्थानों पर चिकित्सालय बनवाए।
7. राजा कस्सप चतुर्थ ने शहर में महामारियों के लिए दवाखाने खुलवाए।
8. राजा महिन्दा चतुर्थ ने (991 ई०) खैरातखाने और गरीबों के लिए घर बनवाए। उसने कुछ अस्पतालों में दवाओं और पलंग का प्रबंध किया।
9. राजा पराक्रमबाहु ने (1164 से 1197 ई०) एक स्वास्थ्य-गृह बनवाया जिसमें कई सौ रोगी रह सकते थे। हर एक रोगी की परिचर्या के लिए एक दाई और एक नौकर तैनात किया जो उसे जरूरी खाना दें और दवाएं पिलाएं। वहां उसने एक भंडार घर भी बनवाया जहां गल्ला और तरह-तरह की दवाएं और रोगों की चिकित्सा से संबंध रखने वाली अन्य चीजें इकट्ठा की जाती थीं। उसने उन पण्डितों और विद्वानों के लिए जीविका का प्रबंध किया जो रोगों के कारण और रहस्यों की छानबीन करते थे।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों के सामने कौन न्याय प्रेमी व्यक्ति कह सकता है कि ईसाई धर्म अस्तित्व में आने से पहले हिन्दू और बौद्ध धर्मों में मनुष्यों और मूक पशुओं के कष्टों को दूर करने का एक ऊंचा मानदण्ड नहीं स्थापित हुआ था। इसके विपरीत, कदाचित् यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस उत्साह और पवित्र भावना से इस जमाने में यह नेक और अच्छा काम किया जाता था, वह आजकल के ऐसे ही कामों में नहीं पाया जाता और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। हिन्दुओं की उदारता का स्रोत उनका धार्मिक विश्वास था। ईश्वर ने हम सबको पैदा किया, हम सब भाई हैं, हमारा कर्त्तव्य है कि अपनी शक्तिभर अपने भाई की सहायता करें—यह भावना और यह विश्वास था जो हिन्दू कौम के दिलों में एक स्पष्ट जीता-जागता रूप लेकर

उन्हें उदारता के अच्छे से अच्छे और ऊंचे से ऊंचे मानदण्ड की ओर ले जाता था। पश्चिमी कौमों के उदार प्रयत्नों में यह धार्मिक उत्साह शायद ही कहीं देखने को मिलता है। वह इन कामों में भी कौमी, पोलिटिकल और व्यावसायिक स्वार्थ छिपाए रहते हैं। वह पश्चिमी सभ्यता जो गर्भवती स्त्रियों और छोटी उम्र के लड़कों को जीविका-निर्वाह के लिए विवश करती है, जहां, विधवाओं और अनाथों के लिए अनाथालयों के सिवाय और कोई ठिकाना नहीं, वह पश्चिमी सभ्यता जहां मालिक मजदूर के हक हड़प कर जाने की ताक में बैठा रहता है और मजदूर इस ताक में रहता है कि मालिक की जेब से रुपया निकाल लूं, वह सभ्यता जो धर्म के प्रचार को राजनीतिक उद्देश्यों का साधन बनाती है और जहां मिशनरी हमेशा विजेता का झण्डाबरदार साबित होता है, वह हिन्दू या बौद्ध धर्म को कभी रास्ता नहीं दिखा सकती। देशों को जीत लेना और चीज है, ऊंची सभ्यता और चीज है। इटली ने निम्न स्तर की सभ्यता रखते हुए यूनान को जीत लिया जो उस जमाने में सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुंचा हुआ था। सभ्यता और हिंस्र भावनाओं का बैर है। बर्बर कौमें सभ्य कौमों के मुकाबिले में ज्यादा लड़ाकू और जान पर खेलने वाली होती हैं। पश्चिमी सभ्यता में सबसे बड़ी खूबी यह है कि उसने बर्बर कौमों की विशेषताओं को सभ्यता के गंभीर प्रभावों से बचाए रक्खा। खुलासा यह कि हिन्दोस्तानी सभ्यता की इमारत धर्म और नेकी की बुनियाद पर थी और पश्चिमी सभ्यता की बुनियाद लाभ, ईर्ष्या और ऐश्वर्य पर है। यह पवित्र दृश्य हिन्दोस्तान के सिवा और कहां दिखाई पड़ता है कि अगर एक घर में दस विधवाएं हैं तो दसों इज़्ज़त के साथ जिंदगी बसर करती हैं। संभव है हिन्दुओं ने सभ्यता का यह मानदण्ड स्थापित करने में बहुत-सी भूलें की हों और जरूर कीं मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि उनके पीछे उदारता की ऊंची भावना थी और ईसाइयों का उपरोक्त कथन बिल्कुल झूठ है।

[उर्दू लेख। 'हिन्दू तहज़ीब और रफाहे आम' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना' मार्च, 1912 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

रामायण और महाभारत

यों तो संस्कृत साहित्य में पद्य-बद्ध आख्यायिकाओं की कमी नहीं है मगर जैसा कि हर व्यक्ति जानता है रामायण और महाभारत हिन्दुओं के दो विशेष महाकाव्य हैं। हिन्दू जाति को उन पर जितना गर्व हो उचित है। अगर संस्कृत साहित्य में सिर्फ दो किताबें होतीं तो भी किसी भाषा का लिटरेचर संस्कृत से आंखें न मिला सकता। विचारों की उच्चता, विषयों की पवित्रता, वर्णन का सौंदर्य और कैरेक्टरों की महानता ने उसी जमाने से, जब कि ये पुस्तकें कवि के हृदय से निकलीं, संसार को आश्चर्य में डाल रक्खा है। रामचन्द्र निश्चय ही उच्चतम मानवता के उदाहरण थे और सीता स्त्रियों के पवित्र धर्म की एक पावन मूर्ति। युधिष्ठिर निश्चय ही न्याय की मूर्ति थे और भीष्म पितामह की वीरता और आत्मोत्सर्ग संसार के इतिहास में अद्वितीय है।

कृष्ण सिद्ध योगी और मनुष्य के दीप्तमान गुणों का संग्रह थे। मगर यह वाल्मीकि और व्यास के कवित्व का सौंदर्य है जिसने हमारी आंखों में उनको मनुष्यों की श्रेणी से उठाकर देवताओं की पंक्ति में बिठा दिया है। यह उन्हीं कवियों की लेखनी का प्रसाद है कि आज हर एक हिन्दू उनके नाम को पूजनीय समझता है; उस भक्ति और आदर की कोई सीमा नहीं है जो इन बड़े लोगों के संबंध में हर एक हिन्दू बच्चे के हृदय में स्थायी रूप से है। यहां तक कि राम और कृष्ण का नाम असंख्य हिन्दुओं के लिए मुक्ति का साधन बन गया है। कवि को अपने काव्य के लिए बड़ा से बड़ा जो प्रतिदान मिल सकता है वह उन कवियों ने प्राप्त कर लिया है यानी उनके कैरेक्टरों को हमने अपना देवता या ईश्वर मान लिया। और उन कवियों के काव्य-गुणों पर दृष्टि डालते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि हमने अनुचित उदारता से काम लिया है। उन्होंने वह काम कर दिखाया है जो संसार के किसी कवि से न हो सका। उन्होंने हमारी आंखों के सामने, इसलिए कि हम उन्हें अपने जीवन का आदर्श बनायें, पूर्ण मनुष्य उपस्थित कर दिये हैं जो केवल निर्जीव-निस्पंद चित्र नहीं बल्कि जीते-बोलते पूर्ण मनुष्य हैं। ऐसे पूर्ण मनुष्य शेक्सपियर और दांते, होमर और वर्जिल, निजामी और फिरदौसी की कल्पना की परिधि से बहुत ऊंचे हैं। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स कहते हैं, ''यद्यपि यूनान वालों की तरह हिन्दुओं के यहां भी खास दो ही मसनवियां या महाकाव्य हैं मगर 'रामायण' और 'महाभारत' की 'इलियड' और 'ओडोसी' से तुलना करना वैसा ही है जैसा इण्डस और गंगा का, जो हिमालय के बर्फिस्तानी इलाके से निकलती हैं और अपनी सहायक नदियों से गले मिलती हुई, कहीं बेहद फैली हुई और कहीं अथाह गहरी, शान-शौकत के साथ बहती हैं, अटीका और थेसिली के नालों और पहाड़ी सोतों से तुलना करना।'' इन काव्य-गुणों के अतिरिक्त इन पुस्तकों का आकार यूरोप वालों को और भी अचरज में डाल देता है। यहां उनकी तुलना दुनिया के दूसरे प्रसिद्ध महाकाव्यों से करना दिलचस्पी से खाली न होगा।

महाभारत–220000 श्लोक।

रामायण–48000 श्लोक।

होमर का इलियड–15693 शेर।

वर्जिल का ईनिड–9868 शेर।

जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक श्लेगल लिखता है, 'रामायण संसार का सबसे महान महाकाव्य है।'

सर विलियम जोन्स कहते हैं, 'रामायण में राम की कहानी लिखी गई है जो कल्पना की उर्वरता और वर्णन के सौंदर्य की दृष्टि से मिल्टन के काव्य से कहीं बढ़कर है।'

प्रोफेसर हेरन रामायण की कहानी संक्षेप में बताने के बाद कहते हैं, 'यह है थोड़े से शब्दों में रामायण की कहानी जो इतने सरल छंदों में ऐसी खूबसूरती और अनूठेपन से बांधी गई है कि संसार की अच्छी से अच्छी काव्य-कृति की तुलना में भी उसका पल्ला भारी रहेगा।'

प्रोफेसर मोनियर विलियम्स कहते हैं, 'संस्कृत साहित्य में रामायण से अधिक सुंदर कोई काव्य नहीं। इसकी वर्णन-शैली की सरलता और स्वच्छता और प्रौढ़ता, सच्चे कवित्व की सुकुमार चुटकियां, वीरतापूर्ण घटनाओं के सजीव चित्रण, प्रकृति के सुंदर दृश्य, मानव-हृदय के उतार-चढ़ाव और कोमलतम भावनाओं की गहरी जानकारी—ये सब खूबियां इस कृति को संसार की किसी भी देश या काल की श्रेष्ठतम कृतियों में ऊंचा स्थान पाने का अधिकारी ठहराती हैं। ये एक बड़े से सुंदर उपवन के समान हैं जिसमें फूल और फल की बहुतायत है, प्रकृति के चिरंतन जलस्रोत जिसको सींचते हैं और यद्यपि कहीं-कहीं उपज जरूरत से ज्यादा हो गई है मगर वहां भी स्वच्छ और सुव्यवस्थित क्यारियां मौजूद हैं।'

प्रिंसिपल ग्रिफिथ, जिन्होंने रामायण को अंग्रेजी कविता का बहुत सुंदर आवरण पहनाया है, कहते हैं 'रामायण हर देश, जाति और युग के लिटरेचर को ऐसा काव्य प्रस्तुत करने का उच्च स्वर में निमंत्रण देती है जिसमें राम और सीता के समान पूर्ण मनुष्य हों। कवित्व और नैतिकता में ऐसी आकर्षक एकता और कहीं दिखाई नहीं देती जैसी कि इस पवित्र पुस्तक में।'

अमरीका के प्रसिद्ध डाक्टर हेलियर इन शब्दों में महाभारत की चर्चा करते हैं, 'मुझे अपनी जिंदगी में किसी किताब से इतनी दिलचस्पी नहीं हुई जितनी पुराने हिन्दुस्तान की इस महान् और पवित्र कृति से। पिछले कुछ सालों में मैंने जितनी बार इस पुस्तक का अध्ययन किया है उतनी बार किसी दूसरी पुस्तक का नहीं किया। महाभारत ने मेरे मानस-चक्षुओं के आगे एक नई दुनिया खोल दी है और मुझे उसके विद्वत्तापूर्ण विचारों, उसकी सच्चाई, उसके सत्य चित्रण और पांडित्य पर असीम आश्चर्य है।'

सिलवें लेवी जो पेरिस के प्रसिद्ध विद्वान हैं कहते हैं, 'महाभारत-संसार की सबसे बड़ी ही नहीं बल्कि सबसे सुंदर कृति है। इसमें शुरू से आखिर तक सुंदर परिधान में सदाचार के गंभीर प्रश्नों की शिक्षा दी गई है।'

अमरीका का प्रसिद्ध साहित्यकार जेरेमिया क्रीटन लिखता है, 'मैं सच्चे हृदय से कहता हूं, कि मुझे किसी दूसरी पुस्तक के अध्ययन से कभी इतना आत्मिक उल्लास नहीं प्राप्त हुआ है।'

सेण्ट बार्थालोम्यू जो यूरोप के एक दुनिया देखे हुए फिलासफर हैं लिखते हैं, 'एक सदी गुजरी जबकि विलकिन्सन ने महाभारत के एक हिस्से का अनुवाद प्रकाशित किया तो संसार उसके कवित्व की महानता को देखकर दंग रह गया, व्यास, जो महाभारत का रचयिता है, होमर से भी बड़ा मालूम होने लगा और लोगों को यह स्वीकार करने में ज्यादा अड़चन न हुई कि हिन्दुस्तान यूनान से बढ़कर है।'

प्रोफेसर मोनियर विलियम्स कहते हैं, 'रामायण में ऐसे अनेक वर्णन हैं जो काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से होमर से भी आगे बढ़े हुए हैं। उनकी वर्णन-शैली अधिक रोचक, अधिक कोमल और अधिक प्रौढ़ है और भाषा होमर की तुलना में अधिक उन्नत है। पारिवारिक जीवन का चित्र दिखाने में हिन्दू कवि यूनान और रोम के कवियों से कहीं बढ़कर हैं।'

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', मई-जून, 1912 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध-प्रसंग' भाग-1 में संकलित। उर्दू शीर्षक अज्ञात।]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

हिन्दी भाषा के कवियों में बाबू हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊंचा समझा जाता है। यह ठीक है कि उन्हें तुलसी, सूर, बिहारी या केशव की सी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हुई मगर इसका कारण यह नहीं कि वे योग्यता में इन कवियों से घटकर थे। तुलसीदास पद्य-बद्ध आख्यायिका के सम्राट् थे। सूर ने अध्यात्म और बिहारी ने सौंदर्य और प्रेम को कमाल पर पहुंचाया। कबीर ने संसार की निस्सारता का राग गाया मगर हरिश्चन्द्र ने हर रंग की कविता की। वह काव्य-प्रतिभा जो किसी एक रंग को बहुत ऊंचाई तक पहुंचा सकती थी, बिखर गई। इसलिए ये कवि ऊंचाई और गंभीरता में यद्यपि हरिश्चन्द से बढ़े हुए हैं मगर काव्य-विस्तार की दृष्टि से हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊंचा है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनको गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार था। गद्य में तो उन्हें मार्गदर्शक का स्थान प्राप्त है। उनके पहले राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी गद्य में ख्याति पायी थी मगर राजा लक्ष्मणसिंह की योग्यता अधिकतर अनुवाद में खर्च हुई और राजा शिवप्रसाद की हिन्दी में उर्दू शब्द बड़ी सख्या में रहते थे। शुद्ध हिन्दी की नींव भारतेन्दु ही के कलम ने डाली और उस जमाने से अब तक हिन्दी ग ; ने बहुत कुछ तरक्की हासिल कर ली है मफार आज भी हरिश्चन्द्र के हिन्दी गद्य की प्रौढ़ता, चुलबुलापन और शुद्धता प्रशंसनीय है। उनकी सबस अधिक स्मरणीय और स्थायी साहित्यिक पूंजी उनके नाटक हैं। इस मैदान में काई उनका प्रतियोगी नहीं। हिन्दी नाट्यकला के वे प्रवर्तक हैं। उनके पहले हिन्दी भाषा में नाटकों का अस्तित्व न था। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास की 'शकुन्तला' का अनुवाद अवश्य किया था पर वह केवल अनुवाद था। मौलिक नाटक अप्राप्य थे। बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य की इस कमी को पूरा करने की कोशिश की। उन्होंने छोटे-बड़े अठारह नाटक लिखे जिनमें कुछ मौलिक और कुछ अनुवाद हैं। मौलिक नाटको म 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' ऐसी किताबें हैं जो संसार की किसी भाषा का गौरव हो सकती हैं, और 'मुद्राराक्षस' यद्यपि एक संस्कृत नाटक का अनुवाद है तथापि उच्चकोटि की रचना के सारे गुणों से भरपूर। इस सारे साहित्यिक कृतित्व पर दृष्टि डालकर कह सकते हैं कि हरिश्चन्द्र जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा का कवि हिन्दी भाषा में शायद ही दूसरा पैदा हुआ होगा।

बाबू हरिश्चन्द्र एक नामवर बाप के बेटे थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र बनारस के एक जाने-माने रईस थे। वह 'गिरधर' उपनाम से कविता करते थे। नीति-परक विषयों पर लिखने में वह बेजोड़ थे। हरिश्चन्द्र ने धन सम्पत्ति साथ काव्य-रचना की योग्यता भी उत्तराधिकार में पाई थी और यद्यपि सपत्ति उनके खुले हाथों में बहुत दिन न रही मगर काव्य-रचना के उत्तराधिकार मे उन्होने सपूत बेटे की तरह बहुत कुछ वृद्धि की। वह सम्वत् 1907 में पैदा हुए और कुछ दिनो घर पर हिन्दी और फारसी पढ़ने के बाद क्वीन्स कालेज में दाखिल हुए मगर यहां पढ़ाई का सिलसिला ज्यादा दिनो तक न चल सका। वह पांच ही साल के थे कि उनकी मां का देहांत हो गया और सम्वत् 1917 मे जब उनकी उम्र दस साल से ज्यादा न थी, बाबू गोपालचन्द्र का देहांत हो गया।

इन कारणों से उनकी पढ़ाई ढंग से न हुई और छुटपन में ही गृहस्थी का बोझ भी सिर पर आ पड़ा। पढ़ने-लिखने में यूं ही उनकी तबियत न लगती थी, गृहस्थी एक बहाना हो गई, पढ़ना छोड़ बैठे। मगर इसी उम्र में वह काव्य-रचना की प्रतिभा का प्रमाण दे चुके थे। यह गुण उनमें दैवी था। पांच ही साल की उम्र में एक दोहा लिखकर अपने कवि पिता को आश्चर्य में डाल दिया था आर जिस समय उन्होंने पढ़ना छोड़ा वह अपने काव्यमर्मज्ञ मित्रों के बीच काफी ख्याति पा चुके थे। जीवन के आरंभिक वर्षों में उन्होंने विद्योपार्जन के प्रति बहुत उत्साह नहीं दिखलाया लेकिन अपनी दैवी बुद्धि से इस कमी को बहुत जल्द पूरा किया और हिन्दुस्तान की कुल भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उनका अंग्रेजी ज्ञान बहुत अच्छा था। यह बात उनके 'दुर्लभ बंधु' से प्रकट होती है जो शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है। मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी, उर्दू, मैथिली इन सब भाषाओं में वह केवल अपने विचार ही प्रकट नहीं कर सकते थे बल्कि कविता भी कर सकते थे। इससे उनकी प्रखर बुद्धि का अंदाजा किया जा सकता है।

बाबू हरिश्चन्द्र का खानदान बनारस के जाने-माने और पैसे वाले घरानों में था। उन्हें कई लाख की जायदाद उत्तराधिकार में मिली थी मगर उन्होंने धन-सम्पदा की परवाह करना न सीखा था। दोस्तों के आतिथ्य-सत्कार, विलासपूर्ण जीवन, गरीबों की मदद और कवियों की कद्रदानी में वह रुपया पानी की तरह बहाते थे। दीवाली के रोज तेल की जगह इत्र से दिये जलाते थे और सिर और शरीर में तो वह तेल के बदले आमतौर पर खूब मंहगे इत्र मला करते थे। कवियों की कद्रदानी का यह हाल था कि एक-एक दोहे पर खुश होकर सैकड़ों रुपये इनाम दे देते। याचक को जवाब देना उन्होंने सीखा ही न था। जैसा कि दुनिया का कायदा है, ऐसे खर्चीले आदमियों की कमज़ोरी से फायदा उठाने वाले भी ढेरों पैदा हो जाते हैं। बाबू हरिश्चन्द्र की दौलत उनकी नाजरबरदारियों में खूब खर्च होती थी। उनके इस खर्चीलेपन को देखकर एक बार महाराज बनारस ने उनसे कहा, 'बाबूजी, घर देखकर काम करो।' इसका जवाब आपने दिया, 'महाराज, यह दौलत मेरे कितने ही पुरखों को निगल गई है, अब मैं इसे खा जाऊंगा।' इससे उनके स्वभाव की मस्ती का सबूत मिल सकता है।

भारतेन्दु बड़े रंगीले, बांके, सुंदर, सजीले आदमी थे। सौंदर्य-प्रेम उनमें कूट कूटकर भरा हुआ था। सुंदरता खुद ब खुद उनकी आंखों में खुब जाती थी और कवि में यह एक विशेष गुण है। चित्रों से उन्हें बड़ा प्रेम था। बड़ी तलाश और खर्च से उन्होंने एक अनूठा संग्रह एकत्र किया था मगर एक दोस्त को उनके प्रति बहुत अनुरक्त देखकर उन्हें दे डाला। सौंदर्य की प्रशंसा और वर्णन से उनकी कविता भरी हुई है और साहित्य-रसिकों का विचार है कि इस रंग में उनकी तबियत असाधारण जोर दिखा गई है। नाटकों को छोड़कर, उनका काव्य सौंदर्य और प्रेम की भावनाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक कवि चाहे उसने कैसी ही बहुमुखी प्रतिभा क्यों न पाई हो सिर्फ एक ही क्षेत्र में चोटी पर पहुंचता है। हरिश्चंद्र ने करुणा, प्रेम, प्राकृतिक दृश्य, वीरता, वैराग्य, हास्य, नीति आदि सभी रंगों में अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन किया है।

मगर वह घुलावट जो उनके सौंदर्य-चित्रण में पैदा हो गई है, दूसरे रंगों में अपेक्षाकृत कम है।

जिंदादिली बाबू हरिश्चन्द्र का विशेष गुण थी और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होती थी। साहित्य-रचना, देशप्रेम, सामाजिकता—इन सब कार्यों में उन्होंने आगे बढ़कर योग दिया। उन्होंने गद्य और पद्य की कई पत्रिकाएं जारी कीं और नुकसान उठाकर चलाईं। साहित्य के विकास के लिए एक संस्था स्थापित की। कुछ दिनों तक एक रीडिंग क्लब चलाया और चौखंबे में एक अंग्रेजी स्कूल कायम किया। इसके खर्चे वह बारह साल तक खुद अदा करते रहे। उनका लगाया हुआ यह शिक्षा का पौधा अब एक ऊंचा-पूरा पेड़ हो गया है। इसमें अब स्कूल लीविंग तक की पढ़ाई होती है। मकान नया बन गया है और विद्यार्थियों की संख्या चौगुनी हो गई है। इन बातों से प्रकट होता है कि बाबू हरिश्चन्द्र जमाने की रफ्तार से और उसकी आवश्यकताओं से अपरिचित न थे। उनकी जिंदादिली बहुधा चुहल और दिल्लगीबाजी में खर्च होती थी। होली के दिनों में उनके यहां अबीर और गुलाल का दरिया बहता था। वह खुद कमर में एक मोटा-सा कुंडा बांधे, मसखरों का एक तूफाने-बेतमीजी साथ लिये बड़ी आजादी से कबीरें गाते निकलते थे। इन दिनों में वह फक्कड़, स्वांग, नकल, फोहश, किसी से बाज न आते थे। अप्रैल की पहली तारीख अंग्रेजों के यहां दिल्लगी का दिन है। आज के दिन हर किस्म का मजाक जायज है। बाबू हरिश्चन्द्र इस तारीख को शहर वालों के दिलबहलाव के लिए जरूर कोई न कोई गुल खिलाते थे। एक बार एलान कर दिया कि एक मशहूर उस्ताद हरिश्चन्द्र स्कूल में मुफ्त गाना सुनायेंगे। जब हजारों आदमी जमा हो गये तो पर्दा खुला और एक आदमी मसखरों का भेस बनाये, उल्टा तम्बूरा हाथ में लिये बरामद हुआ और बड़ी भोंडी आवाज में रेंकने लगा। लोग समझ गये कि भारतेन्दु ने यह शगूफा खिलाया है। शर्मिंदा होकर वापिस गये।

मगर इस आजादी और बेफिक्री के बावजूद उनके स्वभाव में संतोष भी बहुत था। वह अपनी कमजोरियों पर कभी-कभी लज्जित भी होते थे मगर नानी[1] ने हरिश्चन्द्र के स्वभाव को देखकर उनके छोटे भाई के नाम सारी जायदाद का हिब्बेनामा कर दिया। हिब्बेनामे पर बाबू हरिश्चन्द्र के दस्तखत बहुत जरूरी थे मगर जब यह कागज उनके सामने आया तो उन्होंने बधड़क उस पर दस्तखत कर दिये और दो-ढाई लाख की जायदाद की जरा भी परवाह न की। यह उनकी उदारता और निस्पृहता का बहुत अनूठा उदाहरण है।

बाबू हरिश्चन्द्र का साहित्यिक जीवन बाकायदा तौर पर अठारहवें साल से शुरू हुआ और यद्यपि उन्होंने उम्र बहुत कम पाई, देहांत हुआ तो उनकी उम्र सिर्फ छत्तीस साल थी, तो भी इन्हीं उठारह वर्षों में उन्होंने अपने कलम से हिन्दी जबान को मालामाल कर दिया। उनकी रचनाएं तीन हिस्सों में बांटी जा सकती हैं नाटक, कविताएं और गद्य के विविध लेख। इनमें से हर एक की संक्षिप्त चर्चा करना बहुत जरूरी मालूम होता है।

---

1 बाबू हरिश्चन्द्र की ननिहाल बहुत धनाढ्य थी। बाबू हरिश्चन्द्र और उनके भाई इस जायदाद के उत्तराधिकारी थे।

बाबू हरिश्चन्द्र के नाम से सोलह सम्पूर्ण नाटक मिलते हैं मगर अधिकांश बहुत छोटे हैं जो कुछ पन्नों में ही खत्म हो गये हैं। इनमें अधिकांश संस्कृत नाटकों के अनुवाद या रूपांतर हैं। मौलिक नाटकों की संख्या पांच से अधिक नहीं। इनमें भी चन्द्रावली, नीलदेवी और सत्य हरिश्चन्द्र के अलावा और किसी नाटक को ठीक अर्थों में नाटक नहीं कहा जा सकता। वैदिक हिंसा, अंधेर नगरी नाटक नहीं बल्कि राष्ट्रीय और सामाजिक प्रश्नों पर हास्य-व्यंगपूर्ण चुटकुले हैं जो बहुत लोकप्रिय हुए और बार-बार खेले गये। 'भारत दुर्दशा' में राष्ट्र की नैतिक और सांस्कृतिक दुर्बलताएं बड़ी प्रभावशाली, हास्यपूर्ण और कहीं-कहीं दर्दनाक ढंग से दिखाई गई हैं। 'चन्द्रावली' प्रेम और प्रेम के रहस्यों की एक पिटारी है जिससे कवि की सूझ-बूझ और मर्मभेदी दृष्टि का बखूबी अंदाजा किया जा सकता है। 'नीलदेवी' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमें अमीर अब्दुलशरीफ खां और महाराज सूरजदेव के मार्के बयान किये गए हैं और सौंदर्य व प्रेम के मनचले कवि ने लड़ाई के मैदान में ऐसी काटें की हैं कि उसे पढ़कर दिलों में वीरता की एक लहर पैदा हो जाती है। 'मुद्राराक्षस' यद्यपि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक का अनुवाद है तो भी इसमें मूल के सब गुण वर्तमान हैं और इसीलिए अनुवाद में जहां-तहां अनुचित रूपांतर का धोखा होता है। हरिश्चन्द्र की शायद सबसे प्रसिद्ध कृति 'सत्य हरिश्चन्द्र' है। इसमें महाराज हरिश्चन्द्र की सच्चाई की परीक्षा का जिक्र है। 'महाभारत' में इसका संक्षिप्त उल्लेख आया है। जैसे कालिदास ने महाभारत से 'विक्रमोर्वशी' और 'शकुंतला' का प्लाट लेकर उनकी बुनियाद पर अपने अमर नाटकों की इमारत खड़ी की है उसी तरह बाबू हरिश्चन्द्र ने भी इस नाटक में महाभारत से घटना ले ली है। महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यवंश के एक चक्रवती राजा थे जो सच्चाई, वचन-पालन और वफादारी में इस तरह एक कहावत बन गये हैं जिस तरह हनुमान वीरता में, संकल्प में रावण, न्याय में युधिष्टिर और हिम्मत में भीष्म पितामह। इस नाटक में विश्वामित्र ऋषि का राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा के लिए आना, राजा का विपत्ति में पड़कर बनारस जाना, वहां एक डोम के हाथ बिकना, फिर श्मशान की चौकीदारी पर नियुक्त होना, रानी शैव्या का रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आना, राजा का उससे कफन मांगना-ये घटनाएं बहुत ही करुण, प्रभावशाली और निपुण ढंग से दिखलायी गयी हैं। उनको दुहराने की यहां जरूरत नहीं है क्योंकि ऐसे बहुत शिक्षित लोग न होंगे जिन्होंने इस नाटक को न पढ़ा हो या खेले जाते न देखा हो। यह घटनाएं स्वयं मनुष्य की नैतिक ऊंचाइयों का सुंदरतम उदाहरण हैं। उन पर बाबू हरिश्चन्द्र की जादू-भरी कलम ने सोने में सुहागे का काम किया है। हमने कई बार इस नाटक का खेल देखा है। जिस वक्त शैव्या रोहिताश्व की लाश गोद में लेकर आती है उस वक्त दर्शकों की आंखों से आंसुओं की झड़ी लग जाती है। बिलाप का दृश्य इससे अधिक प्रभावशाली अगर किसी हिन्दी कवि ने खींचा है तो वह महाराजा रामचन्द्र का वनवास है। ऐसा कोई कालेज, कोई हास्टल, कोई लिटरेरी सोसाइटी और कोई ड्रामैटिक कंपनी न होगी जिसने यह खेल न किया हो। मगर तुलसी के वनवास की तरह हरिश्चन्द्र का यह वर्णन दिलों पर असर किये बगैर नहीं रहता। इसमें कोई शक नहीं कि जब तक हिन्दी भाषा जिंदा रहेगी यह नाटक सर्वप्रिय रहेगा।

लेकिन अगर इस नाटक को, जिसके कथानक की रचना में कवि को बहुत ज्यादा प्रयत्न नहीं करना पड़ा, अलग कर दिया जाये तो बाबू हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटको में एक खास कमजोरी नजर आती है और वह है कथानक की दुर्बलता। यह दोष 'चन्द्रावली' और 'नीलदेवी' में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इनमें वर्णन-शक्ति, भाव, दृश्य-चित्रण सब कुछ है मगर प्लाट कमजोर है और इसी प्लाट की कमजोरी ने अच्छे कैरेक्टरों को पैदा न होने दिया। 'हरिश्चन्द्र' के अलावा उनके बाकी मौलिक नाटकों में कोई कैरेक्टर ऐसा नहीं–या हैं तो बहुत कम–जो मनुष्य के उच्च जीवन का आदर्श बन सके और नैतिकता के ऊंचे शिखरों तक पहुंचे। घटनाओं के प्रकार पर कैरेक्टरों की हीनता और उच्चता निर्भर है। दुर्बल घटनाओं की स्थिति में ऊंचे कैरेक्टर क्योंकर पैदा हो सकते हैं।

बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं में अगर्चे नाटकों की सी मौलिकता नहीं, क्योंकि इस मैदान में नया कुछ बहुत कम बचा है, लेकिन उसका स्थान बहुत ऊंचा है। काव्य-मर्मज्ञों ने उसको बहुत मान दिया है और हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में उनकी गिनती की है। उर्दू में उदाहरण देकर उनकी कविता की विस्तृत चर्चा नहीं की जा सकती। सिर्फ इतना कहना काफी है कि उन्होंने हर रंग में अपनी प्रतिभा का जौहर दिखाया। सौंदर्य और वीरता का मैदान उनके लिए इतना ही आसान था जितना कायरता और घृणा का। तब भी जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, प्रेम के रंग में उनकी कविता असाधारण रूप से सशक्त, प्रभावशाली और नैचुरल है। अध्यात्म और वैराग्य में भी उनकी तबियत ने जोर दिखाया है और जब यह खयाल करो कि यह ऐशपसंद, शौकिन, रसीले कवि की रचना है तो सचमुच आश्चर्य होता है। वह अपने युग के केवल कवि नहीं बल्कि राष्ट्रीय कवि थे, और राष्ट्रभाषा की हैसियत से हर एक पब्लिक और राष्ट्रीय घटना पर उन्होंने आवश्यकतानुसार बधाई, शोक, स्वागत, विदाई आदि की कवितायें लिखी हैं मगर उनमें कोई विशेषता नहीं। कविता से और उसके असली उद्देश्यों से उनका कवि-स्वभाव कैसा परिचित था वह इस बात से बखूबी जाहिर हो जाता है कि उन्होंने कविता के नौ रसों में चार और जोड़े और काव्य-मर्मज्ञों ने इस संशोधन को एक मत से स्वीकार कर लिया।

बाबू हरिश्चन्द्र के गद्य-लेख विभिन्न विषयों पर हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, नैतिक–गरज कि सभी प्रश्नों पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है मगर उनमें न विचारों की ताजगी है न खोजी, हां जबान अलबत्ता साफ-सुथरी है।

हिन्दी के साहित्य संसार ने भी भारतेन्दु का यद्यपि उतना सम्मान नहीं किया जिसके वह अधिकारी हैं तो भी तुलसी और केशव जैसे उच्चकोटि के कवियों को देखते हुए काफी गनीमत है। तुलसी की कोई प्रामाणिक और संपूर्ण जीवनी नहीं, सूर और केशव भी गुमनामी के कूचे में पड़े हुए हैं मगर बाबू हरिश्चन्द्र की कई जीवनियां प्रकाशित हो चुकी हैं और उनमें बिहार के बाबू वृजनन्दन सहाय की पुस्तक 'हरिश्चन्द्र का जीवन' बहुत विशद और मनोरंजक है। हिन्दी में उसका वही स्थान है जो उर्दू में 'हयाते गालिब' का है। इन बातों पर नजर डालते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी में हिन्दी भाषा ने हरिश्चन्द्र जैसा समर्थ, उन्नत-विचार

और उमंग से भरपूर कवि नहीं पैदा किया और गो अब भाषा की चर्चा दिन ब दिन ज्यादा हो रही है मगर अभी बहुत अर्सा गुजरेगा जब हमको साहित्य की गद्दी पर हरिश्चन्द्र का कोई उत्तराधिकारी दिखायी देगा।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', जनवरी, 1913 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित]

मजनूं

मजनूं फारसी और अरबी इश्क की दुनिया का बादशाह है मगर उसकी दास्तान पढ़कर ताज्जुब होता है कि उसे यह जगह कैसे मिल गई। न कोई दिलचस्पी है और न कोई वाकया। बस वह आशिक पैदा हुआ, आशिक जिया और आशिक मरा गोया उसकी जिंदगी ही इश्क थी। इससे गरज नहीं कि इतिहास हमें उसका हवाला देता है या नहीं। इतिहास हुस्न-ओ-इश्क का ज़िक्र नहीं करता। हां, यह सब जानते हैं कि बड़े से बड़े नाम पैदा करने वाले, बड़े से बड़े मुल्क जीतने वाले को वह अमर जीवन नहीं मिला। उसके नाम पर शायर का कलम झूमता है। उसके नाम से इश्क की दुनिया कायम है वर्ना अब ऐसे आशिक कहां। वह आशिकों की आहों, उम्मीदों, नाउम्मीदी, पागलपन, आत्मविस्मृति की ज़िंदा तस्वीर है। वह खुद एक कवि की सुंदर कल्पना है। फारस और अरब के शायरों ने आशिक के लिए जो जगह कायम की है मजनूं उसी का हकदार है। वहां का आशिक एक लंबा, कमज़ोर, दुबला-पतला आदमी होता है। उसके नाखून और बाल बड़े-बड़े होते हैं, बदन पर कोई कपड़ा नहीं होता और अगर होता है तो गरेबां से दामन तक फटा हुआ, आंखों से आंसुओं की नदी जारी, गाल पीले, नाखून से बदन खसोटे हुए, ज़मीन पर खाक-धूल में लोटता हुआ, पागल, मतवाला, हद से ज़्यादा कमज़ोर दिल, मस्त ऐसा कि माशूक को भी न पहचाने, पहाड़ों और जंगलों में खाक छाने, न कुछ खाये न पिये, खाये तो गम, पिये तो आंसू, हवा के सहारे ज़िंदा रहे, ये आशिकों की खासियतें हैं और मजनूं में ये खासियतें हद को पहुंच गई हैं।

पुराने ज़माने के हीरो का आम कायदा है कि वह उसी वक्त पैदा होते हैं जब उनके निराश मां-बाप पहुंचे हुए फकीरों और अल्लाह के दोस्तों की चौखटों पर माथा रगड़ते-रगड़ते बूढ़े हो जाते हैं। मजनूं ने भी यही ढंग अपनाया। आप पैदा हुए तो बाप ने सारी दौलत लुटा दी। यह बच्चा मां के पेट से आशिक पैदा हुआ, बूढ़ी दाई की गोद में उसे चैन न आता, रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा लेता मगर जब कोई खूबसूरत औरत गोद में लेती तो आप खिल जाते।

ब्रा दायये खुद न मी शुदे राम
बे माहरुख़ न दाश्त आराम

अपनी दाई के बस में नहीं आता था और किसी चन्द्रमुखी के बिना चैन न लेता था।

गर सौते खुशश बगोश रफ्ते
आं तिफ्ल दमे ज़े होश रफ्ते

अगर कोई अच्छी आवाज सुनता तो झूम उठता और मस्त हो जाता।

ज्योतिषियों ने जब इस आशिक लड़के का सितारा देखा तो बोले कि 'यह उठती जवानी में पागल हो जायेगा।'

कां तिफ्ल व सैले रोजगारे
दीवाना शवद ज़े बेहेयारे

जमाने के बहाव के साथ दीवाना हो जाये किसी माशूक के इश्क में।

दर इश्के बुते फसाना गरदद
रुसवा शुदये जमाना गरदद

माशूक के इश्क में कहानी की तरह सारी दुनिया में मशहूर हो जायेगा।

लेकिन फितदश गहे जवानी
दरसर हवसे चुना के दानी (हातिफी)

लेकिन जब उस पर जवानी आयेगी तो उसके सर में एक हवस पैदा हो जायेगी जिसे इश्क कहते हैं।

अज़ इश्क बुते नजंद गरदद
दीवाना ओ मुस्तमंद गरदद

इश्क में बदनाम, पागल और परेशान होगा।

जब लड़के की पढ़ाई का वक्त आया तो मां-बाप ने उसे मक्तब में बिठा दिया। इस मक्तब में कुछ लड़कियां भी पढ़ती थीं। लैला उनकी रानी थी। हुस्न और नजाकत में लाजवाब। आशिक मजनूं ने उसे छांटा। दोनों मक्तब में बैठे बैठे इशारे-नज़ारे करते। इश्क रंग लाने लगा। (समझदार लड़के और लड़कियों को एक ही मक्तब में पढ़ाना ठीक है या नहीं इस सवाल पर राय कायम करने मे यह दास्तान पढ़ने वालों को बहुत दिक्कत नहीं हो सकती।)

आं गुलशने हुस्न रा ब एक बार
शुद कैस ब नक्दे जां ख़रीददार

कैस यानी मजनू इस हुस्न के बाग को फौरन ही अपनी जान की कीमत देकर ख़रीदने पर तैयार हो गया।

लैला चू रफीके खेश दीदश
ऊ नीज ब मेहे दिल खरीदश

लैला ने जब मजनूं को अपना दोस्त पाया तो उसने भी उसे अपने दिल की मेहरबानी से मोल ले लिया।

इश्क आमद व दर्द सीना जा कर्द
खुद रा बदो यार आशना कर्द

इश्क आया और सीने में दर्द की जगह पैदा की और अपने आप को दोनों से परिचित कराया।

दर खानये सब्र आतश उफ्ताद
शुद खिरमने नंगोनाम बरबाद

सब्र की जगह पर आग गिर पड़ी और इज़्ज़त-आबरू का खलिहान बर्बाद हो गया।

धीरे-धीरे यह भेद लड़कों पर खुल गया। चर्चा फैली। लैला की मां ने यह हालत देखी तो लड़की को मक्तब से उठवा लिया। समझाने लगी।

गुफ्तश के शनीदम अज़ फलाने
का शुफ्तईतू शुदी जवाने

मैंने किसी से सुना है कि तू किसी जवान पर आशिक हो गई है।

वीं हम के तू नीज असीरे रूये
आजुर्दा ज़े ज़ख्मे तीरा रूये

और यह भी कि तू इश्क में फंसी तो उसके जो काला सियाह है।

गीरम बुअदत हज़ार आशिक
माशूका शुदन ज़े तू चे लायक

मैंने माना कि तेरे हज़ारों आशिक हैं लेकिन तुझे किसी का आशिक होने की क्या जरूरत।

दुख़्तर कि ब ईनो आं न शीनद
जुज़ रू सियही दिगर न बीनद

लैला ने मां की बात न सुनी और सिवाय मुंह काला करने के कोई सूरत नजर न आई।

गुल रा शरफ ओ लताफते हस्त
चंदां के न कर्द कस बदूदस्त

फूल की इज़्ज़त और उसकी नजाकत तभी तक है जब तक कि कोई उसे न छुए।

आं कस के गिरफ्त आ कर्द बूयश
अज दस्त बेफगनद बकूयश

जैसे ही आदमी ने उसको छुआ और सूंघा, हाथ में रखने के बदले मुहल्ले में फेंक दिया।

तरसम के चू गरदद ई ख़बर फाश
बदनाम शवी मियाने औबाश

मैं डरती हूं कि अगर यह बात फैली तो तू बदमाशों में बदनाम हो जायेगी।

सूफी कि रवद ब मजलिसे मैं
वक्ते बचकद प्याला बरवै

सूफी जब शराब की मजलिस में जाता है तो वह छलकता हुआ शराब का प्याला चढ़ा जाता है।

आं कस कि मगस ज़े कासा रानद
नाखुरदन ओ खुरदनश न दानद (खुसरा)

वह आदमी जो प्याले में से मक्खी निकाल देता है तो वह उसका खाना और नहीं खाना नहीं जानता यानी खाना न खाना बराबर समझता है।

मगर लैला पर इन नसीहतों का वही असर हुआ जो आशिकों पर हुआ करता है। उसने फौरन इन बातों से अपने को अनजान जताया, भोली-भाली लड़की बन गई और कहने लगी, 'अम्मां, इश्क क्या होता है?'

कै मादर दहर इश्क गो चीस्त
माशूक कुदाम व आशिकम कीस्त

ऐ मेरी मां, इश्क क्या चीज़ है, मैं किसकी आशिक हूं और मेरा माशूक कौन है?

आं इश्क गुलेस्त दर बहारे
या नाम दिहेस्त दर दयारे

वह इश्क बहार का कोई फूल है क्या या किसी मुकाम का नाम है?

या इश्क ज़े जिन्स खुर्द पिनहास्त
अज़ बहे खुदा ब मन बिगो रास्त

या वह इश्क कोई छिपी हुई चीज़ है, खुदा के वास्ते मुझे अच्छी तरह ठीक-ठीक बता।

हरगिज न शनीदाएम ई नाम
लफ्जे के नीस्त दर जहां आम

मैंने यह नाम कभी नहीं सुना। ऐसा कोई लफ्ज दुनिया में आम नहीं है।

मां बेचारी सीधी-सादी औरत थी। लड़की की बातों पर यकीन आ गया। इधर इश्क ने और पांव निकाले। मियां मजनूं मदरसे जाते और रो-पीटकर घर चले आते। आखिर जब देखा कि इस रोने-धोने से काम न चलेगा तो एक दिन आप अंधे बन बैठे और लैला के दरवाज़े पर जाकर रास्ता पूछा। लैला ने उनका हाथ पकड़कर रास्ता बताया। दिल की कहानी कहने-सुनने का भी मौका मिल गया। अब तो आपको चस्का पड़ गया। अब आप फकीर बनकर लैला के दरवाज़े पर पहुंचे और आवाज लगाई। लैला ने आवाज़ पहचान ली। खुद भीख लेकर दरवाजे पर आई। नज़रें मिलीं और दिल ठंडे हुए। फिर तो मियां मजनूं रोज़ एक न एक स्वांग भरते यहां तक कि बहुरूप खुल गया। लोग मजनूं की ताक में रहने लगे कि मौका पायें तो हमेशा के लिए किस्सा पाक कर दें। यह पांसा भी पट पड़ा। लैला की जुदाई ने मजनूं को पागल बना दिया।

दीवानए इश्क शुद ब एक बार
रुसवाये मुहल्ला गश्त ओ बाज़ार

वह इश्क में पागल हो गया। मुहल्ले-बाज़ार में बदनाम हो गया।

गश्ते सरोपा बरहना पैवस्त
तिफ्लाने कबीला संगे दरदस्त

हमेशा नंगे पांव और नंगे सर रहता और कबीले के बच्चे उसे पत्थर मारते।

दर कू बफुगां ज़े संगे एशां
दरख़ाना बजां ज़े पंदे ख़ेशां

मुहल्ले में उनके पत्थरों से परेशान और घर में घर वालों की नसीहत से तंग।

हर हर सरे कोह फसानए ऊ
दर हर महफिले तरानए ऊ

हर पहाड़ की चोटी पर उसी की कहानी थी और हर मफफिल में उसी का तराना था।

मजनूं का इतना बुरा हाल देखा तो बाप को फिक्र हुई। पहले तो समझते रहे कि यह इश्क यूं ही है, होश आयेगा तो आप ही असर जाता रहेगा। मगर जब देखा कि हर रोज रंग गाढ़ा होता जाता है तो एक दिन आपने मजनूं से पूछा—तुम्हारी यह क्या हालत है? क्या फिक्र है? इस पागलपन का क्या सबब है? अगर इश्क ने सताया है तो माशूक कौन है?

परवानए शोलए चे शमई
आशुफ्ताये गुलरुखे चे जमई

तू किस चिराग के शोले का परवाना है और किस फूल जैसे गालों वाले का आशिक है?

आहूए कुदाम लालाज़ारत
कर्द अज़ नज़रे चुनी शिकारत

तेरा हिरन किस बाग का है जिसने एक निगाह में तुझे शिकार कर लिया?

मगर मजनूं की अक्ल बिल्कुल ठिकाने न थी। बाप को भी न पहचान सका। पूछने लगा तुम कौन हो, कहां से आए हो? और जब मालूम हुआ कि यह बुजुर्ग मेरे बाप हैं तो बोला—

मजनूं गुफ्तश बिगो पिदर चीस्त
गैरज़ लैला कसे दिगर कीस्त

मजनूं ने उससे कहा—बाप क्या चीज है, सिवाय लैला के दूसरा कौन है।

नामद ज़े मए कि इश्क दादश
अज़ मादरो अज़ पिदर बयादश

उसको इश्क ने जो शराब पिलाई है उसमें वह मां-बाप को भूल गया है।

बेटे का तो यह हाल, बूढ़े बाप ने नसीहतों का दफ्तर खोल दिया। दुनिया की ऊंच-नीच सुझाई, कमाल पैदा करने की नसीहत की और अपनी लंबी-चौड़ी बातें औरतों की बेरुखी और मक्कारी पर ख़त्म कीं।

ज़ीं शेफ्तगी व ख़ामकारी
बिसियार कशी ज़े दहर ख़ारी

इस मुहब्बत और नातजुर्बेकारी की वजह से तू दुनिया में बहुत बेइज़्ज़त होगा।

ख़ाही चू सआदते गरामी
दानिश तलब ओ बलंद नामी

अगर तू चाहता है कि खुशकिस्मत हो तो इल्म और बड़ा नाम हासिल कर।

अकनूं कि जवानओ होशमंदी
बायद तलबीदन अर्जुमंदी

अभी तू जवान और समझदार है, तुझे चाहिए कि इज़्ज़त और नाम पैदा करे।

फर्दा कि शवी बसाने मन पीर
अफसोस खुरी व नीस्त तदबीर

कल तू मेरी तरह बुड्ढा हो जायेगा फिर अफसोस करेगा लेकिन तब कोई इलाज न होगा।

बा अस्ल ओ नसब मबाश मगरूर
कां हस्त ज़े मर्दुमी दूर

खानदान और जात-पांत पर घमंड न कर क्योंकि ये बातें मर्दानगी से दूर हैं।

कस मेह्रो वफा ज़े जन न जूयद
कज़ शोरा ज़मीं समन न रूयद

कभी औरत से मुहब्बत और मेहरबानी की उम्मीद न रखनी चाहिए. क्योंकि बंजर जमीन में चमेली कभी नहीं लगती।

चश्मश कि नजर बनाज़ कर्दा
बर तू दरे फितना बाज़ कर्दा

उसकी चितवन ने एक खास नज़र करके तुझ पर फितने और फसाद का दरवाज़ा खोल दिया है।

मगर आशिकों पर नसीहतों का असर कब हुआ है। ख़ासतौर पर एसी नसीहत का जिसमें दिल की हालत का जरा भी ख़याल न रक्खा गया हो और जिसमें हमदर्दी का कोई पहलू न हो। मजनूं ने इसके जवाब मे मजबूरी और बेबसी जतायी और किसी क़दर बेअदबी के साथ कहा, 'आप इस गली से वाकिफ नहीं, आप मेरे दर्द को क्या जानें, मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए।'

ईं शेफ्तगी बदस्ते मन नीस्त
कस दुश्मने जान ख़ेश्तन नीस्त

यह इश्क मेरे बस का नहीं है क्योंकि कोई आदमी अपनी जान का दुश्मन नहीं होता।

ख़ाही जे फिराके ऊ न नालम
बरख़ेज ओ बरारश अज ख़यालम

अगर तू चाहता है कि मैं उसकी जुदाई मे न रोऊं-चिल्लाऊं तो उठ और उसका खयाल मेरे दिल से निकाल दे।

ख़िजलतज़दा ओ सियाहकारम
वज़ कर्दये ख़ेश शर्मसारम

मैं कुसूरवार हूं और अपने किये पर शर्मिंदा हूं।

चूं नीस्त बदस्त अख़्तियारम
बगुजार पिदर, मरा बकारम

जब मुझे अपने पर अख़्तियार नहीं तो यही अच्छा है कि ऐ बाप तू मुझे मेरी हालत पर छोड़ दे।

आं बेह कि नसीहतम न गोई
दस्त अज़ मनो कारे मन बशोई

यही अच्छा है कि तू मुझे कोई नसीहत न कर और मुझसे और मेरे काम से हाथ धो ले।

आं दोदा कि आमद अज़ अज़ल कूर
अज़ यारिए सुरमा कै दिहद नूर

वह आंख जो पैदा ही अंधी हुई उसको सुरमे की मदद से क्या रोशनी मिल सकती है।

पंदम चे दिही, चे जाये पंदस्त
पंदे तू मरा न सूदमंदस्त

तू मुझे नसीहत करता है, यहां नसीहत की क्या जगह है, तेरी नसीहत से मुझे क्या फायदा।

अब जवाब का आखिरी टुकड़ा मतलब से भरा हुआ है जो एक हद तक असलियत का रंग लिये हुए है।

ऊ नै लैला ओ मन न मजनूं
यक तन शुदाएम हर दो अकनूं

वह लैला नहीं है और मैं मजनूं नहीं हूं। हम दोनों अब एक बदन हो गये हैं। उधर लैला की हालत भी खराब थी। दिन-रात रोती-धोती रहती थी।

मी गुफ्त कि आह चूं कुनम चूं
मजनूं शुदाअम ज़े इश्के मजनूं

कहती थी कि हाय मैं क्या करूं। मजनूं के इश्क में खुद मजनूं हो गई हूं।

ऐ बादेसबा चू मी तवानी
कज़ मन ख़बरे बाऊ रसानी

कहती, ऐ सुबह की नर्म और ठंडी हवा, अगर तुझसे हो सके तो मेरी हालत उससे कह देना।

मन हम ज़े तू कुश्तए फिराकम
जुफ्तम ब गमत गरज तू ताकम

मैं भी तेरी जुदाई की मारी हुई हूं। अगरचे तुझसे जुदा हूं लेकिन तेरे गम के साथ हूं।

ऐ दोस्त बिया दवाये मन कुन
फिक्रे मनो दर्दहाय मन, कुन

ऐ दोस्त आ और मेरा दवा कर, मेरे दर्द की फिक्र कर।

मसलत न हरीफे रंजो दुर्दम।
दानी कि ज़नम न चूं तू मर्दम।।

तुझ जैसा मेरे गम और दर्द का साथी नहीं है। तू जानता है कि मैं औरत हूं मर्द नहीं हूं।

ज़न ज़े आतशे इश्क बेश सोज़द
ख़ाशाके ज़ईफ पेश सोज़द

औरत इश्क की आग में ज़्यादा जलती है जैसे कमज़ोर घास-फूस फौरन ही जलकर राख का ढेर हो जाते हैं।

मजनूं के बाप ने जब देखा कि खाली नसीहतों और तसल्लियों से काम न चलेगा और लड़का बिल्कुल दीवाना हो चुका है तो लैला के बाप से दर्ख्वास्त की कि मजनूं से लैला की शादी कर दें मगर लैला के बाप ने बड़ी बेदर्दी से इंकार कर दिया और अपनी मजबूरी इन शब्दों में व्यक्त की–

फर्ज़न्दे तू देव ज़िश्त खूईस्त
दीवाना ओ तुंद ओ हर्ज़गोईस्त

तेरा बेटा शैतान की सी प्रकृति रखता है। वह पागल है, सख्त तबीयत है और बकवास करता रहता है।

इस्लाह पिज़ीर नीस्त मजनूं
अज़ वर्तये अक्ल हस्त बेरूं

मजनूं सीधे रास्ते पर नहीं आ सकता। वह अक्ल के घेरे से दूर जा पड़ा है।

बदनामतरे अज़ू न बीनम
खुदकामतरे अज़ू न बीनम

मैंने उससे ज़्यादा बदनाम और उससे ज़्यादा मतलबी दूसरा नहीं देखा।

दानी कि मरा न बा तू जंगस्त
न अज़ तू व ख़ेशिये तू नंगस्त

तू जानता है कि मेरी तुझसे लड़ाई नहीं है और न तुझसे और तेरे रिश्तेदारों से मैं कोई शर्म रखता हूं।

ईं कार वले न कारे सहलस्त
दीवानए तू न यारे अहलस्त

लेकिन यह काम आसान नहीं है क्योंकि तेरा दीवाना दोस्ती के लायक नहीं है।

तूती कि ब चोग्द हम नफस कर्द
बुलबुल कि ब ज़ाग दर कफस कर्द

यह एक ऐसी ही बात है जैसे तूती का साथी उल्लू को बनाना या बुलबुल के साथ कौवे को पिंजरे में रखना।

मजनूं के बाप ने इन ऐबों की सफाई में बहुत ज़ोरदार तकरीर की और कहा कि आपका यह ख़याल बिल्कुल गलत है। मजनूं न तो बदमिज़ाज है और न बदमस्त। उसे सिर्फ इश्क की बीमारी है, उसको दवा मिली और वह होश में आया। आप खुद उसे देख लें, उसकी आदत का इम्तहान कर लें, किसी के कहने-सुनने में न आयें। हुक्म हो तो हाज़िर करूं। वह इस बात पर राज़ी हो गया और हज़रत मजनूं बुलाए गए मगर सवाल-जवाब की नौबत आने के पहले ही किस्मत की बात कि लैला का कुत्ता उधर से निकल पड़ा। 'दीवानारा हूए बसस्त' मजनूं को अब कहां सब्र, आप उठे और दौड़कर कुत्ते को सीने से चिपका लिया, कभी उसके नाखूनों

को चूमते, कभी उसके मुंह को प्यार करते और उसकी तारीफों के पुल बांध दिये।

बरजस्त ज़े जाये ख़ेश आज़ाद
वज़ शौक बदस्तओ पायश उफ्ताद

अपनी जगह से बेचैन होकर उठा और उसके पांव पर गिर पड़ा।

मालीद ब पुश्त ओ पाये ऊ रूए
कीं पाये गुज़श्ता जस्त जां कूए

उसकी पीठ और पांव पर अपना चेहरा मला क्योंकि उसके पांव लैला के मुहल्ले से गुज़रते थे।

आवुर्द बहस्रतश दर आगोश
ख़ारीद ब नाखुन आं सरोगोश (हातिफी)

बड़े अरमान से उसे गोद में लिया और उसका सर और कान खुजलाने लगा।

पायश ज़े कुलूख़े ख़ार मीरुफ्त
वज़ पाओसरश गुबार मी रुफ्त

उसके पांव से कांटे साफ करता था और उसके पांव और सर की मिट्टी साफ करता था।

दामन बतहश फिगंदा दर ख़ाक
मीकर्द ब आस्तीं सरश पाक

अपना दामन उसके नीचे बिछाता और उसका सर आस्तीन से झाड़ता।

बोसीदा सरश ब रुफ्क ओ आरज़्म
ख़ारीद तनश बनाखुने नर्म

उसका सर प्यार से चूमता और उसका बदन धीरे-धीरे नाखून से खुजाता।

गुफ्त ऐ गिलेस्त अज़ वफा सरिश्ता
नक्शात फलक अज़ वफा सरिश्ता

कहता जाता है कि तेरी मट्टी वफा से गूंधी हुई है और तेरी तस्वीर वफा के आसमान से बनाई हुई है।

हमनान कसां हलाल खुर्दा
हम खुर्दा खुद हलाल कर्दा

तूने जिसका खाया उसे हलाल करके खाया और अपना खाया हुआ हलाल कर दिया।

सद रौज़ये खुश बज़ेरे पायत
दर रौज़येगह बिहिश्त जायत

तेरे पांव के नीचे सैकड़ों बाग हैं और हर बाग में एक जन्नत है।

सद खूं ज़े लबत चकीदा दर ख़ाक
वज़ लौसे ख़बासतत दहन पाक

सैकड़ों खून तेरे होंठ से टपके लेकिन तेरा मुंह ख़बासत से पाक है।

गर तू सगे अज़ सरिश्ते दौरां
ईनक सगे तू मनम बसद जां

अगरचे तू दुनिया का कुत्ता है लेकिन अब मैं तेरा कुत्ता हूं।

मजनूं की ज़बान ने इस वक्त कमाल का ज़ोर दिखाया। यह गोया अपनी उम्मीदों और मुरादों का मर्सिया था। मजनूं से दामन छुड़ाकर लैला के बाप ने बेटी की शादी इब्ने सलाम से कर दी। लैला को बहुत गम हुआ। जहां तक शर्म ने इजाज़त दी उसने अपनी नाराज़ी ज़ाहिर की मगर जब कुछ ज़ोर न चला तो रो-धोकर चुप हो गई। खुशी की महफिल सजाई गई। काजी साहब तशरीफ लाये। शादी की रस्में अदा की गईं और दूल्हा-दुल्हन के मिलने की तैयारियां होने लगीं। दूल्हा बन-ठन के दुल्हन के कमरे में आया।

आमद ब सूए उरूस दामाद
बा खातिरे खुर्रम ओ दिले शाद

बड़ी खुशी और शौक से दूल्हा दुल्हन की तरफ बढ़ा।

दर पहलुए ज़न निगार बनशस्त
मी खास्त के सूए ऊ बर दस्त

सवांरी हुई दुल्हन के पास बैठा और चाहता था कि उस पर हाथ डाले कि-

बर रूये ज़दश तमाचए सख़्त
कां गूना दरू फिताद अज़ तख़्त

दुल्हन ने दूल्हे को इस ज़ोर से तमाचा रसीद किया कि वह तख़्त से नीचे गिर पड़ा।

गुफ्तश चे ख़याले ख़ाम दारी
गुल बूए मकुन ज़े क़ाम दारी

और उससे कहा कि किस बेहूदा ख़याल में है। मेरी जवानी के फूल का रस न चूस।

ईं तख़्त मुकामे ताजदारीस्त
कीं खुतबा बनामे शहयारीस्त (हानिफी)

यह मुकाम ताजदार का है और यह खुतबा बादशाह का।

लैलीश चुना तमाचए ज़द
कि उफ्ताद मर्द मुर्दा बेखुद

लैला ने उसके इस ज़ोर से तमाचा मारा कि वह मुर्दे की तरह गिर पड़ा।

यहां किस्से में कुछ विरोध है। निज़ामी और हातिफी कहते हैं कि लैला की शादी इब्ने सलाम से हुई और दोनों की एक राय है कि लैला ने अपने लालची शौहर के मुंह पर तमाचा मारा। आखिर वह गरीब चांटा खाकर भाग खड़ा हुआ और तलाक के सिवा कोई सूरत नजर न आई। मगर खुसरो फरमाते हैं कि मजनूं की शादी नूफल की लड़की से हुई। नूफल शायद मजनूं के कबीले का सरदार था। उसे मजनूं की परेशानी पर तरस आया। मजनूं की तरफ से लैला के बाप के पास शादी का पैगाम भेजा और इंकार की हालत में लड़ाई की धमकी दी। लैला का कबीला भी लड़ाई में एक ही था। लड़ाई हुई और लैला का बाप हारा। मगर जब उसके कबीले वालों ने इस मार-काट को ख़त्म करने के लिए लैला को मार डालना चाहा तो मजनूं

बेताब हो गया। उसने नूफल से दरख़्वास्त की कि ख़ुदा के वास्ते इस हंगामे को ख़त्म कीजिए।

आं तीर मज़न बदुश्मनां पेश
कज़ं वै दिले दोस्तां कुनी रेश

दुश्मनों पर वह तीर न चला जिससे दोस्तों का दिल ज़ख़्मी हो जाय।

चूं जामये बख़्ते मन कबूदस्त
अज़ कोशिशे मर्दुमा चे सूदस्त

चूंकि मेरी किस्मत का लिबास आसमानी है यानी मैं बदनसीब हूं, लोगों की कोशिश से क्या फायदा।

नूफल ने अपनी फौज हटा ली मगर उसकी बहादुरों-जैसी हमदर्दी ने यह न चाहा कि वह मजनूं को अपना दामाद बना ले। मजनूं ने रिश्तेदारों के समझाने और नूफल की बहादुरी से प्रभावित होकर यह शादी मंजूर कर ली। धूम-धाम से ब्याह हुआ मगर–

चूं शुद गहे आं कि खुर्रम ओ शाद
हम ख्वाबा शवंद सर्व ओ शमशाद

खुशी से भरी हुई घड़ी में सरो और शमशाद जैसे दूल्हा-दुल्हन एक कमरे मे सोने गये।

अज़ तख्ते शाही सुबुक फुरू जस्त
बर रूये ज़मी चू ख़ाक बनशस्त

मजनूं दुल्हन की सेज से नीचे कूदा और ज़मीन पर मट्टी की तरह बैठ गया।

मह दर पये आं कि शवद जुफ्त
दीवाना ज़े माहेनौ बर आशुफ्त

चांद जैसी दुल्हन इस फिक्र में कि अपने दूल्हे से मिले और मजनूं की ऐसी हालत जैसी नये चांद पर पागल का पागलपन और बढ़ जाता है।

अज़ बसके गिरीस्त सीना पुरताब
शुद नक्शे बिसात शुस्ता ज़ां आब

सीने की आग की बेचैनी से इस कदर रोया कि आंसुओं से फर्श के फूल बेल धुल गये।

लैला ने यह ख़बर सुनी तो बेचैन हो गई। उस वक्त शिकायत के ढंग पर एक चिट्ठी लिखी, कोमल भावनाओं से भरी हुई, कि मैं तुम्हारे नाम पर कसम खाये बैठी रहूं, तुम्हारे लिए रोऊं, तुम्हारे वियोग में जलूं और घर वालों के ताने सहूं और तुम वफादारी की शर्त को इस बेदर्दी से भुला दो।

मन बे तू चुनी बगम नशस्ता
अज़ हर चे बजुज़ तू रूये बस्ता

मैं तेरे गम में इस तरह बैठी हुई हूं और सिवा तेरे सबसे मुंह बांधे हुए हू।

चू साया रवद बराहे बा मन
फरके न कुनी ज़े साया ता मन

तू मेरे रास्ते में साये की तरह रहता है, मुझमें और मेरे साये में फर्क नहीं करता।

दीदी के ब मगरिज़े हलाकम
चूं बाद बरो शुदी ज़े ख़ाकम

तू देख रहा है कि मैं मरने के किनारे तक पहुंच गई हूं और तू मेरी खाक पर हवा की तरह गुज़र रहा है।

बेगाना सिफत ख़राम कर्दी
बेगानगी तमाम कर्दी

गैरों का रास्ता अख्तियार कर रहा है और परायेपन को तूने हद कर दी।

अकनूं ब विसाल खुफ्तये शाद
हमख़ाबये तू मुबारकत बाद

अब तू अपनी दुल्हन के साथ खुशी-खुशी सो रहा है, तुझे तेरे साथ सोने वाली मुबारक हो।

बाई हमा दोस्तदारी यारम
बा यारे तू नीज़ दोस्तदारम

मैं इन तमाम बातों पर भी तेरी दोस्त हूं और तेरी साथी की भी दोस्त हूं।

आं यार कि दोस्त दाश्त यारम
दुश्मन बुअदम अर न दोस्त दारम

वह दोस्त जो मेरे प्रेमी को दोस्त रक्खे अगर मैं उसे दोस्त न रक्खूं तो उसकी दुश्मन हूं।

गर तू ब कुनी ब मेह यादम
अज़ तरबियते गमे तू शादम

अगर तू मेहरबानी से मुझे याद करे तो तेरे गम में भी खुश हूं।

मजनूं तो आशिक ही थे उसका एक लंबा-चौड़ा जवाब लिखा। खूब रोये-गिड़गिड़ाये और मान लिया कि मैंने शादी की, मजबूर था, बेबस था मगर मैंने अगर उस माशूक की सूरत देखी हो तो मेरी आंखें फूट जायं। कैसा नाजुक शेर है—

मुर्गे कि परश बिरेख़्त अज़ तन
बेहूदा बुअद कफस शिकस्तन

वह चिड़िया जिसके पर उखाड़ दिये गये उसका पिंजड़ा तोड़ना फिजूल है।

यह खुसरो की रवायत है मगर हमारे खयाल में निजामी और हातिफी की रवायत ज़्यादा सही है। मजनूं अपने बाप को कई बार बेअदबी से जवाब दे चुका था। इस वक्त सिर्फ अदब की ख़ातिर उसका काबू में आ जाना मुमकिन नहीं मालूम होता। इसके विपरीत लैला औरत थी और अपने ज़िद्दी मां-बाप की ज़्यादा खुल्लम-खुल्ला मुख़ालिफत नहीं कर सकती थी। इसलिए जब मजनूं को मालूम हुआ कि लैला की शादी इब्ने सलाम से हो गई तो उसने एक दर्द से भरी हुई चिट्ठी लिखी थी। खुली खुली शिकायतें की थीं। तुम वादा तोड़ने वाली हो, दगाबाज़ हो, फरेबी हो।

दानी ब मनत चे वादहा बूद
हरगिज ब तू ईं गुमां कुजा बूद

तू जानती है कि मुझसे तूने क्या वादा किये थे, मुझे तुझसे यह उम्मीद कहां थी।

ऐ गंजे सुख़न दरोग वादा
वै दिलबरे बे फरोग वादा

ऐ बातों के खज़ाने, ऐ वादा न पूरा करने वाले, ऐ माशूक, ऐ वादा भूल जाने वाले।

गाहम ब सुख़न फरेब दादी
बा वादा गहे शकेब दादी

कभी तूने मुझे अपने वादों से तसल्ली दी और कभी अपनी बातों से धोखा दिया।

लैला ने इसका बड़ी गंभीरता से जवाब दिया और मजनूं की तसल्ली की। आजकल के उर्दू शायरी वाले माशूकों की तरह खंजर हाथ में न लिये रहती थी, वफा की शर्त और कायदे को जानती थी।

अफसानये कस न कर्दा अम गोश
पस खुर्दये कस न कर्दा अम नोश

मैंने किसी की बातों पर यकीन नहीं किया और न किसी का जूठा खाया है।

दानी कि मरा ब तू वयारे
दर बस तने अक्द इख़्तियारे

तू जानता है कि मेरी तुझसे दोस्ती है। अपनी शादी करने के लिए तुझे अख़्तियार है।

चीज़े कि बर इख़्तियारे मन बूद
ज़ां मुद्दइयत न गश्ता खुशनूद

जो चीज कि मेरे बस में थी उससे तेरा दुश्मन खुश न हुआ।

कम कुन ज़े शर्मसारम
मन खुद ज़े तू इन्फेआल दारम

ज़्यादा गुस्सा न हो, मैं शर्मिंदा हूं। मुझे खुद तुझसे संकोच होता है।

इश्क की बीमारी बढ़ती गई। पहले तो कैस ही मजनूं थे अब लैला भी मजनूं (पागल) बनी। शर्म और हया की रोक-थाम कम हुई। उसने एक दिन सपना देखा कि मजनूं आया है और बहुत दर्दभरे, दिल के टुकड़े कर देने वाले अंदाज में अपनी गम की दास्तान सुना रहा है। रोता है और उसके तलुओं से आंखें मलता है। यह सपना देखते ही बेचैनी के मारे लैला की आंख खुल गई। उसने दिल को फूंक देने वाली एक आह भरी और सुबह होते ही शर्म-हया पर लात मारकर अपने ऊंट पर सवार होकर नज्द का रास्ता लिया और पगलों की तरह मजनूं को ढूंढ़ने लगी। आह, इस आग ने मजनूं को बिल्कुल घुला डाला। ऐसा कमजोर हो गया था कि लैला उसे पहचान न सकी। घुटनों पर सर झुकाए, एक चट्टान का तकिया बनाए, खुले मैदान में, जहां न कोई पेड़ न छाया, वह बैठा हुआ था। उसकी मुहब्बत का ही

असर था कि जंगल के खूनी जानवर हिरनों के साथ उसके आस-पास बैठे थे। ऊंट इन जानवरों को देखते ही भागा मगर लैला फुर्ती से कूद पड़ी और जानवरों के बीच में से निर्भय निकलकर मजनूं के पास खड़ी हो गई और उसकी सेवा-शुश्रूषा करने लगी।

आं सर के बख़ाके रह फितादश
बर ज़ानुए ख़ेश्तन निहादश

वह सर जो रास्ते की खाक पर पड़ा था उसे अपनी जांघ पर रक्खा।

अश्क अज़ रुख़े गरीब गमनाक
मी कर्द ब आस्तीने खुद पाक

अपनी आस्तीन से उस गरीब गम के मारे के चेहरे से आंसू पोंछे।

मजनूं को दोस्त की निकटता ने अधीर कर दिया। लैला उसकी अधीरता से प्रभावित होकर बोली—

ऐ आशिके ज़ार गमगुसारम
मकसूदे तू चीस्त ता बरारम

ऐ मेरा गम खाने वाले आशिक, बता तू क्या चाहता है। तेरी कोई ख्वाहिश ऐसी नहीं जिसे मैं पूरा न कर सकूं।

आं बेह के दिहेम दस्त बाहम
वां गह ब निहेम सर ब आलम

यह अच्छा होगा कि हम-तुम (हमेशा के लिए) एक दूसरे का हाथ थाम लें और फिर दुनिया में रहें।

यह लहज़ा जुदा न बाशेम
ब हेचकस आशना न बाशेम

पल भर को भी जुदा न हों और दूसरे किसी से कोई मतलब न रक्खें।

मगर मजनूं को इश्क और रोने-धोने से काम था। शायद लैला से मिलने और उसकी सूरतें निकालने की तरफ उसका खयाल ही नहीं गया था। तड़पना और जलना उसकी तबियत बन गई थी। इस मौके पर शायरों में कुछ मतभेद हो गया है। हजरत खुसरो कहते हैं—

आसूद दो मुर्ग पर दर यके दाम
वामीख़्त दो बादा दर यके जाम

दो बुलबुलें एक जाल में ऐसी खुशी से मिल गईं कि जैसे एक प्याले में दो शराबें मिला दी हों।

दर सुब्ह बहम दमीदा अज दूर
दो शोलारा यके शुदा नूर

दूर से सुबह की रोशनी चमकी और दो शोलों से एक नूर पैदा हो गया।

मगर हजरत निज़ामी और हातिफी ने मजनूं की इश्क की इज्जत बहुत ऊंची कर दी है। चुनांचे इस मौके पर हातिफी ने मजनूं के पाक दामन पर धब्बा नहीं लगाया। ख़याली इश्क को अमली मैदान में कदम नहीं रखने दिया। मजनूं को उस

वक्त लैला की बदनामी का खयाल आया। सारी ज़िंदगी उसे बदनाम करने में ख़र्च की, खुद भी दुनिया के ताने सहे और उस पर उंगलियां उठवाईं मगर उस वक्त विरोधियों का डर आड़े आ गया, बोले–

आं बे कि निहां ज़े ईनो आनत
नज़दीके पिदर बरम रवानत

यह अच्छा है कि मैं तुझे बहुत पर्देदारी के साथ तेरे बाप के पास ले चलूं।

दस्तम न दिहद अगर विसालत
काने शवम अज़ तू बा ख़यालत

अगर वे तुझे मेरे साथ रखने पर खुश न हों तो न सही। मैं तेरे खयाल ही से खुश रहूंगा।

ज़ीं पस मनम ओ ख़याले तू ऐ दोस्त
ता दस्त दिहद विसालत ऐ दोस्त

और इसके बाद फिर जब तक ऐ दोस्त, तू मुझसे न मिले मैं हूं और तेरा खयाल।

लैला अपने घर लौट आई। आशिक की इससे ज़्यादा और क्या खातिर की जा सकती थी। कुछ दिनों तक वे दोनों इसी गम में घुलते रहे। मजनूं अब आशिकाना शेर कहकर अपने दिल की आग बुझाने लगा और उन शेरों में दर्द और दिल की तड़प का ऐसा असर होता था कि सुनने वालों के कलेजे मुंह को आ जाते थे। इश्क अपनी आखिरी हद तक पहुंच चुका था, वह इश्क जो आप अपनी मंजिल हो, वह इश्क जो दोस्त की मुलाकात की हदों का पाबंद न हो, उसका अंजाम और क्या हो सकता था। हातिफी कहता है, लैला ने सपना देखा कि मजनूं मर गया और उसी दिन उसे मारे गम और बेचैनी के बुखार आ गया। इस बुखार की आग ने दिल की जलन के साथ मिलकर उसका काम तमाम कर दिया। उसके मुकाबले में खुसरो की यह रवायत ज़्यादा सही मालूम होती है कि एक दिन लैला बेचैन होकर अपनी कुछ सहेलियों के साथ एक बाग की तरफ निकल गई। घर पर किसी तरह चैन ही न आता था। बाग में वह जमीन पर बैठी हुई अपने दर्द व गम की दास्तान सुना रही थी कि इसी अर्से में मजनूं के एक हमदर्द और दोस्त उधर आ निकले। जवान लड़कियों का यह जमघट देखा तो लैला को पहचान गए। इस खयाल से कि देखें मजनूं के पागलपन ने लैला के दिल पर भी कुछ असर किया है या नहीं, आपने मजनूं की एक दर्द-भरी गजल गानी शुरू की। लैला ने सुनी तो जिगर के टुकड़े-टुकड़े हो गए। दीवानों की तरह उठी और उस गजल गाने वाले के पांव पर अपने गाल रख दिए और मजनूं की खबर पूछी।

जा गमज़दा कीं तराना रानी
मारा खबरे देह अर्तवानी

जिस गम के मारे हुए का यह गीत है, अगर हो सके तो, उसका हाल भी बयान कर।

वह हज़रत इश्क और आशिकी के भेदों के वाकिफ न थे, अपनी उसी इम्तहान

लेने की धुन में बोले—मजनूं तो चल बसे।

दिल रा ब तू दादा बूद आज़ाद
जां नीज़ बबेदिली ब तू, दाद

उसने दिल तो तुझे आज़ादी से दे ही दिया था, आखिरकार जान भी तुझे ही दे दी।

ताज़ीम्त नजर बसूए तू दाश्त
चूं मरहमे आर्ज़ूए तू दाश्त

उसने मरते दम तक तेरा रास्ता देखा क्योंकि तू उसकी उम्मीदों का मरहम रखती थी।

लैला यह दिल छेद देने वाली खबर सुनते ही पछाड़ खाकर गिरी और घायल परिंदे की तरह तड़पने लगी। मियां ग़ज़ल गाने वाले बहुत शर्मिंदा हुए और चाहा कि इस घाव को खुशी की खबरों से भर दें—मजनूं अभी जिंदा हूं, नज्द में उसकी दर्दभरी आवाज अब भी सुनाई दे रही है, मैंने तो परखने के लिए झूठ मूठ कह दिया था। मगर इन बातों का लैला के दिल पर कुछ असर न हुआ, रूह को ऐसा सदमा पहुंचा कि सभल न सकी। घर पहुंचते पहुचते बुखार आया और हालत बिगड़ गई और मौत के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। मरते वक्त उसने अपनी मां को बुलाया और उससे बेअदबी और अपनी शरारतों की माफी मागने के बाद यह आखिरी गुजारिश

चू अज पये मरकदे निहानी
पोशी ब लिबासे आ जहानी

जब तू मुझे कब्र में रखने के लिए उस दुनिया का लिबास पहनाए।

अज़ दामने चाक यारे दिल सोज
यक पाग बियार ओ दर कफन दोज

तो मेरे दिल जले दोस्त के दामन का एक टुकड़ा भी कफन में सी देना।

ता बाखुद अजां मुसाहिबते पाक
पैवन्दे वफा बरम तहे खाक (खुसरो)

ताकि मैं उस पाक दोस्त के साथ वफादार रहने का रिश्ता खाक में भी ले जाऊं।

रोजे कि बकस्रे जाविदानी
रू आरम अजीं सराये फानी

जिस दिन कि अपने उस हमेशा कायम रहने वाले महल यानी कब्र में इस सराय फानी दुनिया से जाऊं।

आवाज देह आं असीरे मारा
वां कुश्तये जख्मे तीर मारा

तू मेरे उस कैदी, मेरे तीर के जख्मी को आवाज देना।

अहवाल मरा चुना के दानी
गोई बतरीके तर्जुमानी

और जैसा कि तू मेरी हालत को जानती है ज्यों ही त्यों उससे कह देना।

बरगोई कि शमअे जां गुदाज़ां
वै चश्मो चिरागे इश्कबाज़ां

और कहना कि ऐ जान पिघलाने वालों के चिराग, ऐ इश्क वालों की आंख के नूर--

लैला ज़े गमे तू रफ्त दर खाक
पाक आमद ओ रफ्त हम चुनां पाक

लैला तेरे गम में खाक में चली गई। वह जैसी पाक आई थी वैसी ही पाक चली गई।

संगेश कि बरसरे मज़ारस्त
अज़ कोहे गमे तू यादगारस्त

वह पत्थर जो उसकी कब्र पर है वह तेरे गम के पहाड़ की यादगार का एक टुकड़ा है।

मजनूं ने जब यह जान-लेवा खबर सुनी तो सर के बाल नोचता, रोता-पीटता लैला के मकान की तरफ दौड़ा। उस वक्त लैला का जनाज़ा जा रहा था। अपने-पराए जनाज़े के पीछे थे। मजनूं जनाज़े के आगे-आगे हो लिया और हंसता, गजलें गाता चला। मौत की खुशी इसी को कहते हैं।

आशिक कि नज़्ज़ारए चुनां दीद
बरदाश्त कदम कि हम इनां दीद

आशिक ने यह सीन देखा, कदम उठाए कि अपने दोस्त को साथ देखा।

दर पेश जनाज़ा रफ्त ख़न्दां
नै दर्द नै दागे दर्दमन्दां

जनाज़े के आगे-आगे हंसता हुआ, चला, न अपना गम और न गम खाने वालों का खयाल।

नज़्म अज सरे वज्द हाल मी ख़्वांद
खुश खुश गज़लें विसाल भी ख्वांद

जोश के साथ शेर पढ़ता और बहुत खुश होकर पिया मिलन की गज़ल गाता था।

इस ढंग स वह कब्र तक गया। जब रिश्तेदारों ने लैला की लाश कब्र में रक्खी तो मजनूं कूदकर अंदर बैठ गया। लोग उसकी इस तहज़ीब के खिलाफ हरकत पर आग हो गए। तलवारों के वार किए कि छोड़कर भाग जाए मगर वहां मजनूं कहां था, सिर्फ उसकी खाक थी। आखिर एक दुनिया छान हुए बुज़ुर्ग ने उन बेअक्लों को समझाया।

कीं कार न शहवतो हवाईस्त
सिर्रे ज़े खज़ीनये खुदाईस्त

यह काम झूठे इश्क और दिखावे की चाह का नहीं है, यह तो एक भेद है खुदा के खज़ाने का।

वर्ना बहवस कसे न जूयद
कज़ जाने अज़ीज़ दस्त शूयद

वर्ना झूठे इश्क में कोई अपनी प्यारी जान से हाथ नहीं धोता।

खुशवक्त कसे के अज़ दिले पाक
दर राहे वफा चुनी शवद खाक

भाग्यवान है वह आदमी जो पाक दिल के साथ वफा की राह में इस तरह ख़ाक हो जाए।

गर आशिकी ईं मुकाम दारद
तकवा ब जहां चे नाम दारद

अगर इश्क यह मुकाम रखता है तो दुनिया में तकवा यानी पाक ज़िंदगी गुज़ारना और किस चीज़ का नाम है।

ता हर दो न दर मुग़ाक बूदन्द
ज़े आलाइशे नफ्स पाक बूदन्द

यहां तक कि दोनों खाक का ढेर ही नहीं हुए बल्कि दिल की सारी गदगियों से पाक हो गए।

[illegible] मी कुनद हाले ज़ेशां
दर गर्दने मा वबाल एशां

उनसे हमारा हाल परीशान और गर्दन भारी है।

इस तरह इश्क की यह अमर कहानी खत्म होती है। इसमें कथा की न मौलिकता है न खयालों की बुलन्दी। मगर मजनूं का कैरेक्टर जैसा कि शायरों ने खींचा है खयाली होने पर भी दिलचस्प है। निज़ामी ने तो इन दोनों प्रेमियों को खुदा के गहरे दोस्तों की महफिल में बिठाया है और उनका ज़िक्र बड़े अदब और इज़्ज़त से करते हैं। उनका मजनूं बहुत पाक और ऊंचे कैरेक्टर का आदमी है जिसका इश्क बेखोट और दिल की बुराइयों से साफ-सुथरा है। पागल और मस्त था मगर उसने इंसानियत की हद से बाहर कदम न रक्खा। जब कभी आशिक और माशूक मिले हैं उन्होंने इज़्ज़त-आबरू की शर्तों की बड़ी सख़्ती से पाबंदी की है। अलबत्ता खुसरो ने इस कैरेक्टर को इंसानी कसौटी की तरफ खींचा है। इसमें ज़रा भी शक की गुंजाइश नहीं कि मजनूं शारीरिक प्रेम की मंज़िलें तय करके आध्यात्मिक प्रेम तक पहुंच गया था जहां 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं रहा।

आं सालिके इश्क कामिले बूद
दीवाना न बूद आकिले बूद

वह इश्क की राह का पहुंचा हुआ मुसाफिर था। पागल न था, अक्लवाला था।

दाग़श न ज़े आतशे फतीला
दर्दश न जे गुलरुखे कबीला

उसका दाग आग न था और उसका दर्द यानी इश्क फूल जैसी सूरत वालों से न था।

सरमस्त न अज़ शराबे अंगूर
दर रक्स न अज़ सदाये तंबूर

वह अंगूर की शराब से मस्त न था और सितार की आवाज़ पर नहीं झूमता था।

बेहोश ज़े बादये दिगर बूद
अज़ जामे मुराद बेखबर बूद

वह किसी और ही शराब से बेहोश था और अपनी मुराद की शराब के प्याले से चूर था।

आं रफअते शां कि दाश्त मजनूं
बूद अज़ दर्जाते अक्ल बेरूं

मजनूं जो ऊंची शान रखता था वह अक्ल की पहुंच से बाहर है।

प्रेम एक बड़ा कोमल भाव है जो इंसान को नर्मदिल बना देता है। जिस वक्त नूफल लैला के कबीले से लौट रहा था और मजनूं ने मार-काट का बाज़ार गर्म देखा तो उसका दिल पसीज गया। उसने फौरन लड़ाई बंद करवा दी। एक बार उसने माली को सरो का पेड़ काटते देखा और उसे अपनी कीमती अंगूठी देकर पेड़ को आरे की तकलीफ से बचाया। इसी तरह बहेलिए को कई हिरन जाल में फंसाए लाते देखा और उसे अपना घोड़ा देकर उन बेज़बानों की जान बचाई।

गर्दन मज़नश कि बेवफा नीस्त
दर गर्दने ऊ रसन रवा नीस्त

उनकी गर्दन न मार क्योंकि वह बेवफा नहीं हैं और उनकी गर्दन में रस्सी डालना मुनासिब नहीं है।

जब लैला की इब्ने सलाम से शादी हो चुकी थी तो एक दिन मजनूं उसे देखने के शौक से बेताब होकर लैला के घर चला आया। लैला ने झरोखे से उसे देखा तो बोली, "तुम इस तरह अपनी जान खतरे में क्यों डालते हो?" मजनूं अपना दुखड़ा रोने लगा कि इतने में इब्ने सलाम को खबर हो गई। भरा बैठा ही था। तलवार लिए गरजता हुआ आ पहुंचा और चाहा कि एक ही वार में पागलपन के साथ सर भी खत्म कर दे। मगर उसका हाथ ऊपर का ऊपर उठा रह गया। दूसरे हाथ में तलवार ली। उसकी भी वही गति हुई। शर्मिंदा होकर मजनूं के पैरों पर गिर पड़ा और माफी चाही कि मदद कीजिए, मैं तो किसी काम का न रहा। मजनूं ने जवाब दिया—

आज़ार कस्मां मसाज पेशा
काज़ुर्दगीयत रसद हमेशा

लोगों को तकलीफ न पहुंचा क्योंकि इससे तुझे हमेशा तकलीफ पहुंचती रहेगी।

और वहां से चला आया। बंदिश के लिहाज से यह दास्तान जुलेखा की दास्तान से ज़्यादा कद्र के काबिल नहीं मगर इसके प्रेम का स्थान बहुत ऊंचा है। प्रेम की असफलता फारसी शायरों का तरीका है और मजनूं से ज़्यादा अच्छी इसकी कोई मिसाल नहीं।

[उर्दू लेख। 'कैसे' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', जनवरी, 1913 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

कालिदास की कविता

यों तो संस्कृत साहित्य की आज तक थाह नहीं मिली। एक सागर है कि जितना डूबो उतना ही गहरा मालूम होता है। मगर तीन कवि बहुत प्रसिद्ध हैं—वाल्मीकि, व्यास और कालिदास। इनकी कृतियां एक-एक युग का संपूर्ण इतिहास हैं और यही उनकी ख्याति का आधार है। वाल्मीकि सबसे पुराने थे। उनकी कविता में कर्त्तव्य और सच्चाई का रंग प्रधान है। व्यास, जो उनके बाद हुए, अध्यात्म और भक्ति की ओर झुके और कालिदास ने सौंदर्य और प्रेम को अपना क्षेत्र बनाया। रामायण वाल्मीकि की और महाभारत व्यास की लोकप्रिय पुस्तकें हैं और ये दोनों हिन्दू धर्म का अंग बन गई हैं। मगर कालिदास को हम कुछ भूल-सा गए थे और अगर अंग्रेज़ी विद्वानों और लेखकों ने हमारा मार्ग-दर्शन न किया होता तो हम शायद अब तक इस अमर कवि को गुमनामी के कोने में पड़ा रहने देते। कालिदास की इस वक्त जो कुछ चर्चा है वह अंग्रेज़ी शिक्षा की देन है। कई शताब्दियों के बाद कालिदास का सितारा चमका है और आज उसके जीवन, युग और कृतियों पर अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में बहुत खोज और विद्वत्तापूर्ण लेख लिखे जा रहे हैं। हिन्दुस्तान और यूरोप में एक से उत्साह के साथ उसके संबंध में खोजबीन की जा रही है, यद्यपि अभी तक प्रामाणिक रूप से उसके जीवन के संबंध में सामग्री प्राप्त नहीं हुई।

कालिदास की कविता संक्षेप में कोमल भावनाओं और अलंकृत कल्पनाओं की कविता है। पुराने कवियों की कविता में सादगी और सहजता का रंग विशेष होता है, उपमाएं और रूपक सर्वसुलभ, भावनाएं सच्ची मगर सादा, वर्णन शैली सरल। और यही कारण है कि साधारण लोगों में पुराने कवियों को जो लोकप्रियता प्राप्त होती है उस पर बाद के कवि सदा ईर्ष्या किया करते हैं क्योंकि उनकी कविता, जिसे काव्य-रुचि की आवश्यकताएं और युग की परिस्थितियां रंगीन, सूक्ष्म और उलझा हुआ बना देती हैं, साधारण लोगों की समझ से बाहर होती है। मगर बाद के कवियों में अनुकरण, कृत्रिमता और विषयों की दरिद्रता की जो सर्वसामान्य दुर्बलता पाई जाती है कालिदास की कविता उससे बिल्कुल अछूती है। रंगीनी और सूक्ष्मता के साथ उनकी कविता में वही सरलता, वही विषयों की नवीनता और वही कल्पनाओं की बाढ़ मौजूद है जो प्राचीन कवियों की कविता में पाई जा सकती है। उसकी प्रतिभा कविता की हर शैली का रंग में एक-सी समर्थ है। उसकी नाच-गाने की महफिलें निज़ामी को शर्मिन्दा कर देती हैं और लड़ाई के मैदान में फिरदौसी की कल्पना का घोड़ा भी ऐसी उड़ानें नहीं भरता। सिर्फ 'मेघदूत' में सौंदर्य और प्रेम, संयोग और वियोग की भावनाएं इतनी अधिक मात्रा में मिलती हैं कि उन पर किसी भाषा की कविता को गर्व हो सकता है। उसकी एक एक कल्पना पर काव्यमर्मज्ञ चकित रह जाते हैं। पहले दिन पर एक नर्म असर होता है और फिर फौरन भावों की सूक्ष्मता, विचारों की विविधता और वर्णन के सौंदर्य को देखकर आश्चर्य होने लगता है। हमारे उर्दू के प्रेमियों ने प्रातः समीर को दूत बनाया। मीर ने सबसे पहले ये सेवा प्रातः समीर को सौंपी और दाग को भी इससे अधिक

गतिशील और वाणी-निरपेक्ष कोई दूत दिखाई न पड़ा। दो शताब्दियों तक प्रात:समीर ने यह सेवा की और अब भी उसका गला न छूटा। मगर कालिदास ने एक नया दूत ढूंढ़ निकाला। वह मेघ को अपनी व्यथा की कहानी सुनाता है। ऐसी ही अछूती बातों से उसकी कविता भरपूर है। संस्कृत कवियों का यह एक विशेष गुण है कि वे अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यों की खूब चाशनी देते हैं। उनकी कवि-कल्पनाएं सदाबहार फूलों और पत्तियों से सजी हुई नज़र आती हैं। कालिदास में यह गुण अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया है। फूल-पत्तियों का जिस खूबसूरती और अछूतेपन से उसने प्रयोग किया है वह संस्कृत में भी किसी दूसरे कवि को सुलभ नहीं हुआ। उसकी उपमाएं नई-नई कोंपलें हैं और रूपक महकते हुए रंग-बिरंगे फूल। यह ठीक है कि उर्दू और फारसी के कवियों ने बेल-बूटों का इस्तेमाल किया है मगर उनके फूल-पत्ते मुर्झाए हुए, बेरंग और बेमज़ा हैं। उनकी कल्पना की उड़ानें उन्हें आसमान पर उड़ा ले गईं और वहां ज़ोहल व अतारिद, ज़ोहरा व मुश्तरी जैसे नक्षत्रों से उनका परिचय करा दिया, यहां तक कि अब किसी फारसी कसीदे को समझने के लिएं ज्योतिष और अंतरिक्ष-विज्ञान का जानना जरूरी है। संस्कृत कविता इतने ऊंचे न उड़ सकी मगर उसने इसी दुनिया की हर चीज़ को खूब गौर से देखा-भाला और उसका अध्ययन किया। वह किसी मीनार की तरह ऊंची नहीं बल्कि एक हरे-भरे मैदान की तरह फैली हुई है जिसमें हिरन किलोलें करते हैं, रंग-बिरंगे पंछी चहचहाते हैं, हरियाली लहलहाती है और दर्पन-जैसे पानी के सोते बहते हैं। मतलब यह कि संस्कृत कविता को तीनों लोकों से समान रुचि है। वह जिस दुनिया में पैदा हुई है उसी दुनिया की हर चीज़ से परिचित है और यह सिर्फ शकुन्तला नाटक का पहला पार्ट पढ़ने से इस खूबी के साथ प्रकट हो जाता है जिसे बयान नहीं किया जा सकता। हिरन और भौंरा, माधवी और केतकी, कदंब और नीम, ये सब हमारे सामने आते हैं, बेजान चीजों की तरह नहीं, कवि ने उनमें एक जान डाल दी है, उन सब में प्रकृति की संवेदना का समान अंश है। इसी सीन को पढ़कर प्रसिद्ध कवि गेटे विभोर हो गया था, और वह भी केवल अंग्रेजी अनुवाद के अध्ययन से। और अब इस बात को सिद्ध करने के लिए ज्यादा दलीलों की ज़रूरत नहीं है कि वह नशे का सा असर जो संस्कृत कविता हमारे दिलों पर पैदा करती है, किसी दूसरी भाषा की कविता के सामर्थ्य से परे है, विशेषतया उर्दू कविता के जिसकी उपमा उन पौधों से दी जा सकती है जो अक्सर बागों में बनावटी ज़िंदगी बसर करते नज़र आते हैं, मुर्झाए हुए पत्ते, निर्जीव पीला रंग, सिमटी हुई शाखें, न फल न फूल। फारस का पौधा हिन्दुस्तान में लगाया गया, न वह ज़मीन न वह आबहवा, न देखने से आंखों को ताज़गी होती है न दिल को खुशी। जहां तक उपमाओं और दृश्य-चित्रण का संबंध है उर्दू कविता बड़ी हद तक कृत्रिमता और अवास्तविकता की एक पिटारी है। संस्कृत कवियों के दृश्य और भावनाएं सब इसी धरती की हवा-पानी से बनी हैं और यही उनकी प्रभावोत्पादकता का रहस्य है। देखिए कालिदास वर्षा ऋतु में शहद की मक्खियों का शहद जमा करना किस नर्मी और खूबसूरती से दिखाता है—

तलाशे शह्द में हैं मक्खियां सुबुक परवाज़
मगर मिज़ाज़ में ये सादगी के हैं अंदाज़
कि नाचते कहीं आते हैं जब नज़र ताऊस
फिजाये दश्त में फैलाये बाल-ओ-पर ताऊस
तराने गाती हुई जब करीब आती है
कंवल के फूलों के धोखे में बैठ जाती है।
महक रही है हवा केतकी के फूलों से
बसी हुई है सबा केतकी के फूलों से
हर एक रविश पे है जमघट परीजमालों का
अजब बनाव है फूलों के गहने वालों का
चमन में करती हुई सुब्हदम गुलअफशानी
लचक लचक के है पौदों को दे रही पानी
कहीं कदम के दरख्तों पर छा रही है बहार
हरे हरे किसी जानिब हैं नीम के अशजार

सरो, शमशाद और सनोबर के मुकाबले में कदम्ब और नीम और केतकी कैसे अपने जान पड़ते हैं।

कविता की इन खूबियों के अलावा कालिदास ने मानव चरित्र को भी बड़ी गहरी आंखों से देखा था। मानव-स्वभाव के उलट-फेर का उसे पूरा ज्ञान था। किन बातों से आदमी के दिल में कैसी भावनाएं और विचार पैदा होते हैं वे उसने आश्चर्यजनक वास्तविकता के साथ दिखलाए हैं। उसके नाटक मानव चरित्र के चित्र हैं जिनके अंग-प्रत्यंग के संतुलन, रंगों की उपयुक्तता और चेहरे-मोहरे की सुघरता की तारीफ पूरी तरह नहीं की जा सकती। और इश्क की घातें और मुहब्बत के इशारे तो उसने ऐसी नज़ाकत के दिखाए हैं जो काव्य-रसिकों को मुग्ध कर देते हैं। इस रंग में कोई उसका प्रतिद्वंदी है न उसकी बराबरी का दावा करने वाला वह इस रंग का उस्ताद है, गोकि यह सच है कि कभी कभी उसका कलम अपनी शोखी में हद से आगे बढ़ गया है। क्योंकि वह स्वच्छंद स्वभाव का आदमी था। मगर इसमें कोई संदेह नही कि उसने दाम्पत्य ही को प्रेम की सबसे ऊंची कसौटी माना है। 'मेघदूत' में विरही यक्ष जिस प्रेमिका की याद में तड़पा है वह उसकी पत्नी थी। 'ऋतुसंहार' में भी जहां-तहां इसके संकेत हैं—

वो महवशें जो बदलती हैं करवटें शब भर
रुला रही है लहू जिनको दूरिये शौहर
बरस रही है उदासी अब उनकी सूरत पर
जिगर की आग कयामत है इक कयामत पर

कालिदास आमतौर पर हिन्दुस्तान का शेक्सपियर कहा जाता है और इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं। दुनिया में सिर्फ शेक्सपियर ही ऐसा कवि है जिसकी उससे तुलना की जा सकती है। दोनों नाटककार हैं, दोनों मानव-हृदय के मर्मज्ञ। उनकी कल्पनाएं उनकी बादंशें बहुत जगहों पर लड़ गई हैं। एक ही कवि-मन प्रकृति की ओर से

दोनों को मिला था। किसी चीज़ को जिस निगाह से शेक्सपियर देखता है उसी निगाह से कालिदास भी उसे देखता है। व्यथा और शोक, निराशा और प्रतिशोध, प्रेम और वियोग में आदमी के दिल में कैसी भावनाएं लहरें मारती हैं, इसको जिस खूबी से शेक्सपियर ने दिखाया है, उसी रंगीनी के साथ कालिदास ने भी दिखाया है। शेक्सपियर के जितने कैरेक्टर हैं वह सब एक दूसरे से भिन्न हैं। हर एक में कोई न कोई अपनी विशेषता है। कालिदास के कैरेक्टरों की भी यही स्थिति है। शेक्सपियर के मैकबेथ, ओथेलो, रोमियो, जूलियट की तस्वीरों को कालिदास के दुष्यंत, शकुन्तला, प्रियंवदा की तस्वीरों के मुकाबले में रखने से साफ मालूम हो जाता है कि इन दोनों कवियों को मनुष्य की प्रकृति का कैसा ज्ञान था। शेक्सपियर और कालिदास में अगर कुछ अंतर है तो यह है कि शेक्सपियर को मानव-चरित्र के चमत्कार दिखाने में अधिक कौशल है और कालिदास को प्रकृति के चित्रण में। शेक्सपियर को मानव-स्वभाव के भीतर जो पहुंच थी वही कालिदास को प्रकृति के चमत्कारों में थी। इसीलिए शेक्सपियर का साहित्य गंभीर है और कालिदास का रंगीन। शेक्सपियर जिस तरह अपने पहले और बाद के कवियों से बड़ा है उसी तरह कालिदास के साहित्य की रंगीनी और नर्मी संस्कृत में बेजोड़ है।

कालिदास की कविताओं और नाटकों से प्रकट होता है कि वह काव्य-शिल्प और पिंगल आदि के ज्ञान के अलावा विभिन्न शास्त्रों और कलाओं में भी सिद्ध थे। उनके साहित्य में जगह-जगह दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वह सांख्यदर्शन और योग पर अधिकार रखते थे। वह शिव के उपासक थे मगर उनका विचार वेदांत की ओर झुका हुआ था। आत्मा और परमात्मा, शरीर और प्राण, माया और संसार आदि पेचीदा आध्यात्मिक प्रश्नों पर उन्होंने अपने साहित्य में बड़ी स्वतंत्रता के साथ विचार किया है। ज्योतिष की इस युग में बड़ी चर्चा थी। उज्जैन इस विद्या का उन दिनों केन्द्र था। वराहमिहिर, जो बड़ा प्रसिद्ध ज्योतिषी हुआ है, कालिदास के मित्रों में था और इसमें अब कोई संदेह नहीं हो सकता कि कालिदास को इस विद्या का प्रकांड ज्ञान था। उन्होंने खुद ज्योतिषी पर एक मार्के की किताब लिखी है जो आज तक चलती है। उनका भौगोलिक ज्ञान भी बहुत विस्तृत था। उन्होंने हिन्दुस्तान के हर कोने में सफर किया था। मेघदूत में उनके भौगोलिक ज्ञान का काफी प्रमाण मिलता है। जहां कहीं समुद्री दृश्य चित्रित किए हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि वह किसी आंखों-देखे दृश्य की तस्वीर खींच रहे हैं। प्रकृति-विज्ञान में भी उनकी दृष्टि गहरी और ठीक थी। ज्वार-भाटा, तूफान, चन्द्र, और सूर्य-ग्रहण आदि प्रकृति के चमत्कारों के संबंध में उन्होंने जो चर्चा की है, उनसे मालूम होता है कि उनके बारे में उन्हें वही ज्ञान था जिस पर आज के वैज्ञानिक एकमत हैं। और राजनीति के तो वे जैसे एक सागर थ। 'रघुवंश' में शुरू से आखिर तक राजाओं ही का ज़िक्र है। इसमें सैकड़ों ऐसे प्रसंग हैं जिनसे पता चलता है कि उन्हें राजनीति का पूरा ज्ञान था। राजा किसे कहते हैं? उसका क्या धर्म है? प्रजा के साथ उसका कैसा बर्ताव होना चाहिए? प्रजा के उस पर क्या अधिकार हैं? इन बातों को जैसा कुछ कालिदास समझते थे शायद आज बड़े-बड़े बादशाहों को भी वह ज्ञान न होगा। कहने का मतलब

यह कि कालिदास एक अत्यंत गुणी व्यक्ति, सिद्धहस्त कवि और ज्ञान का सागर था। उसकी बुद्धि के विस्तार पर हमको आश्चर्य होता है। उपमाओं में दुनिया का कोई कवि उससे आंखें नहीं मिला सकता। उसकी उपमाएं ऐसी उपयुक्त, ऐसी सटीक, ऐसी सजीव हैं कि अगर उन्हें श्लोक में से निकाल दीजिए तो श्लोक बिल्कुल नीरस और फीका हो जाता है। प्रकृति का कोई ऐसा चमत्कार नहीं जिससे उसने उपमा न ली हो। यह ठीक है कि हिन्दुस्तान को उसकी जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है मगर सच तो यह है कि वह हिन्दुस्तान का नहीं बल्कि सारी दुनिया का कवि है। हिन्दुस्तानियों को उसके काव्य से जो आनंद प्राप्त हो सकता है वही किसी दूसरे देश के आदमी को हासिल हो सकता है। उसके लिए दुनिया कविता की एक पिटारी थी। जिस चीज़ पर निगाह डाली है उसे अपनी कविता का आभूषण बना लिया है। वेद, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि विधायें जिन्हें कवि रूखा-सूखा समझते थे और जिनका कविता से कोई संबंध नहीं बतलाया जाता वह कालिदास की कविता के अहाते में आकर कुछ और ही रंग-रूप अख्तियार कर लेती है। पदार्थ जगत् को कविता के आभूषण से सजाने वाला, ठूंठ पेड़ों और वीरान खंडहरों में वह मज़ा पैदा करने वाला जो हरे-भरे पेड़ों और सजे हुए महलों से न मिल सके, ऐसा समर्थ कवि दुनिया में दूसरा नहीं पैदा हुआ और जब तक कविता के मर्मज्ञ और सौंदर्य-रसिक बाकी रहेंगे तब तक कालिदास का नाम कायम रहेगा। वह संस्कृत कविता का पूरनम का चांद है और जिस व्यक्ति में कविता की जितनी ही रुचि और सच्ची परख है वह कालिदास की कविता से उतना ही आनंद उठा सकता है।

कालिदास की कृतियां, जिनका अब तक पता चला है, संख्या में सोलह हैं मगर उनकी ख्याति और लोकप्रियता जिन पुस्तकों पर आधारित है वे सात से ज़्यादा नहीं, और इन सातों में कोई एक पुस्तक भी उसकी अमरता के लिए काफी है। इन सात तारों के चार अंग चार काव्य हैं—1. रघुवंश, 2. कुमारसंभव, 3. मेघदूत, 4 ऋतुसंहार। और बाकी तीन वे नाटक हैं जिन्होंने कलाविदों को आश्चर्य में डाल दिया है—1 शकुन्तला, 2 विक्रमोर्वशी, 3. मालविकाग्निमित्र। सभ्य संसार में इन पुस्तकों का जो कीर्ति मिली है वह शायद ही किसी दूसरे कवि को नसीब हुई हो। यूरोप की अधिकांश भाषाओं में उनका अनुवाद हो जाना, उनकी लोकप्रियता का सशक्त प्रमाण है। हिन्दुस्तान की लगभग सब भाषाओं में भी उनके अनुवाद हो गए हैं। नाटकों की लोकप्रियता का हाल यह है कि वह यूरोप और अमरीका के थियेटरों में खेले जा चुके हैं और कालिदास की रचनाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी रखना सभ्य कहलाने के लिए जरूरी हो गया है। आज हिन्दुस्तान के चित्रकार कालिदास के कैरेक्टरों और दृश्यों को खींचना अपनी कला का उत्कर्ष समझते हैं। राजा रवि वर्मा का चित्र 'शकुन्तला-पत्र लेखन' स्वयं सौंदर्य और प्रेम की एक दुनिया है, जहां प्रकृति ने वेदना के मधुर और मोहक साधन एकत्र कर दिए हैं। ऐसी ही कल्पनाओं और दृश्यों से कालिदास की कविता भरी हुई है। नाटकों में प्रथम दो का अनुवाद उर्दू भाषा में भी हो गया है। 'शकुन्तला' का अनुवाद स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद ने किया था और 'विक्रमोर्वशी' का कुछ साल पहले मौलवी मोहम्मद अज़ीज़ मिर्ज़ा साहब ने। 'शकुन्तला' का अनुवाद

मूल संस्कृत से किया गया है और इसलिए मूल का रस कुछ बाकी है। 'विक्रमोर्वशी' शायद अंग्रेज़ी से उर्दू में आई है इसलिए मूल का आनंद उसमें न पैदा हो सका। तब भी काफी गनीमत है। मगर चारों काव्यों में से एक का अनुवाद भी उर्दू में अब तक नहीं हुआ। इस कमी की शिकायत मुसलमान साहित्यकारों से नहीं, मगर हिन्दू सज्जनों के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है। कितने ही हिन्दू लोग हैं जिनमें कविता की रुचि है, जो गज़लें और कसीदे लिखते हैं और गुल-ओ-बुलबुल के झगड़ों में सर खपाते हैं मगर इतना न हुआ कि संस्कृत कवियों की कविता से जाति और भाषा को लाभ पहुंचाएं। उर्दू शेरोसुखन का चर्चा ज़्यादातर कायस्थों और कश्मीरियों में है और ये दोनों सम्प्रदाय अब तक आमतौर पर संस्कृत के अध्ययन से अलग-थलग हैं। मगर अब चूंकि संस्कृत की ओर रुझान होने लगा है इससे उम्मीद की जाती है कि शायद कुछ दिनों में हम रघुवंश, मेघदूत और कुमारसंभव को उर्दू भाषा में पढ़ सकें। रहा 'ऋतुसंहार' उसका अनुवाद मिस्टर शाकिर की मदद से स्वर्गीय सुरूर साहब ने किया है और अधिकांश ऋतुओं की कविताएं 'ज़माना' के पाठकों के सामने पेश हो चुकी हैं।

हम लिख चुके हैं कि 'ऋतुसंहार' कालिदास के चार सर्वश्रेष्ठ काव्यों में से एक है। इसमें कवि ने हिन्दुस्तान की छ: ऋतुओं के दृश्य और उनके परिवर्तनों और उनसे पैदा होने वाली भावनाओं और विचारों को बहुत ही सुंदर ढंग से बयान किया है। चूंकि उर्दू-फारसी में तीन ही मौसम माने गए हैं इसलिए मुनासिब मालूम होता है कि इन छहों ऋतुओं को यहां स्पष्ट कर दिया जाय—

क्रमांक	ऋतु का नाम	हिन्दी महीने	अंग्रेज़ी महीने
1	ग्रीष्म	जेठ-असाढ़	जून-जुलाई
2	वर्षा	सावन-भादों	अगस्त-सितंबर
3	शरद	कुआर-कातिक	अक्टूबर-नवंबर
4	हेमन्त	अगहन-पूस	दिसंबर-जनवरी
5	शिशिर	माघ-फागुन	फरवरी-मार्च
6	बसंत	चैत-वैशाख	अप्रैल-मई

उर्दू-फारसी कवियों ने मौसमी भावनाओं को सिर्फ उसी हद तक अपने शेरों में दखल दिया है जहां तक कि बसंत और पतझड़ का संबंध है, यहां तक कि पतझड़ और बसंत भी केवल रूपक हैं। खुशी के दिनों और गम के दिनों के लिए। हां, काले बादलों को देखकर कभी कभी साकी की याद आ जाती है—

तुंद ओ पुरशोर सियह मस्त ज़े कोहसार आमद
साकिया मुज़दा के अब्र आमद ओ बिसियार आमद

हिन्दुस्तान में मौसमी भावनाएं हमारे सामाजिक जीवन में दाखिल हो गई हैं। हमेशा से उनकी अभिव्यक्ति होती आई है। वर्षा ऋतु आई और घरों में झूले पड़ गए, सावन और मल्हार की तानें गूंजने लगीं, लड़कियों ने हाथ-पांव में मेंहदी रचाई,

प्यार के दर्द भरे भाव ने दिलों को बेचैन करना शुरू किया, यहां तक कि गलियों और बाज़ारों में जहां-तहां इसकी आवाज़ें सुनाई देने लगीं। संस्कृत कवियों ने बसंत को ऋतुराज या मौसमों का राजा माना है। पेड़ों में नई नई कोंपलें निकलीं, आम की बौर की महक से हवा सुगंधित हो गई, खलिहानों में सुनहरी बालों के ढेर लग गए, कोयल आम की डाली पर बैठकर कूकने लगी, प्रेमीजनों को रोने की सूझी, उत्सुकता ने दिलों को गुदगुदाया, प्रेमिकाएं अपना रूठना भूल गईं, बसंत की सुहानी पुकार कानों में आई–

आयी बंसत बहार बलम घर न आये सखी

कालिदास ने ऋतुओं के इन्हीं दृश्यों को अपनी चमत्कारिक लेखनी से अंकित किया है और इस खूबी से अंकित किया है कि हर एक मौसम का समां आंखों में फिर जाता है। खासतौर पर बसंत ऋतु का वर्णन ऐसा सरस, ऐसा यथार्थ और सुकुमार भावनाओं से ऐसा अलंकृत है कि उसकी तारीफ नहीं की जा सकती–

फूल खिलते हैं जो टेसू के बियाबानों में
जान पड़ जाती है उश्शाक के अरमानों में
आते हैं ग्गप पे आमों के इसी रुत में शजर
कोयल आती है इसी रुत में दरख़्तों पे नज़र
छेड़ती है लबे जू आके तराना अपना
सारे आलम को सुनाती है फसाना अपना
भौंरे फूलों पे हैं सरमस्त मये जोशे बहार
झूमते हैं असरे बादे सबा में अशजार
चुटकियां लेती हैं रह रहके उमंगे दिल में
नशए शौक की उठती हैं तरंगें दिल में

कालिदास की अन्य कृतियों की तरह 'ऋतुसंहार' का अनुवाद भी योरप की अधिकांश भाषाओं में हो गया है। हिन्दी भाषा में लाला सीताराम साहब और राजकुमार बाबू देवकीनन्दन साहब ने उनका पद्यबद्ध अनुवाद किया है। कुछ समय हुआ बंगाल के प्रसिद्ध चित्रकार बाबू अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ऋतुसंहार' के मौसमी दृश्यों की तस्वीरें खींची थीं जो बहुत पसंद की गईं। इनके अलावा बंबई के प्रसिद्ध चित्रकार मिस्टर धुरंधर ने भी 'ऋतुसंहार' से संबद्ध छः तस्वीरें खींची हैं जो देखने योग्य हैं। योरोपियन कलामर्मज्ञ इस छोटे से किंतु मार्मिक काव्य को बड़ी प्रशंसा की आंखों से देखते हैं। जाना-माना इतिहासकार एलफिन्सटन कहता है–

'भावनाओं को अंकित करने के साथ-साथ यह कवि उन तमाम स्थितियों का चित्र खींच देता है जो उन भावनाओं के प्रेरक हुए और दृश्यों की खूबियां और उनके आकर्षण ऐसे जादू-भरे शब्दों में बयान करता है कि वह आदमी भी जो इन पौधों और जानवरों से अपरिचित हो हिन्दुस्तानी दृश्य का खाका अपने दिल में कायम कर सकता है।'

प्राच्यविदों का शिरोमणि मोनियर विलियम्स लिखता है–

'इस काव्य का एक-एक श्लोक किसी-न-किसी भारतीय दृश्य का एक संपूर्ण

चित्र है।'

काव्य-मर्मज्ञों का विचार है कि 'ऋतुसंहार' कालिदास के यौवन-काल की कृति है और कई कारणों से इस विचार की पुष्टि होती है। यौवन-काल सौंदर्य और प्रेम और भोग-विलास का समय होता है। इस वक्त तक गम के कांटे पहलू में नहीं खटकते और दुनिया की कठोरताओं का अनुभव नहीं होता। नौजवान कवि की कविता निराशा और वेदना और शोक और विपत्ति के भावों से मुक्त होती है। कवि को मुहब्बत की दास्तान, मिलन की खुशियों और प्रेमिका की गुपचुप बातों से इतनी फुर्सत ही नहीं मिलती कि वह वेदना का राग गाए। जब दिल हंसता हो तो आंखों क्योंकर रोएं। 'ऋतुसंहार' शुरू से लेकर आखिर तक प्रेम के रस में डूबा हुआ है। अरमानो के दिन हैं, मुरादों की रातें। वह तेज़ी, वह जोश, वह बेतकल्लुफी, वह रंगीनी, वह ताज़गी, वह चहल-पहल जो जवानी की खासियतें हैं इस कविता में शुरू से आखीर तक भरी हुई हैं। सुंदरियों की चर्चा से कवि का जी नहीं भरता। कहीं उनके गलो के गजरों का बयान है, कहीं उनकी मेंहदी-रची हथेलियों का। कवि ने हर एक मौसम को सुंदरियों की आंखों से देखा है। हर एक कल्पना, हर एक भाव यहां तक कि रूपक और अन्वय सुंदरियों के रूप से सजे हुए हैं। यह भी नौजवान कवि की एक खासियत है कि उसे हर जगह औरत ही सूझती है। नौजवान कवि के दिल पर कोई जादू इतना असर नहीं करता जितना कि रूप का जादू। सुंदर स्त्री ही उसकी भावनाओं को उभारती है, सुंदर स्त्री उसकी आशाओं का आरंभ और उसकी उमंगों की सीमा और उसके आकर्षणों का स्रोत होती है। कहने का आशय यह कि ऋतुसंहार एक जवान कविता है, जवानी की खुशियों से चमकती हुई, जवानी की मुहब्बत से महकती हुई और जवानी की उम्मीदों से भरी हुई।

हज़रत 'सुरूर' के अलावा मौलवी अब्दुल हलीम साहब 'शरर' ने अपने रिसाले 'दिलगुदाज़' में 'ऋतुसंहार' की तीन ऋतुओं का अनुवाद गद्य में किया है। जून, सन् 1914 के 'दिलगुदाज़' में उन्होंने इस काव्य के बारे में इन शब्दों में अपना विचार व्यक्त किया है–

"हिन्दुस्तान के शेक्सपियर कालिदास ने ऋतुसंहार के नाम से छः कविताएं, छः ऋतुओं के संबंध में लिखी हैं जिनमें खास हिन्दुस्तान की ये ऋतुएं इस खूबी और मज़े के साथ दिखाई हैं कि पढ़ने से मौसमी कैफियत की तस्वीरें आंखों में फिर जाती हैं....इन कविताओं में नई उपमाएं, नई कल्पनाएं और नई बंदिशें हैं जो इस लिटरेचर के लिए, जिसका जन्म हिन्दुस्तान में हुआ, अंग्रेजी और फारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से ज़्यादा उपयुक्त और प्रभावशाली हैं।"

मूल-काव्य में कालिदास की रंगीन-बयानी कहीं-कहीं हद से आगे बढ़ गई है। फल जब ज़्यादा मीठा हो जाता है तो उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। मगर अनुवादक ने इन स्थलों को, जैसा कि उसका नैतिक कर्त्तव्य था, नज़र से ओझल कर दिया है। काश उर्दू के कवि मौलाना शरर की तरह समझते कि इन कविताओं की नई उपमाएं, नई कल्पनाएं, और नई बंदिशें उर्दू लिटरेचर के लिए अंग्रेज़ी और फारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से अधिक उपयुक्त हैं तो आज उर्दू शायरी को इतने ताने

न मिलते और उसे इतना बुरा-भला न कहा जाता। मगर मौलाना शरर ने इस काव्य का अनुवाद गद्य ही में लिखने पर संतोष किया, हालांकि यह ज़ाहिर है कि कवि की कल्पनाएं कविता में ही मज़ा देती हैं। गद्य की काया में आकर उनकी वही हालत हो जाती है जो मज़ेदार शराब की रूखे-सूखे वैरागियों के गिरोह में या किसी सुंदरी की नग्नता के परिधान में। बहरहाल कालिदास के विचारों को उर्दू पद्य में रूपांतरित करने का काम जवानी में ही सिधार जाने वाले सुरूर साहब के ज़िम्मे रहा और इसको उन्होंने जिस शानदार कामयाबी के साथ पूरा किया है उसकी तमाम उर्दू पब्लिक को कद्र करनी चाहिए। दरअसल शायर ने अनुवाद में मूल का रस पैदा कर दिया है। सरलता इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता है। संस्कृत में पेचीदा और जटिल भावों को पद्य में रूपांतरित करते समय सरलता का ध्यान रखना और उसमें कामयाब हो जाना कवि के कौशल और काव्य-शक्ति का प्रमाण है।

थे बरंगे दीदये उश्शाक जो चश्मे पुरआब
उड़ रही है खाक उनमें सूरते मौजे सराब
सत्हे गर्द को समझ कर चश्मये आबे रवां
तक रहे हैं दीदये हसरत से होकर नीमजां

कितना सच्चा और नेचुरल खयाल है और कितनी खूबसूरती से कविता में बांधा गया है–

धूप से हैं ऐसे घबराये हुए मारे सियाह
बाजुये ताऊस के साये में लेते हैं पनाह

मोर सांप का दुश्मन है मगर सख्त गर्मी ने उनके होश-हवास इस तरह उड़ा दिए हैं कि न सांप को डर रहा और न मोर को शिकार करने की ताब। उर्दू में ऐसे विचार देखने को नहीं मिलते और अनुवादक ने प्रशंसनीय सामर्थ्य से उन्हें पद्यबद्ध किया है–

धूप की शिद्दत से यूं आतश बजां ताऊस हैं
बाजुए ज़र्री नहीं हैं शोल-ए-फानूस हैं

कैसा अछूता और अनूठा खयाल है और जितने संक्षेप में इस भाव को व्यक्त किया गया है वह सोने में सुहागा है।

ठुण्ड कुछ सूखे हुए आते हैं सहरा में नज़र
चोंच खोले जिसपे दम लेतीं हैं चिड़ियां बैठकर

कैसी तस्वीर खींच दी है। इसी का नाम शायरी है। शायर की निगाह किस कदर पैनी है। जंगली झरबेरियां और करौंदे के पेड़ भी उससे नहीं बचे जिनकी तरफ उर्दू शायर कभी भूलकर भी आंख नहीं उठाता–

अजब अंदाज़ से बेलों को हिलाती है नसीम
और करौंदे के दरख्तों को नचाती है ग्मीम
यूं हर एक फूल पर टेसू की बरसती है बहार
सुर्ख जैसे किसी तोते की नुकीली मिनकार
फूल शाखों पे हैं खोले हुए आगोश निशात
भौंरे कुंजों में हैं सरमस्त मये जोशे निशात

इन उदाहरणों से पाठकों के सामने स्पष्ट हो गया होगा कि अनुवाद में कितने संक्षेप से काम लिया गया है और प्रवाह जो किसी मौलिक कविता में पाया जाता है यहां शुरू से आखिर तक मौजूद है। इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए कि कवि को किस हद तक अनुवाद में सफलता मिली है, उचित तो यह था कि संस्कृत के श्लोक और उनके अनुवाद आमने-सामने लिखे जाते मगर उर्दू में संस्कृत के समझने वाले बहुत कम हैं और इस बाल की खाल निकालने से कुछ हासिल नहीं। ग्रीष्म ऋतु की कविता को अनुवादक ने कुछ छोटा कर दिया है क्योंकि इसमें अधिकतर ऐसे जानवरों का ज़िक्र था जिनके नाम से भी उर्दू पाठक परिचित न होंगे। कालिदास की काव्य-सामर्थ्य का एक प्रमाण यह भी है कि वह एक ही विचार को बार-बार अलग-अलग ढंग से व्यक्त करता है और विचार की ताज़गी में फर्क नहीं आता। उर्दू जैसी दरिद्र भाषा में शब्दों की यह बहुतायत कहां ! ऐसे विचार चूंकि खूबसूरती से कविता में नहीं आ सकते थे इसलिए शायद पुनरावृत्ति के भय से अनुवादक ने नज़र से ओझल कर दिया है और हमारे खयाल में यह विवशता उनकी नहीं बल्कि उर्दू भाषा की है।

[उर्दू लेख। 'कालिदास की शायरी' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', अगस्त, 1914 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

हिन्दुस्तानी रेलों की साठ-साला तारीख़

हिन्दुस्तान में पहली रेलवे लाइन 1854 में कायम हुई। उस वक्त लार्ड डलहौज़ी गवर्नर-जनरल थे। कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने पहले हिन्दुस्तान के मुख्तलिफ सूबाजात को रेलवे लाइन के ज़रिए से मिला देने के खयाल को तवह्हुम आमेज़ (भ्रान्त-काल्पनिक) समझा। उनके खयाल में मुल्क की जुगराफी (भौगोलिक) हालत इस तजवीज़ (प्रस्ताव) की माने (बाधक) थी, मगर लार्ड डलहौज़ी ने फौरन देख लिया, ये तजवीज़ें सरासर काबिले-अमल हैं। उन्होंने एक यादगारी मरासले (पत्र) में रेलवे लाइनों का एक खाका पेश किया। मौजूदा शानदार रेलों का सिलसिला जो 34656 मील तक फैला हुआ है, लार्ड ममदूह की पॉलिसी का मुबारक नतीजा है। उन लोगों में से, जिन्होंने रेल की पहली लाइन को, जो 1854 ई॰ में होड़ा और पाण्डवा के दरम्यान कायम हुई और जिसका फासला कुल 37.5 मील था देखा, शायद बहुत कम आदमियों को इस हैरतअंगेज़ तरक्की का खयाल हुआ होगा, लेकिन मिस्टर हैनरी इलियट ने, जो गवर्नर-जनरल के प्राइवेट सेक्रेटरी थे और जिन्होंने अहदे-इस्लाम (इस्लामी युग) की एक जामे (ठोस) तारीख (इतिहास) तस्नीफ की है, (लिखी) उसके बारे में लिखा है कि रेलवे हिन्दुस्तान के लिए वो कर दिखाएगी जो शानदार अकबर भी न कर सका। वो हिन्दुस्तान को एक-मुत्तहिद (संयुक्त) कौम बना देगी। नताइज (परिणाम) बतला रहे हैं कि सर हैनरी इलियट का खयाल हक बजानिब (सत्य) था।

खास गवर्नमेंट को रेलवे की अमली फवाइद (लाभ) का बहुत ही जल्द सबूत मिला। 1857 की बगावत में फौजों की नकल व हरकत (यातायात) से बहुत बड़ी

मदद मिली, जिससे यह गदर जल्द ही फरू (खत्म) हो गया। मुख़्तलिफ असबाब (कारण) के बाइस इब्तिदअन (शुरू में) रेलवे तामीर (निर्माण) में मसारिफ (खर्च) बहुत ज़्यादा हुए और गवर्नमेंट की ज़मानत पहले सरमायादार लोग रुपया लगाने में ताम्मुल करते थे (बचते थे)। आखिर गवर्नमेंट को नफा की एक मुकर्ररा शरह (दर) की ज़मानत करनी पड़ी। मगर चूंकि रेलों की आमदनी से यह आमदनी पूरी न होती थी, इसलिए गवर्नमेंट को हमेशा दूसरे ज़राए (साधनों) से यह नुकसान पूरा करना पड़ता था। हत्ताकि (यहां तक कि) 1860 ई० में यह रकम डेढ़ करोड़ रुपये तक जा पहुंची। इसलिए साथ ही खारजी (विदेशी) तिजारत ने भी हैरतअंगेज़ तरक्की की। पहली रेलवे लाइन खुलने के तीन साल के अंदर दरआमद व बरआमद (आयात-निर्यात) की मिकदार बत्तीस से नवासी करोड़ हो गई और 1913 ई० में इसका तख्मीना चार अरब और पिहचत्तर करोड़ रुपये था। तिजारत की इस शानदार तरक्की ने आम महासिल (करों) में भी इज़ाफा कर दिया। मौजूदा नफा गोया उन इब्तिदाई नुक्सानात (हानियों) का मुआवज़ा है जो गवर्नमेंट को ज़रे-नफा (नफे की रकम) की तौर पर देने पड़े थे। इस इंतज़ाम में एक बड़ा नुक्स यह था कि जिन लोगों ने रुपये लगाए थे, उन्हें गवर्नमेंट से अपना नफा मिल जाता था, इसलिए इखराजात (खर्चों) में तखफीफ (कमी) या किफायत की जरूरत ही उनको महसूस न होती थी। बिल आखिर (अन्ततः) इस सिलसिला-ए-इंतज़ाम मे इतनी कबाहतें (कठिनाइयां) पैदा हुई कि गवर्नमेंट ने खुद अपनी मिल्कियत और इंतज़ाम में रेलवे लाइन को चलाने की पॉलिसी अख्तियार की। सरमायेदार लोग अब भी बगैर गवर्नमेंट की ज़मानत के रुपया निकालते हुए डरते थे, इसलिए रेलों की तामीर (निर्माण) की रफ्तार सुस्त रही। आखिर 1869 में गवर्नमेंट ने रेलों को अपनी मिल्कियत बनाकर इस कज़िए (विवाद) का फैसला कर दिया।

इसके छः साल बाद रेल का सालाना सर्फे-ए-तामीर (निर्माण-व्यय) चार करोड़ तक बढ़ा दिया गया, लेकिन कहत (अकाल) और जंग ने एक दूसरी ही तद्बीर की ज़रूरत पैदा की। पहले रेलें नैरो-गेज नमूने की थीं। अब उनक चौड़ा करने की जरूरत महसूस हुई और एक नया इंतज़ाम जारी किया गया, जिसके मुताबिक सरकारी लाइनें सौदागरों के इंतज़ाम में दे दी गईं, मगर इस नये इंतज़ाम में भी वही नकाइस (दोष) मौजूद थे, जो पहले ज़मानती इंतज़ाम में थे। बजुज़ (अलावा) इसके कि गवर्नमेंट का रेलों पर इख़्तियार ज़्यादा था। 1874 से रेलों की तामीर ज़्यादा सरगर्मी (उत्साह) से होना शुरू हुई, क्योंकि गवर्नमेंट को विलायत में कर्ज़ा आसानी से दस्तयाब (प्राप्त) हो गया। इसके बाद पच्चीस साल की मुद्दत में रेलों की तौसी (विस्तार) जिस सुरअत (तेजी) से हुई, उसका अंदाजा इससे किया जा सकता है कि 1874 में रेलवे लाइन छः हजार मील से भी कम थी, मगर बीसवीं सदी के आगाज़ (आरंभ) में बीस हजार मील से ज़ाइद (अधिक) थी। 1870 ई० और 80 ई० के दरम्यान मुतवातिर (लगातार) खुरक सालियों (सूखों) के बाइस मुल्क की माली हालत कुछ गैर मुतमइन (असंतुष्ट) हो गई थी। उस वक्त हाउस ऑफ कामंस, में एक कमेटी ने रेलों और नहरों के लिए सरमाया (धन) पैदा करने के मसले पर गौर किया और सिफारिश की कि यह रकम इस हद तक रखी जाए जो हिन्दुस्तान में आसानी से बहम (उपलब्ध) हो सके

और रेल के लिए सालाना दो करोड़ का तअइयुन (तय) किया। बाज़गुज़ार (कर देने वाली) रियासतों को अपने मक्वज़ात (अधिकार-क्षेत्र) में बगैर खारजी (बाहरी) इमदाद के रेलों के तामीर करने की तरगीब दी (रुचि पैदा की) गई। निज़ाम स्टेट रेलवे, जो तीन सौ तीस मील लंबी थी, इस पॉलिसी का पहला समर (फल) है। मुतवातिर खुश्कसालियों (सूखा) ने तौसी-ए-रेलवे (रेलों के विस्तार) की ज़रूरत को खूब ज़हन-नशीन (दिमाग में बैठाना) कर दिया था, और कहत की इमदाद का एक हिस्सा रेलों की तामीर में सर्फ किया गया।

गुज़िश्ता दस-बारह साल से रेलों की काबिले-इत्मीनान माली हालत का मुकाबला उस वक्त से किया जाये, जबकि वह ज़मानती इंतज़ाम में थी तो कितना इख्तिलाफ (भिन्न) नज़र आता है। 1893 ई० में चांदी की निर्ख (भाव) अरजां (सस्ता) हो जाने की बाइस एक बार फिर रेलवे लाइनों को कम्पनियों के ज़ेर-ए-इंतज़ाम चलाने की नाकाम कोशिश की गयी। अब की नफा की ज़मानत ज़रे-इमदाद (सहायता की रकम) की सूरत में मुंतकिल (स्थान-परिवर्तित) कर दी गयी, जो मुख़्तलिफ तरमीम (संशोधन) व तगय्युर (परिवर्तन) के बाद अब सरमाया पर साढ़े तीन फीसदी है, मगर ये शराइत (शर्तें) बावजूद इसके कि उन्हें दिल-पज़ीर (आकर्षक) बनाने में कोई कसर नहीं रखी गयी है, ताजराना हौसला मंदियों (व्यापारकि उत्साह) को उभारने में कामयाब न हुई। अब रेलवे तामीरात की मौजूदा सूरत ये है कि खालिस मुकामी (स्थानीय) लाइनों की तामीर का बार डिस्ट्रिक्ट बोर्डों पर है, जो उनके मुनाफा की ज़मानत पर सरमाया पैदा करती हैं। बाज़गुज़ार (कर देने वाली) रियासतें इन रेलवे के लिए जो उनके मुल्क में बनती हैं, या उनके मुल्क से होकर गुज़रती हैं, अपने महासिल से या कर्जे से रुपया निकालती है। बाकी रेलवे लाइनों के लिए गवर्नमेंट अपने महासिल से मुकर्ररा सालाना रकम मुहैया (उपलब्ध) करती है।

रेलवे लाइनें और नहरों की तामीर के मसले पर अर्से से मुबाहसे होते आये हैं और उसके मुताल्लिक भी कुछ बयान करना ज़रूरी मालूम देता है। एक फरीक (पक्ष) जिसमें हिन्दुस्तानियों की तादाद गालिब (अधिक) है, नहरों को रेलों के मुकाबले में ज़्यादा ज़रूरी और मुफीद (लाभकारी) समझता है। सर आर्थर कॉटन कावेरी और गोदावरी की नहरों के मशहूर-ओ-मारूफ इंजीनियर थे। उन्होंने इस मुबाहसे को बहुत ज़िंदादिली से निबाहा। पार्लियामेंट की एक कमेटी के रूबरू सन् 1878 ई० में उन्होंने कहा था कि मेरा मंशा सिर्फ यह बता देना है कि हिन्दुस्तान को आबी (पानी के) रास्तों की ज़रूरत है। रेलवे बिल्कुल नाकाम साबित हुई है। वह सिर्फ गरां (महंगी) ही नहीं, बल्कि नाकाफी है और उन्हें चलाने के लिए मुल्क को चार करोड़ रुपया सालाना सर्फ करने की ज़रूरत होती है। दुरवानी कश्तियों (कोयले से चलने वाली नावों) का सिलसिला इस सरमाये के आठवें हिस्से में कायम हो सकता है। उस पर शरह अर्ज़ा (सस्ती दर), रफ्तार तेज, गुंजाइश बेहद, उसे खजाने से मदद की ज़रूरत नहीं। जॉन ब्राइट, लार्ड लारेंस, सर विलियम और दीगर ज़ीअसर (प्रभावशाली) हज़रात ने इंजीनियर साहब की हिमायत की। सर आर्थर कॉटन की तज़वीज़ थी कि रेलों की तामीर बंद कर दी जाये और उनके बजाय जहाज़रानी के काबिल नहरें बनवाई

जाएं, जिनका सर्फा (खर्चा) तीन करोड़ पौंड कहा जाता है, मगर विलायत की जम्हूर (प्रजातंत्र) को नहरों से कुछ दिलचस्पी न थी। रेलों से वो मानूस (मुहब्बत करने वाले) थे, नहरें उनके लिए बिल्कुल एक नयी चीज़ थीं। रेलों पर दस करोड़ पौंड लग चुके थे। मगर इसमें उनको कोई शिकायत न थी। नहरों पर तीन करोड़ के सर्फे की ज़रूरत उनकी समझ में न आयी थी। बिलआखिर सर आर्थर कॉटन की तजवीज़ (योजना) नाकाबिले-अमल समझी गयी।

मगर अब भी हिन्दुस्तान में कितने ही मोहरीने इक्तसादियात (अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ) हैं, जिनका खयाल है कि अगर सर आर्थर कॉटन की तज़वीज़ पर अमल किया जाता और उनकी तज़हीक (उपहास) न की जाती तो गुज़िश्ता सदी के आख़िरी सालों की खुश्कसालियों (सूखा) से ऐसे तबाहकुन नताइज (ध्वंसपूर्ण परिणाम) न पैदा होते। सूबा मद्रास में नदियों से अनहार (नहरें) निकालने की तजवीज़ को सर आर्थर कॉटन की तामीरात ने खुद मुफीद और करीबुलइमकान (संभाव्य) साबित कर दिया है। शुमाली (उत्तरी) हिन्दुस्तान में भी नहरें मौजूद हों। रेलों और नहरों के हकूक के मुताल्लिक मिस्टर रमेशदत्त मरहूम ने फरमाया है—नहरों से आगाज़ (आरंभ) ही में नफा होने लगता है, रेलवे से काफी नफा नहीं होता। नहरें गवर्नमेंट के महासिल (राजस्व) का एक जरिया हैं रेलें साल-ब-साल नुकसानात का। नहरें गल्ले की पैदावार में इजाफा करती हैं, मगर रेलें सिर्फ एक सिम्त (दिशा) से दूसरी सिम्त को गल्ला ले जा सकती हैं। मुल्क की पैदावार पर इनका कोई असर नहीं है।

ऐसी हालत में कुदरतन यह सवाल होता है कि बावजूद इंसानात नुक्सानात और परेशानियों के गवर्नमेंट ने क्यूं रेल को नहर पर तरजीह दिया मगर इसका जवाब आसान है। अंग्रेज़ों को नहरों का कोई तजुरबा न था। रेलों के फवाइद (लाभों) से वो कामिल तौर पर (पूर्णरूप से) वाकिफ थे। इंगलिस्तान की रेलों से बेशुमार फवाइद (लाभ) हासिल हो चुके थे। इंगलिस्तान जैसे सनअती मुल्क (औद्योगिक देश) के फवाइद को हिन्दुस्तान जैसे जराअती मुल्क (कृषि प्रधान देश) के फवाइद से मुमय्यज़ (पृथक्) न कर सके। अलावा-बरीं (इसके अलावा) विलायत में ताजिरों (व्यापारियों) का एक मुकतदिर (प्रभुत्वशील) गिरोह रेलों की ज़रूरत पर हमेशा गवर्नमेंट को मुखातिब करता रहता था, क्योंकि रेलों की तौसीअ (विस्तार) से उसे अपने मसनूआत (उत्पादित वस्तुओं) की बिक्री और खाम (कच्ची) पैदावार के हासिल करने का यकीन था। इसलिए रेलों की उस मुल्क में इस कदर तरक्की हुई। फरवरी, 1912 में वाइसराय की कौंसिल में ऑनरेबुल मिस्टर गोखले की सरकर्दगी (नेतृत्व) में इस मसले पर एक दिलचस्प बहस शुरू हुई थी। मिस्टर वाचा ने उस वक्त कई काबिलाना मजामीन (लेखों) में गवर्नमेंट की रेलवे पॉलिसी पर बहस की और साबित किया कि अब तक गवर्नमेंट को रेलों से चालीस करोड़ का नुकसान हो चुका है। मिस्टर वाचा का खयाल है, अगर आने वाले दस वर्षों में भी रेलों का नफा इस नुकसान को पूरा कर दे तो हमको अपने तईं खुशनसीब समझना चाहिए।

[उर्दू लेख' उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', जनवरी, 1915 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित]

हंसी

एक प्रसिद्ध दार्शनिक का कथन है कि मनुष्य हंसने वाला प्राणी है और यह बिल्कुल ठीक बात है क्योंकि श्रेणियों का विभाजन विशेषताओं पर ही आधारित होता है और हंसी मनुष्य की विशेषता है। यों तो मानव हृदय की भावनाएं अनेक प्रकार की होती हैं मगर आनंद और शोक का स्थान इनमें सबसे प्रधान हैं। अन्य भावनाएं इन्हीं दोनों के अंतर्गत आ जाती हैं। उदाहरण के लिए निराशा, लज्जा, दुख, क्रोध, घृणा ये सब शोक के अंतर्गत आ जायेंगे। उसी प्रकार अहंकार, वीरता, प्रेम आदि आनंद की श्रेणी में। मनुष्य का जीवन इन्हीं दो प्रतिकूल भावनाओं में विभाजित है। आनंद का प्रकट लक्षण हंसी है, शोक का रोना। हंसने और खुश रहने की इच्छा सर्वसामान्य है। रोने और शोक से हर व्यक्ति बचता है। हंसना और रोना मनुष्य के जन्मजात गुण हैं, अर्जित गुण नहीं। बच्चा पैदा होते ही रोता है और उसके थोड़े ही दिनों बाद एक खामोश सी मुस्कराहट उसके चेहरे पर दिखाई देने लगती है। अन्य भावनाएं समझ बढ़ने के साथ-साथ पैदा होती जाती हैं।

कुछ विद्वानों ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया है कि कुछ जानवर भी हंसने में आदमियों के साझीदार हैं। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि जानवरों की हंसी सस्वर नहीं होती मगर जो प्रेरणाएं मनुष्य के हृदय में हंसी उत्पन्न करती हैं उनमें किसी न किसी हद तक वह भी जरूर शरीक हैं। कुत्ता अपने मालिक को जब कई दिन के बाद देखता है तो दुम हिलाता हुआ उसके पास चला जाता है बल्कि उसके बदन पर चढ़ने की कोशिश करता है और एक किस्म की आवाज उसके मुंह से निकलने लगती है। जिन कुत्तों को गेंद उठा लेने की शिक्षा दी जाती है वे गेंद उठाते समय कभी-कभी खुद भी अपने पैरों से गेंद को और आगे ढकेल देते हैं। जब कई कुत्ते साथ खेलने लगते हैं तो उनकी चुहल और शरारत की कोई सीमा नहीं रहती। जिन लोगों ने इन कुत्तों के चेहरों को ध्यान से देखा है वे कहते हैं कि आंखों में एक शरारत-भरी झलक, गालों का सिकुड़ना और दांतों का बाहर निकल आना, जो हंसी के अनिवार्य लक्षण हैं, वे सभी एक बहुत हल्की-सी शक्ल में कुत्तों के चेहरे पर भी दिखाई देने लगते हैं। कभी-कभी कुत्ते मुर्गियों को सिर्फ डराने के लिए दौड़ाया करते हैं। बिल्ली एक बहुत गंभीर जानवर है मगर वह भी चूहों को खिलाते वक्त अपनी जन्मजात हास्यप्रियता का परिचय देती है। और बंदरों के बारे में तो कितनी ही पशु-विज्ञान के विद्वान का विश्वास है कि वे हंसते भी हैं और मज़ाक समझते भी हैं। अगर बंदर को मुंह चिढ़ाओ तो वह कितना झल्लाता है। अगर उसे छेड़ने के लिए उसके साथ दिल्लगी करो तो वह नाराज़ हो जाता है। उसे यह पसंद नहीं कि कोई उसका मज़ाक उड़ाए। कहने का मतलब यह कि कुत्ते, बिल्ली, बंदर की हसी खामोश और बेआवाज़ होती है मगर उसमें हंसी दिल्लगी की चेतना होती है।

बच्चे की हंसी भी शुरू में बेआवाज और किसी कदर जानवरों से मिलती हुई होती है। मगर उम्र के दूसरे महीने में उसमें फैलाव और तीसरे महीने में आवाज

पैदा हो जाती है। तब उसे गुदगुदाओ तो खिलखिलाता है और दूसरों को देखकर हंसता है। गुदगुदाने से हंसी क्यों होती है, कुछ विद्वानों ने इसकी भी व्याख्या की है। एक प्रोफेसर का ख्याल है कि जब मनुष्य विकास की आरंभिक स्थिति में था उस समय मां बच्चे के शरीर पर से मक्खियां उड़ाने या दूसरे कीड़े को भगाने के लिए ही उसी तरह हाथ फेरती थी जिस तरह आजकल गायें अपने बच्चों को चाटती हैं। इसी तरह हाथ फेरने से बच्चे को बहुत कुछ आराम मिलता है। लिहाज़ा आजकल भी जब नर्मी से शरीर पर हाथ फेरा जाता है तो उसी तरह इंसान को वही आराम याद आता है और वह हंसने लगता है। यह खयाल सही हो या गलत मगर आदमी की हंसी का विकास उसकी इंसानियत के साथ ही होता है। एक मज़ेदार बात है कि होंठ या शरीर की एक ज़रा-सी हरकत इंसान को घंटों हंसाती है।

वहशी कौमें भावनाओं की प्रौढ़ता की दृष्टि से बहुत कुछ बच्चों से मिलती हैं। यही कारण है कि उनकी हंसी भी बच्चों की हंसी से मिलती-जुलती होती है। बच्चे कभी-कभी खामखाह हंसते हैं। उनकी हंसी लाज-संकोच की परवाह नहीं करती। वहशियों की भी यही हालत है। सभ्य लोग अपनी हंसी पर बहुत संयम करते हैं लेकिन बर्बरों में यह संयम कहां। वह जब हंसते हैं तो खूब खुलकर। खूब कहकहे लगाते हैं। तालियां बजाते हैं, चूतड़ पीटने लगते हैं और नाचते हैं, यहां तक कि कभी-कभी उनकी आंखों से आंसू बहने लगते हैं। हंसते-हंसते मर जाना इससे चाहे एक कदम और आगे बढ़ा होता हो। कोई अपरिचित चीज देखकर वह खूब हंसते हैं। बोर्नियो द्वीप में एक मिशनरी को पियानो बजाते देखकर वहां के बर्बर निवासी हंसने लगते हैं। सभ्य लोगों की एक-एक हरकत उन बर्बरों की हंसी का सामान है। उनके कपड़े, उनका मुंह-हाथ धोना, यह सब बातें उन्हें अजीब मालूम होती हैं और यह अजीब मालूम होना हंसी की मुख्य प्रेरणाओं में से एक है। एक बार एक हब्शी सरदार इंगलिस्तान में पहुंचा और एक कारखाने की सैर करने के लिए चला। मैनेजर ने मेहरबानी से उसे कारखाना दिखाना शुरू किया। संयोग से एक जगह मैनेजर का कोट किसी चर्खी की पकड़ में आ गया और बेचारे मैनेजर साहब कोट के साथ दो-तीन चक्कर खा गए। कर्मचारियों ने दौड़कर किसी तरह उनकी जान बचाई मगर हब्शी सरदार हंसते-हंसते लोट गया। उसने समझा कि मैनेजर साहब ने उसे तमाशा दिखाने के लिए कलाबाजियां खाईं और इस घटना के बाद वह जब तक इंगलिस्तान में रहा उसने कई बार मैनेजर साहब से वही दिलचस्प तमाशा दिखाने का तकाजा किया। कुछ असभ्य जातियों में रईसों के दरबार में अब भी मसखरे या विदूषक रक्खे जाते हैं।

पुराने जमाने में दरबारी विदूषकों का रिवाज हिन्दुस्तान और योरप में प्रचलित था। यहां तक कि वे दरबार का आभूषण समझे जाते थे। उनके बगैर दरबार सूना रहता था। इस सभ्यता के युग में भी वही रिवाज एक दूसरी शक्ल में मौजूद है जिसे थियेटरों में देख सकते हैं। एस्किमो एक जंगली कौम है। उनके यहां रिवाज है कि जब किसी मुकदमे का फैसला होने लगता है तो दोना विरोधी पक्ष के लोग एक दूसरे को गंदी-गंदी गालियां सुनाना शुरू करते हैं। कभी-कभी पद्य-बद्ध गालियां दी जाती हैं। हाकिम इजलास और दूसरे तमाशाई इन तुकबंदियों पर खूब हंसते हैं

और आखिरकार उसी पक्ष की विजय होती है जो गालियों की गंदगी और बेशर्मी के लिहाज़ से तमाशाइयों को ज़्यादा खुश कर दे। न्याय की अच्छी कसौटी निकाली है। ऐसे देश में गालियां बकना निश्चय ही कानूनदानी से अच्छा और फायदेमंद धंधा है और काश हमारे देश के कुंजड़े और भटियारे वहां पहुंच जाएं तो यकीन है कि उन्हें किसी अदालत में हार न हो। अभी पशु-विज्ञान के किसी पंडित ने छान-बीन नहीं की लेकिन हंसी और निर्लज्जता में कोई कार्य-कारण संबंध अवश्य है। हिन्दुस्तान में शादी-ब्याह में, दावतों में गंदी और शर्मनाक गालियां गाने का रिवाज कितना बुरा मगर सब तरफ कितना प्रचलित और लोकप्रिय है। यहां तक कि कितने ही लोगों को गालियों के बगैर ब्याह का मज़ा ही नहीं आता और जब तक कानों में गंदी-गंदी गालियों की पुकारें नहीं आतीं खाने की तरफ तबियत नहीं झुकती।

हर एक देश या जाति का साहित्य उस देश की सर्वोत्तम भावनाओं और विचारों का संग्रह होता है और हालांकि किसी जाति के साहित्य में हंसी-दिल्लगी को वह स्थान नहीं दिया जायगा जिसका उसे सर्वसाधारण में अपने प्रचलन की दृष्टि से अधिकार है और प्रेम की भावनाओं को उससे ऊंचा स्थान दिया जाता है जो एक सीमाबद्ध भावना है और जिसका प्रभाव मानव जीवन के लिए एक विशेष अंग तक सीमित है, तब भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि उनका प्रभाव हर एक साहित्य पर स्पष्ट है और चूंकि हंसने-हंसाने की इच्छा हर दिल में रहती है, हास्य-कृतियां पसंद भी की जाती हैं। अंग्रेज़ी में शेक्सपियर का मसखरा फॉल्स्टाफ, स्पेनी लिटरेचर का डॉन कुइक्ज़ोट और उर्दू लिटरेचर का खोजी कैसे गम भुला देने वाले हैं। कितने रंज और गम के सताए हुए दिल उनके एहसानमंद हैं। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि गद्य हो या पद्य, हंसी-दिल्लगी उसकी आत्मा है और उसके बगैर वह रूखी-सूखी, और बेमज़ा रहती है।

हंसी के अनेक उद्दीपक हैं। संस्कृत में हंसी के प्रकारों, उनकी व्याख्या और उनके उद्दीपकों आदि को बड़े विशद और विस्तृत ढंग से बयान किया गया है। अंग्रेज़ी में ऐसी विशद सैद्धान्तिक चर्चा इस विषय पर नहीं है। इन उद्दीपकों में विशेष ये हैं।

1. किसी चीज़ का अनोखापन जैसे बंदर का कोट-पतलून पहनना।

2. किसी अच्छी चीज़ का फौरन किसी बुरी सूरत में जाहिर होना जैसे मुंह चिढ़ाना।

3. कोई शारीरिक दोष जैसे कानापन या लंगड़ाकर चलना।

4. मानव विशेषताओं में कोई असाधारण बात जैसे शेखी मारना या भोलापन।

5. किसी चीज़ का अपने साधारण रूप से अलग हटना जैसे मुंह में कालिख लगना।

6. अशिष्टता।

7. छोटी-मोटी दुर्घटनाएं जैसे किसी का लड़खड़ाकर गिर पड़ना।

8. निर्लज्ज शब्दों का प्रयोग।

9. हर तरह की अतिशयोक्ति या हद से आगे बढ़ जाना जैसे भारी-भरकम पेट या बहुत ऊंचा कद।

10. गुप-चुप बातें।

11 चीज़ों की तरह आवाज़ में भी अजनबीपन, अनोखापन जैसे बेसुरा गीत।

12. दूसरों की नकल करना।

13. कोई द्वयर्थक वाक्य।

उपरोक्त वर्गीकरण को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि हंसी का उद्दीपन विशेषत: किन्हीं दो वस्तुओं के विरोध पर आधारित है। एक लड़का अपने बाप का ढीला-ढाला कोट पहन लेता है और उसे देखते ही फौरन हंसी आती है। अफीमचियों की कहानियां हंसी का एक न चुकने वाला खज़ाना है। अकबर और बीरबल के चुटकुले भी दिलों को गरमाने के लिए आजमाए हुए नुस्खे हैं और ख्वाजा बदीउज़्ज़मां उर्फ खोजी (खुदा की उन पर रहमत हो।) को तो उर्दू लिटरेचर का सबसे बड़ा शोकसंहारक कहना चाहिए। हाजी बगलोल भी उन्हीं के मुरीदों में शामिल हैं। शायरी के दोषों और त्रुटियों को सरशार ने हंसी-दिल्लगी का कैसा फड़कता हुआ लिबास पहनाया है। ख्वाजा साहब की गंवई बातचीत, उनका शेर पढ़ना, डींग मारना, ये सब हंसने के अक्सीर नुस्खे हैं। छंद-शास्त्र की भूलें, स्त्रीलिंग और पुल्लिंग की गलतियां जो शायरी में ऐब समझी जाती हैं वे पढ़े-लिखे आदमियों के लिए हंसी का सामान हैं। उर्दू कवियों की सौंदर्य की अतिशयोक्ति भी मज़ाक की हद तक जा पहुंचती है। नाभी की गहराई को अगर बरेली का कुआं कहें तो खामखाह हंसी आएगी।

विद्वानों ने हंसी को छ: श्रेणियों में विभाजित किया है–

1 होंठो ही होंठों में मुस्कराना। 2 खुलकर मुस्कराना। 3 खिल-खिलाना। 4 ज़ोर से हसना। 5 कहकहे लगाना। 6 हंसते हंसते पेट में बल पड़ जाना और आंखों से आंसू बहने लगना।

इनमें पहली और दूसरी किस्मों का स्थान सबसे ऊंचा है, तीसरी और चौथी का मध्यम और पांचवीं और छठी किस्में सबसे निकृष्ट समझी जाती हैं और उनकी गिनती अशिष्टता में होती है। जिस समय गालों पर हल्की-सी शिकन पड़ती है, नीचे के होंठ फैल जाते हैं, दांत नहीं दिखाई देते हैं, आंखें चमकने लगती हैं, उसे होंठों ही होंठों में मुस्कराना कहते हैं। जिस हंसी में मुंह, गाल और आंखें फूली हुई नज़र आती हैं और दांतों की लड़ियां किसी कदर दिखाई देने लगती हैं उसे खुलकर मुस्कराना कहते हैं। खिलखिलाने की व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं। इसमें आंख कुछ सिकुड़ जाती है। कहकहा लगाना अशिष्टता है, खासतौर पर बड़े-बूढ़ों के सामने ज़ोर से हंसना बुरी बात है। डाक्टरी दृष्टि से कहकहा तंदुरुस्ती के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इससे सीने और फेफड़ों को ताकत पहुंचती है और तबीयत खिल उठती है। मनोविज्ञान के पंडितों का विचार है कि हंसी खुली हुई तबीयत की पहचान है और जिस आदमी के इरादे नेक न हों और जिसके हृदय को शांति और इत्मीनान हासिल न हो वह कभी खुलकर नहीं हंस सकता।

हम ऊपर लिख आये हैं कि संस्कृत साहित्य में हंसी-दिल्लगी के बारे में बड़ी गहरी छानबीन के साथ विचार किया गया है। उपरोक्त विचार बड़ी हद तक उसी के हैं। अब हम कुछ हास्य-रस के संस्कृत श्लोकों का अनुवाद लिखकर इस लेख

को समाप्त करेंगे। उर्दू हास्य की शैली से हम परिचित हैं, संस्कृत साहित्य के भी कुछ उदाहरण देखिए–

1. यह देखिए कुक्कुट मिश्र आए। आपने अपने गुरु से कुल पांच दिन शिक्षा पाई। सारा वेदांत तीन दिन में पढ़ा है और न्याय को तो फूल की तरह सूंघ डाला है।

2. विष्णु शर्मा नामक किसी दुश्चरित्र विद्वान की बुराई यों की गई है–विष्णु शर्मा हाय हाय करके रोते और कहते थे कि मेरे जिस मस्तक पर मंत्रों से पवित्र किया गया पानी छिड़का गया था उसी पर प्रेमिका के पवित्र हाथों ने तड़ातड़ चपत लगाई।

3. एक कोमल भावनाओं से अपरिचित ब्राह्मण अपनी प्रेमिका से कहता है–ऐ देवी, मेरे यह होंठ सामवेद गाते-गाते बहुत पवित्र हो गये हैं। इन्हें तुम जूठा मत करो। अगर तुमसे किसी तरह नहीं रहा जाता तो मेरे बायें कान को ही मुंह में लेकर चुबलाओ।

4. ज़बान कट नहीं जाती, सर फट नहीं जाता, तब फिर जो कुछ मुंह में आये कह डालने में हर्ज ही क्या है। निर्लज्ज व्यक्ति विद्वान बनने में आगा-पीछा क्यों करे।

5. दो औरतों वाले मर्द की हालत उस चूहे की सी होती है जिसके बिल में सांप है और बिल के बाहर बिल्ली।

6. दामाद दसवां ग्रह है। वह हमेशा टेढ़ा और तीखा रहता है, हरदम पूजा की मांग किया करता है और हमेशा कन्याराशि पर चढ़ा रहता है।

7. जैनियों का मज़ाक उड़ाते हुए एक लेखक कहता है कि ये लोग एकांत में भी सुंदरी के लाल-लाल होंठों से बचते रहते हैं क्योंकि होंठ में दांत लगने से उन्हें मांसाहार का आरोप लगने का भय है।

8. एक ज़िंदादिल बुड्ढा कहता है–क्या करें सिर के बाल सफेद हो गये हैं, गालों पर झुर्रियां पड़ गई हैं दांत टूट गये हैं पर इन सब बातों का मुझे कुछ दुख नहीं। हां जब रास्ते में मृगनयनी सुंदरियां मुझे देखकर पूछती हैं, "बाबा किधर चले?" तो उनका यह पूछना मेरे दिल पर बिजलियां गिरा देता है।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', फरवरी, 1916 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

पैके अब्र

'मेघदूत' कालिदास के खंड-काव्यों में एक विशेष स्थान रखता है। कालिदास ने प्रेम के भावों का खूब वर्णन किया है और यह कविता इस खूबी से सजायी गई है कि इसी बुनियाद पर कुछ आलोचकों का विचार है कि यह कवि के यौवन काल की कृति है। इन पंक्तियों के लेखक ने हज़रत शाकिर मेरठी के 'अक्सीरे सुखन' की भूमिका में उर्दू ज़बान के हिन्दू शायरों से प्रार्थना की थी कि वे कालिदास की कविताओं को उर्दू का जामा पहिनायें और मुझे बहुत खुशी है कि मेरी यह

प्रेरणा अरण्य-रोदन सिद्ध नहीं हुई। किसी के हाथों का जस होता है किसी के बातों का जस होता है। इन पंक्तियों के लेखक को बातों ही में जस मिल गया। हज़रत आशिक उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं और संस्कृत के कवियों के भी प्रशंसक हैं। उन्हें खुद ही यह चिंता होगी कि संस्कृत कविता की विशेषताओं से उर्दू दुनिया को परिचित करायें। मगर उन्होंने मेरी प्रेरणा को इसका आधार कहा है। इसके लिए मैं अपने को बधाई देता हूं। वह प्रेरणा किसी अच्छी साइत में की गई थी क्योंकि 'पैके अब्र' ही तक उसका असर खत्म नहीं होता। मुंशी इकबाल बहादुर वर्मा साहब सेहर ने 'शकुन्तला' को हज़रत नसीम लखनवी के तर्ज़ पर नज़्म किया है जो जल्दी ही छपने वाली है। सच बात यह है कि असर मेरी इस तुच्छ विनती में न था बल्कि यह उस राष्ट्रीयता की भावना का असर है जो हमको अपने पुरखों के कला-कौशल का आदर करना सिखलाती है।

कालिदास के नाम से उर्दू दुनिया अब अपरिचित नहीं। उसके काव्य-गुणों और पांडित्य से भी लोग थोड़ा-बहुत परिचित हो गये हैं। मतलब यह कि उसकी गिनती संसार के प्रथम श्रेणी के कवियों में है। 'मेघदूत' की कथा भी साधारणतः पाठक जानते हैं। अनुवादक ने अपने अनुवाद में विस्तार से उसका वर्णन किया है।

यह कालिदास की अत्यंत लोकप्रिय प्रेम की कविता है। एक विरही प्रेमी ने मेघ को अपना दूत बनाकर उसे प्रेम का संदेश दिया है। बरसात में जब बादलों के झुंड के झुंड तेज़ी से दौड़ते हुए एक तरफ से दूसरी तरफ चले जाते हैं तो क्या यह ख़याल नहीं पैदा होता कि यह कहां जा रहे हैं। इस प्रेमी ने मेघ को दूत बनाने में एक बारीकी और सोची होगी। मिट्टी-पानी के दूत को दरबान की कृपा की अपेक्षा है और दरबान बेरुखी करे तो फिर झूला डालने के सिवाय कोई तदबीर नहीं। मेघदूत को किसी मदद की ज़रूरत नहीं। वह ऊपर की दुनिया पर बैठा हुआ दूत का काम ख़ूब कर सकता है। कालिदास को दृश्य-चित्रण में विशेष रुचि थी। इस संदेश में दृश्यों के प्रेम की भावनाओं का बहुत रंगीन संयोग दिखाई देता है। गोया उसने हरे-भरे मैदानों में हिरन छोड़ दिये हैं। इस काव्य की असामान्य विशेषता का अंदाज़ा इस बात से हो सकता है कि यूरोप की अधिकांश भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया है। हिन्दी भाषा में भी इसके कई पद्य और गद्य के अनुवाद मौजूद हैं। उर्दू में 'जमाना' में कई साल हुए मुंशी उमाशंकर 'फना' ने इसे संक्षेप में बयान किया था। इसे उर्दू शायरी का जामा पहली ही बार पहनाया गया। संस्कृत जैसी ललित और अर्थ-गंभीर भाषा का उर्दू में मतलब अदा करना बहुत मुश्किल है और यह दिक्कत और भी बढ़ जाती है जब काव्य में मूल का आनंद देने का प्रयत्न किया जाय। इस ख़याल को दृष्टि में रखकर अगर 'पैके अब्र' को देखें तो हज़रत आशिक की यह कोशिश यकीनन काबिलेदाद नज़र आती है। अभी तक 'मेघदूत' का भूगोल बड़े-बड़े विद्वानों के लिए एक रहस्य बना हुआ है। कोई रामगिरि को नीलगिरि बताता है कोई चित्रकूट को। हज़रत आशिक ने इस मसले पर भी रोशनी डालने की कोशिश की है।

हजरत आशिक ने अनुवाद में यह ढंग रक्खा है कि हर एक श्लोक का अनुवाद

एक-एक बंद में हो जाये। बंद तीन-तीन शेरों के हैं। इस पद्धति में अक्सर उन्हें दिक्कतें पेश आई हैं और हमारे खयाल में यह बहुत बेहतर होता कि काव्य के बंधन ने लागू करके दृष्टि अर्थ की अभिव्यक्ति पर रक्खी जाती। इस बंधन के कारण कहीं तो एक पूरे श्लोक का आशय एक बंद में व्यक्त न हो सकने के कारण हज़रत आशिक को कुछ छोड़ देना पड़ा। इसके विपरीत कहीं-कहीं श्लोक का आशय दो ही शेरों में अदा हो जाने के कारण बंद पूरा करने के लिए अपनी तरफ से एक शेर और ज़्यादा करना पड़ा। 'सरस्वती' के योग्य संपादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए अनुवाद के दोष बतलाये हैं और ये दोष अधिकतर इसी अपने पर लागू किये गये बंधन के कारण पैदा हो गये हैं।

'मेघदूत' शुरू से आखीर तक प्रेम की कविता है, एक विरही प्रेमी की मर्म वेदना की कहानी है, मगर इतिहास की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं। ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन करने से हिन्दुस्तान के उस पुराने ज़माने के समाज पर रोशनी पड़ती है जिसके संबंध में इतिहास लुप्त है। किसी देश में भोग-विलास के सामान उन्नत सभ्यता का पता देते हैं। यह एक दु:खद वास्तविकता है कि ज्ञान-विज्ञान और बुद्धि के विकास के साथ-साथ भोग-विलास के उपकरणों में भी उन्नति होती जाती है।

तर्जुमे की खूबी को उजागर करने के लिए ज़रूरी है कि पाठकों के सामने उसके कुछ टुकड़े पेश किये जायं।

चित्रकूट का ज़िक्र करते हुए शायर कहता है—

इस जगह से आगे चलकर आयेगा फिर चित्रकूट
जो सर आंखों पर बिठायेगा वफूरे शौक से।
जल रही हैं धूप की ताबिश से इसकी चोटियां
खूब बारिश कीजिए तो कल्ब में ठंडक पड़े।

नर्बदा नदी का ज़िक्र सुनिए—

राह में उज्जैन के पहले मिलेगी नर्बदा
ज़ीनत अफज़ाये लबे साहिल बिंध्याचल पहाड़।
साफ रंगत धार पतली जैसे हंसों की कतार
इक नज़र से देखते ही आप उसे जायेंगे ताड़।
महवशों की मांग के मानिंद पतली धार है
आपकी सोज़े जुदाई ने किया है हालेज़ार।

शिप्रा नदी का ज़िक्र यूं किया है—

मस्त होकर बोलती हैं सारसें हंगामे सुब्ह
काबिले नज़्ज़ारा है दरियाये सिप्रा की बहार।
मस्त-कुन बूए कमल फैली हुई है चार सू
इत्र-आगीं फिरती है बादे नसीमे खुशगवार।

गंभीरा नदी का ज़िक्र सुनिए—

ज़ेबे तन पोशाक नीली रंगते आबे रवां
बेद की शाखें लबे साहिल हैं या बेबाक हाथ।

आपकी सोज़े जुदाई से बरहना हो गई
हट गया है छोड़ कर उसका लबे साहिल भी साथ।
कीजिए सैराब उसे करके निगाहे इल्तिफात
चाहने वाले से इतनी बेरुख़ी ऐ मेघनाथ।

प्रेमी अपनी प्रेमिका की विरह-वेदना का चित्र यों खींचता है–

दिन कटे कितने जुदाई के यह करने को शुमार
रोज़मर्रा ताकचों में फूल रखती होगी या
और कितने दिन रहे बाकी विसाले यार में
उंगलियों पर गिन रही होगी बसद आहो बुका।
रोती होगी लज़्ज़ते अहदे गुज़िश्ता करके याद
शामे फुरकत में यही है औरतों का मगला।
घास के बिस्तर पे होगी एक करवट से पड़ी
सदमये सोज़े जुदाई से बसद् हाले ख़राब।
या हुजूमे यास से होगा रुख़े रौशन उदास
आखिरी तारीख का बेनूर जैसे माहताब।

प्रेमिका का नख-शिख कितना सुंदर है–

मिलती है तेरी नज़ाकत मालकंगिनी में अगर
चांद में मिलती है तेरे रूये रौशन की चमक।
चश्मे आहू में अगर मिलती हैं तेरी चितवनें
मौजे बहरे आब में है तेरे अबरू की लचक।
मिलती है जुल्फे मुअंबर गर परे ताऊस में
एक जा मिलती नहीं तेरे सरापा की झलक।

इन उद्धरणों से पाठकों को अनुवाद की खूबी का कुछ अंदाज़ा हो गया होगा। उपमा में कालिदास बेजोड़ हैं। कुछ उपमायें देखिए--

जिस तरह बदली में पज़मुर्दा कमल के फूल हों,
सदमये फुरकत से पज़मुर्दा है मेरी जाने जां।
नन्हीं-नन्हीं बूंदे क्या दिलचस्प आती हैं नज़र,
जिस तरह तागे में ही गूंधा हुआ दुर्रे खुश आब।
जुम्बिशे अबरूये पुरखम शक्ल रक्से शाखे गुल,
बेले के फूलों पे भौंरों की कतारें हैं पलक।

इतना काफी है। पूरा मजा उठाने के लिए पाठकों को पूरी किताब पढ़नी चाहिए। कीमत ज़्यादा नहीं। सिर्फ छ: आने है। कागज़-किताबत-छपाई अत्यंत मोहक। छ: सुंदर तस्वीरें हैं जिससे किताब की शोभा और बढ़ गई है। पृष्ठ संख्या चालीस। उर्दू में यह एक नई चीज़ है। इसकी कद्र करना हमारा फर्ज़ है। हज़रत आशिक घर के कोई लक्ष्मपती नहीं हैं। उन्होंने इस किताब को छापने में बहुत ज़्यादा ज़ेरबारी उठाई है मगर अभी तक पब्लिक ने जो कद्रदानी की है वह बहुत हौसला तोड़ने वाली है। यही रुकावटें हैं, जिनसे इल्मी खिदमत करने वालों के हौसले पस्त हो जाते हैं। दाद

दीजिए मगर उनकी मेहनत का सिला सिर्फ जबान तक सीमित न रखिए, कोई हर्ज न समझिये तो भगवान के नाम पर पूंजी के नुकसान से तो बचाइये ताकि उसे दुबारा आपकी खिदमत करने का हौसला हो। उर्दू अखबारों ने भी इस किताब की तरफ ध्यान नहीं दिया है। अक्सर लोगों ने तो इस पर कलम भी नहीं उठाया और जिन महाशयों ने कुछ ध्यान दिया भी तो वह बहुत सरसरी। खासतौर पर मुस्लिम अखबारों ने तो खबर ही नहीं ली। हमारे उर्दू ज़बान पर मरने वाले वतनी भाई हिन्दुओं पर उर्दू की तरफ से बेरुखी की शिकायत किया करते हैं। वह कभी-कभी उर्दू ज़बान में भाषा या संस्कृत के खयालात के न होने पर अफसोस करते देखे जाते हैं मगर जब कोई हिन्दू मनचला लिखने वाला उनकी इन प्रेरणाओं से उमंग में आकर कोई किताब प्रकाशित कर देता है तो उनकी तरफ ऐसी उदासीनता और बेरुखी बरती जाती है कि फिर उसे कभी कलम उठाने का साहस नहीं होता। मुस्लिम भाइयों को शायद यह मालूम नहीं है कि उर्दू लिखने वाला हिन्दू लेखक की स्थिति बहुत स्पृहणीय नहीं है, कोई उसे अपनी हिन्दी भाषा की बुराई चाहने वाला समझना है, कोई उस अपनी उर्दू ज़बान के हरमसरा में अनाधिकार प्रवेश का दोषी। ऐसी नागवार हालत में रह कर साहित्य-सेवा करनेवाले की अगर इतनी भी कद्र न हो कि वह आर्थिक हानि से बचा रहे तो इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है कि लिटरेचर के विस्तार और विकास को लेकर यह सब शोर-गुल बेकार है। यह जाहिर है कि संस्कृत से एक संस्कृत जानने वाला हिन्दू जितनी खूबी से अनुवाद कर सकता है, गैर संस्कृत दां मुसलमान महज़ अंग्रेज़ी तर्जुमों के आधार पर हरगिज़ नहीं कर सकता। और मुसलमान में संस्कृत जाननेवाले हैं ही कितने। यह एक और दलील है जिसकी कीमत उर्दू लिटरेचर के चाहने वालों की निगाह में खासतौर पर होनी चाहिए। हां, अगर यह खयाल है कि उर्दू ज़बान को संस्कृत से अलग-थलग रहना चाहिए और इस अलगाव से उनका कोई नुकसान नहीं, तो मजबूरी है।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अप्रैल, 1917 में प्रकाशित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित। प्रथम प्रकाशन उर्दू।]

बिहारी

संस्कृत कविता के आचार्यों ने कविता को नौ रसों में बांटा है। रस का मतलब है कविता का रंग। सौंदर्य और प्रेम, वीरता, क्रोध, हास्य, भक्ति वगैरह। सूरदास शांति और भक्ति रस के कवि थे। बिहारी सौंदर्य और प्रेम के कवि हैं। उनका रंग उर्दू की गज़लों के रंग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। हिन्दी के सब कवियों में बिहारी ही को यह विशेषता प्राप्त है। यह पता नहीं चलता कि बिहारी ने फारसी भी पढ़ी थी या नहीं। इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है लेकिन उनकी कविता के रंग पर फारसी गज़लों का रंग बहुत चोखा नज़र आता है। संभव है यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो। सौंदर्य और प्रेम के सिवाय उन्होंने किसी दूसरे रंग में कविता नहीं की और कभी

की भी तो वह नहीं के बराबर है। मगर इसके बावजूद कि उनका क्षेत्र बहुत सीमित है वह भावों की जिस ऊंचाई और गहराई तक पहुंच गये हैं वह इस रंग में किसी दूसरे हिन्दी कवि को नसीब नहीं। वह पिटी-पिटाई कल्पनाओं को कविता में नहीं बांधते। उनकी सुथरी तबीयत ऐसे विषयों से भागती है जिनमें अब कोई नयापन नहीं रहा। उनमें गालिब की-सी मौलिकता का रुझान है। गालिब की तरह उन्होंने भी प्रेम की ऊंची कसौटी अपने सामने रक्खी है और भावों को गंभीरता के स्तर से नहीं गिरने दिया। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें चंचलता नहीं है। सौंदर्य और प्रेम की बाटिका में आकर कोरा मुल्ला और रूखा-सूखा उपदेशक बनना मुश्किल है मगर बिहारी के यहां ऐसी संयमहीनता के उदाहरण बहुत कम हैं। गालिब की तरह वह भी बहुत ही कम लिखते थे। उनकी यादगार, ज़िंदगी भर की कमाई, कुल 700 दोहे हैं मगर अनुमान होता है कि यह उनकी कुल कविता नहीं बल्कि उसका चुना हुआ कुछ अंश है। जिस कवि ने जीवन भर लिखा हो वह सिर्फ 700 दोहे अपनी यादगार छोड़े इसे बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। ज़रूर अन्य कवियों की तरह उन्होंने भी बहुत कुछ लिखा होगा मगर बाद को उच्चकोटि के संयम और आत्मनिग्रह से काम लेकर उन्होंने ठीकरों में से हीरे छांट लिये और वह हीरे आज उनके नाम को चमका रहे हैं। अगर उनकी सब कविता मौजूद होती तो यह लाल गुदड़ी में छिप जाते या नजर आते तो सिर्फ पारखियों को। दस-पांच हजार शेरों या दोहों में पांच-सात सौ दोहों का अच्छा होना कोई असाधारण बात नहीं। लगभग सभी कवियों की कविता में यह गुण होता है। जिस शायर ने सारी ज़िंदगी बकवास ही की और सौ दौ सौ भी जानदार फड़कते हुए अछूते शेर नहीं निकाले उसे शायर कहना ही फिजूल है। इस हालत में बिहारी में कोई विशेषता न रहती मगर उनके चुनाव ने विस्तार को कम करके उन्हें ऊंचाई के शिखर पर पहुंचा दिया। यह हीरे की माला सतसई के नाम से प्रसिद्ध है यानी सात सौ दोहों का संग्रह। हालांकि तादाद में सात सौ दोहे कुछ ज्यादा नहीं, इस छोटे से संग्रह में कवि ने सौंदर्य और प्रेम का सागर भर दिया है। निराशा और कामना और उत्कंठा, वियोग और मिलन और उसका दाह गरज कोई भाव आंख से ओझल नहीं हुआ। उस पर बयान का सुथरापन और अलंकारों का चमत्कार इन दोहों को और भी उछाल देता है। अलंकार स्वयं कविता का उत्कर्ष है। कोई रूखा-सूखा विषय भी अलंकारों का जामा पहनकर संवर जाता है। जो जनरल सौ सिपाहियों का काम दस सिपाहियों से पूरा करे वह बेशक अपने फन का उस्ताद है। अच्छे से अच्छा, अछूता, अनोखा विषय बहुत थोड़े से शब्दों में बात कहने के आभूषण से सजा हुआ न हो तो बेमजा हो जाता है। कुछ आलोचकों ने तो इस गुण को इतना महत्त्व दिया है कि उसे कविता का पर्याय कह दिया है। उनके विचार में कविता अलंकार के सिवा और कुछ नहीं। संस्कृत के पुराने आचार्य अलंकार में बेजोड़ हैं। उन्होंने सारे उपनिषद् और पिंगल सूत्रों में लिखे हैं। सूत्र वह छोटा-सा कुल्हड़ है जिसमें दरिया बंद होता है। आज भी दुनिया के विद्वान इन सूत्रों को देखते हैं और आश्चर्य से दांतों तले दबाते हैं। तीन-चार शब्दों का एक टुकड़ा है और उसमें इतना अर्थ भरा हुआ है जो ढेरों शब्दों में भी मुश्किल से अदा हो सकता। कुछ सूत्रों

की टीका और भाष्य में बाद के लोगों ने पोथे के पोथे रंग डाले हैं। उर्दू में गालिब और नसीम ने कसाव के साथ बात कहने में कमाल दिखाया है। हिन्दी में यह सेहरा बिहारी के सर है।

कवि के स्थान का पता उसकी लोकप्रियता से चलता है। इस दृष्टि से तुलसी का स्थान पहला है। मगर बिहारी उनसे बहुत पीछे नहीं। कमोबेश तीस कवियों ने सतसई की टीका गद्य और पद्य में लिखी है। पिछले बीस सालों के अंदर इसकी तीन टीकाएं निकल चुकी हैं। इनमें एक गद्य में है और दो पद्य में। कवियों ने उन पर कते लिखे हैं। वासोख्त, तरजीअ, मुखम्मस सब कुछ है। बाबू हरिश्चन्द्र हिन्दी के वर्तमान युग के एक सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले साहित्यकार हुए हैं। उन्होंने गद्य और पद्य में कितनी ही अमर कृतियां छोड़ी हैं और आधुनिक हिन्दी नाटक के तो वह भगवान हैं। उन्होंने सतसई पर कुंडलियां चिपकाने का संकल्प किया मगर सत्तर-अस्सी दोहे से ज़्यादा न जा सके, रचना-शक्ति ने जवाब दे दिया। बिहारी ने दोहे क्या लिखे हैं कवियों के लिए लोहे के चने हैं। जब तक कोई इसी स्तर का कवि सारी उम्र इन दोहों में जान न खपाये, सफल नहीं हो सकता। हिन्दी में बिहारी ही की विशेषता है कि उनकी कविता का संस्कृत में भी अनुवाद हुआ। यह तो उस लोकप्रियता का हाल है जो बिहारी को कवियों की मंडली में प्राप्त है, जनसाधारण में भी वह कम लोकप्रिय नहीं हैं। हालांकि यहां उनका स्थान तुलसी और सूर के बाद है। उनके कितने ही दोहे, कहावत बन गये हैं और कितने ही लोगों की जबान पर चढ़े हुए हैं। बिहारी से उर्दू भी अपरिचित नहीं है। यह भी उन्हीं का दोहा है--

अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार।।

क्या इस दोहे की टीका करने की ज़रूरत है? उर्दू का साहित्यकार जब भाषा की कविता की प्रशंसा ज़ोरों से करता है तो वह इस दोहे को पेश करता है और कोई शक नहीं कि कवि ने इसमें जितना अर्थ और भाव भर दिया है वह एक पूरी गज़ल में भी अदा न हो सकता और अदा हो भी जाये तो यह लुत्फ कहां। कितने थोड़े शब्दों में कितने कसाव के साथ बात कही गई है। शब्दों का कैसा अनूठा चयन। अमिय कहते हैं अमृत को। उसका रंग काला माना गया है। उसके पीने से मुर्दा ज़िंदा हो जाता है। हलाहल कहते हैं ज़हर को। उसका रंग सफेद माना गया है। वह प्राणघातक है। मद कहते हैं शराब को। उसका रंग लाल माना गया है, उसके पीने से आदमी झुकझुक पड़ता है। यानी प्रेमिका की आंखों में अमृत भी है, विष भी और शराब भी। सुर्खी भी, सफेदी भी और सियाही भी। उसकी चितवन जिलाती है, कत्ल करती है और नशा पैदा कर देती है। झुक-झुक पड़ना कैसी मनोहर कल्पना है। नशे में भी इंसान की यही हालत होती है। उसके पैर लड़खड़ाते हैं और वह गिरते-गिरते संभल जाता है।

मुसलमान काव्यमर्मज्ञों ने भी सतसई का बहुत आदर किया। उस ज़माने के मुसलमान लोग हिन्दी में शायरी करना अपनी ज़िल्लत न समझते थे। अगर उर्दू में नसीम और तुफ्ता थे तो हिन्दी में भी कितने ही मुसलमान कवि मौजूद थे। आलमगीर

औरंगज़ेब के तीसरे बेटे आज़मशाह हिन्दी कविता के मर्मज्ञ थे। कविता की रुचि रखते थे। उन्हीं के कहने से सतसई का वर्तमान चयन कार्यान्वित हुआ। हालांकि और लोगों ने भी इस काम को किया मगर यह चयन सबसे अच्छा है। यह काव्य-नैपुण्य के विचार से किया गया है। बिहारी के सभी दोहे अलंकृत हैं। ऐसा कोई नहीं जिसमें कोई न कोई काव्य नैपुण्य न रक्खा गया हो। आज़मशाह ने दोहों की यह माला गूंधकर अपनी काव्यमर्मज्ञता का बहुत अच्छा प्रमाण दिया है। मुसलमान रईसों और कवियों ने सतसई की खूब दाद दी है। उस वक्त बावजूद राजनीतिक झगड़ों के कद्रदानी की स्प्रिट गायब न थी। शेरोसुखन के मामले में जातीय विद्वेष को एक किनारे रख दिया जाता था। सतसई के तीस टीकाकारों में पांच नाम मुसलमानों के हैं–

1 **जुलफिकार खां**–बहादुरशाह के बाद जहांदार शाह के ज़माने में अमीरुलउमरा के पद पर थे। राजनीतिक कामों में पूरे अधिकार प्राप्त थे। जहांदार शाह तो भोग-विलास में डूबे हुए थे, राज्य के सब काम जुलफिकार खां देखते थे। शहजादा फर्रुखसियर ने जब बंगाल से आकर जहांदार शाह पर धावा किया और कई लड़ाइयों के बाद दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया, जुलफिकार खां ने विश्वासघात किया, जहांदार शाह को गिरफ्तार करवा दिया। मगर फर्रुखसियर ने गद्दी पर बैठने के बाद जुलफिकार को भी कत्ल करवा दिया। यह हिन्दी कविता के प्रशंसक थे। इन्हीं की फरमाइश से कवियों ने सतसई की एक बहुत अच्छी टीका तैयार की जो आज तक मौजूद है। संभवत: वे खुद भी कवि थे और इससे तो इंकार ही नहीं हो सकता कि वह कविता के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे।

2 **अनवर चन्द्रिका**–नवाब अनवार खां के दरबार के कवियों ने सतसई पर यह टीका लिखी। रचना काल सन् 1828 ई०।

3 **रस चन्द्रिका**–ईसा खां उन्नीसवीं सदी में अच्छे हिन्दी कवि हुए हैं। नरवरगढ़ के राजा छत्रसिंह के संकेत पर उन्होंने यह टीका पद्य में तैयार की। बिहारी के दोहों का क्रम उन्होंने अकारादि क्रम से दिया है। रचनाकाल सन् 1866 ई०।

4 **यूसुफ खां की टीका**–यूसुफ खां का विस्तृत विवरण ज्ञात नहीं है, मगर उनकी टीका मार्के की है। रचनाकाल अनुमानत: सन् 1860 ई० है।

5 **पठान सुल्तान की टीका**–रियासत भोपाल के जिले राजगढ़ के नवाब सुल्तान पठान ने सन् 1817 में यह टीका पद्य में लिखी। हिन्दी के अच्छे कवि थे। यह संभवत: उनके दरबार के कवियों की लिखी हुई नहीं बल्कि खुद उन्हीं की लिखी हुई है। यह टीका अब अप्राप्य है।

लेकिन कितने खेद का विषय है कि इस ख्याति और लोकप्रियता और कला की निपुणता के बावजूद बिहारी की जिंदगी पर एक बहुत अंधेरा पर्दा पड़ा हुआ है। न उनके समकालीन कवियों ने उनकी कोई चर्चा की और न उन्होंने खुद अपने बारे में कुछ लिखा। उनके समकालीनों की कमी न थी। कमोबेश साठ कवि उनके समकालीन थे। उन सबकी कवितायें मिलती हैं मगर बिहारी के बारे में किसी ने कुछ नहीं लिखा। उनके निजी हालात पूरी तरह केवल उनके तीन दोहों पर निर्भर हैं और वह भी साफतौर पर समझ में नहीं आते। हिन्दी के इतिहासकार बहुत दिनों से जांच-पड़ताल कर रहे

हैं और अब तक इस अनुसंधान का निष्कर्ष यह है कि बिहारी अठारहवीं शताब्दी के मध्य पैदा हुए। सतसई समाप्त करने की तारीख बिहारी ने सन् 1817 ई० दी है। मुमकिन है उसके बाद कुछ दिन और ज़िंदा रहे हों। अनुमान से मालूम होता है कि उन्होंने बड़ी उम्र पाई। ग्वालियर के पास एक मौज़े में पैदा हुए। लड़कपन बुंदेलखंड में गुज़रा। मथुरा में उनकी शादी हुई थी। वहीं उम्र का ज़्यादा बड़ा हिस्सा गुज़ारा। उनकी ज़बान ब्रज भाषा है मगर उसमें बुंदेलखंडी शब्द बहुत आये हैं, जिससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि उनका ब्रज और बुंदेलखंड दोनों ही से अवश्य संबंध था। जाति के चौबे ब्राह्मण थे। कुछ अलोचकों ने उन्हें भाट बताया है मगर इस विचार का समर्थन नहीं होता। अनुमानत: जिस ज़माने में सतसई खत्म हुई है, उनकी उम्र साठ से कुछ ही कम थी मगर इतना ज़माना उन्होंने किस काम में खर्च किया इसका कुछ पता नहीं। संभव है दोहे लिखे हों मगर वह ज़माने के हाथों बर्बाद हो गये हों। बिहारी खुशहाल न थे। और इस ज़माने के रिवाज के मुताबिक राजाओं और रईसों के दरबार में जीविका के लिए हाज़िर होना ज़रूरी था। मगर सतसई के पहले उनके किसी की सेवा में उपस्थित होने का पता नहीं चलता। उम्र का बहुत बड़ा हिस्सा अज्ञात रूप से काटने के बाद ये जयपुर पहुंचे। वहां उस वक्त सवाई राजा जयसिंह गद्दी पर थे। दरबार के लोगों से महाराज की सेवा में अपना सलाम अर्ज़ कराने की दरख्वास्त की। महाराज उन दिनों एक कमसिन छोकरी के प्रेम के जाल में बेतरह फंसे हुए थे। राज्य का काम-काज छोड़ बैठे थे। रनिवास में बैठे प्रेमिका की रूप-सुधा का पान किया करते। सैर व शिकार से नफरत थी। दरबारी महीनों उनकी सूरत न देख पाते। उन्होंने बिहारी से इस प्रसंग में अपनी असमर्थता प्रकट की। जब महाराज बाहर निकलते ही नहीं तो सिफारिश कौन करे और किससे करे। मगर बिहारी निराश न हुए। एक रोज़ उन्हें एक मालिन फूलों की एक टोकरी लिये महल में जाती हुई दिखाई पड़ी। उन्होंने सोचा कि ये फूल महाराज की सेज पर बिछाने के लिये जाते होंगे। उन्होंने फौरन निम्नांकित दोहा लिखा और उसे मालिन की टोकरी में डाल दिया-

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहीं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल।।

अर्थात् अभी न रस है न गंध है न फूल खिल पाया है। अभी वह एक बिनखिली कली है। अभी ही से इस तरह उलझ गये तो आगे क्या हालत होगी।

यह कागज़ का पुर्ज़ा महाराज के हाथ लगा, दोहा पढ़ा, आंख खुल गई। दरबारियों को तलब किया। लोग बड़े खुश हुए, चलो किसी तरह महाराज बरामद तो हुए। महाराज ने दरबार में वह दोहा पढ़ा और कहा, जिसने यह दोहा लिखा हो उसे फौरन हाजिर करो। बिहारी ने आगे बढ़कर सलाम अर्ज़ किया। महाराज बहुत खुश हुए। बिहारी का बहुत स्वागत-सत्कार किया और कहा, मुझे अपनी कविता रोज़ सुनाया करो। बिहारी ने फरमाइश कुबूल की और रोज़ कुछ दोहे लिखकर महाराज को सुनाने लगे। महाराज के यहां यह पुर्ज़े नत्थी किये जाने लगे। कुछ दिनों बाद बिहारी को अपनी जन्मभूमि की याद आई। महाराज से छुट्टी मांगी। महाराज ने दोहों को गिनने का हुक्म दिया। सात सौ से कुछ ज़्यादा निकले। महाराज ने सात सौ अशर्फियां इनाम के तौर पर

देकर बिहारी को रुखसत किया। आज की हालतों का ख़याल कीजिये तो यह रकम कम न थी। इसके लगभग बीस हज़ार रुपये होते हैं और उस ज़माने में एक रुपये की कीमत पांच रुपये से कम न होगी। मगर वह ज़माना इतनी सस्ती कद्रदानी का न था। आजकल तो मामूली जलसों में हमारे कवि की प्रतिभा चमक उठती है और जंट साहब बहादुर नौशेरवां से मिला दिये जाते हैं। कहीं साहब कलक्टर बहादुर रुस्तम और इसफ़दियार से बढ़ा दिये जाते हैं मगर इसका बहुमूल्य पुरस्कार इसके सिवा और कुछ नहीं कि जब हमारे कवि महोदय उन साहब की कोठी पर हाज़िर हों तो कमरे में से एक गुर्राती हुई आवाज़ सुनाई दे, 'कुर्सी लाओ' और अगर किसी रईस के दस्तर्खान पर मीठे लुक्मे चखने की इज़्ज़त हासिल हो गई तब तो कवि जी की कल्पना आसमान के सितारों की खबर लाती है। शुक्र है कि इसी बहाने से हमारी कविता रोज़-ब-रोज़ भटई के दोष से मुक्त होती जाती है। मगर बिहारी के ज़माने में कवियों को उनके नैपुण्य के अनुसार इनाम-इकराम और जागीरें देने का आम रिवाज था। रईस अपनी कद्रदानी में एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की कोशिश करते थे। भूषण को महाराज शिवाजी ने एक कवित्त के पुरस्कार-स्वरूप बीस हज़ार रुपये और पच्चीस हाथी दिये थे और अगर किंवदंतियों पर विश्वास किया जाये तो एक ही कवित्त के पुरस्कार-स्वरूप इसी देशभक्त राजा ने इस भाग्यशाली कवि को अठारह लाख रुपये दिये। वह इस कवित्त को सुनकर इतना खुश हुआ कि भूषण से उसे बार-बार पढ़ने की फरमाइश की। भूषण ने इसे अठारह बार पढ़ा मगर आखिरकार उन्नीसवीं बार उनके धीरज ने जवाब दे दिया। शिवाजी ने अठारह बार पढ़ने के लिए अठारह लाख रुपये दिये और अफसोस किया कि कवि ने इससे ज़्यादा धीरज से काम क्यों न लिया। पन्ना के महाराज छत्रसाल इन भूषण को कुछ इनाम देने के बाद उनकी पालकी को अपने कंधे पर उठाकर कई कदम ले गये। इन कद्रदानियों के मुकाबले में बिहारी को जो इनाम मिला वह इतना उत्साहवर्धक नहीं कहा जा सकता। ये मिसालें उस वक्त ताज़ा थीं। बिहारी ने उनके चर्चे सुने थे। वह जयपुर से भग्न हृदय लौटे। शायद यही कारण हो कि सतसई में सवाई जयसिंह की स्तुति में एक दोहा भी नहीं है। एक दोहा सिर्फ उनके शीशमहल की प्रशंसा में है। बल्कि दो दोहों में उन्होंने इशारे से जयसिंह की नाकद्री की शिकायत भी की है हालांकि पाक निगाहें उनमें तारीफ ही देखती हैं। इस इनाम की बात अगर छोड़ भी दें तो बिहारी की वह आवभगत जयपुर में नहीं हुई जिसकी इतने कद्रदां दरबार में उन्होंने उम्मीद की थी। भूषण ने राजा छत्रसाल के भक्तिपूर्ण कवि-सत्कार को शिवाजी की उदारता से श्रेष्ठतर समझा था। कवि के मन में केवल धन-संपदा की हवस नहीं होती, उसमें प्रशंसा पाने की इच्छा भी होती है। यदि काव्यमर्मज्ञ को प्रशंसा के साथ उसका थोड़ा-सा व्यावहारिक सत्कार भी हो जाये तो वह प्रसन्न हो जाता है। मगर प्रशंसा के बिना कारूं का खज़ाना भी उसे खुश नहीं कर सकता। राजा छत्रसाल अभी जीवित थे। बिहारी जयपुर से निराश होकर इसी आदमियों के पारखी राजा के दरबार में पहुंचे और सतसई उनकी सेवा में उपस्थित करके योग्य प्रशंसा चाही। छत्रसाल खुद भी अच्छे कवि थे। दिल में उमंग थी। उनका दरबार सिद्धहस्त कवियों का केंद्र बना हुआ था। इन कवियों

ने सतसई को गौर से देखा, परखा, तोला और बिहारी की कला के प्रशंसक हो गये। हालांकि इसी दरबार में एक कवि ने द्वेषवश बिहारी को बुरा-भला भी कहा मगर उसकी कुछ नहीं चली। राजा साहब ने बिहारी को बुरा-भला भी कहा मगर उसकी कुछ नहीं चली। राजा साहब ने बिहारी को पांच गांव की जागीर दी। इस दरबार के स्वागत सत्कार से बिहारी बहुत प्रसन्न हुए मगर वे तो यहां अपने काव्य की प्रशंसा पाने के उद्देश्य से आये थे, जागीर पाने के लिए नहीं। जागीर धन्यवाद के साथ लौटा दी। महाराज जयसिंह को भी इस घटना की खबर मिली। उनके त्याग पर वह बहुत प्रसन्न हुए, फिर उन्हें दरबार में बुलाया और पिछली भूलों के लिए माफी चाहकर दो अच्छी आमदनी वाले मौज़े दिये। बिहारी ने उनको शुक्रिये के साथ कुबूल कर लिया। वह अब तक उनके उत्तराधिकारियों के अधिकार में हैं।

बिहारी का अब बुढ़ापा आ गया था। साठ से ऊपर हो गये थे। ज़्यादा सैर व सफर की ताकत न थी। मथुरा लौट आये। यहां इन दिनों जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह भी आये हुए थे। उन्होंने बहुत दिनों से बिहारी की तारीफ सुन रक्खी थी। उनसे मिलने के इच्छुक थे। खुद भी काव्यमर्मज्ञ थे, कविता पर एक मार्के की किताब भी लिखी थी जो आज तक कवियों में प्रामाणिक समझी जाती है। बिहारी को उनसे भेंट करने की कम उत्कंठा न होगी। महाराज ने उनके काव्य की प्रशंसा की, कहा—थारी कविता में सूलो लग्यो यानी तुम्हारी कविता में कीड़े पड़ गये। बिहारी ने इस द्वयर्थक प्रशंसा को न समझा। घर चले आये, उदास थे। उनकी लड़की समझदार थी। उदासी का कारण पूछा। बिहारी ने राजा जसवंतसिंह की वह पहेली उससे बयान की। लड़की उसका मतलब समझ गई, बोली महाराज का आशय यह है कि आपकी कविता में जान पड़ गई है। बिहारी को भी यही व्याख्या उचित जान पड़ी। महाराज जसवंतसिंह से जब दूसरे दिन ज़िक्र आया तो वह बहुत खुश हुए और बोले, हां मेरा यही आशय था। बिहारी के बारे में इससे ज़्यादा और कुछ नहीं मालूम है, वह कब मरे और कहां मरे। हां उनके एक बेटे थे जिनका नाम कृष्ण था। वह भी कवि हुए हैं।

बिहारी की कविता के कुछ नमूने ज़रूरी हैं हालांकि उर्दू लिबास पहनकर उनकी शक्ल बहुत कुछ बदल जाती है। गालिब के दीवान की तरह बिहारी सतसई के अर्थो के संबंध में टीकाकारों में अक्सर मतभेद है। उनके दोह बहुत जटिल, कठिन और पेचीदा होते हैं। वह मोती हैं जो डूबने से हाथ आते हैं।

मानहुं विधि तन अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबैं काज,
दृग पग पोंछन कों किए, भूषन पायंदाज़।

यहां बिहारी ने नाजुक-ख़याली का कमाल दिखाया है—यानी प्रकृति-रूपी कारीगर ने प्रेमिका के कोमल तन पर आभूषणों का पायंदाज़ बना दिया है ताकि निगाह के पांव से उस पर गर्द न आ जाये। 'पाअंदाज़' उर्दू शब्द है, कवि ने उसका प्रयोग किया है। बिहारी अक्सर उर्दू, फारसी और अरबी शब्द लाते हैं और बड़ी खूबी से लाते हैं। मतलब यह है कि प्रेमिका का बदन इतना नाजुक और सुथरा है कि निगाहों से भी मैला हो जाता है, इसलिए ज़रूरी है कि जेवरों पर पैर साफ करके निगाह

उसके रूप के साफ फर्श पर कदम रक्खे। रूप की क्या स्वच्छता है जो दृष्टि पड़ने से मैली पड़ जाती है। 'पाये निगाह' गालिब ने भी इस्तेमाल किया है। ज़ेवर प्रेमिका के रूप को चमकाने के लिए नहीं बल्कि निगाहों के पैर की गर्द पोंछने के लिए। एक उर्दू शायर ने माशूक की नज़ाकत की इस रूप में कल्पना की है–

क्या नजाकत है कि आरिज़ उनके नीले पड़ गये
मैंने तो बोसा लिया था ख्वाब में तस्वीर का।

कपूरमणि को उर्दू में कहरुबा कहते हैं अर्थात् प्रेमिका के गले में मोतियों की माला उसके शरीर के सोने-जैसे रंग में मिलकर कुछ पीलापन लिए हुए कहरुबा-सी हो जाती है। उसकी सहेली को धोखा होता है और वह घास के तिनके से उस माला को छूती है क्योंकि कहरुबा में घास को खींचने का गुण होता है। वह सोचती है कि यह तो मोतियों की माला थी, कहरुबा क्योंकर हो गई। इस संदेह को दूर करने के लिए वह उसके खरियाई गुण की परीक्षा लेती है। अमीर लखनवी का एक शेर देखिये–

मुनकिरे यकरंगिये माशूक व आशिक थे जो लोग
देख लें क्या रंगे काहो कहरुबा मिलता नहीं
कहे ज बचन बियोगिनी बिरह बिकल अकुलाइ।
किये न का अंसुवा-सहित, सुआ तिबोल सुनाइ।।

इस दोहे में कवि ने कल्पना की उड़ान को चोटी पर पहुंचा दिया है। उर्दू में शायद ही किसी शायर ने इस मजमून को अदा किया है। यानी प्रेमिका वियोग के दुख से बेचैन होकर अकेले में अपने दर्दभरे दिल से जो बातें करती है उसे पिंजड़े में बैठा हुआ तोता सुन लेता है और उसे वही दर्दनाक शब्द दुहराते सुनकर लोगों की आंखों में आंसू भर आते हैं। माशूक ने पर्दा डालने की कितनी कोशिश की मगर आखिर भेद खुल गया। इसमें कैसी सुकुमार कवि-कल्पना है और इस तोते के दुहराने में भी यह असर है कि सुनने वाले दिल को हाथों से थाम लेते हैं और रोने लगते हैं। इससे उसके दर्द का अंदाजा हो सकता है। फारसी का एक मशहूर शेर है–

सब्ज खत्त बखते सब्ज़ मरा कर्द असीर
दाम हमरंग ज़मीं बूद गिरफ्तार शुदेम

सायब ने इस शेर के बदले अपना सारा दीवान देना चाहा था। बिहारी के इस दोहे में यही कोमल वास्तविकता और अपेक्षाकृत अधिक नर्मी है।

तच्यो आंच अब बिरह की, रह्यो प्रेम-रस भींजि।
नैननु के मगु जलु बहै, हियौ पसीजि पसीजि।।

इसी खयाल को फारसी शायर ने यूं अदा किया है–

चे मी पुरसी ज़े हाले मा दिले गमदीदा अत चूं शुद
दिलम शुद खूं व खूं शुद आब व आब अ॰ चश्म बेरूं शुद

इस दोहे और फारसी शेर में इतना सादृश्य है कि उसे टक्कर कहना चाहिए, क्योंकि दोनों कवि ऊंचे दर्जे के हैं और चोरी का संदेह किसी पर नहीं हो सकता।

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन मांह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छांहौ चाहति छांह।।

मतलब यह है कि जेठ की जलती हुई दुपहरी से घबराकर छांह भी छांह ढूंढ़ती फिरती है। इसलिए वह जंगल में और मकानों के अंदर छिपती फिरती है।

ऋतुओं पर भी बिहारी ने लिखा है। हेमंत यानी पूस का यों ज़िक्र करते हैं–

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरान,
घरहिं जंवाई लौं घट्यो खरो पूस दिनमान।

यानी जिस तरह घर जमाई की इज़्ज़त ससुराल में कुछ नहीं होती, उसके आने-जाने का कोई ख्याल करता मालूम नहीं होता कि वह कब आता है और कब जाता है, उसी तरह पूस में दिन के आने-जाने की कोई खबर नहीं होती।

बरसात का ज़िक्र यों करता है–

हठ न हठीली करि सके यहि पावस ऋतु पाइ।
आन गांठ घुटि जाति ज्यों मान गांठ छुटि जाइ।।

यानी वर्षा ऋतु में रूठी हुई प्रेमिका भी हठ नहीं कर सकती। बरसात में रस्सी की गांठ मज़बूत हो जाती है मगर हठ की गांठ ढीली पड़ जाती है।

दूसरे बड़े कवियों की तरह बिहारी ने भी नेचर का और मानव प्रकृति का बहुत गहरा अध्ययन किया था। विशेष रूप से सौंदर्य और प्रेम की भावनाओं का जैसा सच्चा और सम्यक् चित्र उन्होंने खींचा है वह किसी दूसरे हिन्दी कवि के बस के बाहर है। मगर इस बागीचे में इतने कांटे हैं कि किसी कवि का दामन कांटा लगे बगैर नहीं रह सकता। जब गालिब जैसा सावधान व्यक्ति भी इन कांटों में उलझने से न बचा तो दूसरों का क्या ज़िक्र।[1]

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', अप्रैल, 1917 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग 1 में संकलित।]

केशव

काव्य-मर्मज्ञों ने केशव को हिन्दी का तीसरा कवि माना है लेकिन केशव में वह उड़ान नहीं जो बिहारी की अपनी विशेषता है। तुलसी, सूर, बिहारी, भूषण आदि कवियों ने विशेष शैलियों में अपनी सर्वोत्तम योग्यता लगाई। तुलसी भक्ति की तरफ झुके, सूरदास प्रेम की तरफ, बिहारी ने प्रेम के रहस्यों में गोता लगाया और भूषण बहादुरी के मैदान में झुके लेकिन केशव ने विशेष रूप से अपना कोई ढंग नहीं अख्तियार किया। वह सौंदर्य और अध्यात्म और भक्ति, सभी रंगों की तरफ लपके और यही कारण है कि किसी रंग में चोटी पर न पहुंच सके। केशव में काव्य-कौशल कम

1 इस लेख में हिन्दी नवरत्न, बिहारी-विहार और सतसई सिंगार से मदद ली गई। यह आखिर लेख स्वर्गीय ज्वालाप्रसाद मिश्र की पुस्तक की बड़ी मनोरंजक समालोचना है जो सन् 1912 में कई महीने तक क्रमशः 'सरस्वती' में निकली थी। इसके लिए लेखक इन सब विद्वानों का ऋणी है।

न था और संभव है कि किसी एक रंग के पाबंद रहकर वह दूसरे तुलसीदास बन सकते। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि वह आखिरी दम तक अपने को समझ न सके, अपने स्वभाव की थाह न पा सके और यह दृष्टि-दोष कुछ उन्हीं तक सीमित नहीं है। हमारे लेखकों और कलाकारों का बहुत बड़ा हिस्सा इस अज्ञान का शिकार पाया जाता है। अपने स्वाभाविक रंग को पहचानना आसान काम नहीं है। तो भी कविता के रंग की दृष्टि से केशव की रुचि सौंदर्य और प्रेम की ओर ज्यादा झुकी हुई दिखाई देती है। एक मौके पर अपने बुढ़ापे का रोना रोते हुए वह कहते हैं कि अब सुंदरियां उन्हें प्रेम की आंखों से नहीं बल्कि आदर की दृष्टि से देखती हैं और उन्हें बाबा कहकर पुकारती हैं। मजे की बात यह है कि उनकी ख्याति प्रेम-विषयक काव्य पर नहीं बल्कि पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखने पर आधारित है। 'रामचन्द्रिका' जो उनकी सबसे ज़्यादा जानी-मानी कृति है शायद हिन्दी भाषा में तुलसीदास की रामायण के बाद सबसे अधिक लोकप्रिय पुस्तक है।

केशव तुलसीदास के समकालीन थे। उनका जन्म संवत् प्रामाणिक रूप से पता नहीं लेकिन अनुमान से सन् 1552 के लगभग ठहरता है और मृत्यु संभवत: सन् 1612 की है। सूरदास के देहांत के समय केशव की अवस्था बारह साल थी। तुलसीदास का देहांत सन् 1625 में हुआ। इस हिसाब से केशव की मृत्यु बारह-तेरह साल पहले हुई। उनकी जन्मभूमि ओरछा थी जो अब भी बुंदेलखंड की एक प्रसिद्ध रियासत है और उस ज़माने में तो सारा बुंदेलखंड ओरछा के अधीन था। अकबरी दरबार में ओरछा के राजा की खास इज़्ज़त थी। यह अकबर का काल था और ओरछा में राजा रामसिंह गद्दी पर थे। रामसिंह अकबर के दरबार में पहली कतार में जगह पाते थे और ज़्यादातर आगरे में ही रहते थे। रियासत का प्रबंध इन्द्रजीत के योग्य हाथों में था। केशव इस राज्य के नमक खाने वालों में थे। उन्होंने अपनी कविता में जगह-जगह इन्द्रजीत की कृपा का गुणगान किया है। ओरछा बेतवा नदी के किनारे स्थित है। यह जमुना की एक सहयोगिनी नदी है जो हमीरपुर में जमुना से आकर मिल जाती है। अधिकतर पहाड़ी इलाकों से गुजरने के कारण इस नदी का पानी बहुत स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद है और जहां कहीं वह घाटियों में होकर बही है वहां के दृश्य देखने योग्य हैं। केशव ने जगह-जगह बेतवा नदी की प्रशंसा की है।

इन्द्रजीत एक रसिक स्वभाव का राजा था। उसके प्रेम की पात्रियों में रायप्रवीन नाम की एक वेश्या थी। उसके सौंदर्य की दूर-दूर तक चर्चा थी। वह कविता भी करती थी। अकबर ने भी उसकी तारीफ सुनी। देखने का शौक पैदा हुआ। इन्द्रजीत को हुक्म हुआ कि उसे हाज़िर करो। इन्द्रजीत दुविधा में पड़ा। आदेश का उल्लंघन करने का साहस न होता था। उस वक्त रायप्रवीन ने दरबार में जाकर अपना एक कवित्त पढ़ा जिसका आशय यह है कि आप राजनीति से परिचित हैं, मेरे लिए कोई ऐसी राह निकालिए कि आपकी आन भी बनी रहे और मेरे सतीत्व में भी धब्बा न लगे–

जामे रहे प्रभु की प्रभुता अरु
मोर पतिब्रत भंग न होई।

इस कवित्त ने इन्द्रजीत की हिम्मत मज़बूत कर दी। उसने रायप्रवीन को शाही दरबार में न भेजा। अकबर इस पर इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने इन्द्रजीत पर आज्ञा का उल्लंघन करने के अभियोग में एक करोड़ रुपया जुर्माना किया। मालूम नहीं यह किवदंती कहां तक ठीक है। अकबर की कुल आमदनी उस वक्त बीस करोड़ सालाना से ज़्यादा न थी। एक करोड़ की रकम एक ऐसे जुर्म के लिए कल्पनातीत सज़ा कही जा सकती है। बहरहाल जुर्माना हुआ और इन्द्रजीत को किसी ऐसे वाणी-कुशल आदमी की ज़रूरत हुई जो अकबर से यह जुर्माना माफ करवा दे।

इस काम के लिए केशव को चुना गया और वह आगरा पहुंचे। यहां राजा बीरबल अकबर के खास दरबारियों में थे जो उसके मिज़ाज को समझते थे। खुद भी सिद्धहस्त कवि थे और कवियों का सम्मान भी करते थे। केशव ने उनका दामन पकड़ा और उनकी स्तुति में एक कवित्त पढ़ा। बीरबल इससे इतना प्रसन्न हुए कि अकबर से सिफारिश करके वह जुर्माना ही नहीं माफ करा दिया बल्कि छः लाख की हुन्डियां जो उनकी जेब में थीं निकालकर केशव को दे दीं। अगर यह किंवदंती सच है तो यह उस युग के उदार साहित्य-प्रेम का एक अनोखा उदाहरण है। कैसे दानी लोग थे जो एक-एक कवित्त पर लाखों लुटा देते थे। हम यह नहीं कहते कि यह दान उचित था या ऐसी बड़ी-बड़ी रकमें ज़्यादा अच्छे कामों में खर्च न की जा सकती थीं। लेकिन इससे कौन इंकार कर सकता है कि वह बड़े जिगरे के लोग थे। अपव्यय के लिए बदनाम होना चाहते थे लेकिन कंजूसी की बदनामी गवारा न थी। केशव यहां से सफल लौटे तो ओरछा में उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ और वह राजदरबारियों में गिने जाने लगे। उधर रायप्रवीन ने भी अकबर के पास एक दोहा लिखकर भेजा जिससे उसकी गहरी सूझ-बूझ का प्रमाण मिलता है–

बिनती रायप्रवीन की सुनिए साह सुजान
जूठी पातर भखत हैं बारी बायस स्वान

यानी जूठी पत्तल बारी, कुत्ते वगैरह खाते हैं। मेरी यह अर्ज़ कुबूल हो....इस दोहे का जो असर अकबर पर हुआ होगा उसका अनुमान किया जा सकता है। उसने फिर रायप्रवीन का नाम नहीं लिया।

केशवदास ने अपनी स्मृति-स्वरूप चार पुस्तकें छोड़ी हैं। इनमें दो को तो ज़माने ने भुला दिया लेकिन दो अब भी जानी जाती हैं–कविप्रिया और रामचन्द्रिका। कविप्रिया में कवि ने अपनी ज़िंदगी के हालात और अपने उदार काव्य-मर्मज्ञ राजा के संबंध में लिखा है। इसके अलावा इसमें काव्य के अलंकारादि, काव्य की विभिन्न शैलियां, उसके गुण-दोष और प्राकृतिक दृश्यों पर भी अपनी लेखनी का चमत्कार दिखलाया है। कवि ने इस कृति पर अपनी सारी काव्य-शक्ति खर्च कर दी है और कई मौकों पर इसका बड़े गर्व के साथ उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि ऐसी पुस्तक लोकप्रिय नहीं हो सकती, लेकिन कवियों के समाज में उसे आज तक विशेष सम्मान प्राप्त है। नये कवियों के लिए तो उसका अध्ययन आवश्यक समझा जाता है। सच तो यह है कि इस किताब ने केशव की गिनती उस्तादों में करा दी है। लेखक बहुत बार अपनी पुस्तक का स्थान उसमें लगे हुए अपने परिश्रम के अनुसार निश्चित करता

है और चूंकि ऐसी पांडित्यपूर्ण पुस्तकों में कवि अधिकतर दूसरे कवियों को ही संबोधित करता है इसलिए उसे कदम कदम पर संभलने की ज़रूरत होती है कि कहीं उसका उस्तादी का दावा उपहासास्पद न बन जाय। कवि बड़ी गंभीर और पैनी दृष्टि से उसके दावे की जांच पड़ताल करते हैं और उसके गुणों को चाहे एक बार आंख की ओट कर भी दें लेकिन दोषों को हरगिज़ नहीं छोड़ते। वह देखते हैं कि जिन सिद्धांतों की यहां स्थापना की गई है उनका पालन भी हुआ है या नहीं। अगर कवि इस कसौटी पर ठीक न उतरा तो गर्दन मार देने के काबिल करार दिया जाता है। सब दरबारों में रिश्वत चलती है लेकिन कवियों के दरबार में रिश्वत का गुज़र नहीं। यह अदालत कभी रहम करने की गलती नहीं करती। इस दरबार ने कविप्रिया को परखा और तोला और केशवदास को भाषा के कवियों की उस मंडली में तीसरी जगह दे दी जिसमें पहला स्थान सूर का और दूसरा तुलसी का है।

लेकिन जैसा हम कह चुके हैं 'कविप्रिया' की ख्याति विशेष लोगों तक ही सीमित है। साधारण लोगों में उन्हें जो लोकप्रियता प्राप्त है वह उनकी अमरकृति 'रामचन्द्रिका' का प्रसाद है। इसमें रामचन्द्र जी की कथा लिखी गई है मगर केशव ने राम को अवतार मानकर और खुद उनका सच्चा भक्त बनकर अपने को बिल्कुल बेज़बान नहीं कर दिया है। उन्होंने तुलसीदास के मुकाबले में ज़्यादा आज़ादी से काम लिया है और जहां कहीं रामचन्द्र या किसी दूसरे केरेक्टर में उन्हें कोई दोष दिखाई पड़ा है तो उन्होंने उसे गुण बनाकर दिखाने की कोशिश नहीं की बल्कि स्पष्ट शब्दों में उस पर आपत्ति की है। तुलसीदास ने रावण के साथ अन्याय किया है और उसे एक मनस्वी, प्रतिष्ठित और स्वाभिमानी राजा के पद से गिराकर घृणा का पात्र बना दिया है, हालांकि उसे इस तरह से अपमानित करने के बाद भी वह रावण का कोई ऐसा आचरण न दिखा सके जो इस घृणा की पुष्टि करता। रावण ने अगर कोई पाप किया तो यह कि उसने रामचन्द्र को मनुष्येतर प्राणी समझकर उनके सामने सिर नहीं झुकाया। विभीषण रावण का छोटा भाई था। संभव है वह भगवान से डरने वाला और नेम-धरम का पक्का रहा हो, संभव है उसे रावण का राज्य-संचालन और उसका आचरण न भाता हो लेकिन यह इसके लिए काफी कारण नहीं है कि वह अपने भाई के दुश्मन से जा मिले और घर का भेदी बनकर लंका ढाये। उसका यह कार्य राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यंत घृणित है। तुलसीदास ने उसे आस्तीन के सांप के बदले भक्त बनाकर दिखाना चाहा है लेकिन बावजूद वह सब रंग चढ़ाने के जैसा कि एक कवि करता है, वह उसे सिर्फ बगुला भगत बनाने में सफल हुए हैं। हिन्दुस्तान के लिए जयचन्द ने जो किया, राजपूताने के लिए समरसिंह ने जो किया, दारा के लिए सरहंगों ने जो किया वही विभीषण ने रावण के साथ किया। रामचन्द्र के हाथों ऐसे शैतान की वही दुर्गत होनी चाहिए थी जो सिकन्दर के हाथों सरहंगों की हुई थी लेकिन रामचन्द्र ने उसे राजगद्दी और मुकुट देकर जैसे देशद्रोह और परिवार-हत्या को बढ़ावा दिया है। जिस कथा को सारी जाति धार्मिक विश्वास की दृष्टि से देखती हो उसमें ऐसे कमीने नीच आचरण को दंड न देना एक अत्यंत खेदजनक दोष है। हिन्दुस्तान का इतिहास देशद्रोह और विश्वासघात से भरा हुआ है लेकिन क्या अजब है विभीषण

को उचित दंड देना इन गुमराहियों में से कुछ को दूर कर सकता। आज अगर इंगलिस्तान को पार्लियामेंट का कोई मेम्बर न्याय के आधार पर किसी ऐसी बात का समर्थन करता है जिसमें इंगलिस्तान की नुकसान पहुंचने का डर हो तो उस पर चारों तरफ से घृणा की बौछार पड़ने लगती है। यह देश-प्रेम का युग है, जब वैयक्तिक और पारिवारिक स्वार्थ को देश पर बलिदान कर दिया जाता है। आश्चर्य तो यह है कि संस्कृत कवियों ने भी विभीषण की कुछ खबर न ली और यह सेहरा केशवदास के लिए छोड़ दिया। केशव एक राजा के दरबारी थे, शाही दरबारों के अदब-कायदे से परिचित, देशप्रेम का महत्त्व समझने वाले, अत: उन्होंने रामचन्द्र के बड़े बेटे लव की ज़बान से विभीषण को खूब खरी-खरी सुनाई है। जब रामचन्द्र अपना दल सजाकर लव के मुकाबले में चले तो विभीषण भी उनके साथ था। लव ने उसे देखकर खूब आड़े हाथों लिया-''अत्याचारी ! परिवार को कलंकित करने वाला। अगर तुझे रावण का आचरण पसंद न था तो जिस समय रावण रामचन्द्र जी की पत्नी को हर लाया था उसी समय तू रावण को छोड़कर क्यों राम के पास नहीं चला आया ! तुझे धिक्कार है ! तू ज़हर क्यों नहीं पी लेता ! जाकर चुल्लू भर पानी में डूब क्यों नहीं मरता ! तुझे अब भी शरम नहीं आती कि तू हथियार बांधकर लड़ने निकला है ! पापी, तुझे अपनी भावज को ब्याहते शर्म न आयी जिसे तूने कितनी ही बार मां कहकर पुकारा होगा !''

संस्कृत में पद्य-बद्ध आख्यायिका लिखने की दो पद्धतियां हैं। एक में तो कवि की दृष्टि अपनी कथा पर रहती है, वह कथा को प्रधान समझता है और अलंकारों को गौण। दूसरे रंग में कवि की दृष्टि अलंकारों आदि पर रहती है, कथा को वह केवल अपने काव्य-कौशल और रचना-चातुर्य का एक साधन बना लेता है। पहली पद्धति वाल्मीकि और व्यास की है और दूसरी पद्धति कालिदास और भवभूति की। तुलसीदास ने पहली पद्धति अपनाई, केशव ने दूसरी पद्धति को पसंद किया और अपने काव्य चातुर्य की दृष्टि से उनका यह चुनाव शायद अच्छा रहा क्योंकि उनमें वह कविजनोचित कोमलता और वह गहरी संवेदनशीलता न थी जिसने तुलसीदास की कविता को सदाबहार फूल बना रक्खा है। इस कमी को पूरा करने के लिए काव्यशिल्प और अलंकार की आवश्यकता थी। यही कारण है कि केशवदास की कविता काफी कठिन है लेकिन उसके कठिन होने का एक कारण यह और हो सकता है कि उस समय तक हिन्दी भाषा प्रौढ़ नहीं हुई थी। विद्वानों की मंडली में संस्कृत की चर्चा थी, बिल्कुल उसी तरह जैसे सौदा के ज़माने में फारसी की। अत: तुलसीदास और केशव दोनों भाषा में कविता करते हुए झेंपते थे और इस डर से कि कहीं उनका भाषा-प्रेम संस्कृत का अल्प-ज्ञान न समझ लिया जाय वे समय-समय पर अपने पांडित्य का प्रदर्शन आवश्यक समझते थे। उन्हें अपने पांडित्य का प्रमाण देने के लिए दुरूह शब्द का प्रयोग उचित जान पड़ता था। तुलसीदास चूंकि वैरागी थे उन्हें किसी की प्रशंसा या निंदा की परवाह न थी लेकिन केशव एक राजा के दरबारी थे। बड़े-बड़े पंडितों से हमेशा उनकी मुठभेड़ रहती थी इसलिए उनका दुरूह शब्दों का प्रेम स्वाभाविक था।

केशव धार्मिक मामलों में लकीर के फकीर न थे, अंधविश्वासों को मुक्ति का साधन न समझते थे। नदी में नहाने और मूर्ति-पूजा को वे मूर्खों की रस्म समझते थे। वह एकेश्वरवाद के अनुयायी थे और केवल एक परमात्मा की पूजा करने के लिए कहते थे। देवताओं को उन्होंने कृत्रिम और आडंबरपूर्ण कहा है। लेकिन इसके साथ ही जनसाधारण के लिए एकेश्वरवाद या चरित्र-शुद्धि या आत्मविवेक की आवश्यकता नहीं समझी। उनके लिए केवल परमात्मा के नाम का स्मरण काफी बतलाया है। स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य को मुख्य धर्म बतलाया है जो प्राचीन हिन्दू समाज का एक विशेष अंग है और यद्यपि अब ज़माने ने सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में एक उथल-पुथल मचा दी है और स्त्री का व्यक्तित्व अपने पति में खोया हुआ न रहकर अलग एक सत्ता बन सका है, स्त्रियों के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक अधिकार पेश हो रहे हैं, तो भी वह पुरानी व्यवस्था भी अपने अच्छे पहलुओं से खाली न थी और अभी जबकि नई व्यवस्था अभी इस दशा में है वह पुराना सिद्धांत शताब्दियों तक प्रचलित रहा। उसमें अब भी कुछ ऐसे गुण हैं जिनसे बड़े से बड़ा, कट्टर से कट्टर सफरेजिस्ट भी इंकार नहीं कर सकता। इसलिए हम इस मामले में केशव को दोषी नहीं समझते।

इसमें कोई संदेह नहीं कि केशवदास भाषा की पहली पंक्ति के बैठने वालों में हैं पर उनके स्वभाव में [illegible] से अधिक साधना का रंग है। वह गालिब या मीर न थे। वह [illegible] और अमीर थे। उनकी कविता में आडंबर और खींचतान ज्यादा है, कोमलता और संवेदनशीलता कम। तो भी उनकी कविता मिठास से खाली नहीं है। कहीं-कहीं इस रंग में उन्होंने चमत्कार कर दिखाया है।

पद्य बद्ध आख्यायिकायें लगभग सभी भाषाओं में एक ही छंद में लिखी जाती हैं। तुलसीकृत रामायण, सिकन्दरनामा, शाहनामा, मौलाना रूम की मसनवी, पैराडाइज़ लास्ट, ईलियड आदि प्रसिद्ध आख्यायिकाये इसी ढंग की हैं। लेकिन केशवदास ने रामचन्द्रिका में सैकड़ों छंदों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं इस तेज़ी से कि आख्यायिका के प्रवाह में फर्क नहीं आता। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह विभिन्नता पुनरावृत्ति की निषेधक होने के कारण बहुत सुंदर हो गयी है। लेकिन यह कुछ ज्यादती है। दुनिया की बड़ी-बड़ी मसनवियां एक ही छंद में लिखी गई हैं। हां, कहीं कहीं कवियों ने मज़ा बदलने के लिए भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया है। तुलसीदास की रामायण इसकी अनूठी मिसाल है। शायद केशव ने एक ही छंद की मसनवी या पद्य बद्ध आख्यायिका लिखकर इस रंग में तुलसी से टक्कर लेना अपने लिए अहितकर समझा। इससे विभिन्नता का आनंद नहीं आता, कथा के प्रवाह में अलबत्ता रुकावट होती है।

हमने विभीषण की गद्दारी का ज़िक्र ऊपर किया है। इसके मुकाबले में केशव अंगद की वफादारी और सदाचारिता को खूब दिखाया है। अंगद बालि का बेटा था। बालि को रामचन्द्र ने वध किया था और उसका राज-पाट बालि के भाई सुग्रीव का दिया था। इसलिए अंगद का अपने बाप के हत्यारे से द्वेष रखना एक स्वाभाविक बात थी। लेकिन जब वह रावण के दरबार में गया है और उसने राम के इस कृत्य का संकेत देकर अंगद को फोड़ना चाहा है तो अंगद ने रावण को खूब करारे जवाब दिये हैं। कवि ने उसकी सदाचारिता दिखलाने

के उत्साह में पद के सम्मान की रक्षा का भी ध्यान नहीं रक्खा। अंगद के हृदय में द्वेष था और ज़रूर था। आखिर में उसने उसको व्यक्त भी किया है लेकिन जिससे एक बार एकता का संबंध स्थापित कर लिया उससे दुश्मन के भड़कावे में आकर विमुख हो जाना मर्दानगी के खिलाफ था।

अब हम पाठकों के मनोरंजन के लिए केशवदास की कविता के नमूने पेश करते हैं—

सब जाति कटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहं एक घटी
निघटी रुचि मीचु घटीहु घटी जग जीव जतीन की छूटि तटी

कवि ने पंचवटी का परिचय दिया है। कहता है यहां दुख और कष्ट की चादर तार-तार हो जाती है और दिल दगा व फरेब से मुक्त हो जाता है। उसके मोहक आकर्षणों से यतियों का ध्यान भी भंग हो जाता है।

कहि केशव याचक के अरि चंपक शोक अशोक किये हरि कै।
लखि केतक, केतकि जाति गुलाब ते तीछण जानि तजे डरि कै।।
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आये रहे मन मौन कहा धरि कै।
सिय को कछु सोध कहौ करुणामय हे करुणा करुणा करि कै।।

रावण सीता को हर ले गया है और राम के वियोग के उद्वेग में जंगल के पेड़ों से सीता का पता पूछते फिरते हैं। वह करुणा के वृक्ष को संबोधित करके कहते हैं—चंपा भौंरे को अपने पास नहीं आने देती इसलिए उसमें दर्द नहीं है अशोक ने शोक को भुला दिया है इसलिए उसमें भी दर्द नहीं। केवड़ा, केतकी और गुलाब कंटीले हैं और दिल के दर्द का हाल नहीं जानते इसलिए मैं तुम्हारे पास आया हूं, कुछ सीता की खबर बताओ, खामोश क्यों खड़े हो।

दीरघ दरीन बसैं केसोदास केसरी ज्यौं,
केसरी कौं देखि बन-करी ज्यौं कंपत हैं।
बासर की संपति उलूक ज्यौं न चितवत,
चकवा ज्यौं चंद चितै चौगुनो चंपत हैं।
केका सुनि व्याल ज्यौं बिलात जात घनश्याम,
घनन की घोरनि जवासो ज्यौं तपत हैं।
भौंर ज्यौं भंवत बन, जोगी ज्यौं जपत रैनि,
साकत ज्यौं राम नाम तेरोई जपत हैं।

हनुमान लंका में सीताजी को देखने गये हैं और उन्हें अशोकवाटिका में देखकर उनसे रामचन्द्र के वियोग की पीड़ा का यों वर्णन करते हैं—जैसे घने जंगल में शेर रहता है उसी तरह रामचन्द्र रहते हैं यानी ज़मीन पर सोते-बैठते हैं। आराम की ज़रा भी इच्छा नहीं। जैसे उल्लू दिन की रोशनी के नेमतों की ओर आंख उठाकर नहीं देखता उसी तरह रामचन्द्र किसी चीज़ की तरफ नहीं देखते। जैसे चकोर चांद को देखकर अधीर हो जाता है उसी तरह चांद को देखकर रामचन्द्र के दिल की बेचैनी भी बढ़ जाती है। मोर की आवाज़ सुनकर जैसे सांप छिप जाता है उसी तरह रामचन्द्र छिप जाते हैं। वर्षा से जैसे मदार का पेड़ जल जाता है उसी रामचन्द्र घुलते हैं। भौंरे

की तरह इधर-उधर घूमा करते हैं, जोगी की तरह रात को जागते हैं और तेरे ही नाम की रट लगाते हैं।

दंतावलि कुंद समान गनो।
चंद्रानन कुंतल चौंर घनो।।
भौहें धनु खंजन नैन मनो।
राजीवनि ज्यों पद पानि भनो।।
हारावलि नीरज हिय-पट में।
हैं लीन पयोधर अंबर में।।
पाटीर जोहाइहि अंग धरे।
हंसी गति केशव चित्त हरे।।

कवि ने शरद ऋतु की एक कल्पना की है। इस ऋतु में कुंद खिलता है। ये गोया उस सुंदरी के दांत हैं। चांद उसका कांतिमान मुखड़ा है। इस ऋतु में चांद बहुत प्रकाश वाला होता है। राजा लोग इन्हीं दिनों पूजा करके दरबार को सजाते हैं। दरबार के चंवर इस सुंदरी के बाल हैं। उनके कमान उसकी भौंहें हैं। खंजन पक्षी इसी ऋतु में आता है। वह इस सुंदरी की आंख है। (कवियों ने आंख की उपमा खंजन से दी है।) इस मौसम में कमल खिलते हैं। वह इस सुंदरी के पांव हैं। स्वाति की बूंद से मोती बन जाता है, ऐसी कवि प्रसिद्धि है। यह गोया इस सुंदरी के हार हैं। इस मौसम में बादल आसमान में मिल जाता है कि जैसे सुंदरी ने अपना दमकता हुआ वक्ष कपड़े में छिपा लिया है। इन दिनों चांदनी खूब निखरती है। यह गोया इस सुंदरी के लिए चंदन का लेप है। इस ऋतु में हंस आते हैं। ये गोया इस सुंदरी की मस्ताना चाल हैं। इन गुणों वाली सुंदरी अर्थात् शरद ऋतु दिलों को बस में कर लेती है।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', जुलाई, 1917 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 मे संकलित।]

पुराना ज़माना : नया ज़माना

पुराने जमाने में सभ्यता का अर्थ आत्मा की सभ्यता और आचार की सभ्यता होता था। वर्तमान युग में सभ्यता का अर्थ है स्वार्थ और आडंबर। उसका नैतिक पक्ष छूट गया। उसकी सूरत बदल कर अब वह हो गई है जिसे हमारे पुराने लोग असभ्यता कहते। शारीरिक बनाव-संवार और टीमटाम पुराने तर्ज़ की निगाहों में कभी अच्छी न समझी जाती थी। भोग-विलास के सामान इकट्ठा करना कभी पुरानी सभ्यता का लक्ष्य नहीं रहा। पुराने लोग सजावट और बनावट को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उस समय सभ्य कहलाने के लिए यह ज़रूरी नहीं था कि आपका बैंक में इतना हिस्सा हो, आपके बाल एलबर्ट फैशन के कटे हुए हों, आपकी दाढ़ी इटालियन या फ्रेंच हो, आपका कोट शिकारी हो या टेनिस हो, कैम्ब्रिज हो या चीनी या जापानी हो, आपके जूते डर्बी या पंप हों। आपकी शेरवानी या सलीमशाही जूते पर उनकी निगाह न जाती थी। वे उसे शान कहें, प्रर्दशन कहें, शेखी कहें लेकिन सभ्यता हर्गिज़ न कहते, सभ्यता के नाम को बट्टा न लगाते। सभ्यता से उनका अभिप्राय

नैतिक, आध्यात्मिक, हार्दिक था। उस समय वह व्यक्ति सभ्य था जिसका आचार पवित्र हो, जो धैर्यवान हो, गंभीर हो, हंसमुख हो, विनयशील हो। बड़े-बड़े राजा-महाराजा संन्यासियों को देखकर आदरपूर्वक खड़े हो जाते थे। उनका सम्मान करते थे और केवल औपचारिक या प्रदर्शनपूर्ण सम्मान नहीं, हृदय से उनकी चारित्रिक शुद्धता और आध्यात्मिकता को सिर झुकाते थे, उनसे अपनी भेंट होने को जीवन का एक बड़ा प्रसाद समझते थे। इसका असर उनके मन पर होना ज़रूरी था। सिद्धार्थ, अशोक, शिलादित्य, जनक की उपासना, वैराग्य, तपस्या इन्हीं सत्संगों का परिणाम थी। उन लोगों की आज़ादी को देखिये कि वे अपने सिद्धांतों के सामने सिंहासन और मुकुट की परवाह न करते थे। और एक यह स्वार्थपरता का युग है कि राजा-महाराजा पांवों में जंजीर होते हुए भी बादशाही के नाम पर मरते हैं। मिस्र, ईरान और यूरोप के पुराने इतिहासों में जनक और अशोक के उदाहरण मिलते हैं लेकिन आज अगर कोई अपना राज्य छोड़कर एकांतवास करने लगे तो लोग यह समझेंगे कि उसका दिमाग खराब हो गया है।

पुरानी सभ्यता सर्वजन-सुलभ, प्रजातांत्रिक थी। उसकी जो कसौटी धन और ऐश्वर्य की आंखों में थी वही कसौटी साधारण और नीच लोगों की आंखों में भी थी। गरीबी और अमीरी के बीच उस समय कोई दीवार न थी। वह सभ्यता गरीबों को अपमानित न करती थी, उसको मुंह न चिढ़ाती थी, उसका मज़ाक न उड़ाती थी। ज्ञान और उपासना का, गंभीरता और सहिष्णुता का सम्मान राजा भी करता था और किसान भी करता था। उनके दार्शनिक विचार अलग-अलग हों लेकिन सभ्यता की कसौटी एक थी। पर आधुनिक सभ्यता ने विशेष और साधारण में, छोटे और बड़े में, धनवान और निर्धन में एक दीवार खड़ी कर दी है। किसी बिसाती की दूकान पर जाइये, किसी दवाफरोश या सौदागर की दूकान को देखिए और आपको मालूम हो जायेगा कि वर्तमान सभ्यता कितनी सीमित और सविशेष है। आपके साबुन, बिस्कुट, लवेंडर की शीशियां, कुंतल कौमुदी, दस्ताने, कमरबंद, टाई, कालर, बेग, ट्रंक और भगवान जाने विलास की और कौन कौन-सी सामग्रियां दूकानों में सजी नज़र आयेंगी पेटेंट दवायें चुनी हुई हैं, लेकिन आपके कितने देशवासी उनसे लाभान्वित होते हैं? आपका आधुनिक शिक्षा से वंचित भाई आपको इस ठाट से देखता है और यह समझता है कि यह आदमी हममें से नहीं है, हम उनके नहीं हैं। फिर आप चाहे कितनी बुलंद आवाज़ से राष्ट्रीयता की हांक लगायें वह आपकी ओर ध्यान नहीं देता। वह आपको पराया समझ लेता है। आपके सर्कस और थियेटर में वह सहज सौंदर्य कहां है जो पुराने जमाने के मेला और तमाशों में होता था? आपके काव्य में वह आकर्षण कहां है वो पुराने जमाने के भजनों में होता था जिन्हें सुनकर अमीर और गरीब, राजा और रंक सबके सब सिर धुनने लगते थे? आधुनिक प्रणाली ने जनसाधारण को अपनी परिधि से बाहर कर दिया है। उसने अपनी दीवार आडंबर पर खड़ी की है। भौतिकता और स्वार्थपरता उसकी आत्मा है। इसके बावजूद जनतांत्रिकता ही आधुनिक सभ्यता का सबसे प्रधान गुण कही जाती है।

वर्तमान सभ्यता का सबसे अच्छा पहलू राष्ट्रीयता की भावना का जन्म लेना है। उस

इस पर गर्व है और उचित गर्व है। लेकिन पुराने ज़माने में भी राष्ट्रीयता की भावना बिल्कुल लुप्त न थी। यूनान और ईरान की लड़ाइयां, स्पेन और अरब की लड़ाइयां, हिन्द और अफगानिस्तान के झगड़े किसी न किसी हद तक राष्ट्रीयता के उदय और राष्ट्र-गौरव पर आधारित थे लेकिन आधुनिक सभ्यता ने इस भावना को एक संगठित, अनुशासित, एकताबद्ध और व्यवस्थित रूप दे दिया है। पुराने ज़माने में इसका बोध विशेष अवसरों पर होता था। किसी अपमान का बदला, किसी ताने की चुभन या केवल वीरता का प्रदर्शन और विजयी बनने का उत्साह कुछ व्यक्तियों को एकता की डोर में बांध देता था। एक उबाल था जो थोड़ी देर के लिए दिल को हिला देता था, एक तूफान था कि जो कुछ देर तक पानी की ठहरी हुई सतह में हलचल डाल देता था लेकिन उबाल के उतरते ही, तूफान का ज़ोर खत्म होते ही अलग-अलग तत्त्व अपनी-अपनी स्वाभाविक स्थिति पर आ जाते थे और कुछ दिनों के बाद इन लड़ाइयों की याद भी खत्म हो जाती थी या ज़िंदा रहती थी तो कवीश्वरों के कवित्तों में। बहुत बार धर्म के प्रचार के लिए जबान से खंजर की मदद ली जाती थी। पुरानी रवायतें आज तक नारए तकबीर व तकफीर से गूंज रही हैं मगर वे अस्थायी, क्षणिक उद्‌गार होते थे। उन्होंने सल्तनतें तबाह कर दीं, राष्ट्रों को गारत कर दिया, प्रलय के दृश्य खड़े कर दिये, संस्कृति के चिह्न मिटा दिये मगर इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि वे वैयक्तिक और अस्थायी चीज़े थीं। इसके विपरीत आधुनिक राष्ट्र एक स्थायी, टिकाऊ, सामूहिक और अनिवार्य भावना है। उसकी बुनियाद न व्यक्तिगत सत्ता पर है न धार्मिक प्रचार पर बल्कि निश्चित समुदायों की भलाई और सेवा, शांति और दृढ़ता पर। वह पारिवारिक, सांस्कृतिक या धार्मिक संबंधों से पृथक् है। वह बाह्यत: भौगोलिक सीमा पर आधारित है और आंतरिक रूप से उद्देश्यों की एकता पर। वह शहद और दूध की नदी अपने कब्जे में रखना चाहती है और किसी दूसरे को उसका एक घूंट भी देना नहीं चाहती। वह खुद आराम से अपना पेट भरेगी चाहे दुनिया भूखों मरे, खुद हंसेगी चाहे दुनिया खून के आंसू रोये। अगर उसे लाल कपड़े पहनने की धुन हो जाये और लाल रंग खून से निकलता हो तो उसे दूसरों का खून करने में भी झिझक न होगी। अगर इंसान के दिल का टुकड़ा उसके शरीर को ताकत पहुंचाने वाला हो तो निश्चय ही हज़ारों आदमी उसके खंजर के नीचे तड़पते नज़र आयेंगे। उसे अपना अस्तित्व संसार में आवश्यक मालूम होता है। बाकी दुनिया मिट जाये, उसे इसकी परवाह नहीं। स्वार्थपरता उसका धर्म, उसकी पुस्तक, उसका रास्ता सब कुछ है। सारी मानवीय भावनायें, सारे नैतिक प्रश्न इस हवस के पुतले के आगे सिर झुका देते हैं। यह कल और मशीन का युग है और राष्ट्र इस युग की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह देव-जैसी मशीन दिन-रात पागलों जैसी तेज़ी मगर सिपाहियों जैसी पाबंदी के साथ चलती रहती है। कोई इसके घेरे में आ जाय यह उसे देखते-देखते निगल जायेगी, उसे पीस डालेगी। वह किसी पर दया नहीं करती किसी के साथ रिआयत नहीं करती। वह एक भीमकाय रोलर है जिसमें व्यापार और प्रभुत्व की दो लाल-लाल आंखें घूर-घूरकर बेखबर लोगों को चेतावनी देती हैं कि खबरदार सामने न आना वर्ना पलक झपकते भर में मारे जाओगे। इस आधुनिक राष्ट्र

ने संसार में एक रक्ताक्त जीवन-संघर्ष छेड़ दिया है। जिन मानव समुदायों ने अभी तक राष्ट्र का रूप नहीं ग्रहण किया वे उसके अत्याचारों का क्षेत्र हैं। वह अफ्रीका में जाती है और वहां के जंगलों और घाटियों को काले रंग के काफिरों से पाक कर देती है। वह एशिया में आती है और सभ्यता व शिक्षा का नारा बुलंद करती है। उसके नेक इरादों में शक नहीं। वह किसी को गुलामी का तौक नहीं पहनाती, मर्दों और औरतों को गुलाम नहीं बनाती, शहरों को जलाकर खाक नहीं करती मगर एक विचित्र-सा संयोग है कि जो 'अ-राष्ट्र' प्रदेश इस राष्ट्र के हाथों बंदी हुआ, उसका जीवन निराशा और अपमान की भेंट चढ़ जाता है।

प्राचीन युग को अंधकार युग कहा जाता है मगर उस अंधकार युग में सैनिक सेवा हर एक व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर थी। बादशाह किसी को ज़बर्दस्ती लड़ने पर मजबूर न कर सकता था। बहादुरी के मतवाले कर्त्तव्य या मित्रता या विशुद्ध लालच की पुकार सुनकर खड्ग-हस्त हो जाते थे लेकिन इस प्रकाशवान युग ने हर व्यक्ति को हत्या के लिए तत्पर बना दिया है। नारा व्यक्ति-स्वाधीनता का बुलंद किया जाता है लेकिन सच तो यह है कि राष्ट्र ने व्यक्ति को मिटा दिया, व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र या स्टेट में समाहित हो गया है। हम अब रियासत के गुलाम हैं। उसको अधिकार है चाहे हमको कत्ल व खून पर मजबूर करे चाहे झगड़े-फसाद पर। लंका में विभीषण ने अपने भाई रावण के खिलाफ रामचन्द्र की मदद की थी मगर विभीषण पूरी आज़ादी के साथ लंका में रहता था। रावण को कभी इतना साहस न हुआ कि वह विभीषण का एक बाल भी बांका कर सके। आज लड़ाई के ज़माने में इस तरह का राजद्रोह कोर्टमार्शल का कारण बन जाता। विदुर कौरवों से वज़ीफा पाता था लेकिन एलानिया पांडवों का साथ देता था। तो भी कौरवों ने, यद्यपि वे कर्त्तव्य भावना से रहित कहे जाते हैं, इस निर्भीक स्पष्टता के लिए विदुर को मार डालने के योग्य नहीं समझा। मगर आप कुछ भी कहें वह अंधेरा युग था, गुलामी और बदहाली से घायल और दुखी। और यह ज़माना जब दुश्मन की खूबियों को स्वीकार करना भी कुफ्र है, जब राष्ट्रीय धर्म से जौ भर भी इधर-उधर होना अक्षम्य पाप है, प्रकाशवान, रौशन। अगर रोशनी का मतलब बिजली या गैस की रोशनी है। लेकिन अगर रोशनी का मतलब आत्मिक स्वतंत्रता, बौद्धिक और सामाजिक शांति है तो वह अंधेरा युग इस रौशन ज़माने से कहीं अधिक प्रकाशवान था। 'राष्ट्र' की शक्ति और प्रभुत्व पर ये सब पतिंगे न्योछावर हैं। और क्या यह व्यापार और कल-कारखानों की उन्नति, तरह-तरह के यंत्रों का आविष्कार, जिस पर नये युग को इतना गर्व है, विशुद्ध सौभाग्य है जब कि सिगरेट कौड़ियों के मोल बिकता है, बटन और टीन के खिलौने मारे-मारे फिरते हैं मगर दूध और घी, मकई और ज्वार का स्थायी अकाल पड़ा हुआ है, जबकि देहात उजड़ते जाते हैं और शहरों की आबादियां बढ़ती जाती हैं, जबकि प्रकृति की दी हुई सम्पदा को लात मार कर लोग बनावटी नुमायशी ढकोसलों पर जान दे रहे हैं, जब कि आदम के बेशुमार बेटे बदबूदार और अंधेरी कोठरियों में जिंदगी बसर करने के लिए मजबूर हैं, जबकि लोग अपनी बिरादरी और पड़ोसियों की सीख न मानकर वासना के शिकार होते जाते हैं, जब कि बड़े-बड़े व्यावसायिक नगरों में सतीत्व आवारा और परीशान

रोता फिरता है (लंदन में चालीस हज़ार से ज़्यादा वेश्याएं हैं और कलकत्ते में सोलह हज़ार से ज़्यादा) जब कि आज़ाद मेहनत की रोटी खाने वाले इंसान पूंजीपतियों के गुलाम होते जाते हैं, जब कि महज़ पैसे वाले व्यापारियों के नफे के लिए खूनी लड़ाइयों में कूदने से भी लोग बाज़ नहीं आते, जब कि विद्या और कला और आध्यात्मिकता भी नफे-नुकसान के भंवर में फसी हुई है, जब कि कुशल राजनीतिज्ञों का पाखंड और छल-कपट हंगामा बर्पा किये हुए है और न्याय और सच्चाई का शोर सिर्फ जुल्म के मारे हुओं की कमज़ोर पुकार को दबाने के लिए मचाया जाता है, नयी सभ्यता का कोई दीवाना भी इन मुसीबतों और गुलामी के दौर को खालिस बरकत कहने की हिम्मत नहीं कर सकता। इसमें शक नहीं कि देश के नेता इसके दोषों से परिचित हो गये हैं और इसके सुधार की कोशिशें की जा रही हैं लेकिन उस ज़हर को जो समाज-व्यवस्था में घुल गया है, निकालने की कोशिश नहीं की जाती, सिर्फ उसके ऊपरी प्रभावों, ऊपरी विकृतियों को छिपाने और मिटाने में लोग लगे हुए हैं। कोढ़ी जिस्म को रंगीन कपड़ों से ढंका जा रहा है।

नये ज़माने ने मानवीय सद्‌गुणों का भी मनमाना विभाजन कर दिया है। पुराने ज़माने में भी श्रेणियों और हैसियतों का विभाजन था मगर नैतिक सिद्धांतों में विशेष और साधारण, विजेता और विजित का कोई भेद न था। नम्रता और सहिष्णुता, शर्म और हया, सदाचार और मुरव्वत–इन गुणों का सब आदर करते थे चाहे वह मुगल हों या तुर्क, ब्राह्मण हों या शूद्र। लेकिन आज हालत कुछ और है। ये निर्बलों के गुण हैं। नम्रता को आज निर्बलता की स्वीकृति समझा जाता है। लाज-शर्म नामर्दों के गुण हैं। मीठा बोलना, सुंदर आचरण और आंख का लिहाज़ इस नई टकसाल के फेंके हुए सिक्के हैं। दया और प्रार्थना, संयम और नर्मी को कायरता और पस्तहिम्मती समझा जाता है। अब डींगें मारने और शेखी बघारने का ज़माना है। गुस्सा, नफरत, घमंड, ज़बान का कड़ुआपन–ये मर्दाना खूबियां हैं। अगर किसी से इंकार करना है तो मुलायमियत से कहने की ज़रूरत नहीं, साफ और बेलाग कहिए। इसमें अक्खड़पन जितना ही ज़्यादा हो उतना ही अच्छा। नाक पर मक्खी न बैठने पाये, तलवार हमेशा म्यान से बाहर रहे, ज़रा कोई बात तबीयत के खिलाफ हो, बस, जामे से बाहर हो जाइये। गुस्सा एक मर्दाना जौहर है। उसे रोकना बुज़दिली की दलील है। आपको चाहे किसी खास बात में ज़रा भी दखल न हो मगर ज़बान से कहिए कि मैं इस फन का अरस्तू हूं। मुरव्वत और इंसानियत और लिहाज़ को पास न फटकने दीजिए। ये गरीब और मजबूर लोगों के गुण हैं। आप अपने बर्ताव में दिलेराना साफगोई से काम लीजिए। आपको किसी की भावनाओं से कोई प्रयोजन नहीं, और शर्म का तो नाम लेना भी गुनाह है। यह हैं इस नये ज़माने की खूबियां।

हम यह नहीं कहते कि वह पुरानी बातें सबकी सब तारीफ करने के काबिल हैं मगर वह कितना ही बुरा क्यों न हों और कितने ही ताने उसे क्यों न दिये जायं, वह इस नई स्वार्थपरता, घमंड और आडंबर से कई गुना अच्छा है। मज़ा यह है कि बचपन ही से इन नैसर्गिक गुणों को मिटाने की कोशिश की जाती है। यह मर्दाना गुण लड़कों को उनके दूध के साथ पिलाये जाते हैं। नये ज़माने का राग अलापने

वाला कहेगा यह इकतरफा तस्वीर है। देखिए आज राष्ट्रीय मेल-जोल ने मानव संबंधों को कितना दृढ़ बना दिया है। एक अंग्रेज़ व्यापारी के साथ चीन में कोई बेइंसाफी होती है और सारे इंगलिस्तान में शोर मच जाता है। खून की कीमत और कानूनी जंग की दुहाई मचने लगती है। एक फ्रांसीसी अखबार का प्रवेश किसी राज्य में बंद कर दिया जाता है और फ्रांसीसी दुनिया में उथल-पुथल मच जाती है। यह हमदर्दी, यह एकता कभी पहले भी थी? राजपूत मुसलमानों की मातहती में राजपूतों का खून करते थे, मुसलमान सिक्खों के कन्धे से कन्धा मिलाकर मुसलमानों का कत्ल करते थे। निस्संदेह यह नये युग का एक अच्छा पहलू है। इसके ज़ोर पर हम दुनिया के हर कोने में चैन से रह सकते हैं, हर प्रदेश में व्यापार कर सकते हैं। मगर सच्चाई यह है कि यह एकता और सहमति इंसानियत की बनिस्बत राष्ट्रीय प्रभुत्व पर अधिक निर्भर है वर्ना क्या वजह है कि किसी दूर-दराज़ मुल्क में एक आदमी की तकलीफ, या बेइज़्ज़ती कौम के दिल को हिला देती है मगर अपने ही पड़ोसी और अपने दोस्तों की भूख और गरीबी पर ज़रा भी दिल नहीं पसीजता? क्या वजह है कि यूरोपियन पूंजीपति धन और ऐश्वर्य की शानदार नैय्या पर बैठा हुआ उन अनाथों की परवाह नहीं करता जो गरीबी और बदहाली के भंवर में पड़े हुए हैं? यही कि स्वार्थपरता, इंद्रिय परायणता राष्ट्र की आत्मा है।

वह विशुद्ध सांसारिकता है, सुंदर भावनाओं से रहित, जिसने दिलों को कठोर और संकीर्ण और भावना-शून्य बना दिया है। वह पैसों वालों का एक जत्था है जो नैतिक, भावनात्मक, आत्मिक वस्तुओं को व्यावसायिक लाभ और हानि की दृष्टि से देखता है, जिसके निकट वही नेकी आचरण करने योग्य है जो दौलत के ढेर में कुछ वृद्धि करे, वही भाव अच्छे हैं जो अपना प्रभुत्व बढ़ायें। वह आत्मा को भी तराजू के पलड़ों पर तौलता है। उसे जनतंत्र कहना गलती है। बराबरी और भाईचारा को उसने पैरों तले इस तरह रौंदा है कि अब उसकी शक्ल भी पहचानी नहीं जाती। इंसान की कीमत उसके नज़दीक इतनी ही है कि वह एक रुपया कमाने का साधन है। वह कसाई की तरह इंसान के गोश्त और खाल का अंदाज़ा करके उसकी कीमत लगाता है। कहने का मतलब यह है कि पुराना ज़माना अमीरों और सुल्तानों का ज़माना था और नया ज़माना बनियों और व्यापारियों का ज़माना है। इसने दौलत के पहाड़ खड़े कर दिये, दौलत की तलाश में जल-थल को छानता हुआ आसमानों के ऊपर तक जा पहुंचा और अब सारी दुनिया उसका कार्यक्षेत्र है।

इस नये ज़माने में एक ऐसा रोशन पहलू भी है जो उन काले दागों को किसी हद तक ढंक देता है और वह है 'बेज़बानों की ताकत का ज़ाहिर होना।' हाल के योरोपीय महायुद्ध ने इस पहलू को और भी उजागर कर दिया है। स्वार्थपरता के तूफान ने बड़े-बड़े गरांडील पेड़ों को ही नहीं सोये हुए और लुटे हुए हरे भरे मैदानों को भी जगा दिया है। अब एक फाकाकश मज़दूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसंद नहीं करता। उसे अपने कर्तव्य चाहे न मालूम हों लेकिन अपने अधिकारों का पूरा ज्ञान है। वह जानता है कि इस सारे राष्ट्रीय वैभव और प्रभुत्व का कारण मैं हूं। यह सारा राष्ट्रीय विकास और उन्नति

मेरे ही हाथों का करिश्मा है। अब वह मूक संतोष और सिर झुकाकर सब कुछ स्वीकार कर लेने में विश्वास नहीं रखता।

यह उन चीज़ों की मंदी का युग है और वह भी उन्हें हाथ नहीं लगाता। वह भी आराम, निश्चिंतता और खुशहाली की मांग करता है। वह भी अच्छे मकानों में रहना चाहता है, अच्छे खाने खाना चाहता है और मनोरंजन के लिए अवकाश की मांग करता है। और वह अपने दावों को ऐसे प्रभावशाली ढंग से प्रकट करने लगा है कि अधिकारी वर्ग उससे नखरे नहीं कर सकता। वह पूंजी का दुश्मन है, व्यक्तिगत संपत्ति की जड़ खोदने वाला और व्यापारियों की जत्थेबंदी का हत्यारा। यह सच है कि वह भी अपने प्रभाव का क्षेत्र भौगोलिक सीमाओं के अंदर रखना चाहता है मगर अपनी अमलदारी में बराबरी और सच्चाई का समर्थक है। वह अपने राष्ट्र को एक अकेली सत्ता बनाना चाहता है। हर व्यक्ति के लिए एक जैसा अवसर, एक जैसी सुविधाओं, एक जैसे उन्नति के साधनों की मांग करता है। सबकी एकता उसका जेहाद का नारा है। वह ऊंच-नीच को मिटाकर सारी जमीन को समतल बनाने की कोशिश करता है। वह ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो धनोपार्जन के समस्त साधन अपने हाथ में रखे और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत और योग्यता के अनुसार बराबर बांटे। वह जमींदारों को एक गंदी और बेकार चीज समझता है और उनकी सम्पत्ति को उनके कब्जे से निकालकर जनता के कब्जे में रखना चाहता है। संक्षेप में, वह सारी संपत्तियों, कारखानों, रेलों, जहाजों पर एक विशेष व्यवस्था के द्वारा जनता के अधिकार की मांग करता है और कौन कह सकता है कि यह काम बेहद मुश्किल नहीं है। व्यक्तिगत अधिकार का विचार मनुष्य के स्वभाव का अंग हो गया है। यह उसकी सबसे सशक्त प्रेरक शक्ति है इसी पर उसके जिंदगी के सारे मंसूबे, सारे इरादे सारी इच्छायें कायम हैं। 'व्यक्ति' की सत्ता मिटाना दुष्कर है। पूंजी और सम्पत्ति से उसकी लड़ाइयां लड़नी पड़ेंगी (कुछ देशों में जारी हैं) और यद्यपि इस ढंग से मालूम होता है कि उसकी इस लड़ाई में हार हो गई लेकिन उसका असर जिंदा है और बढ़ता जायगा। पूंजी इसे अपने काबू में रखने के लिए कुछ और रिआयतें करेगी, कुछ बल खायेगी कुछ नाज उठायेगी, उससे लड़ाई करके अपनी हस्ती खतरे में न डालेगी।

जनता की यह हिम्मत और मांग चाहे नाजुक कानों को कितनी ही नागवार मालूम हो लेकिन वह उस निष्क्रिय सहन की तुलना में कहीं अधिक जीवनदायक है जो पुराने युग की अपनी विशेषता थी और जो अभी तक कुछ एशियाई देशों में चल रही है, जो आग में जलकर, तलवार की चोट खाकर भी उफ नहीं करती, सहना और तड़पना जिसकी विशेषता है। नये जमाने के इस सबसे ताजा पहलू ने यूरोप और अमेरिका वगैरह देशों में शूद्रों का खात्मा कर दिया है। अब वहां कोई ऐसा नहीं जिसके छूने से ब्राह्मणों का पवित्र अस्तित्व कलंकित हो जाये, कोई ऐसा नहीं जो क्षत्रियों के अत्याचार की फरियाद करे, जो वैश्यों के स्वर्ण सिंहासन का ढोने वाला बने।

मगर यह ख्याल करना कि जनतंत्र का यह नया पहलू अपनी भौगोलिक परिधि से बाहर निकलकर निर्बलों और अनाथों की हिमायत करेगा या पूंजीपति 'राष्ट्र' की बनिस्बत 'अ राष्ट्रों' के साथ ज्यादा इंसानियत और हमदर्दी का बर्ताव करेगा, शायद गलत साबित हो। उस राज सिंहासन और स्वर्ण मुकुट से प्रेम नहीं लेकिन राजकीय

अधिकार-भावना और राज्य-सचांलन की वासना से वह भी मुक्त नहीं। बहुत संभव है कि 'अ-राष्ट्रों' पर इस जनतंत्र का अत्याचार पूंजीपतियों से कहीं अधिक घातक सिद्ध हो। जब कुछ थोड़े से पूंजीपतियों की स्वार्थपरता दुनिया को उलट-पलटकर रख दे सकती है तो एक पूरे राष्ट्र की सम्मिलित स्वार्थपरता क्या कुछ न कर दिखायेगी। वह भी जत्थेबंदी की एक सूरत है, ज़्यादा ठोस। वह अपने देश के व्यक्तिगत प्रभुत्व को मिटाकर उसके बदले जनता के प्रभुत्व का झंड़ा लहरायगी मगर यह स्पष्ट है कि उसका आधार भी स्वार्थपरता है और जब तक उसके पैरों से यह जंजीर दूर न होगी वह इस इंसानी भाईचारे की मंजिल से एक जौ भी और करीब न होगी, जो संस्कृति का लक्ष्य है।

लेकिन नये जमाने की इस खींचतान और आपसी होड़, अहंकार और भौतिकता के संसारव्यापी अंधकार में आशा की एक किरण दिखाई दे रही है। वह प्रेसीडेंट विल्सन की प्रस्तावित लीग आफ नेशन्स या राष्ट्र संघ है। हम अपनी अनाथ और बेबस आंखों से उस किरण की ओर खड़े ताक रहे हैं। हमारे पैरों की कमज़ोरी हमें उस तरफ बढ़ने नहीं देती। हमारा दिल उम्मीद से भरा हुआ है। यह किरण हमारी कठिन मंज़िल के किसी आश्रयस्थल का पता दे रही है या केवल मरीचिका है, आने वाली घड़ियां जल्दी ही इसका फैसला कर देंगी। लेकिन अगर वह मरीचिका ही हो तो क्या हमें शिकायत का कोई मौका है? यह उन राष्ट्रों का संघ होगा जिन्होंने जनतंत्र का स्थान प्राप्त किया है, जहां बहुत से लोग मुट्ठी भर लोगों के हाथों लुटते नहीं, जहां ब्राह्मण और शूद्र का विचार या भेद नहीं है। हम अभी राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक भी नहीं पहुंचे, जनतंत्र की तो बात ही करना व्यर्थ है। ऐसी हालत में अगर हम इस संघ में दाखिल किये जाने के काबिल न समझे जायं तो हमें ताज्जुब या शिकायत न करनी चाहिए। जब इंगलिस्तान को इस संघ में आने के लिए अपना घेरा बहुत फैलाना पड़ा यहां तक कि अब उनकी स्त्री जाति को भी राजनीतिक अधिकार मिल गये, जब आस्ट्रिया और जर्मनी जैसे देश जिनकी राजनीतिक स्थिति हमसे कहीं अच्छी है इस संघ में केवल इसलिए प्रवेश पाने के योग्य नहीं समझे जाते कि वहां अभी तक व्यक्तिगत प्रभाव सिद्धांतों पर भारी पड़ता है और विशाल जनता थोड़े से लोगों के अधीन है तो हिन्दुस्तान किस मुंह से इस संघ में शरीक होने की मांग कर सकता है जहां जनता एक बेजान और बेहिस ढेर से ज़्यादा कुछ नहीं। इस बर्बादी का इल्ज़ाम हम गवर्नमेंट के सिर नहीं रख सकते। गवर्नमेंट की कार्य-प्रणाली अब तक हमेशा ज़बर्दस्तों की हिमायत करती आयी है। जनता को इस जड़ता की स्थिति में रखने का सारा दोष शिक्षित और सम्पन्न लोगों पर है। हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और ज़मींदार ही सबसे ज़्यादा हैं। हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखाई पड़ते हैं। मगर कितने शर्म और अफसोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। वह अधिकार और शासन की मांग करते हैं और धन और वैभव के इच्छुक हैं, जनता की भलाई के नहीं। कितने बड़े-बड़े ताल्लुकेदार, बड़े-बड़े ज़मींदार, पैसे वाले रईस लोग उन बेज़बान करोड़ों काश्तकारों के साथ हमदर्दी, इंसानियत और देशभाईपने का बर्ताव करते हैं जिन्हें संयोग या गवर्नमेंट की गलती या खुद जनता की बेज़बानी ने उनकी तकदीर

का मालिक बना दिया है। आप स्वराज्य की हांक लगाइये, सेल्फ गवर्नमेंट की मांग कीजिए, कौंसिलों को विस्तार देने की मांग कीजिए, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइये, जनता को इन चीज़ों से कोई मतलब नहीं है। वह आपकी मांगों में शरीक नहीं है बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह आज ज़ोरदार आवाज़ में, शंख बजाकर आपकी इन मांगों का विरोध करेगी। कोई कारण नहीं है कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले में आपकी हुकूमत को ज्यादा पसंद करे। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची ज़मींदार के मुंह में दबी हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती।

इसकी क्या ज़मानत है कि आपके पंजे में आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जायेगी? आपने अब तक इसका कोई सबूत नहीं दिया कि आप उनकी भलाई चाहने वाले हैं। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का, स्वार्थ का, लोभ का, कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले लेकर खूब फूलें और बगलें बजायें मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का ध्यान रखना भी ज़रूरी है। जाहिल रईसों या ज़मींदारों से हमें शिकायत नहीं। उनकी आंखें उस वक्त खुलेंगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथों में होंगी और वह बेबस निगाहों से इधर-उधर ताक रहे होंगे। शिकायत हमें उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं और ज़मींदार हैं, वकील हैं और ज़मींदार हैं। वह अपने दिल से पूछें कि वह प्रजा के साथ अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहे हैं? कभी-कभी अपने कृत्यों और कमियों के बारे में अपने दिल से पूछना जरूरी होता है। उनका दिल साफ कहेगा कि तुम इस तराजू पर तौले गये और ओछे निकले। ज़रा शहर के शांतिपूर्ण कोने से निकलकर वहां जाइये जहां जनता की आबादी है, जहां आपके नब्बे फीसदी देशवासी बसते हैं। उस तड़प का आपके दिल पर एक निहायत रौशन असर पड़ेगा। आपकी आंखें खुल जायेंगी। अन्याय और अत्याचार के दृश्य आपका दिल हिला देंगे।

क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आंदोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न हो। आपने सैकड़ों मदरसे और कालेज बनवाये, यूनिवर्सिटियां खोलीं और अनेक आंदोलन चलाये मगर किसके लिए? सिर्फ अपने लिए, सिर्फ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए। और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग में थी उसको देखते हुए आपका आचरण ज़रा भी आपत्तिजनक न था। मगर नये ज़माने ने एक नया पन्ना पलटा है। आने वाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियां उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं। जल्द या देर से, शायद जल्द ही, हम जनता को केवल मुखर ही नहीं अपने अधिकारों की मांग करने वाले के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी किस्मतों की मालिक होगी। तब आपको अपनी बेइंसाफियां याद आयेंगी और आप हाथ मल कर रह जायेंगे। जनता की इस ठहरी हुई हालत से धोखे में न आइये। इन्कलाब के पहले कौन जानता

था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताकत छिपी हुई है? हार के पहले कौन जानता था कि जर्मनी का एकछत्र स्वैराचारी शासन जनता के ज्वालामुखी पर बैठा हुआ है। निकट भविष्य में हिन्दुस्तान के लाखों मज़दूर और कारीगर फ्रांस से वापस आयेंगे, लाखों सिपाही लड़ाई के बाद अपने-अपने घर लौटेंगे। क्या आप समझते हैं कि उन पर उन आज़ाद देशों की आबोहवा का कुछ भी असर न होगा? अगर कौम में इंसानियत और लाज-शरम नहीं है तो खुद अपनी भलाई का तकाज़ा है कि हम अभी से जनता के दिल को अपने बस में करने की कोशिश करें। इस बात में हमारे ताल्लुकेदार और जमींदार, चाहे वे अंधेरे अवध के हों या उजाले बंगाल के, सबसे ज़्यादा दोषी हैं। उचित है कि वे तात्कालिक हानि की चिंता न करके किसानों की भलाई और सुधार की कोशिश करें, स्वेच्छा से उन अधिकारों से हाथ खींच लें जो उन्हें किसानों पर प्राप्त हैं। उनसे बेगार लेना छोड़ दें, उनके साथ आदमियत का बर्ताव करें, इज़ाफा और बेदखली से परहेज करें, ताकि जनता के दिलों में उनकी इज्जत और उनके प्रति श्रद्धा हो। हमारे कौंसिलरों और राजनीतिक नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने प्रस्तावों की परिधि को फैलायें और जनता (यानी काश्तकारों) की हिमायत का एक प्रोग्राम तैयार करें और उसे अपनी कार्य-प्रणाली बना लें। स्वराज्य की बकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का वक्त अब नहीं क्योंकि आने वाला जमाना अब जनता का है और वह लोग पछतायेंगे जो जमाने के कदम से कदम मिलाकर न चलेंगे।

[उर्दू लेख। 'दौर ए-जदीदो कदीम' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', फरवरी 1919 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-1 में संकलित।]

मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत'

स्वर्गीय मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत' सिद्धहस्त कवि थे। यद्यपि उनका पेशा वकालत था और वह गोरखपुर बार के खास वकीलों में थे लेकिन कानूनी व्यस्तताओं के बीच भी अपनी कविता के अभ्यास के लिए कुछ-न कुछ समय निकाल लिया करते थे। ख्याति की लालसा न थी, इसलिए बराबर अपनी कविता के प्रकाशन से बचते रहे। उनकी कविता का रंग मौलाना आजाद और हाली से मिलता हुआ है। शैली सहज और सुलझी हुई, भाव सरल और बनावट से खाली। शुरू में उनकी कुछ कविताएं 'तूतिए हिन्द' और 'अवध पंच' में प्रकाशित हुई थीं और बहुत पसंद की गयी थीं, लेकिन जवानी के साथ आत्म प्रदर्शन की कामना भी जाती रही। जो कुछ लिखते थे वह सिर्फ अपने दिलबहलाव और मानसिक तृप्ति के लिए लिखते थे। किसी उस्ताद के शागिर्द न थे, इसी वजह से कविता में कहीं कहीं त्रुटियां दिखायी पड़ती हैं। उनके दीवान में कुछ मुसद्दस, एक मसनवी, कुछ फुटकर नज्में और गजलें हैं। उनके साहबजादे बाबू रघुपति सहाय बी० ए०, जिनका एक लेख ज़माना में छप चुका है, एक ज़िन्दा दिल और रुचि संपन्न नवयुवक हैं। वह अपने स्वर्गीय पिता की रचनाओं का संपादन कर रहे हैं और जल्दी ही दीवान प्रकाशित होगा। नीचे हम उनके दीवान से कुछ

शेर नकल करते हैं। उनसे दिवंगत के अभ्यास की प्रौढ़ता और काव्य-प्रतिभा का सुंदर परिचय मिल जायेगा--

कहीं है वो बेहतर नमूदे सूर से जो आलम यहां आशकारा नहीं है

***

कहती है रूहे पाक खुदा से मैं कम नहीं मजबूर हूं मगर कि उसे इख्तियार है

***

मैं बर्ग हूं न बार हूं न गुल हूं न खार हूं लूटे खिजां जिसे न कभी वह बहार हूं

***

मैं दौरे जुनूं मैं न हुआ अक्ल से बाहर,
आप अपने गरेबां को फाड़ा भी सिया भी

***

क्या तुमको खबर तुमने तो करवट भी न बदली,
मैं दर्द से सौ मर्तबा बैठा भी उठा भी

हंगामा ए हसरत

हूं दूर बहुत घर से साथी है न हमदम है
नातजर्बाकारी है कुछ खौफ है कुछ गम है
कुछ घर की मुहब्बत है कुछ याद है यारों की
जाती ही नहीं दिल से बू पिछली बहारों की
कुछ यारों की सोहबत का लुत्फ आंखों में छाया है
कुछ जोशे मुहब्बत से दिल अपना भर आया है
वह वक्त भी क्या खुश है सब दोस्त जब आपस में
बासिद्को सफा बैठे इक दूसरे के बस में
अखलाक बरतते हों आपस में वह मिल-जुलकर
और लुत्फ उठाता हो हर एक का दिल खुलकर

***

लेकिन नहीं कैफीयत यह अपने मुकद्दर में
सौदा तो समाया है कुछ और भी इस सर में
कुछ और ही मकसद है इस उम्रे तबीई का
हमदर्द जो हाथ आये कुछ हाल कहूं जी का
उम्मीद झलक अपनी है दूर से दिखलाती
जब उसपे लपकता हूं वह हाथ नहीं आती
गो पेशे नजर मेरे दुनिया का झमेला है
पर बख्त मेरा मुझको लिये जाता अकेला है

***

हां देख तअम्मुल से क्या रूए जमीं पर है
जंगल हैं जजीरा है सहरा है समंदर है

पस्ती है बलंदी है है बस्ती औ वीराना
दिलबंद नुमाइश है है शौकते शाहाना
यह शहर जहां हरदम हंगामा ए हस्ती है
टकसालों में हलचल है मैखानों में मस्ती है
बाजारों में रौनक है दोतर्फा दुकानों से
इक लुत्फ टपकता है सब ऊंचे मकानों से
यह सब्ज जमीं उगता जिसमें गुलो लाला है
और जिसका हरम से भी कुछ हुस्न दोबाला है
इठलाती हुई जिस पर है बादे सबा जाती
सरसर है जहां आकर कुछ गर्द उड़ा जाती
ऊपर से बरसता है रहमत का जहां पानी
शबनम सरे सब्जा पर करती है दुरअफशानी
ये नहर कि जिससे है उन खेतों को शादाबी
ये झील कि हैं जिस पर पर मारते मुर्गाबी
ये बह्‌र नहीं मिलता कुछ जिसका किनारा है
पानी पे रवां करती मौजों का सहारा है
अलकिस्सा समां जितना नजरों में समाया है
हर एक इशारा है यह मुझको बताता है
हां तहते तसर्रुफ में सब नेमतें मेरी हैं
बाहोशों खिरद में हूं कैफीयतें मेरी हैं
गो दायराए खलकत सब तर्ह मुजय्यन है
जंगल है शिकारों को और सैर को गुलशन है
पर जैसा कि इक मुमसिक दिलदादा खज़ाने का
है देखता खुश होकर गंज अपने सिरहाने का
सब कीसए ज़र अपना वह खोलके रहता है
ले लेकर खरा-खोटा उनमें से परखता है
रखता है अगर्चे वो इक गंजे गरांमाया
दिल पर नहीं पड़ता है कुछ उसके मगर साया
बेसब्रिए खातिर से अहवाल दिगरगूं है
इक बूंद से कमतर है पर सामने जेहूं है
हसरत भरी दिल में है कह कहके यही रोता
हां कुछ तो है पास अपने पर और भी कुछ होता
वैसा ही मेरा दिल भी पाबन्द हवस का है
दुनिया के कशाकश में दामन मेरा मसका है
दिल अपना तड़पता है इक ऐसी मसर्रत को
दुनिया के बखेड़ों से ज़ाइल जो न होती हो

जो सूरते तस्कीं हो अपने दिलो दीदा की
जमींयते खातिर हो जो होशे रमीदा की
कुछ लुत्फ सिवा जिससे हो दिल के तरानों में
इक मीठी सदा आती हर वक्त हो कानों में
दिल नग्मए दिलकश से मसरूर रहे हरदम
दुनिया की बलाओं से दिल दूर रहे हरदम

***

पर हैफ खुशी ऐसी कब रूए जमीं पर है
अंबोह में हसरत के जिसका नहीं बिस्तर है
वो लोग कि रहते हैं जो सर्द मकामों में
कहते हैं खुशी उनकी है मैं-भरे जामों में
वह कौम का हमदम जो हमदर्दियां करता है
कहता है इसी पर कुछ आलम यह गुजरता है
और वैसे ही मरता जो हुब्बुलवतनी पर है
कहता है निगाहों में उसकी वही मंजर है
लेकिन जो हकीकत में दिल उनका टटोलूं मैं
इक आंख झपकने में कलई अभी खोलूं मैं
महलों में जलायें ये हरचन्द दिया घी का
पर वक्ते सहर जब हो अहवाल खुले जीं का
सब मादरे गेती के आगोश में पलते हैं
इक वक्ते मुऐयन तक दुनिया में मचलते हैं
इक तौर पे नेचर का है दस्त करम सब पर
गर्दू में छुपा सबकी किस्मत का नविश्ता है
हाथों में फकत बाकी तदबीर का रिश्ता है
जो लोग नहाते हैं मेहनत के पसीनों में
पाते हैं जरा ठंडक कुल्फतजदा सीनों में
जिस तर्ह मुसाफिर इक दिल खस्ता थका-मांदा
हसरतजदा अफसुर्दा और खाक बसर रांदा
उम्मीदें लिये दिल में तनहा चला जाता हो
गर्दिश के जमाने की वो खाक उड़ाता हो
और गुल्शने मंजिल हो उसका बड़ी दूरी पर
इक ओस पड़ी हो जिससे सुबूरी पर
मैखाने इसी हालत में हमदमे दैरीना
छाती से लगा जिसको ठंडा वो करे सीना
पर थोड़े ही अर्से में वह दोनों जुदा होकर
बाहम गले मिल-मिलकर हसरतजदा रो-रोकर

जाते रहें आखिर वो अपनी रहे मंजिल को
खुश एक घड़ी करके अरमान भरे दिल को
वैसी ही खुशी सबकी इक दम में छलावा है
उम्मीद की चालों में अफलाक का कावा है
रह जाती फकत हसरत है दिल के दुखाने को
उम्मीद अभी आयी और है अभी जाने को

***

इक दम के लिए तनहा होने दो जरा मुझको
इन्सान की हालत पर रोने दो जरा मुझको
ऐ वाये जमाना में जो सबसे निराला है
वह कशमकशे हसरत से यूं तहोबाला है
इस उम्रे तबीई की कमबख्त घड़ी थी वो
औकात बनी आदम की सख्त घड़ी थी वो
हसरत ने जमाया जब इन्सान पे रंग अपना
शैतान ने फाड़ा जब यह सीनए संग अपना

***

नैरंगे जमाना की सब बूकलमूनी है
तस्कीन न हो दिल को किस्मत की जुबूनी है
वुसअत है कहां इतनी नेचर के खजीने में
आसूदगी जो भर दे हसरत भरे सीने में
जब तक कि यह दुनिया है जब तक कि यह इसरत है
इक खलबली दिल में है हंगामा ए हसरत है।

[उर्दू लेख। 'जमाना', नवम्बर, 1910 मे प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग 3 मे [illegible]
इस लेख मे एक उपशीर्षक 'हंगामा ए हसरत' भी है।]

शबेतार

मुझे इसका अफसोस तो नहीं है कि 'शबेतार' मक्बूल (स्वीकृत) नहीं हुआ। मगर तर्जुमा करते वक्त बार-बार यह खयाल आता ही जाता था उर्दू-दां पब्लिक इसकी कद्र न करेगी, और न मैंने आमपसंद के लिए इसे तर्जुमा किया था। मगर मुझे यह खयाल न था कि रिसायल (पत्रिकाओं) और महायिफ (पुस्तकों) के एडीटर साहबान भी उसे सतही निगाह ही से देखेंगे। उर्दू अहले-नजर (विद्वानों) की नाशिनासी (अज्ञान) पर नज़र रंज होता है। माटरलिंक बेल्जियम का मशहूर और मारूफ ड्रामानिगार है। उसके ड्रामे योरोप की तमाम कौमों जुबानों में तर्जुमा हो चुका है। क्या मैं यह खयाल करूं कि योरोप की माद्दापरस्त (वस्तुवादी) पब्लिक जिस रूहानियत का लुत्फ उठा सकती है, उसका हिन्दोस्तां के बातिन-परस्तों (हार्दिकतापूर्ण निवासियों) को मुतलक (पूर्णतः) हिस (एहसास, संवेदन) नहीं? यह खयाल निहायत दिलशिकन है, और

मैं उसे एक लम्हे के लिए भी दिल में जगह नहीं दे सकता। मैं इस खयाल से अपने तईं तस्कीन देता हूं कि अहले-नज़र ने उस ड्रामा को नज़रे-गाइर (गंभीर-दृष्टि) से नहीं देखा, वरना वे उसे हर्गिज़ नापसंद नहीं करते।

माटरलिंक ने इस ड्रामे में एक खुर्दबीनी दुनिया का नज़ारा पेश किया है। मीरिबी (पश्चिमी) अहले तसव्वुफ (संत सूफी लोगों) का अकीदा (विश्वास) है कि रूहे वजूदे ज़ाहिर (प्रत्यक्ष संसार) में आने के कब्ल (पूर्व) अर्वाह (परलोक) में रहती हैं। वहां हर एक चीज इस कसीफ (अपवित्र) दुनिया की चीज़ों से ज़्यादा लतीफे (पवित्र), ज़्यादा रौशन (दीप्त), ज़्यादा खुशनुमा और ज़्यादा दिलफरेब होती है। वहां [illegible] आफताब इससे कहीं ज़्यादा दरख्शां (चमकीला) है, वहां के फूल कहीं ज़्यादा शिगुफ्ता (विकसित) और खुशबूदार है। इंसान जब इस दुनिया में आता है तो आलमे अर्वाह (स्वर्ग) की [illegible] सी (हल्की सी) याद उसके जेहन में कायम रहती है। [illegible] बच्चों की निस्बत [illegible] आम खयाल है कि न जाने वे क्या क्या देखकर कभी [illegible] है। उनकी वह [illegible] और शिगुफ्तगी (प्रसन्नता), उनका वह भोलापन, [illegible] सच्चाई और सफाई इस अम्र (बात) की दलील (प्रमाण) है कि वह किसी [illegible] ज़्यादा पाक दुनिया से आए हैं और अभी यहां की कसाफत (गंदगी) का उन [illegible] असर नहीं हुआ [illegible] माद्दा (प्रकृति) उन्हें अपनी ओर खींचता है, और [illegible] हो जाते हैं। मगरिबी सूफियों का ये भी खयाल [illegible] ज़्यादा रौशन होता है। इसलिए वो ज़्यादा [illegible] आत्म सतह [illegible]), ज़्यादा मेहरपज़ीर (दयालु) [illegible] अकीदत (आस्था) और सदाकत (सत्यता), उनकी सफाई- [illegible] ज़बर्दस्त दलील है। उसके बरअक्स (प्रतिकूल) [illegible] और नाज़ुक (स्मार्ट) होता है, लेकिन मर्दों [illegible] बुद्धि) के मुख्तलिफ मदारिज (उपकरण, पद) होते हैं। [illegible] माद्दापरस्त (वस्तुवादी), यकसां दुनियादार नहीं होते। [illegible] इस ड्रामे में मुकालिमा (संवादों) के ज़रिए से ज़ाहिर [illegible] है। छः [illegible] मर्दों की दुनिया के छः मर्दों की शख्सियतें 'खुदी' या 'हस्ती' [illegible]। अंधी औरतें भी ये सब हस्तियां एक [illegible] की निगरानी में एक खानकाह (आश्रम) में रहती हैं। खानकाह [illegible] है? इसानी दरवेश कौन है? [illegible] (मन का प्रकाश) पहले, दूसरे और तीसरे [illegible] (आलसी) अज्ञान के फिक्र न मुतफक्किर [illegible]) और [illegible] (दुरात्मा अंधात्मा) दिखलाए गए हैं। पांचवें और छठे [illegible] निगाह (सूक्ष्मदर्शी) हैं। उन्हें अपने वजूद और खानकाह के मुतालिक [illegible] हो गया है। अंधी औरतों में कोई तो ईमान है, कोई तो खैरात है, कोई [illegible])। सब औरतें और बिलखुसूस (मुख्यत:) नौजवान अंधी औरत [illegible] (मन से) ज़्यादा बाखबर है। उन्हें साबिका (पहली) ज़िंदगी की कुछ-कुछ [illegible] बाकी है। जिस जंगल में ये सब मर्द और औरतें बैठी हुई हैं, उसे दुनिया समझ [illegible]। दुनिया से मतलब जावेद (नित्यता) का समंदर है जिसकी लहरें दुनिया

के करारों से टकराती हैं और जिसका शोर जंगल में भी सुनाई देता है। इस समंदर में रोशनी की मीनार है। इस मीनार में वह लोग रहते हैं, जिनकी निगाह हमेशा अबद (नित्यता, शाश्वतता) के समंदर की तरफ रहती हैं, और जो कभी जंगल यानी दुनिया की तरफ नहीं ताकते। मीनार को आलमे-ममालिक (फरिश्तों की दुनिया) समझ लीजिए, और वहां के बाशिंदे वो नुफूसे-कुदसीय: (पुनीतात्मा) हैं जो मारिफत (परिचय) के मदारिज (दर्जे, तरीके) तय कर चुके हैं। दरवेश उन हस्तियों को दुनिया में लाता है। खुदगर्ज़ और तनपरवर मर्दों की नाफरमानियां और कजकामियां (प्रतिकूल कामनाएं) दरवेश को बेदिल कर देती हैं। यहां तक कि उस जंगल में वह शिकस्ता दिल (हताश) होकर रहलत (स्थान-बदल) कर जाता है। उसकी फना (मृत्यु, लोप) के बाद उन शख्सियतों पर अजीब इज़्तिराब (घबराहट) और परेशानी का आलमकारी हो जाता है। हवा का एक-एक झोंका दुनिया की एक-एक फिक्र, हवस की एक-एक तहरीक उन्हें बदहवास कर देती है। इनमें एतिकाद (विश्वास) नहीं है, इसलिए अपनी हिफाजत की फिक्र और नामालूम खतरात का अंदेशा उन्हें मुहय्यिज़ (उत्तेजित) कर देता है। औरतों में ईमान और अकीदा का नूर मौजूद है, इसलिए वे ज़्यादा मुतमइन (निश्चिंत) और मुतवक्किल (आस्तिक, ईश्वर-विश्वासी) हैं। एक अंधे मर्द का फूलों की तरफ जाना, एक कुत्ते का आना और दरवेश की लाश के करीब बैठ जाना, बर्फिस्तानी हवा का चलना और बिल्लाखैर (अमंगल, बिना खैरियत) किसी नामाकूल कदम की आहट से सबका परेशान होना - इस वाकियात की तफ्सीर (व्याख्या) भी तरीकेआला (अच्छी प्रकार) पर की जा सकती है। बच्चों की बातिनबीनी (अन्तर्दृष्टि) यहां कितनी खूबी से दिखाई गई है। अलगरज (सारांश यह है कि) ये मुकालिमे (सवाद) सरसरी तौर पर पढ़ने की चीज नहीं हैं। एक एक की बात गौर से पढ़िए और तब आपको इस ड्रामे की खूबियां रौशन हो जाएगी। एक तसव्वुफाना (सूफियाना) तमसील (दृष्टांत) की तौजीफ (व्याख्या) करना आसान अम्र (कार्य) नहीं है। इसमें कदम कदम पर लग्जिश (गलती) खाने का खतरा है और मुझे हर्गिज़ दावा नहीं है कि जो तावील (व्याख्या, दृष्टांत) की है वह तमामतर (सभी) हस्बेहाल (स्थिति के अनुसार) है। मुमकिन है, ड्रामानिगार (नाटककार) का मंशा और ही हो। इसलिए पहले मैंने ये दूरअज़कार (पहुंच से बाहर) कोशिश करने की ज़रूरत न समझी थी, क्योंकि तमसीलों के मतालिब (अर्थों) को हर शख्स अपने एतिकाद (विश्वास) के एतबार से समझता है, लेकिन चूंकि इस ड्रामे के मुहमिल (अर्थहीन) होने की शिकायत है, इसीलिए मैंने उनकी वह तफ्सीर पेश करने की जुर्अत की है जो मैं खुद समझ सका हूं। और मुझे यकीन है कि नाजिरीन (पाठक) अगर इस एतबार से ड्रामे को पढ़ेंगे तो वह उन्हें इस कदर मुहमिल (अर्थहीन) न मालूम होगा जितना खयाल किया गया है।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका, 'जमाना', मार्च, 1920 में 'शबेतार मुबाहिसा' शीर्षक से प्रकाशित। हिन्दी रूप 'शबेतार' शीर्षक से 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

काउण्ट टॉल्स्टॉय और फन-ए-लतीफ (सत्कला)

काउण्ट टॉल्स्टॉय ने जहां दीगर (अन्य) सियासी (राजनीतिक), तमद्दुनी (सभ्यता) और मज़हबी मसाइल (समस्याओं) पर अपने इन्किलाब-अंगेज़ (क्रांतिकारी) खयालात (विचार) ज़ाहिर किए हैं, वहां फनून-ए लतीफा (सत्कला) के मुताल्लिक भी इनके खयालात जिद्दत (नवीनता) से खाली नहीं। उनके मुबाहिसे (वाद-विवाद) में एक खास वस्फ (विशेषता) यह है कि चाहे अमलन (अमल के तौर पर) उनसे मुआफिक (अनुकूल) न हो, पर असूलन आप उनके ज़रूर कायल हो जाते हैं। दुनिया आज भी मुसावात (समानता) और अखुव्वत (भाईचारे) के मुद्दइयों (दावेदारों) से खाली नहीं है। मगर वो आलीशान होटलों में बैठे हुए हर एक तकल्लुफ और आसाइश (आराम) का लुत्फ उठाया करते हैं--टॉल्स्टॉय ने मुसावात (समानता) पर अपनी सारी सरवत (धन) और सारा विकार (इज़्ज़त) कुरबान कर दिया। वो महज़ तबाहकुन (नष्ट करने वाले) नुक्ताचां (आलोचक) नहीं हैं। उनमें सालिकाना (ईश्वरीय) सदाकत (सत्यता) और जोश मौजूद है। उनके दिल में शहीदों की धुन है, पयम्बरों (अवतारों) का एतिकाद (आस्था, विश्वास) है। वो उसूलों के मुकाबिले में शख्सों की परवाह नहीं करते। रिया (पाखण्ड) और ज़ाहिर परस्ती (दिखावे) से उन्हें नफरत है। रिवाज़ की गुलामी को वो बदतरीन गुलामी (सबसे बुरी दासता) खयाल करते हैं। दुनिया ऐसी खुशामद पसन्द हो गई है कि आज सच्ची और बेलाग बात कहने वाला आदमी, [illegible] समझा जाता है। टॉल्स्टॉय ने मज़हबी तसर्रुफात (शोषण, परिवर्तनों) और [illegible] ([illegible]कल्पनाओं) का पर्दाफाश किया, इसके लिए दुनिया ने उन पर ईजाद (आविष्कार) का फत्वा सादिर किया (लगाया)। वो सच्चे ईसाई उसूलों के मोईद ([illegible]) थे। दुनिया ने उन्हें बेदीन (नास्तिक) खयाल किया। वो मुसावात (समानता) के अमली पैरो (अनुयायी) थे। दुनिया ने उन्हें फातिरुल अक्ल (भ्रष्ट बुद्धि वाला) बतलाया। यहां तक कि अक्सर अदीबों ने उन्हें अपने ज़िंदादिलाना (विनोदपूर्ण) किनायात (इशारों) का निशाना बनाया है, मगर इन फतावा (व्यवस्थाओं, धर्मादेशों) के बावजूद इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि वो एक पाक-बातिन (साफदिल) और रौशनदिल (अन्तर्यामी) बुजुर्ग थे।

उन्होंने फनूने लतीफा का निहायत मोहविक्ककाना मुतायला (शोधपरक समीक्षा) किया है और तमाम मुहज़्ज़ब (शिष्ट, सभ्य) मुमालिक (देशों) के नक्कादों ने (आलोचक) फने लतीफ (सत्कला) के उसूल और आरा (मतों) का गायर (गहरा) और [illegible] (आलोचना) मुबाज़ना (तुलना) करके साबित किया है कि इसमें इस मसले पर कितना बाहमी इख्तिलाफ (आपसी मतभेद) है। यहां तक कि आर्ट की तारीफ (व्याख्या) भी बेईतिहा इख्तिलाफात (मतभेद) के मआरिज़ (झगड़े) में पड़ी हुई है। ये एक आम खयाल है कि आर्ट को समझने और उसकी कैफियत (आनंद) से मुतास्सिर (पभावित) होने के लिए खास तरबीयत (शिक्षा) की ज़रूरत होती है। जो इस खास तरबीयत से महरूम (वंचित) है वो आर्ट से लुत्फ-अंदोज (आनंदपूर्ण) नहीं हो सकता। काउण्ट टॉलस्टॉय इस आम खयाल के बिलकुल बरअक्स (प्रतिकूल)

फरमाते हैं कि आर्ट की बेहतरीन सिफ्त (विशेषता) उसकी अमूमियत (सामान्यता) है। जिस हद तक आर्ट इस मेयार आमफहमी (आम-समझ) से गिर जाता है, उस हद तक वो नाकिस (अपूर्ण) है। उनके खयाल में शेर ऐसा होना चाहिए जिसकी अवाम भी बेसाख्ता (तुरंत) दाद दे सके। तस्वीर ऐसी होनी चाहिए, जिसकी नज़ाकतें हर शख्स की समझ में आ जाएं। उनकी मंशा हर्गिज़ ये नहीं है कि आर्ट में लताफत (कोमलता) न हो, तासीर न हो, तनासुब (अनुपात) न हो, लेकिन चूंकि तबए-इंसानी (मनुष्य की प्रकृति) इन्हीं जज़्बात के मजमूए (योग) का नाम है। इसलिए कोई वजह नहीं कि आर्ट की लताफत या तासीर से आवाम मुतास्सिर (प्रभावित) न हो। बशर्ते कि उसे तसन्नो (बनावट) और मूशिगाफी (छिद्रांवेषण) ने बिल्कुल मस्ख (विकृत) न कर दिया हो। आर्ट फितरी (प्राकृतिक) जज़्बात (भाव) को इज़हार (व्यक्त रूप) है और फितरी जज़्बात से मुतास्सिर होने के लिए किसी खास ज़ेहनी तैयारी या तरबीयत की ज़रूरत न होनी चाहिए। दिल खुश करने वाली बातों से खासो आम यक्सां (एक से) महजूज़ (आनंदित) होते हैं। अला हाज़ा (इस पर) गमनाक वाकियात (दुःखद घटनाएं) और दर्दनाक हादिसात खासो-आम दोनों पर यक्सां असर पैदा करते हैं। जब बुनियादी जज़्बात मुस्तरक (मिश्रित) हैं तो आर्ट से हज़ (आनंद) उठाने के लिए खास तरबीयत की ज़रूरत ही क्यों हो? वो आर्ट नाकिस (दोषपूर्ण) है जो इस इम्दाद (सहायता) का मुहताज है, वो फितरी (प्राकृतिक) नहीं, मसनूई (बनावटी) है। इस कसौटी पर कसने से दुनिया के कितने ही बुज़ुर्ग तरीन (सबसे बड़े) मुसव्विर (चित्रकार) और नक्काश और शुअरा (कवि) अपने रुतबे से गिरते हुए नज़र आते हैं। यहां तक कि शेक्सपीयर भी इस इल्ज़ाम से बरी नहीं हो सकता। अलिफ लैला कामिल (पूर्ण) आर्ट है, इसलिए कि वो झोंपड़ों और महलों में यक्सां (एक-सा) मकबूल (प्रिय, रुचिकर) है। अला हाज़ा (इस पर) 'बैताल-पचीसी' और 'कथा-सरित सागर' 'रामायण' और 'महाभारत' अदबियात ए-उला (प्राचीन साहित्य) की बेहतरीन मिसालें हैं, चरवाहे और हलवाहे भी उनका लुत्फ उठा सकते हैं। बाइबिल की रिवायतें किस कदर मतबूए-अवाम (जनप्रिय) हैं। काउण्ट टॉल्स्टॉय की दलील है कि फने लतीफा (सत्कला) की इस खास पसंदी और अजनबियत (अपरिचय) की इब्तिदा उस ज़माने से होती है, जब मुहज़्ज़ब (सभ्य) और बरसरे-इक्तिदार (प्रभुत्वशाली) जमाअत (वर्ग) ने मसनूई ज़िंदगी (कृत्रिम जीवन) बसर करनी शुरू की। अपनी तफरीह (मनोरंजन) और मअय्युश (भोग-विलास) के लिए नई-नई शान, नई-नई दिलचस्पियां तलाश करने लगे। इसी मुनास्बत से हमारे जज़्बात पेचीदा, दकीक (बारीक, गूढ़) और बेगाना (अपरिचित) होते गए, और जूं-जूं खास और आम के दरमियान मुगायरत (पराएपन) की खलीज़ (खाड़ी) वसी (चौड़ी) होती गई, मुहज़्ज़ब (सभ्य, शिष्ट) मज़ाक (रसिकता, सुरुचि, मनोविनोद) पर तसन्नो (बनावट) का रंग चढ़ता गया और इस दर्जा नौबत पहुंच गई कि आज दौरे-जदीद (आधुनिक समय) के फनूने लतीफा (सत्कला) का दिलदादा (इच्छुक, आसक्त) और कदीम (पुरातन) के सादा और फितरी (प्राकृतिक) जज़्बात से कैफियत-पज़ीर (आनंद लेने वाला) नहीं हो सकता, बेजिंसे ही (उस वस्तु की तरह) उसी तरह जैसे तेज़ मसालाजात (मसालों) की

आदी ज़ुबान को सादा गिज़ा (भोजन) फीकी और बेमज़ा मालूम होती है। मुहज़्ज़ब जमात (सभ्य वर्ग) इस तसन्नो (बनावट) को अपनी अभीक (गहरी, सूक्ष्म) जज़्बातियत (भावों) और नाज़ुक हिस्सियात (कोमल इंद्रियानुभूतियों) का मज़हर (प्रकट करने वाला) खयाल करती है। उसने इसी तकल्लुफ (दिखावे, बनावट, पराएपन) को अपने और अवाम के दरमियान एक वसील-ए-इम्तियाज़ (श्रेष्ठ मानने वाले भेद का माध्यम) बना लिया है। यही उसका तब्अज़ाद (कल्पित इम्तियाज़ (विशेषता) है। उस निख्वत (अहंकार) को इस खयाल से मुसर्रत (प्रसन्नता) होती है कि हम मुद्रिकात (विवेक की शक्तियां, ज्ञानेंद्रियां) और जज़्बात की नफासत (उत्तमता) और गराबत (अनोखेपन) में अवाम से किस हद तक बढ़े हुए हैं। इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया के बेशतर (अधिकतर) साहिब-उल-राय (सही राय वाले) मुसन्निफन (लेखक-गण) आर्ट की इस नफासत (सूक्ष्मता, गूढ़ता) को उसके दौरे-कमाल (कला-युग) का एक लाज़िमी जुज़ (तत्त्व) खयाल करते हैं। मगर इसमें भी शक की गुंजाइश नहीं है यह नफासत आर्ट को बसा औकात (प्राय:) मुगलक (मुश्किल) और बईद-उल-फहम (समझ से दूर) बना देती है। काउण्ट टॉल्स्टॉय की उन तसानीफ (कृतियों) में जो ख़याल की तद्‌वीन (रचना करने) से पहले लिखी गई हैं, वही रंग मौजूद है, जिसकी उन्होंने बाद को तारीज़ (विरोध) की है और हालांकि 'अन्ना कैरेनिना', 'सेबास्टोपोल' वगैरा किसस (कहानियां) रूसी अदबियात (साहित्य) में ही नहीं, दुनिया की अदबियात में मुम्ताज़ (विशिष्ट) दर्जा रखते और फने-नाविलनवीसी (उपन्यास-कला) कला का एजाज़ (चमत्कार) कहलाने के मुस्तहक (हकदार) है, पर यह खयाल पैदा होने के बाद टॉल्स्टॉय ने इस रंग में लिखना तर्क (त्याग) कर दिया। उनके दौरे-आखिर (अंतिम काल) की तसानीफ (रचनाएं) निहायत सादा, आमफहम, रूहानी और अखलाकी सदाकतों (नैतिकतापूर्ण सच्चाइयों) से लबरेज़ (पूर्ण) कहानियां हैं जो 'बाईबिल' या दीगर कदीम (पुरातन) मज़हबी तम्सीलों (धार्मिक दृष्टांतों) से मुशाबा (सदृश) हैं और इसमें शक नहीं कि वो अपने रंग में फर्द (अद्वितीय) हैं। इनमें अमूमियत (सर्वसाधारण) की सिफत (गुण) बदर्जए अतम (संपूर्ण रूप में) मौजूद है। हां, मुमकिन है कि वो राश:अंगेज सनसनीखेज़ नाविलों के शैदाइयों (चाहने वालों) को फीकी और खुश्क मालूम हों। यह फैसला करना बहुत मुश्किल है कि टॉल्स्टॉय का यह मेयारे-तामीम (साधारण बनाने का स्तर) खालिस ज़ेहनी और तबई (प्राकृतिक) उसूलों पर मबनी (निर्भर) था या मुल्की और तमद्दुनी हालात (आचार-व्यवहार की स्थिति) पर लेकिन कराइन (लक्षणों) से मालूम होता है कि तमद्दुनी हालात ही उनके इस कुल्लिये (व्यापक नियम) के बानी (कारण) थे। उनकी इंसाफ-पसंद तबीयत को यह अम्र बगायत (बहुत अधिक) शाक (असह्य, नागवार) गुज़रता था कि मुहज़्ज़ब (सभ्य) तबका (वर्ग), जो अपनी बका व हयात (जीवन) के लिए अवाम का दस्तनिगर (आश्रित) है, उनकी ज़रूरत और मज़ाक (सुरुचि, मनोविनोद) और कोताहियों (कमियों) को ज़रा भी खयाल में न लाकर महज़ अपनी महदूद (सीमित) जमात (वर्ग), के तरफ्फो (अहंकार) या तफरीह (मनोरंजन) के लिए कोशां (प्रयत्नशील) हो, बेजिंसे ही (इसी तरह) जैसे कोई रागिया अहीरों की बारात में

गाने जाए और ध्रुपद या हक्कानी (ईश्वर की प्रशंसा में) गज़ल गाना शुरू करे। जब हलवाहे और चरवाहे मुहज़्ज़ब तबके (सभ्य वर्ग) के अन्नदाता और पालने वाले हैं तो यह उनकी सख्त अहसान-फरामोशी और नाशुक्री (अकृतज्ञता) है अगर वो अपने कमाल से इन्हें बहरावर (परिचित) होने का मौका न दें। शायर, मुसव्विर (चित्रकार), नक्काश, बुततराश (मूर्तिकार), एक्टर, गायक ये सब के सब सोसाइटी के जुज़्बे-ज़ाइद (अतिरिक्त अंश) हैं और इनकी ज़ात से अवाम को कोई फैज़ (लाभ) न पहुंचे तो इन्हें ज़िंदा रहने का कोई हक नहीं है। इस उक्दे (समस्या, गुत्थी) को हल करने की बज़ाहिर (स्पष्टतः) दो ही सूरतें हैं कि या तो अवाम में तालीम (शिक्षा) की इतनी तरक्की हो कि उनमें और खास में कोई खते-इम्तियाज़ (अंतर करने वाली रेखा) न रहे, या खास अपनी बुलंद परवाज़ियों (ऊंची उड़ानों) को आम मज़ाक (रसिकता, मनोविनोद) और इस्तेदाद (योग्यता) के मुतीअ (अधीन) रखें। इन दोनों सूरतों में कौन काबिले-तरजीह (प्रधानता देने योग्य) है, इसका फैसला करना मुश्किल नहीं। काउण्ट टॉल्स्टॉय के उसूल की कोराना पैरवी (अंधा अनुकरण) इस ज़माने में न मुमकिन है और न ज़रूरी। हमारे खयाल में वो एक इंतिहाई हद पर हैं और चूंकि सदाकत (सत्यता) बैनुल-हदूद (सीमाओं के बीच) होती है, इसलिए मुनासिब है और ज़रूरत इसकी मुक्तज़ी (इच्छुक), है कि हम अपने आर्ट को हत्तुल इम्कान (यथासंभव) तसन्नो (कृतिमता), तकल्लुफ (टीम-टाम, परायापन), मुबहम इस्तिआरात (अस्पष्ट मानवीकरण) और दूरअज़-फहम (अबोध) किनायात (इशारों) से बचाएं। बदकिस्मती से हिन्दुस्तान में आला (विशिष्ट) और अदना (साधारण) के दरमियान ये खलीज़ (खाड़ी) कहीं ज़्यादा वसीअतर (चौड़ी) है। यहां वो जज़्बात और बुलंद परवाज़ियों तक महदूद नहीं है। इख्तिलाफे-ज़बान (भाषा की भिन्नता) ने इस खलीज को कतन (बिल्कुल) नाकाबिले-उबूर (जिसे पार न किया जा सके) बनना दिया है। हमारी कौम के बेहत्तरीन अफराद (व्यक्तियों) अंग्रेज़ी ज़बान में मश्क-व-मुज़ावलत (निरंतर अभ्यास) बहम पहुंचाने (एक साथ उपलब्ध करने) पर मजबूर हैं। हालाते रोज़गार ने इन्हें माज़ूर (अपंग, मजबूर) बना रखा है, लेकिन काश वो अपने ज़ाती मफाद (निजी लाभों) और शोहरत के साथ-साथ कुछ उन झोपड़ों में बसने वालों का भी ख्याल करते जो उनकी तालीम के कफील (पोषक) हैं, तो आज हमारे अवाम की हालत इतनी ज़बूं (खराब) न होती। हमारे मुल्क के बेहतरीन रिसाइल (पत्रिकाएं) अंग्रेज़ी में निकलते हैं, बेहतरीन अश्खास (व्यक्ति) अंग्रेज़ी में लिखते और बोलते हैं, उनके कुतुबखाने (पुस्तकालय) अंग्रेज़ी किताबों से सजे हुए हैं। यह उनकी इंतिहा दर्जे की मुहसिनकुशी (कृतघ्नता), हक-फरामोशी और खुद-परवरी (स्व-पोषण) है। वो अंग्रेज़ी में अपनी इंशापरदाज़ी (निबंध-लेखन) के कमाल दिखाकर अपने दिल में मगन हो लें और मुमकिन है आरज़ी (अस्थाई) शुहरत भी हासिल कर लें, लेकिन अहले-ज़ुबान (अपनी भाषा बोलने वाले) इन्हें बहुत दिनों तक याद न रखेंगे। अगर वो ये गुमान करते हैं कि उनके खयालात इस कदर बुलंद हैं कि यहां के अवाम उनकी कदर न करेंगे तो यह उनकी सख्त गलती है। जो लोग कबीर के भजन और सूरदास के पद गाते और समझते हैं, जो 'रामायण' और 'महाभारत' से महज़ूज़

(आनंदित) हो सकते हैं, उनके लिए आपके मज़ामीन (निबंध) और खयालात हर्गिज़ बईद-अज़-फहम (अबोध) नहीं हो सकते। यह दूसरी बात है कि हम अपनी कौमी जुबानों से नाआश्ना (अपरिचित) हों और खयालात ज़ाहिर करते हुए झिझकें। अपने घर में चिराग न जलाकर मस्जिद में चिराग जलाना पुरानी कहावत है। जो लोग अपने पस्तखयाल (मंदबुद्धि) हमवतनों की जानिब से आंखें बंद करके आलमगीर (विश्वव्यापी) शोहरत हासिल करने के ख्वाब देखते हैं, उनकी निस्बत वजुज़ (सिवाय) इसके क्या कहा जाए कि परमात्मा उन्हें राहे-रास्त (सत्य-मार्ग) पर लाए और मुहसिनकुशी (कृतघ्नता) के गुनाहे-कबीरा (महापातक) से बचने की तौफीक (सामर्थ्य) अता करें।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका, 'जमाना', जून, 1920 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

शिक्षा-असहयोग

शायद असहयोग के किसी विभाग पर इतना मतभेद नहीं है, जितना शिक्षा-असहयोग पर। स्वदेशी वस्तु प्रचार, वकालत का त्याग, अदालतों का बहिष्कार, सरकारी पद-त्याग आदि प्रस्तावों से लोगों को कुछ-न कुछ सहानुभूति अवश्य है, किंतु शिक्षा असहयोग नितांत हानिकर, आपत्तिमय और दुराशाजनक समझा जाता है। यहां तक कि अभी कई महीने पहले असहयोग के कितने ही नेता भी इसे अपवादमय खयाल करते थे और संभवतः अब भी असहयोगियों में ऐसे शंकाधारियों की संख्या कम नहीं है। इधर कई 'सहयोगी' पत्रों में विशेषतः कानपुर की उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना' में इस विषय पर दो शंकाएं प्रकाशित हुई हैं। अतएव उनके समाधान और साधारण लोगों के अवलोकनार्थ हम आज इस प्रश्न की मीमांसा करने का विवाद करते हैं।

असहयोग आध्यात्मिक आंदोलन है

असहयोग का जन्म यद्यपि राजनैतिक परिस्थितियों के अधीन हुआ है, लेकिन यथार्थ में यह एक आध्यात्मिक आंदोलन है। किसी जाति का पराधीन होना उसके आध्यात्मिक पतन और अधोगति का प्रमाण है। यही कारण है कि बड़ी बड़ी बहुसंख्यक जातियां छोटी-छोटी जातियों के पैरों तले पड़ी हुई हैं। उन्हें कभी सिर उठाने की हिम्मत नहीं होती। आत्मिक पतन ने उन्हें निर्जीव बना दिया है, उन्हें अब अपने ऊपर लेश-मात्र भी विश्वास नहीं रहा। अपने पुरुषार्थ के पराक्रम और आत्मोत्सर्ग की कथाएं सुन-सुनकर उन्हें एक क्षणिक जोश आ जाता है, वर्तमान दुरवस्था भी एक क्षण के लिए उन्हें उत्तेजित कर देती है, किंतु विश्वासहीनता जो आध्यात्मिक पतन का सबसे द्योतक लक्षण है, इस जोश को स्थिर नहीं रहने देता। निर्बल समुदायों पर राज्य करने वाली सबल जातियां खूब समझती हैं कि शस्त्रबल के आधार पर हमेशा भरोसा नहीं किया जा सकता। इसलिए वह आध्यात्मिक विजय के प्रयत्न किया करती है। प्राचीनकाल की पाशविक क्रूरताएं और हत्याएं अब सभ्यता के विरुद्ध समझी जाती हैं, अतएव

ये बलवान शासक जातियां इसी फल को मनोविज्ञान के सिद्धांतों द्वारा उपलब्ध करती हैं।

भाषा और आध्यात्मिक पतन

जर्मनी ने जर्मनी और पोलैंड में जर्मन-भाषा का प्रसार करने के लिए कोई बात उठा नहीं रखी। आस्ट्रिया ने सोफिया पर अपना भाषा-प्रभुत्व जमाने की बड़ी चेष्टा की और कदाचित् यूरोपीय महासमर के कारणों में एक यह भी था। जापान वाले भी कोरिया पर अपनी भाषा का सिक्का बिठाना चाहते हैं, लेकिन अब निर्बल जातियों में भी जागृति हो गई है। वे अपनी राष्ट्रीय भाषा और भाव को त्यागने पर कदापि सहमत नहीं होतीं, यहां तक कि जान पर खेलकर भी उसकी रक्षा करती हैं। भारतवर्ष में जब अंग्रेजी भाषा की दुहाई फिरी तो यह देश संज्ञाशून्य हो रहा था, उसे अपने-भले-बुरे का ज़रा भी ज्ञान न रहा था। उसे शतब्दियों की आशांति के बाद अंग्रेज़ों के काल में शांति-सुख प्राप्त हुआ था। उसने अंग्रेजों की भाषा का सहर्ष स्वागत किया। उसी दिन से उसका आध्यात्मिक पतन होना शुरू हुआ हमारे रस्मो-रिवाज़, आहार व्यवहार, नीति-रीति यहां तक कि धर्म पर भी कुठाराघात होने लगे। प्रत्येक जातीय वस्तु आंखों में खटकने लगी, मानो एक वशीकरण मंत्र से हमारी आंखों और बुद्धि पर परदार डाल दिया हो। जो वस्तु पश्चिमी थी, वह अच्छी थी, जो वस्तु जातीय थी, वह बुरी थी। पश्चिम के लेखक और कवि अच्छे, दार्शनिक अच्छे, शासन-पद्धति अच्छी, धर्म अच्छा, व्यवहार अच्छा, वह सर्वगुण-सम्पन्न था, सर्वांग सुंदर था। केण्ट और स्पेंसर के सामने गौतम और शंकराचार्य लुप्त हो गए, कॉलरिज और टेनीसन के सामने कालिदास और भारवि की कोई हस्ती न रही और शेक्सपियर का तो पूछना ही क्या? पक्षजनित शासन (पार्टी गवर्नमेंट) आदर्श समझा जाने लगा, पाश्चात्य अर्थशास्त्र के सिद्धांत सर्वमान्य हो गए। किसी विद्या में पश्चिम जो कहे वही वेद वाक्य था, हमारी तो कहीं गिनती ही न थी। हम तो इसी को सौभाग्य समझते थे कि यूरोप ने हमारी आंखें तो खोल दीं, हमको नए ज्ञान-विज्ञान का मजा तो चखा दिया, हमें उस अंधकूप से तो निकाल दिया? हमारी इतनी मति हरण हो गई कि अपनी आत्मा के नष्ट हो जाने पर भी हम अपनी परतंत्रता को धन्य समझते थे।

यह लज्जास्पद दशा स्वर्गीय स्वामी दयानन्द सरस्वती के समय तक व्याप्त रही। उन्होंने पहले पहल इस मति भ्रम के अंधकार को हटाना शुरू किया। उनके पीछे और भी कितनी ही पवित्र आत्माओं ने हमारा नशा दूर करने का प्रयत्न किया, यद्यपि हमारे कानों में उनकी आवाज पड़ती थी, तथापि हम कानों में उंगलियां डाल लेते थे। नैतिक पतन की गति चाहे मंद हो गई हो पर उसका क्रम बंद न था।

आध्यात्मिक पतन की गति

हम स्वयं, बिना कहे-सुने, परंपरागत स्वत्वों और अधिकारों को सरकार के हवाले करते जाते थे। पहले गांव गांव पाठशालाएं थीं। हम स्वयं उनके संचालक थे। अब

उनकी जगह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मदरसे खुलने लगे। पहले गांवों में वैद्य और हकीम रहते थे। वहां गरीबों की प्राण रक्षा को अपना धर्म समझते थे। उनकी जगह अब अस्पताल खुलने लगे। पचायतें टूट गईं, यहां तक कि धार्मिक विषयों में हम शासकों की सहायता के लिए हाथ फैलाने लगे। हमारी प्राचीन प्रथा धर्म और परमार्थ और सार्वजनिक कामों को शासन के आधीन न रखती थी। इसके विपरीत आधुनिक शासन-प्रणाली जनता को छोटी से-छोटी बातो के लिए भी शासन का मुंह ताकने पर विवश करती है। इसका यह परिणाम है कि जोश संभालते ही हमारे ऊपर मति हरण की कृपा होने लगती है। हम दूसरो पर भरोसा करना सीखने लगते हैं, नौकरी के लिए, व्यापार के लिए, वकालत के लिए, शिल्प के लिए, यहा तक कि कृषि कर्म के लिए हम सरकार के मुहताज हैं हमे चारो ओर सरकार ही सरकार दिखाई देती है। जो कुछ है सरकार है। यह भाव हमारे हृदय पर पत्थर की लकीर बन गया है। हम सरकार के बिना कुछ नहीं कर सकते, हमारे ऊपर जब तक सरकार की छाया न हो, हम खोटे सिक्के हैं, जिसका कोई पूछने वाला नहीं।

नेताओं पर प्रभाव

यह कहना [illegible] नेताओं की तौहीन करना नहीं है कि इस मतिहरण मंत्र का प्रभाव ही सबसे अधिक उन्हीं पर पड़ा। वही पश्चिमी सहायता के गुलाम बन आए हैं। उनका रहन सहन सब कुछ पश्चिम के नमूने पर ढल गया है। उनकी देखा देखी सर्वसाधारण जनता भी इसी जाल में फंस गई। इस प्रकार यही लोग जिन पर जाति के उद्धार का भार था शासन के सबसे बड़े भक्त बन बैठे। शासन ने उन्हें ऊंचे पद प्रदान किए उनके लिए धनोपार्जन की सुविधाएं निकालीं उन्हें जनता से अलग खींचकर एक ऐसा समुदाय बना दिया जिसे साधारण अवस्था में चाहे वह कितना ही निम्न और नीच समझे लेकिन [illegible] जागृति की दशा में उसे अपने हाथ में वह पुतली बना सके। हमारा शिक्षित समुदाय आज शासक जाति का [illegible] बना हुआ है। उसके अंदर दौर्बल्य और नैतिक पतन का यह हाल है कि वह सच्चाई में ईमानदारी में सद्व्यवहार में यूरोप को ही आदर्श मानता है उसके सामने अपनी कोई हस्ती नहीं समझता। उसकी दृष्टि में संसार का एक सामान्य [illegible] भी यहां के मान्य पुरुषों से सात्विक गुणों में कहीं आगे बढ़ा हुआ है। [illegible] चरित्र का [illegible] भी उनकी [illegible] उनकी कलाएं [illegible] उनकी [illegible] उनकी दृष्टि में सद्गुणों का महत्व रखता है और [illegible] अपने व्यवहार में इनका [illegible] आचरण करते हैं।

इस प्रभाव को हटाने का उपाय

इस सर्वव्यापी मानसिक निर्बलता को हटाने के लिए परम आवश्यक था कि हम अपने ऊपर विश्वास करना सीखें। हमको यह मालूम हो कि हम [illegible] मिट्टी के ढेले नहीं हैं हम भी परमात्मा ने वही शक्तियां दी हैं जो औरों को दी हैं। हम भी संसार

शिक्षा-पद्धति की व्यावहारिक बुराइयां

यह तो रही कुछ सिद्धांत की बात। व्यावहारिक बातों में, इस शिक्षा पद्धति में कुछ ऐसी बुराइयां हैं, जो हमें उसकी अवहेलना करने पर बाध्य करती हैं। हम सदैव सरल जीवन और उच्च विचार के अनुयाई और भक्त रहे हैं। हमारे यहां विद्या को टीम-टाम, दिखावा और आमोद प्रमोद से पृथक् रखा जाता था। यहां तक कि ब्रह्मचर्य, अपने संयम और इच्छा दमन के लिए, छात्र संन्यासी से कम न था। बड़े बड़े विद्वान् टाट के टुकड़ों और मृगचर्मों पर बैठकर जीव और आत्मा के तत्त्वों का उद्घाटन किया करते थे। उनके शिष्य भी प्रलोभनों और तृष्णाओं से दूर रहकर वीरोचित गुणों का संचय करते थे। इस प्रकार उनमें स्वाभिमान, निर्भयता एवं सत्यप्रियता का विकास होता था। वह आजकल के शिक्षित युवकों की भांति छोटे छोटे स्वार्थों के लिए खुशामद और चिकनी चुपड़ी बातों से अपनी आत्मा को कलंकित न करते थे। उन त्यागी संयमी, गुरुजनों की जगह आजकल हमारे विद्यार्थियों के सामने इन अध्यापकों की मिसालें हैं जो स्वयं धन के उपासक, इच्छा और वासना के दास, बड़े बड़े वेतनों के लिए मुंह फैलाने वाले हैं। इस सबका असर युवकों पर पड़ना अनिवार्य है। यदि हमको अपनी प्राचीन प्रथा को जीवित रखना है तो हमें अपने युवकों को इस भ्रष्टकारी परिस्थिति से निकालना पड़ेगा, जिससे कृत्रिम आवश्यकताओं के वशीभूत होकर अधिकारियों के सामने हाथ न फैलाते फिरें। यही नहीं, रोना तो यह है कि हमारे कॉलेजों के विद्यार्थी प्रायः घमंडी शेखीबाज और बेअदब होते हैं। उन विद्यालयों में जहां की शिक्षा सरकार के अधीन नहीं है इससे कहीं अच्छी दशा है। गुरुकुल आदि के विद्यार्थियों की नम्रता, सेवाभाव, सरलता और विनयशीलता देखकर भली भांति ज्ञात हो जाता है कि जातीय और विजातीय शिक्षा पद्धति में क्या अंतर है।

असहयोग और विद्यार्थियों की ज़िम्मेदारी

शंका होती है कि विद्यार्थियों पर ही असहयोग का गुरुतर भार क्यों डाला जाय? इसका कारण विदित है। वकील और सरकार के कर्मचारी गृहस्थी के जंजाल में फंसे होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका समस्त जीवन स्वार्थपरता में व्यतीत हुआ है, उनमें त्याग और बलिदान का भाव लोप हो गया है। उनसे सार्वजनिक सेवा की आशा नहीं की जा सकती। इसके प्रतिकूल युवकों में उत्साह है, ताजा खून है। वे आदर्श के लिए, जाति के लिए, कर्त्तव्य के लिए अपने को समर्पण कर देते हैं। वे स्वार्थपरता के भार से मुक्त हैं। वहां जाति धर्म प्रधान है। उन्हीं पर राष्ट्र के उद्धार का भार है, और वह स्वयं अपने कर्त्तव्य को समझते हैं। यही कारण है कि वे उसका पालन करने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

विद्यार्थियों के कर्त्तव्य

असहयोग के नेताओं पर यह दोषारोपण किया जाता है कि वे युवकों को अपने अध्यापकों

और सरपरस्तों की अवज्ञा करने की शिक्षा देते हैं, किंतु देखना यह चाहिए कि यह अवज्ञा किन दशाओं के अधीन होती है। इसमें ज़रा भी संदेह नहीं कि बड़ों का अदब करना छोटों का धर्म है, लेकिन क्या ऐसी परिस्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती, जब यह बेअदबी केवल क्षम्य ही नहीं, प्रशंसनीय हो जाती है। स्वार्थ और आदर्श में विरोध ऐसी ही अवस्था में है। अगर शासन को अधिकार है कि वह हज़ारों घरों का सर्वनाश कर दे, सहस्रों सधवाओं को अगर अधिकार है कि व्यक्ति को राष्ट्र पर बलिदान कर दें तो इसमें क्या आपत्ति है कि हमारे युवकगण अपनी नौकरी की खैर मनाने वाले अध्यापकों और स्वार्थ-सेवी पिताओं की आज्ञाओं को शिरोधार्य करना स्वीकार न करें। यदि हमारे युवक कर्त्तव्य का उल्लंघन करें, और इस राष्ट्रीय संग्राम से कदम हटा लें तो यह उनके लिए अतीव लज्जा की बात होगी। और क्या एक दो वर्ष के लिए शिक्षा को स्थगित कर देना इतना बड़ा अनर्थ है, जिस पर इतना वावेला मचाया जाता है? राष्ट्रीय आवश्यकताओं व सम्मुख कुछ महीनों के लिए पुस्तकों को ताक पर रख देना क्या वास्तव में घोर पाप है? और क्या सारी शिक्षा कॉलेजों के भीतर और ग्रंथों के पृष्ठों के अंदर ही भरी हुई है? क्या विस्तृत जगत् में, राष्ट्रीय संग्राम में , जनता की सेवा में, निर्बलों की सहायता में, प्रतिकूल अवस्थाओं का सामना करने में आत्मिक और नैतिक शिक्षा उपलब्ध नहीं होती? ऐसा कहना वस्तुत: घोर अन्याय है। यथार्थ में वही वास्तविक शिक्षा है, जो हमें आने वाले स्वराज्य के लिए तैयार करेगी। बी० ए० और एल एल० बी० की डिग्रियां स्वराज्य के प्रश्न को हल नहीं कर सकतीं। अधिक-से अधिक उनसे उदर पूर्ति हो सकती है। इस अल्प लाभ के लिए जातीय उद्देश्यों का रक्तपात करना कभी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता।

सारांश यह कि अब अपनी व्यक्तित्व पर दृष्टि को संकुचित रखने का समय नहीं रहा। आपका लक्ष्य स्वराज्य है। उसके शिखर पर पहुंचने के लिए आपको स्वार्थ और संकीर्णता के पत्थर फेंकने पड़ेंगे। इन बाधाओं से मुक्त हुए बिना आप वहां तक नहीं पहुंच सकते। हां, यदि आपने इसी दशा में जीवित रहने और मर जाने का निश्चय कर लिया है तो उसके लिए वर्तमान शिक्षा बहुत ही उपयुक्त है। ऐसे पुरुषों से कुछ कहने सुनने की जरूरत नहीं है। हम उन महानुभावों को संबोधन करते हैं जो स्वराज्य के भक्त हैं। उन्हीं की सहानुभूति और सहायता पर हमारे उद्योग की सफलता निर्भर है।

[लेख। 'आज' हिन्दी साप्ताहिक, 14 मई 1921 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 संकलित।]

स्वराज्य के फायदे

स्वराज्य क्या है?

अपने देश का पूरा-पूरा इंतजाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज्य कहते हैं। जिन देशों में स्वराज्य है वहां की प्रजा अपने ही चुने हुए पंचों द्वारा अपने ऊपर

राज करती है। वहां यह नहीं हो सकता कि प्रजा लगान और करों के बीच में दबी रहे और अधिकारी लोग दिनों-दिन सेना बढ़ाते जाएं, कर्मचारियों का वेतन बढ़ाते जाएं। प्रजा भूखे मर रही हो, चारों ओर अकाल पड़ा हो और देश का अन्न दूसरे देशों को ढोया चला जाता हो, मरी, हैजा आदि रोग फैल रहे हों और अधिकारी लोग उनके रोकने का उचित प्रयत्न न करके सैर-सपाटे किया करते हों, गरीब मुसाफिरों को रेलगाड़ियों में बैठने की जगह न मिलती हो और अधिकारियों के वास्ते एक पूरी गाड़ी अलग खड़ी रहती हो, सारांश यह कि अधिकारी लोग प्रजा पर उसके हित के लिए नहीं बल्कि अपने प्रभुत्व जमाने और भोग विलास करने के लिए राज करते हों। जिन देशों में यह दशा होती है और प्रजा के हाथों में उसके सुधारने का कोई साधन नहीं होता, वही देश पराधीन कहलाता है और हमारा भारत इसी प्रकार के देशों में है जहां कर्मचारी लोग प्रजा का नमक खाकर अपने को प्रजा का सेवक नहीं, उसका स्वामी समझते हैं। भारत को छोड़कर समस्त संसार में अब एक देश भी ऐसा नहीं है जहां की दशा इतनी खराब हो और आजकल हमारे नेता लोग इसी चिंता में पड़े हुए हैं कि इस दशा से भारत का उद्धार कैसे हो। क्या सारे संसार में हमीं सबसे नीच, सबसे मूर्ख, सबसे निर्बल हैं कि हाथ पर हाथ धरे इस दशा में पड़े रहें? हमारे पुराणों में श्री रामचन्द्र जैसे पराक्रमी, महात्मा श्रीकृष्ण जैसे ज्ञानी, महात्मा बुद्ध जैसे त्यागी, महाराज विक्रम जैसे प्रतापी, महाराणा प्रताप और शिवाजी जैसे रणधीर, बादशाह अकबर जैसे प्रजाभक्त, गुरु वशिष्ठ जैसे आत्मदर्शी हो गए हैं, हम लोग उन्हीं की संतान हैं। क्या हम लोगों में बल, बुद्धि, विद्या सर्वथा लोप हो गई है? नहीं, यह बात नहीं है, भीष्म और अर्जुन के नाम पर जान देने वाले कभी इतने बलहीन, इतने कर्महीन नहीं हो सकते। यह दिनों का फेर है जिसने हमें इस अधोगति को पहुंचा दिया है। लेकिन अब हम सचेत हो रहे हैं, हमारी निद्रा टूट रही है और हमें पूर्ण विश्वास है कि हम अपने सदुद्योग और गुरुजनों के आशीर्वाद से फिर भारत को उसी उन्नत दशा में पहुंचा देंगे जहां वह था, और फिर समस्त भूमंडल में उसका नाम उजागर कर देंगे। इसका एक मात्र साधन 'स्वराज्य' है और भारत में प्रत्येक प्राणी का धर्म है कि वह यथायोग्य इस सत्कार्य में अपने नेताओं की मदद करे।

स्वराज्य के भेद

स्वराज्य के तीन भेद हैं। एक वह है जहां का राजा उसी देश का निवासी होता है लेकिन राज का सब काम अपनी ही इच्छानुसार करता है, प्रजा उसके इंतजाम में जरा भी दखल नहीं दे सकती, जैसे काबुल, नेपाल। दूसरा वह है जहां का राजा अपनी प्रजा के प्रतिनिधियों की सलाह के बिना कुछ नहीं कर सकता हो, जैसे इंग्लिस्तान, जापान। तीसरा वह है जहां राजा नहीं होता, उसकी जगह पर पंच लोग किसी योग्य और सर्वमान्य पुरुष को चुनकर कुछ नियत समय के लिए अपना प्रधान बना लेते हैं और वह प्रजा के चुने हुए मेम्बरों की सम्मति से राज्य का सारा प्रबंध करता है, जैसे फ्रांस, अमेरिका, चीन आदि। भारत की दशा विचित्र है, वह इन तीन भेदों में से एक में भी नहीं आता, उसकी दशा सबसे गई बीती है, न उसका राजा ही भारत

का निवासी है और न वह प्रजा के चुने हुए पंचों द्वारा देश पर राज्य ही करता है। वास्तव में भारत का राजा कोई एक आदमी नहीं है, बल्कि समस्त इंग्लैंड–नहीं, बल्कि अंग्रेज जाति उस पर राज्य करती है, चाहे वह आस्ट्रेलिया में रहते हो, चाहे कनाडा में। सोचने की बात है कि जब एक लोभी राजा समस्त देश की प्रजा को नाना प्रकार की विपत्तियों में डाल सकता है तो एक पूरी जाति लोभ के वश में देश में कितना हाहाकार फैला सकती है। अकेला राजा तो प्रजा को लूटकर अपना पेट भर सकता है लेकिन किसी पराधीन देश के लिए अपने ऊपर राज करने वाली समस्त जाति का पेट भरना असंभव है। यही कारण है कि भारत की दशा इतनी हीन हो रही है। अंग्रेज जाति के व्यवसायी उसका व्यवसाय अपने हाथों में करना चाहते हैं, नौकरी-पेशा करने वाले ऊंचे-ऊंचे ओहदे दबाए बैठे हैं, वहां के उद्योगी लोग यहां के उद्योग धंधों पर आसन जमाए हुए हैं, यहां तक कि वहां के विद्वान् लोग यहां की विद्या के भी अधिकारी बन गए हैं, हम इन तीनों भेदों में कौन सा भेद चाहते हैं यह अभी साफ-साफ नहीं कहा जा सकता पर इसमें अब जरा भी संदेह नहीं है कि हम से वह स्वराज्य चाहते हैं जहां प्रजा के चुने हुए पंचों की सलाह से सब कामकाज किया जाता है और पंचों की सम्मति के बिना शासक लोग कुछ भी नहीं कर सकते। भारत में ऐसी सभाएं हैं जहा प्रजा के प्रतिनिधि सरकार को सलाह देने जाते हैं। छोटे लाट साहब और बड़े लाट साहब दोनो ही को सलाह देने के लिए ऐसी सभाएं बनाई जाती हैं। लेकिन एक तो इन सभाओं में जो पंच प्रजा की ओर से भेजे जाते हैं उन्हें वही लोग चुनते हैं जो या तो महाजन हैं या बड़े जमींदार या बड़े काश्तकार हैं, साधारण जनता को उनके चुनने का अधिकार नहीं है, दूसरे इन सभाओं को केवल राय देने का अधिकार है, अधिकारियों की इच्छा है, चाहे उस राय को मानें या न मानें, वह इन सलाहों के मानने पर मजबूर नहीं हैं। विदित ही है कि वास्तव में यह सभाएं केवल हाथी के दांत हैं, उनकी जात से जनता की कोई भलाई नहीं हो सकती। उन्हें न तो आमदनी और खर्च के विषय में मुंह खोलने का अधिकार है न सेना के विषय में, न पुलिस के विषय में। हां, शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा और म्यूनिस्पैलिटी के मामलों में उन्हें कुछ सत्ता प्राप्त है, लेकिन वह भी केवल नाम के लिए, क्योंकि जब आमदनी और खर्च उनके अख्तियार के बाहर है, तो वह शिक्षा या स्वास्थ्य रक्षा का उचित प्रबंध कैसे कर सकते हैं,जब खजाने की कुंजी शासकों के हाथों में है तो वह उनके अधीन है कि वह शिक्षा के लिए धन दें या न दें। स्वराज्यवादियों का लक्ष्य यही है और महात्मा गांधी ने साफ कह दिया है कि हमको आमदनी और खर्च और सेना संबंधी मामलों पर पूरा अख्तियार हो, यही हमारा उद्देश्य है।

स्वराज्य के साधन

स्वराज्य का मुख्य साधन 'स्वावलंबन' है, अर्थात अपने देश की सब जरूरतों को आप पूरा कर लेना है जो प्राणी अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े बखेड़े अपनी पंचायत में चुका लेता है

उसे हम स्वाधीन कह सकते हैं। हम अपनी जरूरतों के लिए दूसरे देश वालों के मुहताज हैं, अनेक छोटे-छोटे घरेलू झगड़े चुकाने के लिए भी अदालतों का मुंह ताकते हैं, यहां तक कि अन्न-वस्त्र के लिए भी दूसरों के अधीन हैं। यही हमारी पराधीनता है, इस अवस्था को दूर कर देने पर फिर हम सच्चे स्वराज्य का आनंद उठाने लगेंगे। हमारे देश में काफी कपड़ा नहीं बनता। वह कपड़ा खरीदने के लिए हमें अपने देश का अनाज, तेलहन आदि अन्य देशों के हाथ बेचना पड़ता है। अनाज के निकल जाने से देश में बारहों मास अकाल की दशा बनी रहती है। महंगी से प्रजा को काफी भोजन नहीं मिलता, वह अपना उदर भरने के लिए नाना प्रकार के कुकर्म करती है, इस प्रकार पुलिस और अदालतों का जोर बढ़ता है। केवल एक कपड़े की कमी से देश के सिर कैसी-कैसी बाधाएं आ पड़ती हैं। यदि हम लोग अपने तन ढांकने के लिए काफी कपड़े बना लें, तो हमारे 70 करोड़ रुपये देश में रह जाएं, धन-धान्य की वृद्धि हो जाय। भोग-विलास की चीजों के पीछे भी हम अपने देश के करोड़ों रुपये अन्य देशों की भेंट करते हैं। इस मामले में सारा अपराध पढ़े-लिखे अंग्रेजी शिक्षा के भक्तों के सिर हैं। वह वकालत करके या नौकरी करके या अन्य रीतियों से प्रजा का धन खींच लेते हैं और उसे सिगरेट, साबुन, मोटर, शीशे के सामान, भाँति-भाँति की विलासयुक्त सामग्रियों की वेदी पर चढ़ा देते हैं। जब तक हम लोग अपने देश की कमाई अन्य देशों के हाथों इस प्रकार बेचते रहेंगे हम सच्चे स्वराज्य का आनंद नहीं उठा सकते। इसलिए निहायत जरूरी है कि हम अपने पैरों पर खड़े होना सीखें, किसी के अधीन न रहें। अगर हमारे देश के साठ लाख चर्खे भी चलने लगें, तो हम अपने वस्त्रों के लिए किसी अन्य देश के मोहताज न रहें, सारा देश धन और अन्न से परिपूरित हो जाय। इसी प्रकार यदि हमारे सुशिक्षित भाई भोग-विलास के पदार्थों को त्याग दें तो उन्हें प्रजा को ठगकर, धूर्तता के छल से धन कमाने की जरूरत न रहे। हमारा राष्ट्रीय जीवन कितना सुखद और शांतिमय हो जाय। कितनी मनोहर कल्पना है। कुछ लोगों के कथनानुसार, यह सुदशा काल्पनिक ही सही, मनोरम स्वप्न ही सही, आदर्श सही, पर कोई कारण नहीं कि हम उस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास न करें। इस अवस्था में देश का सबसे उपकार जो हम कर सकते हैं वह चर्खे चलाना है। यह केवल व्यावसायिक प्रश्न नहीं है, धार्मिक प्रश्न है। यह केवल दैहिक मुक्ति का नहीं, आत्मिक मुक्ति का साधन है। यह विचार मत करो कि चर्खे चलाने से तो मजूरी नहीं पड़ती। मजूरी समझ कर नहीं, इस काम को अपना कर्त्तव्य समझ कर करो। हमारा विशेष अनुरोध उन परदे वाली साध्वी स्त्रियों से है जिनके समय का अधिकांश गपशप या परनिन्दा में कटता है। उन्हें इस समय ईश्वर ने देशोद्धार का बड़ा अच्छा अवसर प्रदान किया है। इस पवित्र काम में उन्हें सहर्ष अपने पुरुषों की सहायता करनी चाहिए। उन्हें केवल वस्त्र दान का पुन्न ही न होगा बल्कि वह अपने देश के उन लाखों जुलाहों को काम में लगा देंगी, उनके परिवार को दरिद्रता के चंगुल से निकाल लेंगी, जो इस समय ताशे ढोल बजाकर, या नेचे आदि बनाकर अथवा पुतलीघर में मजूरी करके अपना पेट पाल रहे हैं। इससे बड़ा उपकार यह होगा कि हमारे देश से कुली प्रथा उठ जाएगी जिसके कारण आज लाखों परिवार अपने

गांव घर छोड़कर शहरों की तंग और गदी कोठरियों में अपने जीवन के दिन काट रहे हैं और नाना प्रकार की कुवासनाओं में पड़कर अपने जीवन का सर्वनाश कर रहे हैं।

स्वराज्य-प्राप्ति का दूसरा साधन उन व्यवस्थाओं का त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती हैं और उसे पराधीन, परावलंबी बनाती हैं। अदालतें, सरकारी नौकरियां, सरकारी शिक्षा आदि हमारी आत्मा को कुचलने वाली, हमारे मन के पवित्र भावों का दमन करने वाली, हमें कौड़ी का गुलाम बनाने वाली, हमारी वासनाओं को भड़काने वाली संस्थाएं हैं। हमारे बालकवृन्द बालकपन से ही सरकारी नौकरियों की आशा करने लगते हैं, उसी समय से उनकी आत्मा पराधीन होने लगती है। उन्हें परकटे पक्षी की भांति दरबे के सिवा और कुछ नहीं सूझता। चापलूसी करने की, काइयांपन करने की आदत पड़ जाती है। वह अपनी इंद्रियों के दास बन जाते हैं, सरकारी नौकरी ही उनका सर्वाधार बन जाती है। ऐसी शिक्षा पाने वाले युवकों के हृदय में देश-प्रेम के उच्च भावों का उदय होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। जिनकी आत्मा ही दब गई वह स्वराज्य और स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह तो हुआ शिक्षा का हाल। अदालतों का प्रभाव इससे कम प्राणघातक नहीं। वहां मुकदमेबाजी करने वाली जनता और उनका धन लूटने वाले वकील मुखतार दोनों ही अपनी आत्मा को हताहत करते हैं। अगर कोई आदमी, झूट, छल, कपट, धूर्तता, बेईमानी का भीषण नाटक देखना चाहे तो उसे एक बार अदालत में जाना चाहिए। वहां ऐसे-ऐसे घृणोत्पादक दृश्य देखने में आयेंगे कि उसकी आंखें खुल जाएंगी और मानवी दुर्बलता, दुष्टता तथा नीचता का विकट अनुभव हो जाएगा। कहीं गवाह तैयार किए जा रहे हैं, कहीं मुवक्किलों को उनका बयान तोते की भांति रटाया जा रहा है, कहीं कांइयां मुहर्रिर मुवक्किलों से खर्च के लिए तकरार कर रहा है, कहीं कर्मचारी लोग रिश्वत के सौदे चुका रहे हैं, कहीं वकील साहब अपने मेहनताने का सौदा पटाने में मग्न हैं, कहीं मुख्तार देहातियों के एक दल को साथ लिए इजलासों में दौड़ते फिरते हैं। और यह सब धूर्त लीला खुल्लम-खुल्ला बिना किसी संकोच के होती रहती है। आत्मनाश का इससे करुणाजनक दृश्य कल्पला में नहीं आ सकता। वकालत को आजाद पेशा कहकर लोग इस पर गर्व करते हैं, यहां तक शिक्षा का यही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य समझा जाता है। हमारे विद्यालयों से उच्च उपाधियां प्राप्त करके लोग यही कामना लिए हुए निकलते हैं पर वास्तव में इससे नीच और परतंत्र बनाने वाला कोई दूसरा पेशा नहीं है। शिक्षक की, चिकित्सक की, सौदागर की, कारीगर की जरूरत हमेशा रहेगी चाहे देश की राजनैतिक स्थिति कुछ भी हो। लेकिन वकीलों की उपयोगिता अदालतों पर ही निर्भर है। आज अदालतें बंद हो जाएं या पंचायतों का सर्वसाधारण में प्रचार हो जाय तो वकीलों को कोई कौड़ी को भी नहीं पूछे। टके-टके मारे फिरें। अंग्रेजी राज के पहले यहां वकालत का नाम भी न था। अंग्रेजी राज के साथ यह पेशा भी आया और उसी राज की भांति दिनों-दिन उन्नति करने लगा, यहां तक कि आज इसने शिक्षित समाज पर एकाधिपत्य-सा कर लिया है। सोचिए कि जिस समाज का प्रतिभाशाली भाग अपनी जीविका के लिए किसी विशेष संस्था के आधीन हो वह

स्वराज्य और आजादी के भावों का आनंद कैसे उठा सकता है। वस्तुत: हमारे वकील भाई अदालतों के गुलाम हैं, उन्हें कोई स्वाधीन पेशा नहीं आता, उनमें स्वावलंबन का भाव लुप्त हो गया है और उनसे समाज के उपकार की कोई आशा नहीं की जा सकती। अब रहे मुकदमेबाज लोग, उनमें प्राय: वही लोग हैं जो अपने धन या धूर्तता के बल से अन्याय को न्याय बनाना चाहते हैं। ऐसे आदमियों की आत्मा दुर्बल हो जाती है और वह अपना मतलब निकालने के लिए, किसी गरीब की जायदाद हजम करने के लिए अथवा शत्रुओं से अपना वैर चुकाने के लिए तरह-तरह के पाखंड रचते हैं। जो आत्मा अनीति की शरण लेती है वह कभी स्वराज्य के योग्य नहीं हो सकती। वह सदैव कुचेष्टाओं के नीचे दबी रहती है, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए सदैव दूसरों की खुशामद किया करती है। उसमें सम्मान का भाव नष्ट हो जाता है, वह पतित हो जाती है। ऐसी गिरी हुई आत्माएं स्वराज्य की कल्पना भी नहीं कर सकतीं। उनके संकीर्ण हृदय में स्वार्थ के सिवा ऊंचे और पवित्र भाव उठते ही नहीं। वह नित्य इसी चिंता में रहती है कि किसका धन उड़ा लें, किसकी जायदाद हड़प कर जाएं। स्वराज्य प्राप्त करने के लिए आत्मशुद्धि, निर्भयता और सद्व्यवहार की उपासना करनी पड़ेगी और मुकदमेबाजी को छोड़ने में हमें इस उपासना में बड़ी मदद मिलेगी।

ऊपर जिन साधनों का जिक्र किया गया है वह सभी एक शब्द असहयोग के अंतर्गत आ जाते हैं। और शासन प्रजा के सहयोग या सहायता के बिना नहीं चल सकता। प्रजा का धर्म है कि वह अपनी सरकार की यथायोग्य सहायता करे, धन से, बल से, बुद्धि से उनकी सेवा करे, किंतु जब शासन अनीति पर उतारू हो जाय, प्रजा को कष्ट देने लगे, उसके अधिकारों को कुचलने लगे, अपना रौब जमाने के लिए उस पर अत्याचार करने लगे, तो फिर उसका प्रजा से सहायता पाने का मुंह नहीं रहता, और प्रजा भी उसकी सहायता न करने में दोषी नहीं ठहराई जा सकती। भारत में इस समय ऐसा ही अवसर आ पड़ा है। अधिकरी वर्ग नाना पकार के विधानों से प्रजा का दमन करने पर तुले हुए हैं। कहीं सभाएं बंद की जा रही हैं, कहीं नेताओं का मुंह बंद किया जा रहा है, कहीं निहत्थी प्रजा पर गोलियां चल रही हैं, कहीं कार्यकर्ता जेल भेजे जा रहे हैं और वहां उनसे कड़ी मेहनत ली जा रही है, कहीं पंचायतों को तोड़ा और पंचों को दण्ड दिया जा रहा है, यहां तक कि किसी को शराब पीने से रोकने को भी जुर्म समझा जाता है। महात्मा गांधी की जय-जयकार करने के लिए, खादी पहनने के लिए चरखों का प्रचार करने के लिए सज्जनों पर तरह-तरह के दोषारोपण किए जा रहे हैं। ऐसी दशा में प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह सरकार को किसी प्रकार की सहायता न दे, क्योंकि अत्याचारी शासन की मदद करना अत्याचार करने से कम पाप नहीं है। सरकार की नौकरी करना अनुचित है इसलिए कि प्रजा पर अत्याचार करने का काम नौकरों द्वारा ही होता है। सरकारी अदालतों में जाना अनुचित है इसलिए कि इससे सरकार का रौब बढ़ता है और प्रजा की आत्मा दुर्बल होती है, वकालत करना अनुचित है इसलिए कि इससे सरकारी न्यायालयों की पुष्टि होती है, सरकारी विद्यालयों में पढ़ना अनुचित है, इसलिए कि इससे हमारे हृदय में गुलामी के भाव

पुष्ट होते हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि हम असहयोग इस हेतु ग्रहण नहीं करते कि इससे सरकार को हानि पहुंचे। नहीं, हम केवल इसलिए असहयोग करते हैं कि हमारा यही वर्तमान धर्म है। सरकार की नीति का हमको जो अनुभव हुआ और हो रहा है उससे भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि स्वराज्य के बिना हमारे देश का कल्याण नहीं हो सकता। उसकी प्राप्ति का साधन शांतिमय असहयोग है, और आत्मशुद्धि, निर्भयता और सद्व्यवहार असहयोग के तीन अंग है। केवल असहयोग हमको स्वराज्य पद पर नहीं पहुंचा सकता। असहयोग तो केवल बाह्य साधन है, आंतरिक साधन आत्मा की पवित्रता है। अपनी आत्मा को खो देने से हम पराधीन हुए हैं, स्वार्थ परायणता ने ही हमारे गले में दासत्व की जंजीर डाली है। आत्मा को पाकर ही हम स्वाधीन हो सकते हैं।

स्वराज्य के फायदे

स्वराज्य के फायदे का शुमार करना ईश्वर के गुणों के गिनने के बराबर है। उसकी महिमा अपरंपार हैं। स्वराज्य मिलने पर देश में सुख और शांति का स्वराज्य हो जाएगा उसी तरह जैसे कोई कैदी जेल से छूटकर सुखी होता है। उसके हाथों में हथकड़िया नहीं हैं, पैरों में बेड़ियां नहीं, सिर पर सिपाहियों की संगीनें नहीं हैं, वह अन्न के लिए, वस्त्र के लिए किसी का मुहताज नहीं है, जब चाहे सोए, जब चाहे जागे जब चाहे काम करे, जब चाहे आराम करे, जहां चाहे जाय, कोई उसका बाधक नहीं है। इस छुटकारे का आनंद उसी कैदी से पूछिए। वही उसका मजा जानता है। स्वराज्य से देश को सबसे बड़ा फायदा जो होगा वह भारतीय जीवन का पुनरुद्धार है। प्रत्येक जाति के जीवन में कोई प्रधान गुण होता है। अंग्रेज जाति का प्रधान गुण पराक्रम है, फ्रांसियों का प्रधान गुण स्वतंत्र प्रेम है, उसी भांति भारत का प्रधान गुण धर्मपरायणता है। हमारे जीवन का मुख्य आधार धर्म था। हमारा जीवन धर्म के सूत्र में बंधा हुआ था। लेकिन पश्चिमी विचारों के असर से हमारे धर्म का सर्वनाश हुआ जाता है, हमारा वर्तमान धर्म मिटता जाता है, हम अपने विद्या को भूलते जाते हैं, अपने रहन-सहन रीति-रिवाज से विमुख होते जाते हैं, हमारा अद्वितीय सामाजिक संगठन छिन्न-छिन्न हुआ जाता है, पच्छिम की देखा-देखी हम धनोपार्जन ही को जीवन का लक्ष्य मानने लगे हैं, संपत्ति ही को सर्वोपरि समझने लगे हैं, यही हमारा धर्म हो गया है। ज्ञान का, संतोष का, कर्त्तव्य-पालन का, त्याग का महत्त्व हमारी निगाहों से उठता जाता है। हम विद्या को धर्म समझकर सीखते और सिखाते थे, चाहे वह गान विद्या हो, धनुर्विद्या हो या कोई अन्य विद्या हो। अब उसे धनोपार्जन के लिए सीखते और सिखाते हैं। हममें परस्पर प्रेम नहीं रहा, सहानुभूति नहीं रही। हमारी मैत्री, हमारा प्रेम, हमारी सदिच्छाएं, हमारे हृदय की उच्च वृत्तियां, सभी धन इच्छा के नीचे दबती जाती है। सारांश यह है कि हम अपनी आत्मा को भूलते जाते हैं। स्वराज्य पाकर हम अपनी आत्मा को पा जाएंगे, हमारे धर्म का उत्थान हो जाएगा, अधर्म का अंधकार मिट जाएगा और ज्ञान भास्कर का उदय होगा। वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म का फिर राज होगा। हम फिर अपने भाग्य के विधाता हो जाएंगे, बैलों की भांति हांके न जाकर पुरुषों

की भांति अपना मार्ग स्थिर करेंगे। हमको संसार में अपने विचारों के प्रचार करने का, अपने आदर्शों को दिखाने का अवसर मिल जाएगा। हम किसी जाति के पिछलग्गू न बनकर संसार सभा में अपने उचित स्थान पर बैठेंगे, हमारी गणना दीन-हीन परवश जातियों में न होकर उन जातियों में होने लगेगी जिनके हाथों में संसार की बागडोर है। पराधीनता ने हमारी बुद्धि को मंद कर दिया है। हमारा मानसिक बल लुप्त हो गया है। हमने पिछली कई शताब्दियों से संसार के ज्ञानकोष में कुछ योग नहीं किया, कोई नई कल्पना नहीं की, विचार सागर में कोई लहर पैदा नहीं की। पश्छिम की जगमगाते हुए विल्लौर के सामने हमारे जवाहिरात की चमक मंद पड़ गई थी। स्वराज्य हमारी बुद्धि को, हमारी विचार-शक्ति को मुक्त कर देगा और संसार में फिर उनकी आवाज सुनाई देगी। हमारा महत्त्व बढ़ेगा, हमारी प्रतिभा बढ़ेगी और हम उन्नत और बलवान जातियों के सम्मुख बैठने के अधिकारी हो जाएंगे। हम संसार में एक नई सभ्यता, एक नये जीवन का प्रचार कर देंगे, संसार के वर्तमान धर्म प्रेम को अपने संतोषमय जीवन से लज्जित कर देंगे, स्पर्द्धा और प्रतिद्वंद्विता को मिटाकर सहकारिता और प्रेम का सिक्का जमा देंगे। तब--संसार का द्वार हमारे लिए बंद न होगा। हम अछूत, नीच, [illegible], गंवार न समझे जाएंगे, तब कनाडा और आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और न्यूजीलैंड के लोग हमारी सूरत से घृणा न कर सकेंगे, तब फिजी और डमरा के मदांध सौदागर हमें कोड़े मारकर गुलाम न बना सकेंगे, तब हमको कुचलने के लिए, हमको गुलाम बनाए रखने के लिए, तरह-तरह के कठोर पाशविक कानून न बनाए जा सकेंगे, क्योंकि तब हमारे हाथों में भी इन अत्याचारों का जवाब देने की शक्ति होगी, तब किसी को हमें नीच समझने का अधिकार न रहेगा, तब हमको जो जाति अपने देश में जाने से रोकेगी उसे हम भारत में पैर न रखने देंगे, उसके साथ व्यवसाय न करेंगे, उससे कोई संपर्क न रखेंगे। तब हमारे देश में आप ही धन-धान्य की इतनी बहुलता हो जायगी कि हमारे भाइयों को कुलियां में भरती होने की जरूरत ही न रहेगी। अंग्रेजी उपनिवेशों में इस समय हमारी भाइयों की जो दुर्गति हो रही है उसे देखकर किन आंखों से आंसू न निकल पड़ेंगे। जिन भारतीय मजदूरों ने अपना पसीना और रक्त बहाकर पूर्वीय अफ्रीका, नेटाल, ट्रांसवाल, फिजी को चमन बनाया, जंगलों को काटकर बसाया उन्हीं को अब वहां से निकाल देने के लिए मदांध, स्वार्थांध अंग्रेज, नाना प्रकार के क्रूर व्यवहार कर रहे हैं। स्वराज्य पाने के बाद फिर किसका मुंह है जो हमसे ऐसा बुरा, ऐसा पैशाचिक व्यवहार कर सके।

इस धार्मिक और मानसिक उन्नति के अतिरिक्त स्वराज्य से दूसरा बड़ा उपकार जो होगा वह हमारी आर्थिक सुदशा है। प्राचीन काल में भारत अत्यंत समृद्धिशाली देशों में था। यहां तक कि अन्य देशों के लोग यहां के धन की उपमा देते थे। हमारे कवियों ने भी अपने काव्य-ग्रंथों में नगरों के जो वर्णन किए हैं उनसे भी उसी बात की पुष्टि होती है। अब वह कंचन, वह रत्न कहां हैं? आज तो हमारा देश संसार के सबसे कंगाल देशों में है जहां के निवासियों को साल में नौ महीने आधे पेट भोजन करके निर्वाह करना पड़ता है। इसका कारण कुछ तो यह है कि भूमि इतनी उर्वरा नहीं रही लेकिन मुख्य कारण हमारी पराधीनता है। हमको लगभग सत्तर करोड़

रुपये प्रतिवर्ष कपड़े के लिए अन्य देशों को देने पड़ते हैं, लगभग चालीस करोड़ रुपये अंग्रेज कर्मचारियों के पैंशन आदि के निमित्त देने पड़ते हैं। सत्तर करोड़ रुपये केवल सेना विभाग के भेंट हो जाते हैं। रेलों की कंपनियों को कितने ही करोड़ रुपये नफा के देने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेज लोग जितना धन चाय, नील, ऊख आदि की खेती करके, अन्न, लोहे, कपड़े आदि के कारखाने कायम करके ढो ले जाते हैं उसका कोई हिसाब नहीं। राजकर्मचारियों को वतन जो यहां दिया जाता है वह अन्य देशों के कर्मचारियों से कहीं अधिक है। यह सब धन कहां से आता है? हमारी भूमि से। यही कारण है कि जमीन पर दिनों-दिन लगान बढ़ता जाता है, दिनों-दिन भाँति-भाँति के कर लगते जाते हैं कि किसी तरह यह शासन का बढ़ा हुआ खर्च पूरा पड़े, शिक्षा के लिए रुपयों का सदैव रोना रहता है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए धन का सदैव तोड़ा रहता है। लेकिन पुलिस और सेना के लिए कभी धन की कमी नहीं रहती। स्वराज्य होने से इस दशा में बहुत कुछ सुधार होने की संभावना है। अभी विश्वस्त रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस शासन का खर्च घटाने में सफल होंगे लेकिन इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि कुछ-न-कुछ किफायत जरूर होगी। हम पुलिस की इतनी बड़ी संख्या न रक्खेंगे और पुलिस के उच्च अधिकारियों की संख्या घटाने का प्रयत्न किया जावेगा। खर्च की सबसे बड़ी मद सेना है। हम इतनी बड़ी और इतनी महंगी सेना न रक्खेंगे। गोरे सिपाहियों पर बहुत ज्यादा खर्च पड़ता है। गोरे अफसरों को भी लंबी-लंबी तनख्वाह देनी पड़ती हैं। इसकी जगह देशवासी ही अफसर होंगे और सिपाहियों की भी संख्या घटा दी जाएगी। देश रक्षा के लिए स्वयंसेवकों की सेना बनाई जाएगी, स्थाई सेना में कम हो जाने से खर्च में बहुत बचत हो जाएगी। राज्य कर्मचारियों में अधिकांश इसी देश के लोग होंगे और उन्हें इतना वेतन न देना पड़ेगा। इसी मद से भी बहुत सारी बचत हो जायगी। यह भय है कि स्थाई सेना को घटा देने से अन्य जातियां हमारे ऊपर आक्रमण करेंगी। इस समय सब देश अपनी आंतरिक उन्नति के उद्योगों में लगे हुए हैं और बोलशेविज्म के भावों के कारण उन्हें अपना ही घर संभालना मुश्किल पड़ रहा है। और जिस तरह इस मत का प्रचार बढ़ रहा है उससे बहुत कम राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने की फुरसत या हविश रह जाएगी। बालशेविजम का सुधरा हुआ जो रूप आगे बच रहेगा संभव है उसमें एक-दूसरे पर आक्रमण करके उसका धन-धान्य हरण करने का रिवाज ही उठा जाय। हम यदि किसी को न सतावेंगे तो दूसरे हमको क्यों सताने लगें। संसार से सैनिकता के उठ जाने के शुभ लक्षण जान पड़ रहे हैं। इसलिए हमारी सेना और शासन विभागों में जो बचत होगी वह स्वास्थ्य रक्षा और शिक्षोन्नति में व्यय होगी। इतना करने पर बहुत संभव है कि हमारा भूमि कर इससे हल्का हो जाय और अन्य कर तोड़ दिए जाएं। हमारे नेता लोग भूमि कर को हल्का करने के लिए सरकार से सदा अनुरोध करते आए हैं। जब प्रबंध उनके हाथों में आ जाएगा तो वह अवश्य अपने सिद्धांत का पालन करेंगे और हमारे किसानों के सिर से लगान का भारी बोझ उतर जाएगा। हमारी अदालतों पर भी इस समय भारी व्यय होता है। न्याय इतना महंगा हो गया है कि बेचारे गरीबों के लिए वह दुर्लभ हो गया है। तब अदालतों का बहुत

सा काम पंचायतों को सौंप दिया जाएगा और जनता को बिना घरबार रेहन किए न्याय मिल जाया करेगा। अवैतनिक कर्मचारियों की संख्या बढ़ा देने से भी अदालतों के खर्च में क़मी की जा सकेगी।

जब जनता के पास धन एकत्र हो जाय तो वह उसे किसी-न-किसी काम में लगाना चाहेगी। इस प्रकार देश की व्यवसायिक और व्यापारिक उन्नति होगी। अभी सरकार ने मालगाड़ियों के ऐसे नियम बना रखे हैं, विलायत के सौदागरों के माल भेजने के ऐसे सुभीते कर रखे हैं कि वह यहां सस्ता माल भेज सकें। यह देश अभी कौशल और कलों से काम करने में निपुण नहीं है। इसका फल यह हो रहा है कि बाहर से सस्ती चीजों के पट जाने के कारण हम अपने शिल्पादि को संभाल नहीं सकते। तब रेलगाड़ियां हमारे इंतजाम में होंगी। हम अपनी सुविधानुसार आने-जाने वाले माल का महसूल बढ़ा-घटा सकेंगे। बाहर से आने वाली सस्ती चीजों पर कड़ा कर लगाकर विदेशी माल को रोक सकेंगे और स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देकर उनका प्रचार बढ़ा सकेंगे। इन थोड़े दिनों में हमारा देश किसी अन्य देश का मुहताज न रहेगा। हमारे यहां वह सभी जिंसें पैदा होती हैं या पैदा की जा सकती हैं जो मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। फिर हमें किसी दूसरे देश का मुहताज क्यों रहना पड़े? यह भी याद रखना चाहिए कि हमारा देश कृषि-प्रधान है। शिल्प और उद्योग यहां सदैव कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहां बहुत बड़े-बड़े कारखाने कायम नहीं कर सकते क्योंकि इससे मजदूर लोग शहर में बसने लगते हैं और नाना प्रकार की आदतों पर पड़कर अपने शरीर और आत्मा दोनों का ही सर्वनाश करते हैं। कलकत्ता, बंबई, अहमदाबाद आदि स्थानों में मजूरों की दशा अत्यंत शोचनीय हो रही है। हमें यही उद्योग करना चाहिए कि हमारा ग्राम्य- जीवन जो स्वास्थ्य रक्षा और आचरण की पवित्रता का पोषक है नष्ट न होने पावे। इसलिए हमें प्राय: उन्हीं उद्योग-धंधों का प्रचार करना होगा जो कृषक लोग घर बैठकर अवकाश के समय कर सकें। छोटे-छोटे कारखाने अलबत्ता कस्बों में खोले जा सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस व्यवसायिक नीति से हम विदेशी वस्तुओं का मुकाबला न कर सकेंगे। लेकिन जब हम कर लगाकर विदेशी वस्तुओं का रोक देंगे तो उनसे मुकाबला करने का प्रश्न ही न रह जाएगा। इसके सिवा हम तो केवल अपनी जरूरत को पूरा करने के लिए शिल्प और कला की उन्नति चाहते हैं। हमारा उद्देश्य कदापि नहीं है कि सस्ता माल बनाकर निर्बल देशों पर पटकें और व्यवसाय के बहाने उन पर आधिपत्य जमाएं। हम सुख और शांति से रहना चाहते हैं, किसी को सताना या दबाना नहीं चाहते। हम उतना ही कपड़ा बनाना चाहते हैं जिससे हमारी प्रजा का तन ढंक जाय। मेनचैस्टर, लंकाशायर आदि की भांति दूसरे देश के गले अपना सस्ता माल नहीं मढ़ना चाहिए। इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी के कारण योरोप की जातियों में नित्य वैमनस्य बना रहता है, एक-दूसरे को शत्रु समझती हैं। उसका भंयकर परिणाम वह महासमर था जिसका अभी तक निबटारा नहीं हुआ। हम इस संग्राम से दूर रहना चाहते हैं। खिलाफत का प्रश्न, जिसने संसार के समस्त मुसलमानों को बेचैन कर रखा है, बहुत कुछ इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी से संबंध रखता है। फ्रांस शामदेश को नहीं छोड़ता इसलिए

कि वह शाम के बंदरगाहों से अपना माल अरब देश में ला सके। अंग्रेज लोग बसरा और बगदाद नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि वहां मिट्टी के तेल की खानें हैं। इस व्यवसायिक स्वार्थपरता को छिपाने के लिए तरह-तरह के नैतिक ढकोसले गढ़ते जाते हैं और हम उस देश को छोड़ दें तो वहां अराजकता फैल जाएगी, वहां के लोग एक-दूसरे से लड़ मरेंगे इत्यादि।

कुछ सज्जनों का कहना कि इस व्यावसायिक काम में हम संसार से अलग-अलग नहीं रह सकते। हमारा देश कोई कुटी नहीं है कि उसका द्वार बंद करके हम शांति से बैठें। यह सर्वथा सत्य है। हम भी ऐसा करना नहीं चाहते। हम अन्य देशों से ज्ञान-विज्ञान सीखना चाहते हैं। उनके आचार-विचार से परिचित रहना चाहते हैं, किंतु इसका आशय नहीं है कि हम अन्य देशों की व्यावासायिक पराधीनता स्वीकार करें। जर्मनी, फ्रांस आदि उन्नत देश भी अपने देश के व्यापार की रक्षा के लिए रक्षणकारी कर लगाते हैं। केवल इंग्लिस्तान अवाद्य वाणिज्य का पक्षपाती है, लेकिन वहां भी नीतिज्ञ इस नीति के विरोधी हैं और देश की वस्तुओं की रक्षा करने के लिए अन्य वस्तुओं पर कर लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आजकल सारे अंग्रेजी साम्राज्य के नेता लोग इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने के लिए लन्दन में जमा हुए हैं। भारत से भी माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजी इस कॉफ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए गए हैं। जब ऐसे समुन्नत देशों का यह हाल है तो भारत यदि अपने व्यापार की रक्षा करे तो कोई अनुचित बात नहीं है।

रेल विभाग का प्रबंध अभी तक अंग्रेजी कंपनियों के हाथों में है। यद्यपि कई रेल की शाखाएं अब सरकार की संपत्ति हो गई हैं पर सरकार ने उनका प्रबंध अपने हाथ में न लेकर कंपनियों पर ही छोड़ दिया है। इस काम के लिए वह कंपनियों को चार-पांच रुपये सैकड़ा नफा देती है। हमारे नेता सरकार से बार-बार कह चुके हैं कि वह रेलों का इंतजाम स्वयं करे किंतु सरकार इस ओर ध्यान नहीं देती। इसी बात की जांच करने के लिए अभी हाल में एक कमेटी बैठी थी। मालूम नहीं उसने क्या निश्चय किया। कंपनी के इंतजाम से प्रजा को जो कष्ट होता है। कंपनी प्रजा के सुख और सुभीते पर ध्यान नहीं देती केवल अपने लाभ पर ध्यान रखती है। रेल के विभाग में ऊंचे पदों पर कोई हिन्दुस्तानी नियुक्त नहीं होने पाता। रेलगाड़ियों में जनता को जो कष्ट होता है वह हम अपनी आंखों से देखते हैं। आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जनता की जेब से आता है लेकिन अव्वल और दूसरे दरजे के मुसाफिरों के लिए वहां सजी हुई गाड़ियां होती हैं, सजी हुई भोजन की गाड़ियां और ठहरने के स्थान होता हैं वहां सर्वसाधारण को तीसरे दरजे की गाड़ियों में भूसे की भांति भरा जाता है और वह पशुओं की तरह मुसाफिरखानों में पड़े रहते हैं, उन्हें स्टेशनों पर पानी तक नहीं मिलता। स्वराज्य रेलों का सारा प्रबंध हमारे हाथ में रख देगा और तब हम--

तीसरे दरजे के मुसाफिरों के सुख के लिए यथोचित विधान करेंगे। मालगाड़ियों के इंतजाम में भी हम अंग्रेज व्यापारियों के फायदे के लिए अपने देश के व्यापारियों का नुकसान न करेंगे। तब हमारे व्यापारी मालगाड़ियों लिए स्टेशन मास्टरों की खुशामद न करेंगे और न बड़ी-बड़ी रिश्वत देंगे। उन्हें जरूरत के अनुसार सुगमता से गाड़ी मिल

जाया करेगी और माल के रुके रहने से उन्हें जो हानि होती वह कदापि न होने पाएगी।

मादक वस्तुओं का त्याग करना स्वराज्य प्राप्ति का उपाय है। सरकार को मादक पदार्थों की बिक्री और अफीम के बनाने से करोड़ों रुपयों की आमदनी होती है। यह अधर्म का धन है और अधर्म के धन को भोग करके कोई देश सुख नहीं रह सकता। मादक वस्तुओं से मनुष्य की जो शारीरिक और आत्महानि होती है उसके उल्लेख करने की जरूरत नहीं है। हम सभी जानते हैं कि इसका नतीजा खराब होता है गरीबों की पसीने की कमाई नष्ट हो जाती है और वह दरिद्र होकर भाँति-भाँति के दु:ख झेलते हैं। हर्ष की बात है कि जिन जातियों को नीच कहा जाता है वह इस बुरी प्रथा को छोड़ रहे हैं लेकिन उच्च जातियों के लोग जो शराब की जगह भांग और अफीम का सेवन करते हैं इनके त्यागने का नाम भी नहीं लेते। उनके विचारों में भांग या अफीम त्याज्य नहीं। यह उनकी भूल है। मादक वस्तुएं सभी हानिकर हैं और हमारा कर्त्तव्य है कि उन्हें स्वयं छोड़ें और यथाशक्ति दूसरों से छुड़वाएं।

उपसंहार

स्वराज्य क्या है उसके पाने के क्या उपाय हैं और हमारे क्या लाभ होंगे इनका संक्षिप्त वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। हमारे देश में कांग्रेस ही वह संस्था है जो स्वराज्य संबंधी बातों का प्रचार करती है। महात्मा गांधी उस सभा के मुखिया हैं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि स्वराज्य के सुख भोगना चाहते हो तो चर्खे चलाओ, स्वदेशी वस्तुओं को ग्रहण करो, अदालतों को छोड़ो पंचायतों द्वारा अपने कलहों का फैसला कराओ। नशे की चीजों को त्यागो, वकालत के निकृष्ट पेशे को छोड़ो और राष्ट्रीय शिक्षा का उचित प्रबंध करो। महात्मा गांधी देश के भक्त हैं। उन्होंने देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है। हमारी भलाई के लिए वह रात-दिन हिन्दुस्तान भर में दौड़ रहे हैं। यदि ऐसे बुद्धिमान और दूरदर्शी नेताओं की आधीनता में हम स्वराज्य न ले सकेंगे तो फिर हमको बहुत काल तक पछताना पड़ेगा क्योंकि ऐसे महान पुरुष संसार में बिरले ही जन्म लिया करते हैं। यह समझना चाहिए कि परमात्मा ने उन्हें भारत का उद्धार करने के लिए अवतरित किया है और यदि हम उनकी आज्ञा न मानें तो हमारा परम दुर्भाग्य है। हम सबको, चाहे विद्यार्थी हों या सौदागर, ब्राह्मण हों या शूद्र, चाहिए कि इस पवित्र उद्योग में अपने नेताओं का हाथ बटाएं। ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थपरता को कुछ दिनों के लिए भुला दें और एक दिल होकर स्वराज्य प्राप्ति के लिए उद्योग करें, खुद चरखे चलाएं और अपनी घरवालियों से चलवाएं। क्योंकि इस समय यह आपत्ति धर्म है, इससे मुंह न मोड़ना चाहिए। अगर घर पीछे एक छटांक सूत भी रोज निकलने लगे तो देश का बड़ा कल्याण हो और एक छटांक सूत कातने में घंटे से ज्यादा समय नहीं लग सकता।

हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें सद्‌बुद्धि दें और इस उच्च और पवित्र काम में हमारी सहायता करें।

[लेख। पुस्तकाकार में प्रथम संस्करण हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता से अषाढ, संवत 1978 (जुलाई, 1921) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

वर्तमान आंदोलन के रास्ते में रुकावटें

स्वराज्य का वर्तमान आंदोलन अभी तक तो कामयाबी के साथ जारी ही है लेकिन अब हालतें रोज-ब-रोज खतरनाक होती जा रही हैं। यों कुछ लोगों की दृष्टि में तो असहयोग आंदोलन को सिरे से ही कोई कामयाबी हासिल न हुई—न लड़कों ने मदरसे छोड़े, सरकारी मुलाजिमों नौकरियां छोड़ीं, न वकीलों ने वकालत को नमस्कार किया, न पंचायतें कायम हुईं। लेकिन असहयोग के बड़े-से-बड़े समर्थक के ध्यान में भी यह बात न रही होगी कि इन सभी शाखों में सोलहों आना कामयाबी होगी। ऐसे मामलों में जहां निजी-नफे-नुकसान का सवाल पेश हो जाता है, सोलहों आने कामयाबी की उम्मीद करना सुनहरे सपने देखना है। यहां तो रुपये में आना-दो आना कामयाबी हो जाय वही बहुत है और खासकर हिन्दोस्तान जैसे गरीब देश में जहां सारा मामला आखिरकार रोजी पर आकर रुक जाता है। फिर यहां बावजूद नेशनल कांग्रेस की तीस साल लड़ाई के कौम ने व्यावहारिक राजनीति में अभी बात हाल ही में कदम रखा है। अभी निजी हित और स्वार्थ दिलों से दूर नहीं हैं। कदम कदम पर नफे-नुकसान का मसला पेश हो जाता है और जब खयाल कीजिए कि अभी दो साल पहले यहां की राजनीतिक हालत क्या थी- लोग बेजा खुशामद और लच्छेदार बातों को राजनीति का मुख्य अंश समझते थे, यहां तक कि मजहबी जलसों और मुशायरों में भी राज्य-भक्ति पर प्रस्ताव पास करना एक मुख्य कर्त्तव्य हो गया था -सरकारी नौकरियों के लिए कितनी दौड़-धूप, कितनी छीना-झपटी और कितनी गुप्त कार्रवाइयां की जाती थीं तो ऐसी हालत में यह उम्मीद करना कि किसी जादू-मंतर से कौम का हर एक आदमी अपने निजी फायदे को अपनी जिंदगी को कौम पर कुर्बान कर देगा, असलियत की तरफ से आंखें बंद कर लेना है। इसलिए हम यह दावा करना अपने तईं ठीक समझते हैं कि स्वराज्य का आंदोलन अब तक कामयाब हुआ है। विद्यार्थियों ने सामूहिक रूप से स्कूल-कॉलेज न छोड़े हों लेकिन उनमें आजादी और सच्चाई की चेतना, सेवा और बलिदान की भावना जरूर पैदा हो गई है जो आगे चलकर राष्ट्र के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।

सरकारी नौकरों ने अपनी नौकरियां बहुत बड़ी संख्या में नहीं छोड़ीं लेकिन उनमें ज्यादा नहीं तो पचास फीसदी ऐसे जरूर हो गए हैं जो अपनी मौजूदा हालत को निराश आंखों से देखते हैं, अपने ओहदे को गौरव की या अपने रौब को बढ़ाने वाली चीज नहीं समझते, बल्कि जीविकोपार्जन की विवशता समझते हैं और अगर आज उन्हें कोई ऐसी सूरत नजर आए जिससे वह भूख और बदहाली से बचकर जिंदगी बसर करें तो गालिबन वह आज ही इस्तीफा देकर अलग हो जाएंगे। वकीलों ने वकालत को सामूहिक रूप से नमस्कार न कर लिया हो लेकिन ऐसा शायद ही कोई जिला हो जहां इस्तीफा दिए हुए वकील राष्ट्र की सेवा में न लगे हों और यह तो दिन की रोशनी की तरह स्पष्ट है कि वकालत के पेशे पर राष्ट्र को वह अभिमान नहीं रहा जो एक साल पहले था। कहां तो यह कैफियत हो गई थी कि हमारे नौजवान विद्यार्थी वकालत ही को अपना जीवन-लक्ष्य, जीवनोद्देश्य और जीवन सर्वस्व समझते

थे, सोसायटी में वकालत की बड़ी इज़्ज़त हो गई थी और कहां अब यह हाल हो गया है कि जो लोग अभी तक इस पेशे में हैं और जिनमें अपने निजी स्वार्थ ने स्वाभिमान और देश-गौरव की भावना को बिल्कुल खत्म नहीं कर दिया है वह अब सर उठाकर नहीं चल सकते। गरज कि जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिस पर असहयोग का असर कमोबेश न पड़ा हो। खासतौर पर स्वदेशी आंदोलन और मद्य-निषेध में तो इस आंदोलन को बधाई के योग्य सफलता मिली है। मगर ज्यों-ज्यों हम लक्ष्य के पास पहुंचते जाते हैं, विरोधी शक्तियां भी ज़्यादा तेज, ज़्यादा संगठित, ज़्यादा सजग होती जाती हैं। जब तक यह खयाल किया जाता था कि दूसरी हिन्दोस्तानी कोशिशों की तरह यह आंदोलन भी आखिरकार अपने ही जोर से गिर जायगा और यह जोश कुछ दिनों में आप ही आप खत्म हो जायगा तब तक विरोधी शक्तियां किसी कदर दिलचस्पी से इस दृश्य को देख रही थीं। लेकिन अब जब कि उन्हें यह लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि यह गति केवल झोंके की गति नहीं, बल्कि भूडोल है तो उनकी दिलचस्पी विरोध की शक्ल में बदलती जा रही है। चुनांचे इस आंदोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट शांति-भंग की आशंका और जानोमाल, सतीत्व और समान की रक्षा का खयाल है। दीर्घकालीन शांत जीवन ने शांति को हमारे लिए खाने और हवा-पानी की तरह जरूरी बना रखा है। यहां तो मामूली हड़तालें भी चंद साल पहले राष्ट्र के लिए परेशानी और भय का कारण बन जाती थीं, जाहिलों में आपसी फसाद और लड़ाई झगड़े हो जाते थे तो सारे मुल्क में कुहराम-सा मच जाता था। हम अपनी मीठी नींद में जरा भी खटका बर्दाश्त न कर सकते थे। ऐसी हालत में शांति भंग होने का डर अगर इस आंदोलन की जड़ उखाड़ने पर आमदा होकर सरकार की हिमायत और उसे ताकत पहुंचाने को अपना पहला कर्तव्य समझ लें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे लोगों की संख्या देश में कम नहीं है—वह खुशामदी नहीं हैं, अवसरवादी नहीं हैं, सरकार के भाट बनकर अपना मतलब नहीं साधना चाहते बल्कि उन्हें सच्चे दिल से शांति के भंग होने और उसके डरावने नतीजों का डर है। वह जब अपनी हालत का दूसरी आजाद कौमों से मिलान करते हैं, उनके त्याग और देश प्रेम के उत्साह को देखते हैं तो अपनी खामियों और कमजोरियों को देखकर उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता कि हम इस कठिन लड़ाई में सफल हो सकेंगे। आरा और कटारपुर और मोपलाओं के हंगामों पर नजर डालते हैं तो उनका यह भरोसा और भी गायब हो जाता है और इस मजबूरी की हालत में वह वर्तमान व्यवस्था के सुधार और संशोधन में अपनी मुक्ति समझने लगते हैं और मजबूर होकर राज्य-भक्तों की श्रेणी में आ जाते हैं। मगर जान और माल की हिफाजत का खयाल कोई हिन्दोस्तान की ही खास चीज नहीं है, वह मनुष्यमात्र का स्वभाव है। मनुष्य ही का नहीं, हर प्राणी का। अपने जीवन और उसकी रक्षा की चेतना छोटे से छोटे प्राणी में भी पाई जाती है। इंसान में अपनी जीवन-रक्षा के साथ अपने माल और अपने सम्मान की रक्षा का खयाल भी शामिल है। यह मत समझिए कि योरप और अमरीका में हर आदमी आजादी का इतना मतवाला है कि उस पर बलिदान होने को तैयार है। इसमें शक नहीं कि मुद्दतों आजादी का मजा उठाने और एक देश की व्यवस्था

करने के बाद उनमें बलिदान की भावना अपेक्षाकृत अधिक सबल हो गई है लेकिन ऐसे व्यक्ति हर देश में गिने-गिनाए ही होते हैं जो अपनी आत्मा या स्वाधीनता की रक्षा पर अपना सब कुछ बलिदान कर दें। अगर यह कैफियत होती तो उन देशों में अनिवार्य सैनिक-सेवा की जरूरत ही न पड़ती, लोग खुद-ब-खुद अपने सीने को ढाल बनाकर मैदान में चले जाते, लेकिन कहीं भी यह कैफियत नहीं है, यहां तक की अब सारा योरप लड़ाई से इतना तंग आ गया है कि उनके नाम ही से उसकी रूह फना हो जाती है।, हां जब ऐसा मौका आ जाता है कि राष्ट्र और देश पर अपना सब कुछ निछावर किए बिना कोई रास्ता नजर नहीं आता, जब यह आशंका हो जाती है कि दुश्मन के अत्याचारी हाथों से जान और माल की रक्षा न हो सकेगी तो बजाय इसके कि अपनी-अपनी दौलत को संदूकचे में बंद करके लोग उस पर बैठ जाएं, वह विवश होकर मैदान में निकल पड़ते हैं। लेकिन जब तक इतनी भीषण आशका नहीं होती उन राष्ट्रों का उत्साह भी अपने शिखर पर नहीं पहुचंता। हमारा खयाल है (संभव है कि हमने राष्ट्रीय भावनाओं का मूल्यांकन करने में भूल की हो) कि अब सजग क्षेत्रों में तो शायद ही कोई ऐसा बाप होगा जो अपने दो बेटों में से एक को देश की रक्षा के लिए खुशी से अलग न कर दे। आपत्ति की जा सकती है कि पिछले महायुद्ध में सैकड़ों प्रलोभनों और हिम्मत बढ़ाने का कोशिशों के बावजूद शिक्षित नवयुवकों में से बहुत कम फौज मे शामिल होने पर आमदा हुए। इसके कारणों की जांच करना बहुत कठिन नहीं है। इंसान खुशी से अपनी जान देना उसी हालत में मंजूर करता है जब निस्बतन उसे उतना ही फायदा भी हो। नायब तहसीलदारी या तहसीलदारी या चंद बीघे जमीन की लालच से ऊंचा श्रेणी के लोग हरगिज हथेली पर सर लेकर आगे नहीं आ सकते। आखिर हम किस अनमोल चीज की हिफाजत के लिए अपनी जान कुर्बान करते? हम आजाद नहीं थे कि आजादी की हिफाजत के लिए मरते। व्यावसायिक, राजनीतिक और भावनात्मक एक भी ऐसा हित हमारा न था तो क्योंकर हमारा स्वाभिमान जागता। इसलिए यह मुनासिब नहीं है कि अपनी तरफ से हम इतना भरोसा खो बैठें। स्वराज्य की मंजिल आसान नहीं है। उसे तय करते-करते हम शायद सफर की सारी तकलीफों और यातनाओं के आदी हो जाएंगे। करीब का रास्ता हमेशा जोखिम का हुआ करता है हमने उसी जोखिम के रास्ते को पसंद किया है इसलिए हमें तकलीफें और सख्तियां भी बहुत ज्यादा बर्दाश्त करनी पड़ेंगी, और गो हममें से जो बहुत कमजोर हैं वह इन सख्तियों को झेल न सकेंगे लेकिन काफिले में ऐसे साहसी लोग भी काफी निकल आएंगे जिन्हें यात्रा की कठिनाइयां और अधिक शक्तिवान, दृढ़ निश्चय, चौमड़ और निर्भय बना देंगी। हमारा सेवा समितियां धीरे धीरे अपने कर्त्तव्य को समझती जा रही हैं। हमारे राष्ट्र सेवकों की संस्थाएं जान और माल की रक्षा की व्यवस्था कर रही हैं। यह जोश रोज ब रोज बढ़ रहा है। इसलिए बजाय इसके कि आने वाले कर्त्तव्यों के बोझ के कारण स्वराज्य से घबराने लगे, हमारा कर्त्तव्य है कि हम मर्दों की तरह परिस्थिति का सामना करें। यह समझना गलती है कि कुछ दिन और सरकार की छत्र-छाया में रहकर हम और अधिक देश भक्त हो जाएंगे और हममें देश-सेवा की भावना ज्यादा जानदार हो जायगी।

मामूली शांति की हालतें अगर कोई भावना पैदा कर सकती हैं तो वह स्वार्थ-भावना, उदर-पोषण और अवसरवाद की भावना है। आजादी, कुर्बानी, जाँनिसारी की स्पिरिट इस जलवायु में पनप नहीं सकती। हमने मुद्दतों में यह सब हालिस किया है और दुनिया के दूसरे राष्ट्रों का भी यही अनुभव है।

इस रास्ते में दूसरी बड़ी रुकावट बुद्धि और अंतरात्मा का वैर है। एक समुदाय जो शिक्षा और योग्यता में बहुत आगे बढ़ा हुआ है, उसके साथ ही स्वराज्य का उससे कम प्रेमी नहीं है जितने कि असहयोग के समर्थक हैं, इस सादा बेतकल्लुफ कुदरती जिंदगी को सहमी हुई नजरों में देखता है जो असहयोग के मानने वालों की पहचान बन गई है। वह रहन-सहन की इस क्रांति को, जो सादगी का जरूरी नतीजा है, जानवरपन करार देता है। उसके खयाल में यह आंदोलन सभ्यता और संस्कृति के विकास को मिटा देना चाहती है और इस तथाकथित उन्नति और प्रकाश के युग को मिटा कर फिर उसी आदिम युग में लौट जाना चाहती है। यह समुदाय उन व्यावहारिक और वैचारिक अनुसंधानों को, उन प्राकृतिक आविष्कारों को, उस राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति को मानव बुद्धि का शिखर समझता है। वह इस झूठे आडंबर और बनावट की जिंदगी का, इस व्यावसायिक औद्योगिक प्रतियोगिता का इतना प्रेमी हो गया है कि उसकी बुद्धि में सरल जीवन का विचार आ ही नहीं सकता। उसकी निगाह मौजूदा रहन-सहन के रोशन पहलू की तरफ जमी हुई है, उसके अंधेरे पहलू को वह जान-बूझकर या स्वभाववश देखना नहीं चाहता। उसे इसकी जरा भी परवाह नहीं है कि वर्तमान व्यवस्था ने अगर एक तरफ आराम के सामान इकट्ठा किए हैं तो दूसरी तरफ मार-काट के समान भी इकट्ठा किए हैं अगर एक तरफ व्यापार को शिखर तक पहुंचा दिया है तो दूसरी तरफ जिंदगी को झूठी जरूरतों का कितना गुलाम बना दिया है। सच्चाई यह है कि हवाई जहाज और मोटर और दूसरे आश्चर्यजनक आविष्कारों ने इस समुदाय की आंखों को चौंधिया दिया है। वह नहीं देखता कि मानव जाति को इन चीजों के लिए क्या कीमत अदा करनी पड़ती है, कितनी जानें जाती हैं, कितनी मेहनत बेकार जाती है। व्यापारिक धुन के कारण आजकल दुनिया जीवन-संग्राम का घरौंदा बनी हुई है। यह खींचतान हमारे सामाजिक जीवन का, हमारे दर्शन का एक अटल सिद्धांत और व्यवहार बन गई है। उसने हमारे स्वार्थों को, हमारी व्यक्तिवादिता को, हमारी लाभ-हानि की चिंता को एक पागलपन की हद तक पहुंचा दिया है। उसी ने सबल राष्ट्रों को इस ओर प्रेरित किया है कि वह दुर्बल राष्ट्रों को यातनाएं दें, गरीबों को मारें और उन पर जुल्म करें। सादा रहन-सहन का समर्थक इन ऊपरी दिखावे की चीजों के लिए इतनी बड़ी कीमत देना पसंद नहीं करता। उसे वर्तमान सांस्कृतिक व्यवस्था पर जरा भी भरोसा नहीं रहा। उसे तनिक भी यह आशा नहीं है कि यह यह व्यवस्था अपने विकास के शिखर पर पहुंचकर संसार की मुक्ति का कारण बन जायगी। वह समझता है कि आग लग जाती है तो उसी वक्त बुझती है, जब उसे जलाने को कोई और चीज नहीं मिलती। उसे यकीन है कि मौजूदा स्पिरिट का (जो सर से पैर तक स्वार्थ से भरी हुई है) उसी वक्त खातमा होगा जब उसे अपनी गरज का निशाना बनाने के लिए, अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर

चढ़ाने के लिए कोई कमजोर कौम बाकी न रह जाएगी। इसी अकेले-अकेले मौज उड़ाने और स्वार्थ की भावना ने अमरीका की इण्डियन कौम, अफ्रीका के हब्शियों और आस्ट्रेलिया के असली बाशिंदों को करीब-करीब नेस्तनाबूद कर दिया। अगर हिन्दोस्तान में अभी तक कुछ जान बाकी है तो यह हाकिम कौम की दरियादिली या हमदर्दी के कारण नहीं बल्कि हिन्दुस्तान की उसी संस्कृत व्यवस्था के कारण जो उसके पुरखों ने हजारों बरस पहले ठीक कर दी थी। असहयोग का समर्थक राष्ट्र के मानसिक पतन को रोज-ब-रोज बढ़ते देखकर राष्ट्र के जीवन की ओर से निराश हो जाता है। उसे मदरसों की तादाद से, रेलों के बढ़ने से, मुलाजिमों की तरक्की से, मोटरों की संख्या-वृद्धि से, मिल और कारखानों की उन्नति से संतोष नहीं होता। वह इन चीजों को जीवन का विकास नहीं समझता। वह विकास को आध्यात्मिक विकास समझता है, आचार और अंत:करण का विकास समझता है। व्यावसायिक उन्नति को वह गरीबों की वध-भूमि समझता है। कौन यह दावा कर सकता है कि बीसवीं सदी की दुनिया रामायण और ईसा व बुद्ध के युग से ज़्यादा सदाचारी, ज़्यादा उदार, नि:स्वार्थ हो गयी है। क्या इस जमाने में भी बुद्ध और अशोक की-सी मिसालें मिल सकती हैं? क्या आज भी हजरत ईसा का अवतार हो सकता है? जिस युग में संतोष का मतलब पतन हो उनमें चारित्रिक विकास के लिए गुंजाइश नहीं हो सकती। कवि और योगी आज भी संतोष की प्रशस्ति में राग अलापते हैं, वह आज भी विनय, परोपकार और सहिष्णुता की तारीफ करते हैं लेकिन उनकी सुनता कौन है? दुनिया वालों के कानों पर जू नहीं रेंगती। वह अपने फायदे और गरज में इस कदर डूबे हुए हैं कि उन्हें ऐसे मसलों पर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं है। कहा जा सकता है, क्या आजकल ईसाइयों के बड़े-बड़े मिशन नहीं हैं, क्या सालवेशन आर्मी दुनिया को मुक्ति का संदेश नहीं सुनाती फिरती, क्या आज भी पार्लियामेंट में हिन्दोस्तान के समर्थक मौजूद नहीं हैं, क्या लड़ाई के दौरान में हजारों मर्दों और औरतों ने घायलों को तकलीफें दूर करने में अपनी जानें कुर्बान नहीं कीं? क्या इस महायुद्ध की जिम्मेदारी को अपने सर लेने का किसी कौम को हौसला हो सका? हम मानते हैं कि यह जरूर मौजूदा जमाने का रौशन पहलू है मगर उसे अंधेरे पहलू के मुकाबिले में कितना परछाईं-जैसा, कितना धुंधला, कितना मद्धिम। इसके विपरीत पुरानी व्यवस्था में संतोष और इंद्रियदमन और उदार-दृष्टि कम-से-कम ऊंचे वर्ग के लिए जीवन का मूल मंत्र बन गई थी। पैसे वाले, वैभव वाले, महज जकात निकालकर गरीबों को दान देकर संतोष न कर लेते थे जैसा कि आजकल होता है। अच्छे आंदोलन, प्रदर्शन या राजनीतिक चालबाजियों पर आधारित न होते थे बल्कि उनको तह में सच्चा जोश और सच्ची निष्ठा होती थी। कमजोरों की हिमायत के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयां होती थीं, न कि एक ताकतवर कौम किसी कमजोर कौम को बर्बाद करती रहे और दुनिया वाले तमाशा देखा करें, उनकी रगों में स्वाभिमान और मानव-प्रेम जरा भी न दौड़ता हो। सरल जीवन के समर्थक फिर उसी प्राचीन प्राकृतिक जीवन का दृश्य देखना चाहते हैं जब मनुष्य को अपनी वृत्तियों के संस्कार और अपने आचार को परिष्कृत करने के अवसर मिलते थे और सारा वक्त ईर्ष्या-द्वेष में न जाता था, जब वह प्राकृतिक

भोजन करता था, प्राकृतिक पानी पीता था, प्राकृतिक कपड़े पहनता था, जब धन-ऐश्वर्य का विभाजन इतना विषम न था, जब व्यापारी का नशा इतना जानलेवा न था, जब मनुष्य इतना स्वार्थी न था। हिकारत से कहा जाता है, क्या तुम लोग माओरी या जुलू या काफिर कौमों के साथ-साथ चलना चाहते हो? इन कौमों ने कौन से बौद्धिक या नैतिक विकास का प्रमाण दिया है? हम कहते हैं यह कौमें वहशी सही, जंगली सही, निरक्षर सही, नंगी सही, हम उन्हें मौजूदा तहजीब के खूंखार दरिंदों से, रंगे हुए सियारों से, शिकारी राजनीतिज्ञों से, खून पीने वाले अत्याचारी व्यापारियों से कहीं बेहतर समझते हैं। वह जानवरों को मारकर खाते हैं, अपने भाइयों का खून नहीं चूसते। वह गुफाओं में और पेड़ों पर रहते हैं, उन महलों में नहीं रहते जिनकी बदौलत हजारों आदमियों की बदबूदार गलियों और सड़कों पर सोना पड़ता है। वह नंगे बदन रहते हैं ऐसे कपड़ों से अपने शरीर की शोभा नहीं बढ़ाते जो ईर्ष्या-द्वेष और घमंड के बीज बोते हैं, जिनसे भोले-भाले आदमियों को धोखे और फरेब का शिकार किया जाता है। मगर हमसे माओरियों और काफिरों की उपमा देना उतना ही अन्यायपूर्ण है जितना मौजूदा व्यापारियों को खूंखार दरिंदों से मिलाना। माओरी और जुलू या तो अभी हैवानियत के दायरे से दस ही पांच सदी पहले निकले हैं या उनकी पुरानी सभ्यता का बिल्कुल लोप हो गया है। हम उस गुजरे हुए जमाने को लौटाने के दावेदार हैं जब वेद की सृष्टि हुई थी, जब दर्शनशास्त्र लिखे गये थे, जब बुद्ध और हजरत ईसा जैसे महात्मा पैदा हो सकते थे, जब तौरैत (वह आस्मानी ग्रंथ जो हजरत मूसा पर उतरा था।) संगृहीत हुई थी। कहने का मतलब यह कि बुद्धि और आध्यात्मिकता की यह खींचतान वर्तमान आंदोलन के रास्ते में भयानक रुकावट होगी और जब उसके समर्थक रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे दूरदर्शी, गहरी नजर वाले लोग हैं तो इस रुकावट को रास्ते से हटाना आसान न साबित होगा।

मगर इस वास्तविकता से भी अधिक बाधक और हिम्मत को तोड़ने वाला वह स्वार्थों का टकराव है जिसके एक तरफ जमींदार और पूंजीपति हैं और दूसरी तरफ किसान और मजूदर। वर्तमान आंदोलन सत्य और न्याय और जनतंत्र के स्तंभों पर आधारित है इसलिए अनिवार्यत: सबकी हमदर्दी मजदूरों और किसानों के साथ है। कांग्रेस पहले भी मध्यवर्ग का आंदोलन थी जिसमें जमींदार और पूंजीपति यहां वहां इक्का-दुक्का थे। अधिकांश संख्या वकीलों, प्रोफेसरों और पत्रकारों की थी जो न पूंजीपति और न जमींदार। हां, उस वक्त किसानों और मजदूरों में चूंकि राजनीतिक चेतना पैदा न हुई थी इसलिए कांग्रेस भी स्पष्ट रूप से उनके अधिकारों और उनकी मांगों का समर्थन न करती थी। इस दौरान में जनतंत्र ने सारी धरती को अपने बस में कर लिया है और हिन्दोस्तान में भी उसका हरावल आ पहुंचा है। कांग्रेस में जनता का अंश प्रधान हो गया है और असहयोग ने एक जनतांत्रिक आंदोलन का रूप ले लिया है। उसके जिम्मेदार काम करने वालों ने भी स्पष्ट रूप से बार-बार इस संबंध में घोषणा की है। जगह-जगह किसान-सभाएं, मजदूर-सभाएं कायम हो गई हैं और उनके काम करने वाले अक्सर कांग्रेस के ही कार्यकर्ता हैं। ऐसी हालत में पैसे वालों और जमींदारों को कांग्रेस से विमुख हो जाना बिल्कुल समझ में आने वाली बात है, हालांकि इस

वक्त जनतंत्र की जो लहर चारों तरफ से आई हुई है, और वक्त का जो तकाजा है उसके कारण अभी तक ये वर्ग पूरी तरह कांग्रेस से अलग नहीं हुए हैं। कितनी ही बड़े-बड़े मिलों के मालिक, कितने ही बड़े-बड़े पूंजीपति और जमींदार उसके हमदर्द हैं और कम-से-कम रुपये-पैसे से उनकी मदद करते हैं। तब तक भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इन समुदायों की हमदर्दी रोज-ब-रोज कम होती जा रही है और बहुत मुमकिन है कि आगे चलकर यह लोग अपने स्वार्थ और हित और अधिकारों को कांग्रेस जैसी जनतांत्रिक संस्था के हाथों में सुरक्षित न समझें। अब भी उसके लक्षण दिखाई दे रहे हैं। अमन सभाओं में ज्यादातर जमींदार ही शामिल हैं। उन्हें अब सरकार का दामन पकड़ने के अलावा अपनी मुक्ति का और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। वह अपने उन अधिकारों से हाथ नहीं खींचना चाहते जो सरकार ने समय-समय पर सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के विचार से उन्हें दिए हैं। वह उन फटी-पुरानी सनदों और बोसीदा फरमानों की बुनियाद पर अपनी पुरानी या मौजूदा हैसियत को कायम रखना चाहते हैं उन्हें इसकी खबर नहीं है कि जनतंत्र का तूफान बहुत जल्द उनके फटे-पुराने पन्नों को तार-तार करके बिखेर देगा और आगे चलकर उनकी हैसियत इंसाफ और सच्चाई ही पर कायम रहेगी। सरकार उनकी कितनी ही हिमायत करे मगर जनतंत्र के तूफान से उन्हें नहीं बचा सकती। दुनिया ने उसके आगे सर झुका दिए हैं। बड़ी-बड़ी ताकतवर सल्तनतों ने हमारे देखते-देखते उसके आगे सर झुका दिए हैं तो हिन्दोस्तान की सरकार कब तक पर्दे और टट्टियों से उसके जोर को रोक सकेगी। इसलिए अब पूंजीपतियों और जमींदारों का रवैया यह होना चाहिए कि हथियार डाल दें। होनी और तकदीर के लिखे के आगे सिर झुकाएं। इस वक्त अगर वह अपने असामियों की मांगें पूरी कर देंगे तो शुक्रिया और एहसान के हकदार होंगे। उनकी दानशीलता और उदारता का सब लोग बखान करेंगे, जनता उनका सम्मान करेगी, उन पर अपने प्राण न्यौछावर करेगी। लेकिन अगर इस वक्त उन्होंने कृपणता और अनुचित दुराग्रह से काम लिया तो साल-दो साल में उन्हें यह मागें मजबूरन पूरी करनी पड़ेंगी, कोई शान बाकी न रहेगी, रोबदार खाक में मिल जायगा। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मजदूर और किसान एक होकर जो चाहें कर सकते हैं। उनकी शक्ति असीम है। वह जब बिखरे हुए हैं, घास के टुकड़े हैं, एक होकर जहाज को खींचने वाले रस्से हो जाएंगे। अब वह जमाना नहीं रहा कि पूंजीपति 75 फीसदी मुनाफा बांट लें और मजदूरों को जिंदगी की जरूरतें भी नसीब न हों, वह हवा और रोशनी से भी वंचित रहें, पूंजीपति तो पेरिस और स्विट्जरलैंड की सैर करते फिरें और मजदूर को सुबह से शाम तक सर उठाने की भी मुहलत न मिलें, जमींदार या ताल्लुकेदार साहब तो ऐश मनाएं, शिकार खेलें, दावतें दें और किसानों को रोटियां भी नसीब न हों, उसकी कमाई नजराने, बेगार, हारी, डांड़, चुल्हाई, खटियाई वगैरह की सूरतों में जमींदार के लिए ऐश का सामान जुटाए। वह कुछ दिनों तक शायद सरकार की मदद से असामियों और मजदूरों पर जबर्दस्ती हुकूमत करते रहें लेकिन वह जमाना दूर नहीं है जब सरकार की ओर से भी उन्हें निराश होना पड़ेगा। उनका हित कांग्रेस का विरोध करने में नहीं है, बल्कि उसका साथ देने में

है ताकि हिसाब के रोज कांग्रेस की हमदर्दी उनके साथ रहे। बहरहाल, इन वर्गों से कांग्रेस को विरोध की बहुत अधिक आंशका है और स्वराज्य के आंदोलन में उनका बाधक होना तय बात है।

इस मसले से कहीं ज्यादा पेचीदा, नाजुक और अहम मसला हिन्दू-मुस्लिम एकता है। यह ठीक है कि दोनों संप्रदाय के नेताओं ने एकता और भाईचारे के संबंध का अब तक खूबसूरती से निबाहा है लेकिन यह कहना सच्चाई से इनकार करना है कि उनके मानने वालों की दृष्टि भी उतनी ही व्यापक और उनके इरादे भी उतने ही सुथरे और उनके मानदंड भी उतने ही ऊंचे हैं। और जब यह याद कीजिए कि कुछ साल पहले दोनों संप्रदाय छोटी-छोटी नौकरियों के लिए कितनी तंगदिली का सबूत देते थे। आपस में कितना मैल, कितना द्वेष था, तो यह स्थिति ऐसी समझ में न आ सकने योग्य नहीं मालूम होती। बेशक अभी तक उस अविश्वास और वैमनस्य और प्रतिद्वंद्विता का असर बाकी है लेकिन क्या यह कुछ इत्मीनान दिलाने वाली बात नहीं है कि जहां पहले दोनों संप्रदायों के नेता आपस की घृणा और परायेपन की सीख दिया करते थे, जहां आपसी फूट और वैमनस्य का सामान राष्ट्र के प्रतिनिधियों के हाथों एकत्र होता था वहां अब यह लोग भाईचारे, एकता और आपसी प्रेम का दम भरते हैं। मौलाना मुहम्मद अली के कलम से 'कामरेड' के कालमों से गो-हत्या के समर्थन में सैकड़ों जोरदार लेख निकल चुके हैं। वह इसे अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य, अपना अधिकार, अपना मजहबी मसला समझते थे। लेकिन अब वही मुहम्मद अली अपने मुस्लिम भाइयों से पुकार-पुकारकर कहते हैं कि अपने देश-भाइयों की खातिर से गाय की रक्षा करो, उसे पवित्र समझो। पिछली बकरीद के मौके पर कई मुसलमान नेताओं ने अपने मिल्लती भाइयों के हाथों से गाएं लेकर हिन्दुओं को दे दीं। जनता अपने नेताओं के पदचिह्नों पर चलती है। जब नेताओं का दिल साफ हो गया तो जतना का दिल भी जल्द या देर से साफ हो जायगा, इसमें संदेह नहीं। हिन्दी और उर्दू लिपि दोनों संप्रदायों के बीच एक झगड़े की चीज थी। अब हिन्दू उर्दू का विरोध करते नहीं सुनाई देते और न मुसलमानों की तरफ से हिन्दी की मुखलिफत की सदा सुनाई देती है। अक्सर हिन्दू साहबान मोपलाओं के हंगामे की वजह से चिढ़ गए हैं और उन्हें डर है कि हुकूमत बदलने की सूरत में कहीं उन्हें मुसलमानों के हाथों ऐसी ही ज्यादतियां न बर्दाश्त करनी पड़ें, इसलिए वह घबराहट में स्वराज्य से घृणा करने लगते हैं। उन बेजा कार्रवाइयों के आंखों-देखे हालात पढ़-पढ़कर उनका खून उबलने लगता है और मायूसी की हालत में वह वर्तमान शासन-व्यवस्था का कायम रहना ही देश के लिए जरूरी समझते हैं। मोपलाओं का पागलों और बहशियों-जैसी हरकतों पर जितनी नफरत जाहिर की जाय कम है। मुसलमानों ने और उनके मौलवियों ने बुलंद आवाज में इन हरकतों की निंदा की है और हमको यकीन है कि कोई जिम्मेदार मुसलमान आज मोपलाओं की हिमायत करने को आमादा न होगा। इससे ज्यादा मुसलमान लीडरों के काबू में और क्या था। अगर इस इलाके में मार्शल ला जारी न होता और मुसलमानों के नेता वहां दाखिल हो सकते तो शायद यह हंगामा खत्म हो चुका होता। और जब तक मुल्क में एक ऐसी तीसरी ताकत मौजूद है जिसका

अस्तित्व हिन्दू-मुस्लिम फूट पर कायम है तो वह अपने अस्तित्व की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिए इस किस्म की हरकतें करे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस तीसरी ताकत का अस्तित्व इसी आधार पर बना रह सकता है। देश में स्वराज्य होता तो इस किस्म के झगड़े अव्वल तो होने ही न पाते, अधिकारी पहले ही से रोक-थाम करते और अगर हो भी जाते तो उन्हें तत्काल समाप्त कर दिया जाता। देश में ऐसे शक्की लोगों की भी एक जमात मौजूद है, जो खिलाफत के आंदोलन को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें ईरान, अफगानिस्तान, हिजाज, तुर्की, बुखारा वगैरह स्वतंत्र राज्यों के बीच में आठ करोड़ मुसलमानों का अपने देश में साथ-साथ रहना खतरे से खाली नहीं नजर आता। उन्हें इसका अंदेशा है कि आठ करोड़ मुसलमानों की हमदर्दी दूसरे स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों के साथ होगी, इसलिए वह अंग्रेजों की छत्र-छाया में रहना अधिक निरापद समझते हैं। इस जमात का यह भी खयाल है कि हिन्दोस्तान समुद्र की ओर से अपनी रक्षा करने के योग्य नहीं है इसलिए उसके दिमाग पर यह बात छाई हुई है कि उसे किसी-न-किसी दूसरी ताकत की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी। ऐसे लोगों का जवाब इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि वहम (संदेह) की दवा लुकमान के पास भी नहीं है। जब अंग्रेजी सरकार जैसी संगठित, असीम शक्तिशाली, दुनिया भर में छाई हुई ताकत हिन्दोस्तान में रहना फायदे से खाली समझेगी तो यह गैर मुमकिन है कि किसी दूसरी ताकत को यहां कदम जमाने का हौसला हो। जो शख्स मन भर का वजन उठा सकता है, उसे दो-चार पसेरियों से डर जाने की कतई जरूरत नहीं। जब हम नजरों के सामने देख रहे हैं कि चीन और ईरान अलग अपनी हस्ती कायम रख सकते हैं, अमरीका में दर्जनों छोटे-छोटे राज्य कामय हैं, जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका किसी दिन अपने अधीन कर सकता है, तो कोई कारण नहीं कि हिन्दोस्तान अलग अपनी हस्ती कायम न रख सके। क्या जो कारण चीन और ईरान, ब्राजील और अर्जेंटाइना को दूसरों के हस्तक्षेप से सुरक्षित रख सकते हैं, जिनके चलते अब तक अफगानिस्तान आजाद चला आता है, वह मिट जाएंगे? चीन अब तक कभी संभल चुका होता अगर जापान उसे संभलने देता। सौभाग्य से हिन्दोस्तान के करीब ऐसी कोई बड़ी ताकत नहीं जिसकी ओर से हमको हस्तक्षेप की आशंका हो। रहे अपने देश के आठ करोड़ मुसलमान। अव्वल तो हमको अपने दिल से यह खयाल निकाल देना चाहिए कि हमारे यह देश-भाई अब भी हम पर हुकूमत करने का इरादा रखते हैं क्योंकि हिन्दू संख्या में, धन-दौलत में, शक्ति में मुसलमानों से किसी तरह कम नहीं हैं। यों भी तो स्थानीय झगड़ों में वही फरीक ऊपर रहता है जिसकी संख्या वहां ज्यादा है। मसलन आरा, चम्पारन, शाहाबाद, गया वगैरह में जब झगड़े हुए तो मुसलमानों को हार खानी पड़ी और अब मोपलाओं के हंगामें में हिन्दुओं की हार हो रही है। मगर जब सामूहिक रूप से दोनों शक्तियां एक-दूसरे का सामना करेंगी तो नुकसान और बर्बादी का खतरा मुसलमानों को हो सकता है, न कि हिन्दुओं को। हम मनुष्य की प्रकृति को इतना गिरा हुआ समझते कि जब दोनों संप्रदाय आपसी भलाइयों और सम्मिलित हितों के बंधन में बंध जाएंगे, जब मुसलमान देखेंगे कि हिन्दुओं ने नाजुक वक्त में हमारा

साथ दिया और हमारी खिलाफत को बचाया और हिन्दू देखेंगे कि मुसलमानों की मदद से हमें स्वराज्य मिला और हमारी गऊ माता की रक्षा हुई और सबसे बड़ा खतरा आंख के सामने होगा कि हमारे दरमियान बदमजगी हुई और किसी तीसरी ताकत ने उससे फायदा उठाया, तब भी हम एक-दूसरे से बदगुमान होते रहेंगे और उसे नुकसान पहुंचाने की कोशिश करते रहेंगे। अभी तक दोनों संप्रदायों को एकता की डोर में बांधने की कभी कोशिश नहीं हुई, अगर कोशिश हुई तो उन्हें लड़ा देने की। अगर उस ताकत का असर न होता जिसका फायदा दोनों संप्रदायों के आपसी संघर्ष में है तो जमाने और वक्त के तकाजे ने इन दोनों संप्रदायों को अब तक कब का एक संगठित और एकताबद्ध राष्ट्र बना दिया होता। संदेह दुर्बलता की निशानी है और नैतिक कायरता का प्रमाण। उस शख्स की जिंदगी अजीरन है जो दरो-दीवार को चौकन्नी नजरों से देखता रहे, जिसे अपने चारों तरफ दुश्मन ही दुश्मन नजर आएं, कहीं दोस्त की सूरत न दिखाई पड़े। यह अपनी कमजोरी की स्वीकृति है। इसका इलाज किसी मित्र या सहायक की तलाश में नहीं है बल्कि इसके लिए अपने शरीर में ताकत और दिल में हिम्मत पैदा करनी चाहिए। हिन्दुओं को अपनी सामाजिक-प्रणाली में, अपने धार्मिक रीति-रिवाज में ऐसे सुधार करने चाहिए कि उन्हें अपने देश के रहने वाले दूसरे लोगों से डर न बाकी रहे, क्योंकि स्वराज्य क्या दुनिया की कोई ताकत कमजोरों को जुल्म से नहीं बचा सकती। अक्सर शिकायतें सुनने में आती हैं कि मुसलमान हिन्दू औरतों को बहकाकर उनसे निकाह कर लिया करते हैं, मुसलमान हिन्दूओं को मुसलमान बना लेते हैं। यह बहुत कम सुनने में आता है कि किसी हिन्दू ने किसी मुसलमान औरत को बहकाया या किसी मुसलमान को हिन्दू बनाया। इसका कारण हिन्दुओं की धार्मिक और सांस्कृतिक संकीर्णताएं हैं और जब तक वह इन संकीर्णताओं को दूर न करेंगे इस किस्म की शिकायतें हरगिज बंद न होंगी। बहरहाल, हिन्दू-मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जब्त और रवादारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आंदोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट साबित होगा। मौलाना शौकतअली ने अपने कराची के भाषण में मुसलमानों से खिलाफत के लिए चंदे की अपील करते हुए कहा था कि अगर तुम्हें एक रुपया इस मकसद के लिए देना है तो बारह आना खिलाफत को दो, और चार आना कांग्रेस को। उसी तरह हिन्दुओं से उनकी यह अपील थी कि तुम रुपये में चौदह आना कांग्रेस को दो तो खिलाफत को भी भूल न जाओ और दो आने उसे भी दो। इस पर अनेक हिन्दू पत्र, तरह-तरह की टीका-टिप्पणियां कर रहे हैं। दोनों आंदोलनों का मुसलमानों की दृष्टि में जो आपेक्षिक महत्त्व है। उसका उनकी इस अपील से काफी प्रमाण मिल जाता है। हमें इस अपील में आपत्ति के योग्य कोई बात नहीं दिखाई पड़ती। खिलाफत की हिमायत मुसलमानों के लिए मजहबी सवाल है। हिन्दुओं को इस मसले से जो कुछ हमदर्दी है वह मुसलमानों की खातिर से है। मुसलमान अपने मजहब की हिमायत को अपना पहला कर्त्तव्य समझते हैं और इसका उन्हें पूरा अधिकार है। राष्ट्रीयता का प्रश्न कोई सनातन प्रश्न नहीं है। बहुत मुमकिन है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीयता की समस्या गायब हो जाय है और सारी दुनिया में भाईचारे

की एक ही व्यवस्था फैल जाय। इस आंदोलन का आरंभ श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दिया है और दुनिया के उद्‌बुद्ध विचारकों ने बड़ी उदारता से उसका स्वागत किया है। मगर मुसलमान हमेशा मुसलमान रहेंगे, हिन्दू हमेशा हिन्दू। हम यह नहीं कहते कि खिलाफत का मसला मुसलमानों के लिए खालिस मजहबी मसला है। नहीं, उसमें सांसारिक शक्ति प्राप्त करने का विचार भी निहित है। कोई मजहबी खयाल दुनिया से खाली नहीं हो सकता। धार्मिक व्यवस्था का अस्तित्व ही दुनिया को आगे बढ़ाने के लिए अमल में आता है। केवल आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति के लिए किसी धर्म की जरूरत ही नहीं, उसके लिए आत्मा का परिष्कार ही काफी है। हिन्दुओं को स्वराज्य की जरूरत अगर सांसारिक शक्ति के लिए नहीं तो और किसलिए है, आध्यात्मिकता के शिखर का द्वार तो अब भी बंद नहीं है, इसलिए अगर मुसलमानों को अपने देश से अपना मजहब चौगुना ज्यादा प्यारा है तो हिन्दुओं को शिकायत या बदगुमानी का कोई मौका नहीं है। जब इस वक्त दोनों आंदोलनों की सफलता आपस में मिली हुई है, एक को छोड़कर दूसरी हरगिज सफल नहीं हो सकती, तो इस तरह बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति को उठाकर ताक पर रख देना चाहिए और इस वास्तविकता को स्वीकार कर लेना चाहिए कि मुसलमानों को धार्मिक आधार पर खिलाफत से जो मुहब्बत है वह हिन्दोस्तान से नहीं हो सकती, उसी तरह जैसे हिन्दुओं को धार्मिक और सांसारिक दृष्टि से हिन्दोस्तान से जो प्रेम है वह खिलाफत से नहीं हो सकता। खिलाफत को मदद की जरूरत है, वह कौन करे? अगर मुसलमान अपनी सारी शक्ति स्वराज्य के लिए लगा दें और हिन्दुओं को खिलाफत से उतना गहरा संबंध नहीं तो खिलाफत की मदद कौन करे। हिन्दू पत्र तो जब खुश होते कि मुसलमान हिन्दुओं की तरह अपनी शक्ति का तीन-चौथाई हिस्सा स्वराज्य के लिए लगाते और सिर्फ एक-चौथाई खिलाफत के लिए। ऐसी हालत में खिलाफत को हिन्दोस्तान से जो आर्थिक सहायता पहुंचती वह स्पष्ट है। गरज यह कि यह बेकार की बदगुमानी और नुक्ताचीनी है। हिन्दुओं के लिए मुसलमानों के हृदय-परिवर्तन की इससे अच्छी कोई सूरत नहीं है कि वह यथाशक्ति खिलाफत की सहायता करें और आपस में ऐसी एकता की बुनियाद डालें जो हमेशा कायम रहे।

[उर्दू लेख। 'जमाना' सितंबर-अक्टूबर-नवंबर, 1921 में 'मौजूदा तहरीक के रास्ते में रुकावटें' शीर्षक से प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

प्राचीन मिस्र जाति के धर्म-तत्त्व

प्राचीन मिस्र जाति के लोग बड़े धर्मनिष्ठ होते थे और उनके धर्म-सिद्धांत उनके जीवन के प्रत्येक काय में सम्मिलित रहते थे। वह मूर्ति-पूजक थे और जीवन-उपयोगी वस्तुओं की प्रतिमाएं बनाकर उनकी पूजा करते थे। जल, भूमि, अन्न, नील नदी, आकाश, चंद्रमा, सूर्य, नक्षत्र और मृतात्माओं का आवाहन करते थे। लेकिन समस्त जाति सब देवताओं की अनुयायी न होती थी। भिन्न-भिन्न प्रांतों के देवता भी पृथक् होते थे और उन प्रांतों के लोग अपने ही देवताओं को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। यद्यपि मुख्य-

मुख्य देवताओं के स्वरूप में अंतर था लेकिन वास्तव में वह सब एक ही थे। उदाहरणत: हेलियोपोलिस नगर में 'रा' नाम से सूर्य की पूजा होती थी लेकिन तिब नगर में उसी को 'आमन' के नाम से पूजते थे। इन दोनों स्थानों में सूर्य की प्रतिमा भिन्न-भिन्न थी।

वह लोग अपनी देवताओं को मनुष्य की भांति जीवधारी समझते थे, हां, बुद्धि, ज्ञान, बल और पराक्रम में उन्हें मनुष्यों से ऊंचा मानते थे। मनुष्यों की तरह उनमें भी इच्छाएं और भावनाएं मौजूद थीं। यह देवतागण सपरिवार थे, उनके स्त्री, बालक और अन्य संबंधी भी थे। उनकी पत्नी और पुत्र भी देवताओं की तरह पूज्य माने जाते थे। बाज नगरो में देवताओं की जगह देवियों की ही पूजा होती थी। पर विद्वानों के मतानुसार मिस्र के उच्च श्रेणी के लोग एकेश्वरवादी थे।

मिस्र के देवताओं में सबसे प्रतिभाशाली सूर्य था। उसका स्वरूप और आभूषण बादशाहों के सदृश थे। उसके सिर पर आभा का मंडल और एक सांप बना होता था जो तेज की प्रखरता का सूचक था। लोगों की कल्पना थी कि वह वायुमंडल में एक यान पर बैठा हुआ है और कई मल्लाह उस यान को खींचते हैं। जब वह क्षितिज के ऊपर आता है तो उसके लोचनों की तेजस्वी शिखाएं समस्त भूमिमंडल को आलोकित कर देती हैं और प्राणियों को बल और तेज प्रदान करती हैं। वह नित्य अपनी यान पर खड़ा होकर अपने शत्रुओं से लड़ता और उन्हें परास्त करता है। संध्या हो जाने पर वह पाताल में जाकर शयन करता है। सूर्य के प्रकाश का एक अलग देवता था जिसका नाम 'होरूस' था। वह प्रतिदिन प्रात:काल एक सुदर नवयुवक के रूप में प्रकट होकर आकाश-मंडल में विचरता है और अंधकार के देवता से जिसका नाम 'सित' है नित्य लड़ता रहता है।

आकाश के देवताओं के बाद मिस्री लोग अन्न और खेती के देवताओं और देवियों को मानते थे जिनका काम भूमि को उपजाऊ बनाना है।

यह लिखा जा चुका है। कि मिस्र के पृथक्-पृथक् स्थानों में भिन्न-भिन्न देवता मान्य समझे जाते थे। लेकिन कालांतर में जब मिस्र में एक सर्वदेशीय राज्य स्थापित हो गया तो यह पार्थक्य मिट गया। समस्त देवगण सार्वभौम हो गए।

इन सब देवताओं में 'आइसिज' और 'उजेरियस' सर्वप्रधान थे। यह 'उजेरियस' प्रकाश का देवता था और अपने भाई 'सित' को, जो तिमिरदेव समझा जाता था, दुश्मन था। उसके विषय में यह किंवदन्ती थी कि वह प्रभात को आकाश-सागर से निकलकर दिन भर अपना प्रकाश फैलाता रहता है। रात को उसका भाई 'सित' द्वेषवश उसे मारकर टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। उसकी पत्नी 'आइसजि' उसके शव पर बैठकर विलाप करती है। 'सित' का डंका बजने लगता है और संसार में अंधकार छा जाता है। लेकिन 'उजेरियस' का पुत्र 'होरूस' क्षितिज से निकलकर अपने पिता की हत्या का बदला लेता है और 'सित' को मारकर फिर संसार में ज्योति फैलाता है। यह अभिनय नित्य होता रहता है।

मिस्र देश के बहुत से नगरों का दावा था कि 'उजेरियस' के शरीर के टुकड़े उनके मंदिरों में भूमिस्थ हैं। 'उजेरियस' का मातम मनाने के लिए वर्ष में एक दिन

नियत कर दिया गया था। उस दिन समस्त देश में आर्तनाद सुनाई देता था और महिलाएं 'उजेरियस' के बालों के शोक में अपने केश नोच डालती थीं।

'साई' नगर के पुजारी एक झील के तट पर उजेरियस के जीवन-मरण और पुनर्जीवन की घटनाओं को ताजिया बनाकर दिखाते थे। प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोडोटस ने ताजियों का यह दृश्य देखा था लेकिन उसे ताकीद कर दी गई थी कि वह इसका कहीं उल्लेख न करे।

मिस्री देवताओं की प्रतिमाएं अपनी विचित्रता में भारतीय प्रतिमाओं से कम न थीं। किसी का धड़ मनुष्य का था तो सिर पशु का और किसी का धड़ पशु का था तो सिर मनुष्य का था। होरूस का सिर चिड़िया के सिर के सदृश है, आईसिज का गाय के सिर के सदृश। 'आनोबीस' नामक देवता का सिर गीदड़ का है और 'फताह' का सिर बैल के समान है।

मिस्र देश-निवासी बहुधा पशुओं को पवित्र समझते और उनकी पूजा करते थे। उसमें से सिंह, ग्राह, गाय, सियार, बिल्ली, मेढ़ा और लवा आदि विशेष आदरणीय थे। इन पशुओं को मारना या किसी प्रकार का कष्ट देना वर्जित था। रोम वालों ने जिस समय समस्त संसार पर आधिपत्य जमा लिया था उस समय एक रोम-निवासी ने एक बिल्ली को मार डाला था। जतना ने उससे बिल्ली के खून का बदला लेना चाहा। मिस्र के राजा ने, जो रोम का करद था, चाहा कि उसे लोगों के हाथ से बचा लें, लेकिन उसका कुछ वश न चला। बिल्ली के घातक को लोगों ने मार डाला। प्रत्येक मंदिर में इन पशुओं में से एक न एक अवश्य ही पाला जाता था और भक्त-जन आकर उसकी पूजा करते थे। एक ईसाई पादरी ने इस प्रथा का इन शब्दों में मजाक उड़ाया है–'जब कोई आदमी मंदिर में आता है तो पुजारी महाशय गंभीरता और गौरव के साथ कुछ गाते और परदा उठा देते हैं कि उसे देवता के दर्शन कराएं। तब वह आदमी क्या देखता है कि एक बिल्ली या एक मगर या एक सांप या कोई दूसरा जानवर प्रकट होना है जो एक सुसज्जित फर्श पर बैठा या लेटा हुआ रहता है।'

तिब नगर के व्यापारियों ने एक घड़ियाल को हिलाकर उसके कानों में सोने की बालियां और हाथों में कंगन पहनाए थे।

यूनान देश के एक यात्री ने, जो ईसा मसीह का समकालीन था, शद्दो नगर के घड़ियाल का दर्शन किया था, वह उसका यों वर्णन करता है–

'पुजारी कुछ मीठी रोटियां, कुछ तली मछलियां और कुछ शहद लेकर मेरे साथ झील पर गया। घड़ियाल झील के किनारे लेटा हुआ था। दो आदमियों ने उसका मुंह पकड़कर खोला, एक आदमी ने पहले रोटियां उसे मुंह से डाल दीं, फिर मछलियां और कुछ शहद आदि भी डाले गये। तब घड़ियाल झील में कूद गया और दूसरे किनारे पर जाकर लेट रहा। उसी समय एक और यात्री वह वस्तुएं लाया। पुजारी उसे भी लेकर झील पर गया और घड़ियाल को वह चीजें फिर खिला दीं।'

मान्दस नगर के लोग एक बकरी की पूजा करते थे और हेलियोपोलिस नगर का देवता एक पक्षी था जिसे यूनान के लोग 'फीनिक्स' अर्थात् उसका कहते थे।

मिस्र वाले उसके विषय में बड़ी विचित्र कथाएं बयान करते थे। उनका विश्वास था कि हर पांच सौ वर्षों में एक बार उन पक्षियों में से एक 'रा' नगर के मंदिर में आता है। वह अपने साथ अपने बाप की लाश भी लाता है। उसको मुर में, जो एक प्रकार का सुगंधित गोंद है, लपेटकर वहां रख देता है। वह पहले मुर को अंडे के आकार का बनाता है, फिर उसमें छेद करके लाश को उसमें रखकर छेद को बंद कर देता है। यह पक्षी कई शताब्दियों तक जीवित रहता है और जब मरने के दिन निकट आते हैं तो वह सुगंधित लकड़ियों का एक छोटा-सा पिंजरा बनाकर उस पर चढ़ता है और भस्म हो जाता है। उसकी राख से एक जवान बाहर निकलकर उड़ने लगता है। अरबी और फारसी ग्रंथों में भी इन्हीं कथाओं का समर्थन किया है।

मंफीस नगर में एक ऐसी गाय की पूजा करने की प्रथा थी, जिसका रंग काला, माथे पर उजला और त्रिकोण दाग और पूंछ पर घने बाल हों। उसे आपीस कहते थे। मिस्र के लोगों का कथन था कि ऐसी गाय आकाश में चमकने वाली विद्युत से पैदा होती है। जब ऐसी गाय कहीं मिल जाती थी तो पुजारी लोग उसके चिह्नों को भली-भाँति देखकर उसे आपीस का स्थान देते थे। किंतु इस पूज्यपद पर कोई गाय पच्चीस वर्षों से अधिक न रहने पाती थी। अगर कोई इस अवस्था को पहुंच जाती थी, तो पुजारीगण उसे एक पवित्र जल-स्रोत में मग्न कर देते थे और उसकी जगह कोई दूसरी गाय तलाश कर लाते थे। यदि आपीस पच्चीस वर्षों के पहले मर जाती थी तो उसकी लाश में मसाला लगाकर कब्र में गाड़ देते थे। जिस समय तिब नगर मिस्र देश का साम्राज्य-स्थान हो गया तो उस नगर का देवता 'आमने' अन्य सब देवताओं से श्रद्धेय माना जाने लगा। वह अनादि, अनंत और सर्वशक्तिमान समझा जाता था। वह संसार की सृष्टि करने वाला सब बापों का बाप और सब माताओं की माता खयाल किया जाता था। लोग इन शब्दों में उसकी स्तुति करते थे–

'तू जाग, ओ आकाश की दोनों सीमाओं के मालिक, ओ चमकने-दमकने वाले देव, तू आकाशों में भ्रमण करने वाला है, तेरे शत्रुओं का सर्वनाश हो। तू पापियों को निर्वासित कर देता है। तूने नास्तिकों की वीरता और पराक्रम को धूल में मिला दिया है। तू सबल है, नास्तिक निर्बल है, तू ऊंचा है और नास्तिक नीचा है, तू सशक्त और तेरा शत्रु अशक्त है। ओ जीवों के आधार, तू हमारे बादशाह को चिरंजीवी बना, उसको अन्न और जल से परिपूरित कर, उसके बालों के लिए सुगंधि प्रदान कर। संसार तेरे प्रकाश से ज्योतिर्मय है। तू वह है जिसके परों से बिजली पैदा होती है, तू वह सिंह जीव है जिसकी गरज शत्रुओं को भयभीत कर देती है, तू वह पुत्र है जो नित्य जन्म लेता है, तू वह वृद्ध है जो अमर है। तू उस स्थान का स्वामी है, जहां तक कोई नहीं पहुंच सकता।

समस्त मिस्र-निवासियों का विश्वास था कि जब कोई प्राणी मर जाता है तो उसमें कोई अंश जीवित रहता है। इस अंश को वह आत्मा कहते थे। आत्मा का आकार शरीर के समान है और अंत:स्वरूप विचार के समान है। वह अदृश्य है, उसे स्पर्श करना असंभव है। उनका यह अनुमान था कि मरते समय जीव मुंह से निकलता

है। उनके मतानुसार यह जीवन अपने शरीर पर अवलंबित रहता है। अगर काया सुरक्षित न रखी जाय तो जीव इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मृतक की सबसे बड़ी सेवा और उसके जीव के साथ सबसे बड़ा उपकार यह है कि शव सड़ने-गलने से बचाया जाय। इसलिए मसाले लगाने की प्रथा पड़ गई थी। हिरोडोटस ने मसाले लगाने की प्रथा का सविस्तार वर्णन किया है। वह लिखता है कि मिस्र के प्रत्येक नगर में कुछ लोग ऐसे रहते हैं जो मसाले लगाने का व्यवसाय करते हैं। जब मृतक का वारिस शव को मसाला लगाने वाले के पास ले जाता है तो वह उसे लकड़ी के नमूने दिखाता है। यह नमूने तीन प्रकार के होते हैं, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। हर नमूने का मूल्य उसकी हैसियत के अनुसार होता है। जब मजूरी तय हो जाती है तो वारिस लाश को मसाला लगाने वाले को सौंपकर घर चला जाता है।

उत्तम श्रेणी का मसाला लगाने के लिए पहले लाश के सिर का भेजा निकालते थे, इस तरह कि कोई अर्क सिर में पहुंचाकर उसमें भेजे को हल करते थे, फिर एक आंकड़ा नाक के नथनों में डालकर भेजे को बाहर निकालते थे। तब लाश की पसली पीटकर आंतें बाहर निकाल लेते थे और शराब से धोकर अंतड़ी में सुगंधित औषधियां भर देते थे। इसके पश्चात् लाश को सत्तर दिन खारे नमक में रखते थे, फिर उसको धोते थे और गोंद लगाए हुए कपड़े की पट्टियां उस पर लपेटते थे। मसाला लगा चुकने के बाद लाश वारिस को दे दी जाती थी। वह लाश के आकार का एक खाना बनवाकर लाश को उसमें रख देता था और वह दीवार के सहारे से खड़ा कर दिया जाता था।

मध्यम श्रेणी के मसाले की विधि यह थी कि एक प्रकार का गोंद नली द्वारा मुर्दे के पेट में पहुंचाते थे और पेट को फाड़े और आंत को निकाले बिना ही छेद को बंद कर देते थे, जिससे गोंद बाहर न निकल सके। फिर शव को सत्तर दिन तक खारे नमक में रखते थे। तब नमक में से उसे निकालकर गोंद का पानी बाहर निकाल देते थे। उस पानी के साथ अंदर का मल भी निकल जाता था। खार में रहने के कारण मांस गल जाता था और लाश में हड्डी और चमड़े के सिवाय और कुछ बाकी न बचता था।

निकृष्ट श्रेणी के मसाले की विधि इससे भी सरल थी। लाश के अंदर गोंद पहुंचाकर उसे खारे नमक में रख दते थे। गरीब लोग प्राय: इसी तरह के मसाले लगवाते थे।

मिस्र के कब्रिस्तान में ऐसी लाशें बहुत-सी मिलती हैं और योरोप के लोग ऐसी हजारों लाशें खोद ले गए हैं। वहां के प्रसिद्ध अजायबघरों में मसाले लगी हुई लाशें मौजूद हैं।

प्राचीन मिस्र-निवासियों का विश्वास था कि जीव को भी प्राणियों की भांति भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकता होती है। गरीब लोग तो मसाले लगी लाशों को बालू में गाड़ देते थे लेकिन अमीरों में उसके लिए अलग मकान बनवाने की प्रथा थी। यह मकान एक विस्तृत गृह या कम-से-कम एक कमरे के बराबर होता था। आदिकाल के बादशाहों के समय में यह शव-शाला मीनार के सूरत की बनवाई

जाती थी। मंफीस नगर के समीप एक शहर के बराबर भूमि शव-शालाओं से भरी हुई है। कोई-कोई मीनार पंक्तियों में बनाए गए हैं, जैसे गंहमी में रहने के घर बने होते हैं। बहुत ऊंचे मीनारों में बादशाहों को और उनसे छोटे मीनारों में अमीरों को दफन करते थे क्योंकि मीनारों के बनाने में लागत बहुत पड़ती थी। कब्र के लिए रेत के नीचे या पत्थर में तहखाना और उसके सामने एक छोटा-सा नमाजखाना, जो बाहर की तरफ खुलता था, बनाते थे। नमाजखाने में प्रवेश करने पर पिछली दीवार में एक बड़ी शिला दिखाई देती थी। उसके नीचे एक छोटी मेज होती थी जिस पर पूजादि की सामग्री रखते थे। केवल यह नमाजखाना ही कब्र का वह भाग था जहां आदमी जा सकता था। शेष भाग मृतक के लिए ही होता था किसी को अंदर जाकर मृतात्मा की शांति में विघ्न डालने का अधिकार न था। इसीलिए कब्र का दरवाजा न बनाते थे। नमाजखाने के पीछे एक दालान होता था। वहां मृतक की मूर्तियां रखी जाती थीं । कभी-कभी एक मुर्दे के लिए बीस से अधिक मूर्तियां बनाई जाती थीं। इसका अभिप्राय यह था कि अगर मसालेदार शव नष्ट को जाय तो उसकी जगह मूर्ति रख दी जाय। नमाजखाने के एक कोने में एक कुंआ पत्थर की चुनाई से बनाया जाता था। कुंए के नीचे तक एक छोटा-सा रास्ता बना होता था, वहां पत्थरों की कंदरा बनाई जाती थी। यह मृतक का शयनागार था। उसके मध्य में सफेद या काले पत्थर की वेदी पर पड़ा हुआ मुर्दा अनंत निद्रा में मग्न रहता था। उसके निकट बड़े-बड़े बर्तन पानी से भरकर और गेहूं तथा मांस रख देते थे। इसके बाद उस रास्ते को बंद करके कुंए को पत्थरों से पाटकर बंद कर देते थे। फिर कोई मनुष्य अंदर न जा सकता था। वह कुंए आज भी वैसे ही हैं जैसे चार-पांच हजार वर्ष पहले थे। लाशें भी उसी सुरक्षित दशा में थीं। यहां तक कि बालों, दांतों और नखों में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। मृतक के घर वाले जब उसके लिए फिर खाने-पीने की चीजें पहुंचाना चाहते थे तो अंदर न जा सकने के कारण खाद्य पदार्थों को नमाजखाने में रख देते थे। कभी-कभी मुर आदि भी जलाते थे, ताकि उनकी सुगंध मृतक की नाक में पहुंच जाय।

कुछ काल के बाद लोगों का यह विचार हो गया कि मृतक के लिए भौतिक पदार्थों की आवश्यकता नहीं है, वरन् ईश्वर से विनय करनी चाहिए कि वह उन्हें क्षुधा की पीड़ा से बचाए। इसलिए नमाजखाने की शिला पर यह प्रार्थना लिख देते थे–'हम उजेरियस को सिजदा करते हैं और उससे विनय करते हैं कि वह उन तमाम चीजों को जिनका सेवन वह आप करता है–अर्थात् रोटी, मांस, दूध, शराब, वस्त्र सुगंधि–मृतक को भी प्रदान करे।'

कुछ समय के बाद मिस्र-निवासियों को यह विश्वास हो गया है कि जीवन को केवल भोज्य पदार्थों के चित्रों ही से संतोष हो जाता है। उनके लिए रोटी का चित्र बना देना काफी है। अतएव कालांतर में नमाजखाने की दीवारें चित्रांकित हो गई। लोग जिस चीज को मृतक तक पहुंचाना चाहते थे। उसका चित्र दीवारों पर अंकित कर देते थे। जो चित्र वहां बने हुए हैं, उसमें किसानों के चित्र भी हैं जो जमीन को जोत और बो रहे हैं। कोई खलिहान से अनाज उठा रहा है। दर्जी कपड़ा और मोची जूते सी रहे हैं।

इसी भांति बढ़ई, राज, नाचने-गाने वाले और बाजीगरों की तस्वीरें भी हैं। इसके अतिरिक्त मृतक की भिन्न-भिन्न जीवित अवस्थाएं भी अंकित की गई हैं। कहीं-कहीं वह अपनी स्त्री के साथ बैठा हुआ भोजन कर रहा है, या जंगल में शिकार खेल रहा है, या झीलों के तट पर मछलियों का शिकार खेलने में व्यस्त है।

बहुत काल तक मिस्र वालों की यह धारणा थी कि जीव उसी कब्र में रहता है, जहां उसकी देह छोड़ दी जाती है। लेकिन कुछ समय के बाद उनका यह मत परिवर्तित हो गया और यह कल्पना की जाने लगी कि समस्त जीव भूमि के नीचे उस स्थान पर एकत्र होते हैं जहां सूर्य अस्त होता है। वहां उजरियस राज्य करता है। वह जीवों की कर्मानुसार परीक्षा करने के उपरांत उन्हें वहां निवास करने की आज्ञा देता है। लोगों का कथन था कि जब जीव शरीर से निकलत है तो एक नौका में बैठकर भूमि के नीचे जल-सागर में भ्रमण करता है। वहां उसे बड़े भंयकर दैत्य दिखाई देते हैं जो उसे भक्षण करना चाहते हैं लेकिन जीवों के रक्षक देवगण उनकी सहायता करते हैं और उसे न्यायालय तक पहुंचा देते हैं। वहां उजेरियस न्यायासन पर विराजमान होता है। उसके बयालीस सहायक मंत्री होते हैं जो इस बात का अनुसंधान करते हैं कि जीव ने बयालीस कुकर्मों में से किसी का आचारण तो नहीं किया है। जीवों को उनके कर्मानुसार ही दंड या फल मिलता है। पापी जीवों को कोड़े लगाए जाते हैं, वे सांप, बिच्छू आदि से कटवाए जाते हैं। पुण्यात्माएं देवताओं का सहवास करती हुई गूलर के वृक्षों की छांह में आनंदपूर्वक अनंत काल तक विश्राम करती हैं। वह उजेरियस के साथ दस्तरखान पर बैठती और उन पदार्थों का भोजन करती हैं जो एक देवी उनके लिए बनाती है और उत्तम प्रकार के इत्र सूंघती हैं।

मिस्र वालों का यह अभीष्ट था कि जब जीव उजेरियस के न्याय-सिंहासन के सम्मुख खड़ा हो तो वह अपने को निरपराध सिद्ध कर सके। इसलिए एक छोटी-सी पुस्तक ताबूत के अंदर रख देते थे। उस पुस्तक में वह उत्तर लिखे जाते थे जो उजेरियस और उसके सहायकों को देने चाहिए। उदाहरणत: अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी चाहिए–

'मैंने कभी कपट-व्यवहार नहीं किया, किसी को धोखा नहीं दिया। मैंने किसी अनाथ विधवा को नहीं सताया, किसी विभाग में झूठ नहीं बोला। अपने कर्त्तव्य-पालन में कभी आलस्य नहीं किया। किसी ऐसी वस्तु को नहीं छुआ जिसे देवताओं ने निषिद्ध ठहराया हो, किसी की हत्या नहीं की, मंदिरों की धनमूर्ति और देवताओं के भोग-प्रसाद की ओर से कभी गाफिल नहीं रहा, मृतकों को भोजन और जल पहुंचाता रहा, अनाज तौलने में कभी कमी नहीं की, किसी की जमीन बेईमानी से नहीं ली, तोल और भाव के बिना नहीं बेचा, देव-समर्पित पशुओं को नहीं मारा, पूज्य पक्षियों को जाल में नहीं पकड़ा, पवित्र मछलियों का शिकार नहीं किया, किसी नहर को नष्ट नहीं किया और न उसे काटा। मैं निर्दोष हूं। बल्कि मैंने भूखों को भोजन दिया है, प्यासों को पानी दिया है, नंगों को कपड़े पहनाए हैं, यात्रियों को नौका से सहायता दी हैं, देवताओं की वेदी पर भेंट चढ़ाई है, और मुर्दों की भोजनादि से सेवा की है। ऐ काजियो ! मुझे मुक्त करो और खुदा के सामने मेरी बुराई मत करो क्योंकि

मेरा मुख और दोनों हाथ पवित्र हैं।'

यह उत्तर बहुधा कब्र की दीवारों पर, यहां तक कि मृतक के मुंह पर भी लिख दिए जाते थे।

[लेख। 'माधुरी', मार्गशीष, 1978 विक्रमी संवत् (दिसंबर, 1921) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी

उर्दू को हजरत अकबर मरहूम की मौत से जो नुकसान पहुंचा है करीब-करीब उतना ही जबर्दस्त नुकसान हिन्दी साहित्य को पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी की असामयिक मृत्यु से पहुंचा है। अकबर की तरह गजपुरी जी भी जिंदादिल, हास्यप्रेमी कवि थे। आपके हास्य में एक खास साहित्यिक चपलता होती थी जो हिन्दी पाठकों के दिलों में अर्से तक दिवंगत की स्मृति को ताज़ा रखेगी। इन पंक्तियों के लेखक को आपका परिचय प्राप्त था। दो-एक बार उस आपकी दिल्लगी का निशाना भी बनना पड़ा मगर आपकी चुटकियों में द्वेष की गंध भी न होती थी। मुलाकात होते ही बात हंसी में उड़ जाती थी। आपकी उम्र अभी पैंतीस-छत्तीस साल से ज्यादा न थी। बहुत चुस्त और कसे बदन के कट्टे-कट्टे, लंबे-तड़ंगे आदमी थे। सेहत ऐसी अच्छी कि पढ़े-लिखे लोगों में बहुत कम को नसीब होती है मगर मौत की आंखों में इसकी पहचान कहां।

गजपुरी जी गोरखपुर जिले के रहने वाले थे। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट होकर तहसीलदारी के ओहदे पर नियुक्त थे। मगर इस ओहदे के फर्ज पूरे करते हुए आप राष्ट्रीय आंदोलनों में उत्साह से योग देते थे। कुछ पत्रों को स्थायी रूप से आपको सहयोग प्राप्त था। आपने 'गोलमालकारी सभा' नाम की एक परिषद् बनाई थी। गोलमालानन्द उसके सभापति थे। वह वर्तमान परिस्थितियों और घटनाओं को ऐसे आकर्षक और हास्यपूर्ण ढंग से लिखते थे कि पढ़ने से कभी जी न भरता था। आपकी एक-एक बात में नयापन होता था। कुछ सीधे-सादे खरीददारों को पूरा विश्वास था कि गोलमालानन्द भी वास्तव में कोई जीते-जागते व्यक्ति हैं। अफसोस कि गजपुरी जी की जिंदगी का बड़ा हिस्सा सरकारी कागजों की खाना-पूरी में खर्च हुआ। जीविका की चिंता ने आपको नौकरी के घेरे से बाहर न निकलने दिया।

आप केवल कवि न थे बल्कि अद्वितीय गद्यकार भी थे। आपकी लेखन-शैली बहुत सरल, सुथरी, मुहावरेदार, शोखी से भरी हुई, प्रवाहपूर्ण होती थी। कलम न रुकता था। बनावट से आपको नफरत थी। तहसीलदार होने के बावजूद आप असहयोग में काम करते थे। खुद खद्दर इस्तेमाल करते और अपने इलाके में भी लोगों से खद्दर इस्तेमाल करने के लिए कहते थे। आतिथ्य-सत्कार आपका विशेष गुण था, इतना कि तनख्वाह कभी खर्च के लिए काफी न होती थी। बहुधा सांस्कृतिक और राष्ट्रीय आंदोलनों की सेवा करते रहते थे और हमेशा गुमनाम। आपका इरादा अब नौकरी छोड़ने का था लेकिन इसके पहले ही आप दुनिया से सिधार गए। कुल दस-बारह दिन बुखार

में पड़े रहे। आखिरी दम तक आप दोस्तों से साहित्य-चर्चा करते रहे। मगर मौत ने उनको चुन लिया था, कोई दवा कारगर न हुई। परमात्मा से हमारी प्रार्थना है कि आपको शांति दे।

[उर्दू लेख। 'पंडित मन्नन दूबे मरहूम' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', दिसंबर, 1921 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

स्वराज्य की पोषक और विरोधक व्यवस्थाएं

किसी महान् उद्देश्य को पूरा करने के लिए आत्मविश्वास की ज़रूरत होती है। बिना उत्साह नहीं हो सकता, जो सफलता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। किंतु विश्वास और सदुत्साह का साफल्य के लिए चाहे कितना ही महत्त्व हो, वस्तुत: यह आवेश है, इसमें विचार की स्थिति और गंभीरता नहीं होती है, और यह विदित है कि शांतिमय विचार के बगैर साधारण काम चाहे पूरे भी हो जाएं, राजनैतिक व्यवस्थाओं का संपादन नहीं कर सकता। स्वराज्य हमारा ध्येय है, किंतु हममें से कितने ही प्राणियों ने अभी तक इस महत्त्वपूर्ण विषय को आवेश ही तक आबद्ध रक्खा है, विचार-स्थल में पैर नहीं रखने दिया। हमने अभी तक अपनी सुविधाओं या कठिनाइयों का अनुमान नहीं किया, कुछ लोग तो जोश में ऐसे पगे हुए हैं कि कठिनाइयों और बाधाओं की परवाह ही नहीं करते। अत: कुछ सज्जन ऐसे हैं जो सुविधाओं और अनुकूलताओं की ओर से आंखें बंद करके हताश हो गए हैं और स्वराज्य को अलभ्य, दुष्प्राप्य वस्तु समझकर विरक्त हो गए हैं। हम आज पाठकों के साथ इस विषय पर विचार करने की चेष्टा करते हैं।

यह समझना भूल है कि हमारा वर्तमान राजनैतिक विकास कोई आकस्मिक या असंबद्ध घटना है। कांग्रेस के 30 वर्ष के लगातार शिक्षण-कार्य का उपकार न मानना कृतघ्नता होगी। वर्तमान स्थिति में विकास-क्रम की एक अवस्था है। उस स्थिति में वर्तमान दशा में जो अंतर है, वह प्राय: समस्त संसार की बदली हुई परिस्थिति है और वास्तव में यही हमारे उद्देश्य का मुख्य अवलंब है। अब अंतर्राष्ट्रीय भावों ने व्यापक रूप धारण कर लिया है। प्रत्येक राष्ट्र में ऐसी जन-संस्थाएं पैदा हो गई हैं, जो केवल अपने ही सुख और स्वार्थ को जीवन का आदर्श नहीं समझतीं, जो दीन और पद-दलित जातियों पर भी सहानुभूति की दृष्टि डालती रहती हैं। कम-से-कम अब लोक-मत किसी जाति को दासत्व की दलदल में फंसे हुए देखना पसंद नहीं करता, उसे राज्य-विस्तार, राष्ट्रीय गौरव या जातीय व्यापार की उन्नति के लिए किसी जाति के शरीर की जोंक बनना सह्य नहीं हैं, तो आयरलैण्ड-जैसा देश इंग्लैण्ड-जैसे सबल साम्राज्य का इतने दिनों तक प्रतिकार न कर सकता। यह अमेरिका, रूस, फ्रांसादि देशों की गुप्त या प्रकट सहानुभूति है, जिसने अब तक आयरलैंड को संभाल रखा है। यही लोकमत है, जो मेसोपोटामिया, बगदाद, फिलिस्तीन में अंग्रेज़ी शासन की जड़ें नहीं जमने देता। यद्यपि अभी तक प्राय: सभी बड़े राष्ट्रों की बागडोर लक्ष्मीपतियों के हाथों में ही है, और राज्य के विधायक-गण उन्हीं

के इशारों पर नाचते हैं और निर्बल राष्ट्रों का भक्षण करने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते, तथापि वह समय बहुत दूर नहीं है जब लोकमत का दवाब निश्चयात्मक सिद्ध होगा। हमारा आशय यह नहीं है कि हम हाथ पर हाथ धरे इस लोकमत के आसरे पर बैठे रहें, पर इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि अंतर्राष्ट्रीय लोकमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न सर्वथा निष्फल नहीं है। लाला लाजपतराय ने अमेरिका में भारत के उद्धार के लिए जितने महत्त्व का काम किया, यह सब पर विदित है। उनके वापस आने से वहां अब इस काम को करने वाला कोई नहीं रहा। हमें बहुत-से ऐसे योग्य पुरुषों की ज़रूरत है, जो अन्य देशों में हमारा संदेशा पहुंचाते रहें और इस आंदोलन को जारी रखें। आत्म-निर्णय के लिए दूसरी सुविधा वह संघर्ष है जो इस समय धनपतियों और श्रमजीवियों में बड़े वेग से फैल रहा है। मज़दूर दल राज्य-विस्तार नहीं चाहता, सेना की वृद्धि नहीं चाहता। वह शांतिपूर्वक परिश्रम करना और अपने परिश्रम की कमाई खाना चाहता है। राष्ट्रों की वर्तमान आर्थिक क्षति और उससे पैदा होने वाली महंगाई गरीब मज़दूरों के लिए कष्टमयी प्रतीत हो रही है। वह किसी ऐसी नीति का समर्थन कदापि नहीं कर सकता, जिससे उसके जीवन में और भी बाधाएं उपस्थित हों। यह मज़दूर दल ही क[illegible] था, जिसने इंगलैंड को बोलशविकों का दमन करने में फ्रांस का साथ देने से बाज रखा, और यह अवश्यंभावी है कि यही दल इंगलिस्तान को भारत के साथ न्याय करने पर बाध्य करेगा। इसमें संदेह नहीं कि मजदूर दल का नेतृत्व अभी ऐसे लोगों के अधिकार में है जो हृदय से 'इंपीरियलिस्ट' हैं। ये लोग भारत का उद्धार तो चाहते हैं, किंतु इंग्लैंड के अधीन रख कर। रामसे मैक्डॉनल्ड, कर्नल वेजवुड आदि सज्जन इसी श्रेणी में हैं। वह भारतीय स्वातंत्र्य को शंका की दृष्टि से देखते हैं। इसका कारण उनके इंपीरियलिस्टिक संस्कार हैं। उनकी इस स्वार्थपरता को देखकर भारत-हितैषी मिस्टर सी॰ एफ॰ ऐण्ड्रयूज को भी कहना पड़ा कि हमें अंग्रेज़ी न्यायपरता पर विश्वास नहीं रहा। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि कम-से-कम मज़दूर के विचार दिनों-दिन उदार होते जा रहे हैं और यह उदारता हमारे उद्योग और आत्मसमर्पण के अनुसार ही बढ़ती जाएगी। हमारा कर्त्तव्य है कि मज़दूर दल की सहानुभूति को अपने हाथ में रखने की चेष्टा करें। आजकल व्यापार की मंदी और मांग की कमी के कारण कितने ही मज़दूर बेकारी के कष्ट झेल रहे हैं। इस बेकार का इल्ज़ाम भारत के सिर मढ़कर मज़दूरों को भारत-द्वेषी बनाने की चेष्टा की जायगी। यह हमारा काम है कि हम इस अवस्था को अपना विपक्षी न बनने दें।

लेकिन हमें अब यह देखना है कि हममें स्वराज्य प्राप्त करने की कितनी योग्यता है और उस शक्ति को हम कहां तक काम में ला सकते हैं। यहां जातीय संगठन का ऐसा अभाव है, लोग इतने विश्वासहीन, साहसहीन और आदर्शहीन हो गए हैं कि उनसे स्वराज्य जैसे उच्च-पर्वत के शिखर पर चढ़ने की आशा नहीं होती। हमारी अयोग्यता और सामर्थ्यहीनता की चर्चा हमारे कानों में इतनी भरी हुई है कि हम अपने को स्वयं समस्त संसार में अधम समझने लगे हैं। खान-पान,

जाति-पाँति आदि भेदों को ऐसे विकराल रूप में दिखाया गया है कि हमें स्वयं उस पर दृष्टिपात करते रोमांच होता है। हमारी मूर्खता और बलहीनता हमारे हृदय-पट पर अंकित कर दी गई है। यहां तक कि हमारी दशा उस निर्बल रोगी की-सी हो गई है जो गिरने के भय से खड़े होने का भी साहस नहीं कर सकता, पर शांत चित्त से इस विषय पर विचार करें तो अपनी अयोग्यता का भ्रम बहुत-कुछ शमन हो जाता है। जाति-भेद को ही लीजिए, यह हमारी अयोग्यता का सबसे सबल प्रमाण है। पर क्या यह जाति-भेद उस समय न था, जब महाराणा रणजीतसिंह ने पंजाब और सीमांत प्रदेश को विजित किया था? रणजीतसिंह की सेना में केवल सिक्ख सिपाही ही नहीं थे, पठान, क्षत्रिय, ब्राह्मण और अन्य जातियों के लोग नियुक्त थे। वर्तमान सेना इस जाति-भेद को रखते हुए भी संसार की सब से बलवान सेना का मुकाबला कर सकती है। खान-पान के भेद पर भी बहुत ज़ोर दिया जाता है, पर इस युक्ति को इतनी बार तत्त्वहीन सिद्ध किया जा चुका है कि उसका उल्लेख करना व्यर्थ है। हां, हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न अलबत्ता नाज़ुक है, पर वास्तव में इतना नाज़ुक नहीं, जितना उसे बनाया गया है। दोनों जातियों में कलह का मुख्य कारण सरकारी नौकरी थी। उर्दू-हिन्दी का प्रश्न और गाय की कुर्बानी पर भी तकरार हो जाया करती थी, पर देखते-देखते समय बदल गया। राजनैतिक ज्ञान की वृद्धि ने इन विवादपूर्ण प्रश्नों का महत्त्व बहुत-कुछ खो दिया। सरकारी नौकरी के लिए झगड़ा शायद न हो किंतु अभी दोनों मतों के पक्के अनुयायियों में तास्सुब है और कुछ दिनों तक रहेगा। धार्मिक उदारता का काल आ रहा है, उसकी आभा दिखाई देने लगी है। प्रकाश फैलते ही तास्सुब का कुहरा भी फट जायगा। इन आपत्तियों में से एक भी हमारे स्वराज्य की प्राप्ति में बाधक न हो सकेगी- बाधक होगी हमारे स्वार्थपरता और सरकार की दमन-नीति।

सरकार की दमन-नीति का भी हमको बहुत भय नहीं हो सकता। स्वराज्य आंदोलन से सरकार की शक्ति को क्षति पहुंचेगी, यह तो मानी हुई बात है। यह आंदोलन कितना ही शांतिमय क्यों न हो, उससे जनता का कितना ही उपकार क्यों न हो, पर सरकार अपनी आत्मरक्षा के लिए उसका दमन करना आवश्यक समझती है। हम सरकार की सशस्त्र पुलिस और सेना और कानून की दफाओं से मुकाबला कर सकते थे, केवल अपनी शांतिवृत्ति से, केवल अपने सत्याग्रह से। इस दमननीति से भी कहीं अधिक विघ्नकारी शक्ति हमारी स्वार्थपरता है। हम स्वयं अपने शत्रु बने हुए हैं, और इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। शिक्षित समुदाय सदैव शासन का आश्रित रहता है। उसी के हाथ शासन कार्य का संपादन होता है, अतएव उसका स्वार्थ इसी में है कि शासन सुदृढ़ रहे और वह स्वयं शासन के स्वेच्छाचार में भाग लेता रहे। इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है, जब शिक्षित वर्ग ने अपने राष्ट्र और देश को अपने स्वार्थ पर, जो शासन के सुदृढ़ रहने से ही हो सकता था, बलिदान दे दिया है। यह समुदाय विभीषणों और भगवानदासों से भरा हुआ है। प्रत्येक जाति का उद्धार सदैव कृषकों या श्रमजीवियों द्वारा ही हुआ है। जितने आंतरिक संग्राम हुए हैं, उन सबका कारण यही था और कदाचित् वही अवस्था

फिर आने वाली है। शिक्षित सुमदाय और कृषकों में दिनों-दिन पार्थक्य बढ़ता जा रहा है। जनता को उनसे अभक्ति होती जाती है। कहीं-कहीं वह उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगी है। इसमें संदेह नहीं कि स्वराज्यांदोलन के नेता इसी समुदाय के लोग हैं, पर जनता उनको साधारण शिक्षित जनों से पृथक् समझती है। इसलिए कि वह अपने रहन-सहन, व्यवहार-विचार से कृषक-समाज में मिल गए हैं। यों कहिए कि जनता नीची श्रेणी के कर्मचारियों और वकीलों ही को शिक्षित समझती है। जिनका शासन से किसी तरह का संबध है, वह उसकी दृष्टि में शिक्षित है। यह संबंध टूटते ही 'शिक्षित' का कलंक उनके मुख से दूर हो जाता है। जनता उन्हें 'अपना' समझने लगती है। इसका परिणाम यही होगा कि पार्थक्य बढ़ते-बढ़ते उग्र रूप धारण कर लेगा और शिक्षित समुदाय अपनी आत्म-रक्षा के लिए जा-बेजा, उचित-अनुचित सभी कार्यों में शासन का साथ देने लगेगा। इसकी बानगी अभी से देखने में आ रही है। पुलिस का मादक पदार्थों का गुणगान, पंचायतों के तोड़ने का प्रयत्न, जनता को प्रजा-धर्म का उपदेश, यह सब इस शिक्षित समुदाय की नीचता, स्वार्थपरता की करामात है। उन्हें इसकी परवाह नहीं कि हम कौन हैं, हमारा जातीय कर्त्तव्य क्या है, हमारे देशबंधु एक महान् उद्देश्य की सिद्धि में लगे हुए हैं, वह अपनी निर्बल शक्ति से एक अपार बलिदान शक्ति का मुकाबला करना चाहते हैं। हमसे अपने निर्बल भाइयों की और कुछ सेवा और सहायता नहीं हो सकती, तो कम-से-कम इतना तो करें कि शासकों के साथ भ्रातृहत्या में शरीक न हों। हम अपने कर्मचारी और अधिकारी भाई-बंधुओं से विनय के साथ पूछते हैं—क्या इस अवसर पर आपका यही धर्म है? इस आंदोलन के संचालक स्वराज्यवादी कैसे-कैसे कष्ट झेल रहे हैं? उनमें कितने ही अपना जीवन, अपना परिवार, अपनी जीविका इसी उद्देश्य पर अर्पण कर चुके हैं। वे गांव-गांव घूमते हैं, गंजी-गाढ़े पहनते हैं, पुलिस की घुड़कियां खाते हैं, कारावास के दंड भोगते हैं, किसलिए? इसीलिए न कि देश का उद्धार हो, और देश के साथ आपका भी उद्धार हो जाय। क्या आप अपने स्वार्थ के लिए इन त्यागियों की मेहनत पर पानी फेर रहे हैं?

हम मानते हैं कि जीविका की समस्या अत्यंत विकट है। सहस्रों कर्मचारी, अपनी दासवृत्ति से घृणा कर रहे हैं। उन्हें अपनी दशा पर लज्जा है, खेद है, किंतु उनकी अवस्था ऐसी शोचनीय है कि वे एक क्षण के लिए भी उससे निवृत्त होने का साहस नहीं कर सकते। बच्चों को कहां ले जाएं? परिवार को किस पर छोड़ें? ऐसे प्राणियों की दशा वास्तव में करुणाजनक है और कोई आधा स्वराज्यवादी भी उन्हें अपने पारिवारिक कर्त्तव्य को त्याग करने की सलाह न देगा। ऐसे भाइयों से हमारा यह आग्रह है कि हमारे ये भाई अपने को जितना विवश और असाध्य समझते हैं यह उनका भ्रम है। ये लोग तो अनावश्यक ज़रूरतों के गुलाम हैं, या दुर्व्यसनों में ग्रस्त हैं, अथवा केवल अपने स्वार्थ-साधन के हेतु यह दलील करते हैं। उनसे हमारा अनुरोध है कि यह आपत्काल है, दलीलों का समय नहीं। यदि आपमें कुछ भी सामर्थ्य है, और उनका निश्चय आपके सिवा कोई दूसरा आदमी नहीं कर सकता, तो आपको अपने देश के जीर्णोद्धारव्रत में अपने कर्मपरायण भाइयों का योग देना

चाहिए। ऐसी जागृति बार-बार नहीं होती। बहुत दिनों के बाद भारत को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस जागृति को यथेष्ट उपयोग न करना एक महान् राष्ट्रीय पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं हो सकता। इस विषय में दूसरों की बाट जोहने की ज़रूरत नहीं। यह न कहिए के फलां ने तो नहीं छोड़ा, मैं क्यों छोड़ूं? आप दूसरों का पदानुसरण क्यों करें? स्वयं अग्रसर क्यों न बनें? उम्मीदवारों में नाम दर्ज कराते समय किसी को कानों-कान खबर नहीं होती। हम सबसे पहले मैदान में जा पहुंचते हैं। उससे मुक्त होने के समय यह देख-भाल, आगा-पीछा क्यों? और फिर कर्मचारियों में ही, विशेषकर उच्च कर्मचारियों में ही, अधिकांश, लोगों के लिए नौकरी जीविका का प्रश्न नहीं है, बल्कि हुकूमत, रोब का या धनोपार्जन का है। ऐसे महानुभावों को तो दासत्व की बेड़ी गले में डाले रहना लज्जास्पद ही नहीं, करुणास्पद है। जो शासन जनता के स्वत्वों की पैरों तले रौंदता है, उनके प्राणों का मूल्य तृण के समान भी नहीं समझता, उससे सहयोग करना अपने देश के साथ महान् अत्याचार करना है। ये लोग उनसे कहीं गए-गुज़रे हैं, जो उदर-पोषण के लिए इस पाप-बंधन में पड़े हुए हैं।

दशा अत्यंत शोचनीय है। आत्मशून्यता का यह विंध्य दृश्य देखकर विजय प्रीप्ति की आशा क्षीण हो जाती है, किंतु इस घोर अंधकार में प्रकाश की एक पवित्र ज्योति दिखाई देती है। यह हमारी जनता की अविरल धार्मिक वृत्ति है। हमारे असंख्य भाई अब भी अपने धर्म और आदर्श पर अर्पित रहते हैं। मुक्ति उनके जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए वे क्या नहीं करते? घर-बार त्याग देते हैं, नाना प्रकार के कष्ट सहते हैं और अपने लक्षित मार्ग से विचलित नहीं होते। कृष्ण और राम ने उन्हें धर्म-मार्ग पर चलाया था। वे अब भी उसी मार्ग को ग्रहण किए हुए हैं। आत्म-स्वातंत्र्य के सम्मुख उनकी दृष्टि में अन्य सांसारिक वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं। अब महात्मा गांधी ने उन्हें आत्म-गौरव का आदर्श दिखाया है। जनता ने जिस उत्साह से इस नए आदर्श का स्वागत किया है, जिस सजीव भक्ति से महात्मा जी के आदर्श को शिरोधार्य किया है, उससे यह आशा होती है कि हम विजय-लक्ष्य से बहुत दूर नहीं हैं। हमारी सद्भक्ति, हमारी ध र्मपरायणता अभी लुप्त नहीं हुई, केवल उसे इस नए आदेश की ओर प्रवृत कर देना है। जिस दिन हमारी जनता को यह विदित हो गया कि आत्म-गौरव का, देश-स्वातंत्र्य का महत्त्व से आत्म-स्वातंत्र्य कम नहीं है, बल्कि वह इसका पोषक और निर्माता है, उस दिन वह नए लक्ष्य पर अपना सर्वस्व उसी प्रेम और उत्सर्ग से बलिदान कर देगी, जैसे अभी धर्म-पथ पर करती है। स्वराज्य का अर्थ कुछ-कुछ उसकी समझ में आने लगा है। इसके भौतिक और आध्यात्मिक महत्त्व को वह समझने लगी है। राजनैतिक क्षेत्र में उसने कदम रख दिया है, यही जागृति हमारी आशाओं को पूरा करेगी।

[लेख। हिन्दी साप्ताहिक 'आज', 13 अप्रैल, 1922 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

विभाजक रेखा

सहयोगी भी स्वराज्य मांगते हैं, असहयोगी भी स्वराज्य मांगते हैं। सहयोगी अपने स्वराज्य का आदर्श उपनिवेशों को मानता है। महात्मा गांधी ने भी एक बार औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना आदर्श माना था--जहां राज्य के सब अंगों का समान आदर हो, सबके समान अधिकार हों, जहां रहना अपनी सुविधा और आत्म-सम्मान पर निर्भर हो। सहयोगी इस बिरादरी से स्वेच्छा के साथ निकल जाने का उल्लेख तो नहीं करता पर बात एक ही है क्योंकि सहयोगी भी इतना विचारहीन नहीं है कि बिरादरी में उचित सम्मान न होने पर भी हठात् बैठाया जाय। तो विभाजक रेखा कहां है? स्वराज्य प्राप्ति की विधान-व्यवस्था में। असहयोगी किसी ऐसी व्यवस्था को प्रयोग नहीं कर सकता जिससे उसे आत्म-सम्मान को आघात पहुंचे। उसे अपना आत्म-सम्मान बेचकर स्वराज्य लेना भी मंजूर नहीं। वह नाना प्रकार के कष्ट सहेगा, जेल की कठोर यंत्रणाएं झेलेगा लेकिन आत्म-सम्मान को न छोड़ेगा। चाहे आत्म-सम्मान की रक्षा में वह अपने लक्ष्य से कोसों दूर हो जाय, लेकिन अपने आदर्श का अपमान नहीं कर सकता। सहयोगी Practical Politcian है। वह अपने निर्धारित लक्ष्य पर पहुंचने के लिए स्वाभिमान की परवाह नहीं करता, अगर उसे अपने सिद्धांत का बलिदान करके, अपने आत्म-सम्मान का खून करके स्वार्थसिद्धि का अवसर मिले तो वह इस अवसर को हाथ से न जाने देगा। वह जेल से बचेगा, सभी यंत्रणाओं से दूर रहेगा, चाहे ऐसा करने में उसके अंत: करण का हनन भी होता हो, वह नियमबद्ध विधानों का ही आश्रय लेगा, चाहे यह क्षेत्र कितना ही संकुचित क्यों न हो। अभी वह गांधी का नाम आदर से लेता है लेकिन आज सरकारी विज्ञप्ति हो जाय कि उस महापुरुष का नाम लेना वर्जित है तो वह उनका स्वप्न में भी नाम न लेगा। उसमें इतना नैतिक बल नहीं है कि इस राजकीय हस्तक्षेप का विरोध करे और उसक नतीजे भुगते। सहयोग और असहयोग में यही अंतर है, यही विभाजक रेखा है।

आज हमारे असहयोगी नेताओं और उनके अनुयायियों की बड़ी संख्या जेल के अंदर है। सहयोगी समाज इसे उन नेताओं पर व्यंग्य करने का आधार बनाता है। और पुलकित होकर कहता है, इस प्रकार दीपक पर पतंग के समान जलने से क्या फायदा? उसमें वह आत्म-सम्मान का अस्तित्व नहीं है जो सहयोगियों की इस मनोवृत्ति को ग्रहण कर सकता। वह तो अपने स्वार्थ का भक्त है। अगर वह भी असहयोगियों की भांति आज जेल में नहीं है तो इसका कारण यह नहीं कि वह बड़ा चतुर, बड़ा गंभीर, बड़ा नीतिज्ञ है बल्कि वह अपने सिद्धांतों का आदर करना नहीं जानता। पंडित मदनमोहन मालवीय जी सहयोगी हैं लेकिन आत्म-सम्मान की रक्षा करना जानते हैं। अभी पंजाब के एक जिले में उन्हें व्याख्यान देने से मजिस्ट्रेट ने रोक दिया। मालवीय जी इस आज्ञा को भंग करने पर तैयार थे क्योंकि इससे उनके आत्म-सम्मान को चोट पहुंची। लेकिन जिले के कांग्रेस अधिकारियों ने बारदौली के स्वीकृत प्रस्तावों के अनुसार इसे आज्ञा भंग से रोक लिया नहीं तो बहुत संभव था कि आज श्रीमान् मालवीय जी करावास में होते। राजनीतिक संग्राम में ऐसी परिस्थितियों का उत्पन्न होना अनिवार्य

है जबकि अधिकारियों की निगाह कड़ी हो जाय। यदि हम पग-पग पर विशेष अधिकारियों के तीवर देखकर चलेंगे तो चाहे हम अपने को जेल से बचा लें, चाहे अपना कुछ स्वार्थ पूरा कर लें पर राष्ट्र का कोई हित नहीं कर सकते।

आजकल कतिपय सहयोगी पत्रों और नेताओं की ओर से आग्रह हो रह। है कि असहयोग संग्राम के हाथों देश में जो दुर्व्यवस्था पैदा हो गई है, उसका अंत करने के लिए असहयोग संग्राम का त्याग करना ही उत्तम है। फिर भी वही आत्म-सम्मान की बात ! क्या संसार में आराम से मीठी नींद सोना और स्वादयुक्त भोजन करना ही जीवन का ध्येय है? इस सुख-भोग से ज्यादा महत्त्व की कोई वस्तु नहीं है? आन भी कोई चीज है? शान भी कोई वस्तु है? प्रताप क्या अकबर का अनुगामी बनकर सुख भोग न कर सकता था? क्या सिद्धांतों, आत्म-सम्मान पर, बात पर मर-मिटने की मिसालें इतिहास में नहीं मिलतीं? क्या वर्तमान संसार में ही इसी आन के पीछे देश और राष्ट्र बिगड़-बन नहीं रहे हैं? फ्रांस क्या 1917 में संधि न कर सकता था? तुर्क क्या आज लड़ाई को बंद नहीं कर सकते? राष्ट्रीय संग्राम में धन की, व्यक्ति की, संपत्ति की, शिल्पोन्नति की उतनी कदर नहीं होती जितनी बात की, आन की, अकड़ की। यूनान भी Practical Politcians से खाली नहीं है। तुर्की में भी इस सामग्री की कमी नहीं है न फ्रांस में थी। लेकिन क्या यह सब राष्ट्र अपनी बात पर सिर नहीं कटवा रहे हैं? लिबरल दल के नेता चाहें अपना कितना महत्त्व समझें पर वास्तव में असहयोग संग्राम पर भारत की राष्ट्रीयता की छाप लग गई है, संसार इस आंदोलन का इसी दृष्टि से देख रहा है। यह भारत के मनुष्यत्व, त्याग, बलिदान, आत्माभिमान, स्वाधीनता प्रेम की परीक्षा का समय है। इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाना संसार की दृष्टि में सदैव के लिए गिर जाना, पतित हो जाना है। हम ताल ठोंककर सिर कटवाने के लिए क्षेत्र में उतरे हैं, तलवार की चमक और वधिक का विकराल स्वरूप देखते ही त्राहि-त्राहि पुकारने लगे तो दुनिया क्या कहेगी? हमारे लिबरल नेता समझे बैठे हों कि हम ठंडे-ठंडे स्वराज्याश्रम में प्रविष्ट हो जाएंगे तो समझें पर संसार को खूब मालूम है कि स्वाधीनता देवी को प्रसन्न करने के लिए कितने बलिदान की जरूरत है। जब स्वाधीन देशों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए अपरिमित धन और अगणित प्राणियों की भेंट चढ़ाना पड़ता है तो पराधीन जातियों को शांतिपूर्वक बैठे-बैठे यह पद प्राप्त हो जायगा, इसे कोई असाधारण सरल प्रकृति का मनुष्य चाहे तो मान ले पर कोई विज्ञ पुरुष कदापि न मानेगा। यह समय असहयोगियों पर व्यंग्य करने का, उनकी हंसी उड़ाने का नहीं है। उनमें समयोचितता का गुण न हो पर अपनी जान पर मर-मिटने वाले लोग हैं। उन्होंने इस संग्राम में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, राष्ट्र के नाम पर असह्य यंत्रणाएं झेली हैं, और झेल रहे हैं, ऐसे देशानुरागियों पर इस नाजुक वक्त में व्यंग्य करना असहृदयता का चरम सीमा से भी आगे बढ़ जाना है। अगर हम सब शारीरिक निर्बलता के कारण शस्त्र ग्रहण न कर सकें, अगर हममें इतना रणोत्साह नहीं है कि क्षेत्र में वीरों की भांति उतरें तो कम-से-कम उन वीरों का साहस बढ़ाना तो हमारा धर्म है, हमको उनकी इज्जत तो करनी चाहिए। यह कहना कि यह सब सिरफिरे हैं, विप्लवकारी हैं, मूर्ख हैं, अपनी घोर कापुरुषता का परिचय देना है। सहयोगी समाज से हमारी ऐसी शिकायत है कि

वह अपनी असहयोगियों के अलौकिक नैतिकबल और साहस की अवहेलना करता है। उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि असहयोगी दल चाहे (Practical Polititics) की अवज्ञा करता हो पर उसमें अपने सिद्धांतों पर प्राण अर्पण करने का गुण मौजूद है जो मानवी सद्‌गुणों का उच्चतम स्थान है। हम यह जानते हैं कि सहयोगी सज्जन इतने हृदयशून्य नहीं हैं पर अपनी स्वार्थ-सिद्धि को अमन व कायम रखने, राज्य को सहायता देने और देश को क्रांति से बचाने के पर्दे में छिपाना ही समयानुकूल समझते हैं। हमारी इच्छा होती है कि अपने इन भाइयों को उसी भांति अपने उसूलों का पाबन्द समझें जैसे हम असहयोगियों को समझते हैं पर जब देखते हैं कि उनमें से सब-के-सब इस परिस्थिति से लाभ उठाने पर तुले हुए हैं, कोई अपने पुत्र को अच्छी जगह दिलाना चाहता है, कोई खैरख्वाही की सनद लेना चाहता है, कोई और ही किसी रूप में अपना मतलब पूरा करना चाहता है तो हम निराश हो जाते हैं और नैराश्य तथा खेद की दशा में मुंह से निकल आता है—स्वार्थ। तेरी महिमा विचित्र है।

जब से बारदौली का निर्णय हुआ है और कानून तोड़ने का उतना जोर-शोर नहीं है, सहयोगी दल खुशी के मारे फूला नहीं समाता। चारों तरफ से आवाजें आ रही हैं कि असहयोग मर गया, शांत हो गया, सौदा सिर से उतर गया, उन्माद मिट गया... .आदि। कोई कहता है, हम तो पहले ही कहते थे यह बेल मंढ़े चढ़ने की नहीं। इस आंदोलन की बुनियादी ही अस्वाभाविकता और मनोविज्ञान से अनभिज्ञता पर खड़ी की गई थी और उसका वही अंत हुआ जो होना चाहिए था। मिसेज दास ने कलकत्ते के प्रांतीय राष्ट्रीय अधिवेशन में जो अपना विचार प्रकट किया है कि असहयोगियों को कौंसिलों में जाना चाहिए, तथा महाराष्ट्र सम्मेलन ने वकीलों, कॉलेजों तथा कौंसिलों के विषय में जो प्रस्ताव स्वीकार किए हैं, उनके आधार पर यह फैसला किया जा रहा है कि असहयोगियों में भी मतभेद हो गया, इनकी भी आंखें खुलीं। हम अपने मित्रों को यों बगलें बजाते देखकर विस्मित हो जाते हैं। यदि वास्तव में असहयोग का अंत हो गया तो यह खुश होने का अवसर नहीं, लज्जा से डूब मरने का अवसर है, और इस हत्या का कलंक उन्हीं लोगों के माथे पर लगेगा जिन्होंनें देश को, देश के आत्म-सम्मान को अपने स्वार्थ पर बलिदान कर दिया। आप शौक से वकालत करके मौज उड़ाएं, झूठे मुकदमे बनाएं और भोले-भाले गरीबों की गर्दन पर छुरी चलाएं, आप शौक से अपने होनहार पुत्रों को कॉलेजों में पढ़ाएं और उन्हें भी राजकीय पद दिलाकर या वकालत की सनद दिलाकर गरीबों की गर्दन की छुरी बनाएं, आप शौक से विलायती कपड़ों का रोजगार करके सोने के महल खड़े करें, मगर आप इस कलंक को नहीं धो सकते कि आपने देशोद्धार के ऐसे अच्छे मौके पर दगा किया, अपने स्वार्थ को देखा, जाति को न देखा। असहयोग चाहे सर्वथा निष्फल हो गया हो लेकिन कम-से-कम उसने आपकी सम्मान-प्रतिष्ठा का जादू तोड़ दिया, आप जनता की निगाहों में गिर गए, अब आप पर 'नकटा जीया बुरे हवाल' की मसल चरितार्थ हो गई। देश को मालूम हो गया कि किनसे आशा रखनी चाहिए और किनसे चौकस रहना चाहिए, कौन देश के मित्र हैं, कौन देश के द्रोही। आपने लार्ड मेकाले की शिक्षा-विषयक दूरदर्शिता का बहुत ही उत्तम प्रमाण दे दिया। अब कभी राष्ट्रीय इतिहास लिखा जायगा तो आपको यही श्रेयष्कर स्थान मिलेगा

जो आज राघोबा को मिल रहा है। मगर आपने यह कैसे समझ लिया कि असहयोग का प्राणांत हो गया? खूब समझ लीजिए कि प्रत्येक भारतीय जो नौकरशाही पर अवलंबित नहीं है, असहयोगी है। यहां तक कि छोटे-छोटे राजकर्मचारियों की गणना भी असहयोगियों में की जा सकती है। प्रश्न यह नहीं है कि इस अगणित सेना को उत्तेजित और उत्साहित कैसे किया जाय, बल्कि प्रश्न यह है कि उसे काबू में क्योंकर रखा जाय ताकि रक्तमय अशांति के वे दृश्य फिर न उपस्थित हो जाएं जो महात्मा गांधी के विशाल उद्योग से कुछ-कुछ काबू में आए हैं। हम अपने प्यारे भाइयों को उत्तेजित करके मशीनगनों का लक्ष्य नहीं बनाना चाहते। जब हमने देख लिया कि नौकरशाही असहयोग का दमन करने के लिए, राष्ट्रीय जीवन का गला घोंटने के लिए अवसर ढूंढ़ती फिरती है तो यही उचित समझा गया कि यथासाध्य हम नौकरशाही को इसका अवसर ही न दें और अपने आंदोलन को ऐसा रूप दे दें कि नौकरशाही से संघर्ष की कोई सम्भावना ही न रहे। असहयोग की समग्र शक्ति इस समय इसी कार्य के सम्पादन में प्रवृत्त हो रही है। रहे महाराष्ट्र सम्मेलन के प्रस्ताव। यह खुला हुआ रहस्य है कि महाराष्ट्र दल आदि से ही असहयोग के विपक्ष में रहा है, लेकिन राष्ट्रीय बहुमत के सामने उसने सदैव सिर झुकाया है और हमें विश्वास है कि वह इन प्रस्तावों का निर्णय भी कांग्रेस में रहकर करेगा, बाहर निकल कर नहीं। हम परस्पर मतभेद से सशंक नहीं होते, यह तो जीवन के लक्षण हैं। कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था है। वहां प्रत्येक पक्ष को अपना मत प्रकट करने और राष्ट्र को अपने मत की ओर झुकाने का समान अधिकार है। लेकिन यदि वह राष्ट्र को अपनी ओर आकर्षित करने में कृतकार्य न हो तो उसे अपनी डेढ़ ईंट की मसजिद अलग न बनानी चाहिए और कांग्रेस से नाराज होकर नौकरशाही की खुशामद में दत्तचित्त न हो जाना चाहिए। यदि सहयोगी दल भी कांग्रेस में रहता और कांग्रेस पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करता रहता तो हमको उससे कोई शिकायत नहीं थी। लेकिन उसने नौकरशाही पर अवलम्बित रहना ज्यादा सुलभ समझा और कांग्रेस का शत्रु हो गया। यही उसकी विशृंखलता है जिसने दो परस्पर विरोधी दलों को आमने-सामने खड़ा कर दिया, नौकरशाही को तीतर लड़ाने का आनंद उठाने का अवसर दिया। राष्ट्र के साथ रहकर हानि उठाना, कष्ट झेलना भी एक गौरव की बात है, राष्ट्र से पराड्मुख होकर आनंद भोग करना भी लज्जास्पद है। स्वार्थ की उपासना करने में यह महत्त्व नहीं है जो राष्ट्र के लिए मुसीबतें झेलने में है। यही विभाजक रेखा है, जो दोनों दलों को पृथक् करती है।

नौकरशाही ने शांतिरक्षा को दमन करने का बहाना बताया। यह उसके मतलब की बात है। पर आश्चर्य तो यह है कि सहयोगियों ने भी असहयोग को अराजकता और विप्लव का पर्याय बना रखा है। इस विषय पर समाचार-पत्रों में निरंतर लेख लिखने से एक नेता ने एक मार्के की किताब भी लिख डाली है। पर आश्चर्य की कोई बात नहीं। सहयोगियों का भी स्वार्थ इसी में है कि असहयोग को भयंकर से भयंकर दिखाया जाय, ताकि सरकार और भी भयभीत होकर उसकी ओर झुके। यह उनके फसल काटने का समय है, दोनों हाथों और पैरों से अनाज बटोर रहे हैं कि न जाने फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले। जहां कहीं पुलिस के अत्याचार या नौकरशाही के निरकुंशतापूर्ण हस्तक्षेप से कोई दंगा हो जाता है तो तुरंत इसका इल्जाम असहयोगियों के सिर थोप देते हैं और

दंगे को प्रमाणस्वरूप पेश कर देते हैं। वह असहयोगी नेताओं की शांति-प्रतिज्ञाओं पर जरा भी ध्यान नहीं देते, यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि जो आंदोलन इतना सर्वव्यापी है, उसमें बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसी दुर्घटनाओं का हो जाना अनिवार्य है। यदि हम इन महाशयों से पूछें कि सेना का इतना समुचित संगठन होते हुए सीमा पर जो छापे पड़ते रहते हैं या पुलिस की देखभाल होने पर भी चोरी और अन्य दुष्कृत्यों के जो दृश्य देखने में आते हैं क्या उनका इल्जाम उसी तर्कप्रणाली के अनुसार सेना और पुलिस पर रखकर गवर्नमेंट विद्रोहकारिणी नहीं कही जा सकती? जब सरकार बड़े-बड़े अधिकारियों और समुचित संगठन होने पर भी इन सामाजिक अपराधों की रोक-थाम करने में सफल नहीं हो सकती तो असहयोगी केवल सत्प्रेरणाओं के आधार पर पूर्ण शांति का उत्तरदायी क्योंकर हो सकता है?

[लेख। हिन्दी मासिक पत्रिका 'मर्यादा', बैशाख, 1979 विक्रमी संवत् (मई, 1922) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

उपन्यास-रचना

भारत-निवासियों ने यूरोपियन साहित्य के किसी अंग को इतना ग्रहण नहीं किया जितना उपन्यास को। यहां तक कि उपन्यास अब हमारे साहित्य का एक अविच्छेद अंग हो गया है। उपन्यास का जन्म चौहदवीं-पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग हुआ। शेक्सपियर ने अपने कई नाटकों की रचान इटालियन उपन्यासों के ही आधार पर की है। यह शैली इतनी प्रिय हुई कि आज समस्त संसार में साहित्य पर उपन्यास का आधिपत्य है। गत पचास वर्षों में भारत की साहित्यिक शक्ति का जितना उपयोग उपन्यास-रचना में हुआ उतना शायद साहित्य के और किसी भाग में नहीं हुआ। बंगला ने बंकिम पैदा किया, गुजराती ने गोविन्ददास, मराठी ने आप्टे, उर्दू ने रतननाथ और शरर, जो संसार के किसी उपन्यासकार से घटकर नहीं हैं। हिन्दी ने पहले अद्‌भुत रस के उपन्यासकार पैदा किए पर अब धीरे-धीरे उसमें चरित्र-चित्रण, मनोभाव और जासूसी के उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे हैं, और आशा है कि वह थोड़े ही दिनों में इस विषय में किसी प्रांतिकभाषा से दबकर नहीं रहेगी। वास्तव में उपन्यास-रचना को सरल साहित्य (Light litrature) कहा जाता है, इसलिए कि इससे पाठकों का मनोरंजन होता है। पर उपन्यासकार को उपन्यास लिखने में उतना ही दिमाग लगाना पड़ता है, जितना किसी दार्शनिक को दर्शन-शास्त्र के ग्रंथ लिखने में। उसे सबसे पहले उपन्यास का विषय खोजना पड़ता है। क्या लिखे? भौतिक वैभव की असारता दिखावे, या मनोभावों का पारस्पिरिक संग्राम? कोई गुप्त रहस्य चुने या किसी ऐतिहासिक घटना या चित्रण करे? लेखक अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकल ही इनमें से कोई विषय पसंद कर लेता है। विषय निर्धारित हो जाने के पश्चात् उसे प्लाट की चिंता होती है। वह सोता हो या जागता, चलता या बैठा, इसी चिंता में डूब रहा है। कभी-कभी उसे सोच-विचार में महीनों, बरसों लगे जाते हैं। इस चिंता में लेखक जितना ही व्यस्त होगा उतनी ही उत्तर उसकी रचना होगी—

उपन्यास की बुनियाद पड़ गई। अब हमें अपना भवन खड़ा करने के लिए मसाले की आवश्यकता होती है। उसके मुख्य साधन ये हैं–

1. अवलोकन, 2. अनुभव, 3. स्वाध्याय, 4. अंतर्दृष्टि, 5. जिज्ञासा, 6. विचार-आकलन।

कहते हैं, अमरीका के सुविख्यात साहित्यकार मार्क ट्वेन ने इस बात का अनुभव प्राप्त करने के लिए कि बिना टिकट रेल-ट्राम में सफर करने वालों के चित्त की क्या दशा होती है, कई बार टिकट सफर किया। ऐसे ही एक और सज्जन ने पेरिस के चकलों की तस्वीरे खींचने के लिए महीनों शोहदों और गुंडों की संगति की। एक तीसरे महाशय ने चोर के हृदय के भावों को जानने के लिए स्वयं सेंध तक मारी। इसका कारण यह जान पड़ता है कि पाश्चात्य देश के लेखक कल्पना-शून्य होते हैं। उपन्यासकार को ऐसी दशाओं और मनोभावों के वर्णन करने में अपनी कल्पना-शक्ति ही सबसे बड़ी मददगार है। ऐसा बिरला ही कोई प्राणी होगा जिसने बचपन में पैसे या मिठाई न चुराई हो, या चोरी से मेला या दंगल देखने न गया हो, अथवा पाठशाला में अध्यापक से बहाने न किए हों। यदि कल्पना-शक्ति तीव्र हो तो इतने अनुभव चोरों और डकैतों के मनोभाव चित्रित करने में कृतकार्य कर सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कृत्रिम अवस्थाओं में जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे स्वाभाविक नहीं हो सकते। फिर भी उपन्यास की सफलता के लिए अनुभव सर्वप्रधान मंत्र है। उपन्यास-लेखक को यथासाध्य नए-नए दृश्यों को देखने और नए-नए अनुभवों को प्राप्त करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए।

प्राणियों के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए दूसरा साधन भावों को टटोलना है। सर फिलिप सिडनी का कहना था कि 'अपनी निगाह अपने हृदय में डालो और जो कुछ देखो, लिखो।' लेखक अपने को कल्पना के द्वारा जितनी ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख सकता है, उतना ही सफल-मनोरथ होता है। तुलसीदास ने पुत्र-शोक कितनी सफलता से दिखाया है। विदित ही है कि उन्हें इस शोक का प्रत्यक्ष अनुभव न था। अपने को शोकातुर, वियोगी पिता के स्थान में रखकर ही उन्होंने उन भावों का अनुभव किया होगा।

स्वाध्याय से भी उपन्यासकार को बड़ी मदद मिलती है। एक ऋषि का कथन है कि स्वाध्याय मनुष्य को संपूर्ण बना देता है। कुछ लोगों का कहना है कि उपन्यास-लेखक को पढ़ना न चाहिए, इससे उसकी मौलिकता मारी जाती है। पर स्वर्गीय डी॰ एल॰ राय ने कहा है–जिस लेखक की मौलिकता पुस्तकावलोकन से मारी जाती है, उसमें मौलिकता है ही नहीं। स्वाध्याय का उद्देश्य यह न होना चाहिए कि किसी कुशल लेखक के भाव और विचार उड़ाए जाएं, बल्कि अपने भावों और विचारों की अन्य लेखकों से तुलना की जाय और उससे अच्छी रचना करने के लिए अपने को प्रोत्साहित किया जाय। अगर हमें किसी लेखक की रचना में ऐसा कोई स्थान दिखाई दे जहां उसकी कल्पना शिथिल पड़ गई है तो हम प्रयत्न करें कि उसी के अनुरूप स्थान पर उससे अच्छा लिख सकें। लेखक को और विशेषकर उपन्यास-लेखक को–विविध साहित्य का भली-भांति अध्ययन किए बिना कलम न उठाना चाहिए।

यह बात नहीं है कि बिना बहुत पढ़े कोई अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकता। जिन्हें ईश्वर ने प्रतिभा दी है, उनके लिए बहुत पढ़ना अनिवार्य नहीं है। लेकिन जिस प्रकार बिना व्याकरण पढ़े हुए चाहे हम शुद्ध लिखें, पर अशुद्धियों से बचने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं रहता, उसी प्रकार तुलना और स्वाध्याय से हमें अपनी त्रुटियों का बोध होता है, हमारी बुद्धि विकसित होती है और उस साधनों की झलक मिल जाती है जिनके द्वारा किसी बड़े लेखक ने सफलता प्राप्त की।

कुछ लोगों को भ्रम है कि अपनी रचनाओं के विषय में किसी से कुछ पूछने या राय लेने से उसका अपमान होता है। पर वास्तव में लेखक को जिज्ञासा की उतनी ही जरूरत है, जितनी कि किसी विद्यार्थी को। फ्रांसिस बेकन के विषय में कहा जाता है कि वह सदैव ऐसे पुरुषों से जिज्ञासा करता रहता था, जो किसी विषय में उससे अधिक ज्ञान रखते थे। कोई आदमी चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, सब विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। उसे अगर किसी से कुछ पूछना पड़े तो संकोच क्यों करे? डी॰ एल॰ राय महोदय जब कोई ड्रामा लिखते थे, तो उसे अपने रसिक मित्रों को सुनाते थे, उनकी आलोचना का उत्तर देते थे और जहां कहीं कायल हो जाते थे, अपनी रचना में काट-छांट कर देते थे। कभी उन्हें अध्याय के अध्याय और सीन के सीन बदलने पड़ जाते थे। लेखक को सदैव अपना आदर्श ऊंचा रखना चाहिए। उसके मन में यह धारण होनी चाहिए कि या तो कुछ लिखूंगा ही नहीं, या लिखूंगा तो कोई अच्छी चीज, जिससे बढ़कर उसी विषय पर फिर जल्द कोई न लिख सके।

कभी-कभी ऐसा होता है कि रास्ता चलते-चलते कोई नई बात सूझ जाती है, अथवा कोई नया दृश्य आंखों के सामने से गुजर जाता है। लेखक में ऐसा गुण होना चाहिए कि वह ऐसे भावों और दृश्यों को स्मृति-पट पर अंकित कर ले और आवश्यकता पड़ने पर उनका व्यवहार करे। कुछ लेखकों की आदत होती है कि वे अपने साथ नोटबुक रखते हैं और ऐसी बातें उसमें तुरंत टांक लेते हैं। जिस लेखक को अपनी स्मरण-शक्ति पर विश्वास न हो उसे अपने साथ नोटबुक अवश्य रखनी चाहिए। डायरी लिखना भी अपने विचारों को लेखबद्ध करने की आदत डालता है।

प्लाट उन घटनाओं को कहते हैं जो उपन्यास के चरित्रों पर घटित हों। लेकिन केवल घटनाओं का वर्णन करने ही से कहानी में मनोरंजकता का गुण नहीं पैदा हो सकता। उन घटनाओं को कल्पना द्वारा ऐसा सजीव बनाना चाहिए कि उसमें वास्तवविकता झलकने लगे। एक उपन्यासकार ने लिखा है कि उकलेदिस [यूनानी ज्यामितिकार यूक्लिड (Euclid)-सं०] की भांति हम लोगों को अपनी कथा सामने रख देनी चाहिए और तब उसे हल करने में प्रस्तुत हो जाना चाहिए। उकलेदिस की विचार-शृंखला में कोई किसी युक्ति प्रविष्ट नहीं हो सकती, जिसके लिए वहां अनिवार्य रूप से स्थान न हो। हम भी उसी का अनुसरण करके उच्चकोटि के उपन्यासों की रचना कर सकते हैं। साधारणत: प्लाट वह कथा है, जो उपन्यास पढ़ने के बाद साधारण पाठक के हृदय-पट पर अंकित हो जाती है। पुराने ढंग की कथाओं में बस प्लाट ही प्लाट होता था। उसमें रंग और रोगन की मात्रा न रहती थी, इसलिए वह चित्र इतना भड़कीला न होता था। आजकल पांच सौ पृष्ठों के उपन्यास की कथा दस-

पांच पंक्तियों में ही सामप्त हो जाती है। लेकिन इन्हीं दस-पांच पंक्तियों के सोचने में उपन्यासकार को जितना मनन और चिंतन करना पड़ता है, उतना सारा उपन्यास लिखने में भी नहीं करना पड़ता। वास्तव में प्लाट सोच लेने के बाद फिर लिखना बहुत आसान हो जाता है। लेकिन प्लाट सोचने के साथ ही चरित्रों की कल्पना भी करनी पड़ती है, जिनके द्वारा यह प्लाट प्रदर्शित किया जाय। चार्ल्स डिकेंस के विषय में लिखा है कि जब वह किसी नए उपन्यास की कल्पना करते थे, तो महीनों तक अपने कमरे को बंद कर विचार-मग्न पड़े रहते थे, न किसी से मिलते थे, न कहीं सैर करने ही जाते थे। जब दो-तीन महीने के बाद उनके किवाड़ खुलते थे, तो उनकी दशा किसी रोगी से अच्छी न होती थी, मुख पीला, आंखें भीतर को धंसी हुई, शरीर दुर्बल। थैकरे के विषय में लिखा हुआ है कि वह संध्या समय किसी नदी के तट पर बैठकर अपने प्लाट सोचा करता था। पर प्लाट को जल्द या देर में कल्पित कर लेना लेखक की बुद्धि सामर्थ्य पर निर्भर है। जार्ज सैण्ड फ्रांस की सुविख्यात लेखिका है। उसने सौ से कम उपन्यास नहीं लिखे। पर उसे प्लाट सोचने में बुद्धि नहीं लड़ानी पड़ती थी। वह कलम हाथ में लेकर बैठ जाती थी और लिखने के साथ ही प्लाट भी बनता चला जाता था। सर वाल्टर स्काट के बारे में यही मशहूर है कि वह प्लाट सोचने में मस्तिष्क नहीं लड़ाते थे। कुछ कहानियां ऐसी भी होती हैं जिनमें कोई प्लाट नहीं होता। मार्क ट्वेन का Innocents Abroad इसी ढंग का उपन्यास है।

प्लाटों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। साधारणत: उसके छ: भेद माने गए हैं—

1. कोई अद्भुत घटना।
2. कोई गुप्त रहस्य।
3. मनोभाव-चित्रण।
4. चरित्रों का विश्लेषण और तुलना।
5. जीवन के अनुभवों को प्रकट करना।
6. कोई सामाजिक या राजनीतिक सुधार।

(1) अद्भुत—कहानी वही अद्भुत होती है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध हो। प्राचीन कथाएं बहुधा इसी किस्म की होती थीं। ऐसी कहानी का उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन है। पढ़ने से कल्पना की वृद्धि होने के कारण बहुधा बालकोपयोगी कहानियों में यह प्रणाली उपयुक्त समझी जाती है। प्रौढ़ावस्था में ऐसी कहानियों में जी नहीं लगता। बहुधा नैतिक और आचारण-संबंधी उपदेश भी ऐसी कहानियों द्वारा दिए जाते हैं। इंग्लैंड का विख्यात लेखक स्विफ्ट ने 'गुलीवर की यात्रा' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक में समाज पर व्यंग्य किया है। वह भी अद्भुत घटनाओं का ही सहारा लेता है। बहुधा दृष्टांतों या 'ऐलीगरी' में अद्भुत घटनाओं द्वारा जीवन के गूढ़ तत्त्व हल किए जाते हैं। इंग्लैंड में जॉन बनियन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' अद्वितीय ऐलीगरी है। हमारे यहां प्राचीन ऋषियों ने बहुधा दृष्टांतों द्वारा ही जन-साधारण को उपदेश दिए हैं। महाभारत, पुराण, उपनिषद् आदि में ऐसे दृष्टांत भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में टॉल्स्टॉय और हॉथर्न ने बहुत ही शिक्षाप्रद और अनूठे दृष्टांत रचे हैं। अतएव अप्राकृतिक घटना-प्रधान उपन्यासों की रचना

यदि बहुत सरल हैं तो उसके साथ ही अत्यंत कठिन भी है।

(2) गुप्त रहस्य–जासूसी के उपन्यास सब इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के उपन्यास लिखने में लेखक को दो बड़ी शंकाओं का सामना करना पड़ता है। संभव है रहस्य आरंभ से ही खुल जाय अथवा लेखक की रहस्योद्घाटन पाठक को संतोषप्रद न हो। भारतवर्ष में पहले ऐसी कहानियों की प्रथा न थी। योरोप में ऐसी कहानियों को लोग बड़े शौक से पढ़ते हैं। इधर कुछ दिनों से पैशाचिक घटनाएं भी रहस्यों द्वारा प्रकट की जाने लगी हैं। इंग्लैंड में कॉनन डायल इस श्रेणी के उपन्यासकारों में बहुत सिद्धहस्त हैं, फ्रांस में मार्स लेब्लांक और अमरीका में पो कॉनन डायल अभी जीवित हैं और अब आपराधिक विषयों की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जासूसी उपन्यासों के लेखक कोई घटना सोचकर एक कल्पित जासूस को उसके सुलझाने में लगा देता है। ऐसी घटनाओं में सर्वश्रेष्ठ गुण यह है कि उस घटना या रहस्य का खोलना जाहिर असंभव प्रतीत हो, पर लेखक जब उसे खोल दे तो पाठक को आश्चर्य हो कि मुझे यह बात क्यों न सूझी, न यह तो बिल्कुल साधारण बात थी। इसके साथ, पाठक उस रहस्य को किसी दूसरी रीति से खोलने में असमर्थ हो। लेखक का कौशल इस बात में है कि जिस चरित्र को पाठक और लेखक स्वयं दोषी समझते हों वह अंत में निरपराध सिद्ध हो जाय। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक होते हैं और उनके पढ़ने से बुद्धि तीव्र होती है, कठिन समस्याओं में दिमाग लड़ाने की शक्ति पैदा होती है। मगर उनका लिखना इतना कठिन है कि अब तक हिन्दी में सिवा कॉनन डायल या अन्य लेखकों की कहानियों के अनुवाद के सिवा किसी ने स्वतंत्र कल्पना नहीं की।

(3) मनोभाव का चित्रण--ऐसे उपन्यासों के लेखकों का ध्यान घटना-वैचित्र्य की ओर बहुत कम रहता है। वह ऐसी ही घटनाओं की आयोजना करता है जिसमें उसके चरित्रों को अपने मनोभावों के प्रकट करने का अवसर मिले। घटनाएं कम होती हैं, पात्रों के विचार अधिक। टॉल्स्टॉय के उपन्यासों में यही गुण प्रधान है। ऐसे उपन्यासों को रचने के लिए आवश्यक है कि लेखक अपने को विभिन्न अवस्थाओं में रख सके। इस प्रकार की कहानियों में लेखक को पाठकों को सामने अनिवार्य रूप से अधिकतर अपना ही हृदय खोलकर रखना पड़ता है। दूसरों के मनोगत भावों को जानने का उसके पास और क्या साधन हो सकता है। कोई अपने मन का भाव किसी से नहीं कहता, बल्कि और छिपाता है। अगर किसी को किसी मित्र के मनोभावों का ज्ञान हो भी सकता है, तो बहुत कम। इसलिए ऐसे उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाना है। उपन्यासकार को नित्य अपने अंतर की ओर ध्यान रखना पड़ता है। जार्ज इलियट के उपन्यास अधिकतर इसी श्रेणी के हैं।

(4) चरित्रों का विश्लेषण और (5) जीवन के अनुभवों को प्रकट करना--इन दोनों प्रकारों के उपन्यास लिखने के लिए जरूरी है कि लेखक में दिव्य कल्पना-शक्ति के साथ अवलोकन और निरीक्षण की भी प्रचुर मात्रा हो। इसीलिए कहा गया है कि उपन्यासकार को सभी श्रेणी के मनुष्यों से मिलना-जुलना आवश्यक है। उसे अपनी आंखें और कान सदैव खुले रखने चाहिए। एक ही परिस्थिति में दो भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्ति क्या करते हैं, एक ही घटना दोनों को किस प्रकार प्रभावित

करती है, इसका निरूपण सहज नहीं है। अनुभव बाह्य जगत् संबंधी भी होते हैं और अंतर-जगत् संबंधी भी। लेखक को प्राकृतिक दृश्यों का, विचित्र घटनाओं का बड़े ध्यान से अवलोकन करना चाहिए। प्रातःकाल समीर के झोंकों में नदी की तरंगों की कैसी छटा होती है, आकाश कौन-कौन से रूप धारण करता है, ऐसे अगणित दृश्य सफलता के साथ वही लिख सकता है जिसने स्वयं उनको गौर से देखा हो। केवल कल्पना यहां काम नहीं दे सकती। लाजिम है कि लेखक वही दृश्य दिखावे, उन्हीं चरित्रों की तुलना करे, जिनका उसने स्वयं अनुभव किया हो। जिसने समुद्र नहीं देखा, वह किसी बंदर का दृश्य क्योंकर लिखेगा? जिसने ग्रामीणों की संगति नहीं की, वह ग्रामीण जीवन का चित्र क्योंकर खींच सकता है? यही सफलता प्राप्त करने के लिए योरोप के कई विख्यात उपन्यासकारों ने वेश बदलकर उन स्थितियों का अध्ययन किया है, जिनके आधार पर वे अपना उपन्यास लिखना चाहते थे।

(6) कोई सामाजिक या राजनैतिक सुधार—किसी उद्देश्य विशेष से लिखे गए उपन्यासों की संख्या आजकल सभी भाषाओं में बहुत अधिक है। उर्दू में भी ऐसे कितने ही उपन्यास हैं, मुख्य भाषाओं का तो कहना ही क्या? आजकल 'सुधार-सुधार' के घोर नाद से सारा वायुमंडल निनादित हो रहा है। कहीं पुलिस के सुधार की चर्चा है, कहीं कारागारों की, कहीं न्यायालयों की, कहीं सामाजिक प्रथाओं की, कहीं शिक्षा-पद्धति की। यह विवादास्पद विषय है कि उपन्यास किसी उद्देश्य से लिखना चाहिए या नहीं। प्रवीण समालोचकगण की राय में साहित्य का उद्देश्य केवल भाव-चित्रण ही होना चाहिए। उद्देश्य से लिखी हुई कहानियों में बहुधा लेखक को विवश होकर असंगत बातें कहलानी पड़ती हैं, अनावश्यक घटनाओं की आयोजना करनी पड़ती है, और सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उसे उपदेशक का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। मगर रसिक समाज किसी से उपदेश लेना नहीं चाहता, उसे उपदेशों से अरुचि है और उपदेशकों से घृणा। वह केवल मनोरंजन और मनोदर्शन चाहता है। पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि गत शताब्दी में पाश्चात्य देशों में जितने सुधार हुए हैं, उनमें अधिकांश का बीजारोपण उपन्यासों के ही द्वारा किया गया था।

डिकेंस के प्रायः सभी उपन्यास, टॉल्स्टॉय के कई उत्तम उपन्यास, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनेव, बालजक, ह्यूगो, मेरी करेली, जोला आदि प्रधान उपन्यासकारों ने सुधारों ही के उद्देश्य से अपने ग्रंथ रचे हैं। हां, कुशल लेखक का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सुधार के जोश में कथा की रोचकता को कम न होने दे। वह उपन्यास और अपने चरित्रों को उन्हीं परिस्थितियों में रखे जिनको वह सुधारना चाहता है। यह भी परमावश्यक है कि वह सुधार के विषय को खूब सोच ले, और अत्युक्ति से काम न ले, नहीं तो उसके प्रयास कभी सफल न हो सकेगा। लेखक वृन्द प्रायः अपने काल के विधाता होते हैं। उनमें अपने देश को, अपने समाज को दुःख, अन्याय था मिथ्यावाद से मुक्त करने की प्रबल आकांक्षा होती है। ऐसी दशा में असंभव है कि वह समाज को अपने मनमाने मार्ग पर चलने दे और स्वयं खड़ा हाथ पर हाथ रखे देखता रहे। वह अगर और कुछ नहीं कर सकता, तो कलम तो चला ही सकता है। शेक्सपियर और कालिदास के समय में सुधार की आवश्यकता आज से कम न थी,

लेकिन उस समय राजनीतिक ज्ञान का प्रचार न था। रईस लोग भोग-विलास करते थे, कवि और लेखक उनकी विलास-वृत्तियों को और उत्तेजित करते थे। प्रजा पर क्या गुजरती है, इधर किसी का ध्यान न था। यह समय जीवन-संग्राम का है। आज हम जो शिक्षित कहलाते हैं, तटस्थ होकर अन्याय होते नहीं देख सकते।

प्लाट का महत्त्व जानने के बाद अब हम यह जानना चाहेंगे कि अच्छे प्लाट में कौन-कौन-सी बातें होनी चाहिए। समालोचकों के मतानुसार वे ये हैं—सरलता, मौलिकता, रोचकता।

प्लाट सरल होना चाहिए। बहुत उलझा हुआ, पेचीदा, शैतान की आंत, पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाय, ऐसे उपन्यास को पाठक ऊबकर छोड़ देता है। एक प्रसंग अभी पूरा नहीं होने पाया कि दूसरा आ गया, वह अभी अधूरा ही था कि तीसरा प्रसंग आ गया, इससे पाठक का चित्त चकरा जाता है। पेचीदा प्लाट की कल्पना इतनी मुश्किल नहीं है, जितनी किसी सरल प्लाट की। सरल प्लाट में बहुत-से चरित्रों की कल्पना नहीं करनी पड़ती, इसीलिए लेखक को अल्पसंख्यक चरित्रों के भाव-विचार, गुण-दोष, आचार-व्यवहार को सूक्ष्म रूप से दिखाने का अवसर मिल जाता है, इससे उसके चरित्रों में सजीवता आ जाती है और वह पाठक के हृदय पर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाते हैं। यह बात बहुसंख्यक चरित्रों के साथ नहीं प्राप्त की सकती। प्लाट में मौलिकता का होना भी जरूरी है। जिस बात या विषय को अन्य लेखकों ने लिख डाला हो, उसे कुछ हेर-फेर करके अपना प्लाट बनाने की चेष्टा करना अनुपयुक्त है। प्रेम, वियोग आदि विषय इतनी बार लिखे जा चुके हैं कि उसमें कोई नवीनता नहीं बाकी रही। अब तो पाठक कहानियों में नए भावों का, नए विचारों का, नए चरित्रों का दिग्दर्शन चाहते हैं। अत: 'शुकबहत्तरी' से पाठकों को तस्कीन नहीं होती। प्लाट में कुछ-न-कुछ ताजगी, कुछ-न-कुछ अनोखापन अवश्य होना चाहिए। रही रोचकता, वह मौलिकता की सहगामिनी है। मौलिक प्लाट है तो वह रोचक भी जरूर ही होगा। लेकिन कहानी की रोचकता किसी एक बात पर निर्भर नहीं है। प्लाट की सुंदरता, चरित्रों का चित्रण, घटना-वैचित्र्य सभी सम्मिश्रित हो जाते हैं तो रोचकता आप ही आप आ जाती है। हां उपन्यासकार यह कभी नहीं भूल सकता कि उसका प्रधान कर्त्तव्य पाठकों का गम गलत करना, उनका मनोरंजन करना है। और सभी बातें इसके अधीन हैं। जब पाठका का जी ही कहानी में न लगा तो वह क्या लेखक के भावों को समझेगा? क्या उसके अनुभवों से लाभ उठाएगा? वह घृणा के साथ किताब पटक देगा और सदा के लिए उपन्यासों का निंदक हो जायेगा। आज भी कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें उपन्यासों से चिढ़ है। उन्होंने व्रत कर लिया है कि उपन्यास कदापि न पढ़ेंगे। कारण यही है कि हिन्द के वर्तमान उपन्यासों ने उन्हें निराश कर दिया है। नये उपन्यास-लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे उपन्यास-साहित्य के मुख को उज्ज्वल करें, इस बदनामी के दाग को मिटा दें।

[लेख। 'माधुरी' अक्टूबर, 1922 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित। कुछ विचार एवं 'साहित्य का उद्देश्य' में भी संकलित।]

मल्काना राजपूत मुसलमानों की शुद्धि

शुमाली (उत्तरीय) हिन्दुस्तान में मल्काना राजपूतों की शुद्धि का मसला अपने नताइज (परिणामों) के एतबार से जितना अहम हो रहा है, उतना शायद और कोई मसला न होगा। बिलखसूस (विशेषतया) इसलिए कि जहां तक अखबारों से ज़ाहिर होता है, हिन्दू जमात इस तहरीक को जारी रखने और कवीतर (अधिक शक्तिशाली) बनाने के लिए मुत्तफिक (सहमत) हो गयी है। शायद हिन्दुस्तान की तारीख में पहली बार आर्यसमाज और सनातन धर्म मसलेहीन (सुधारवादियों) और अंजुमन (समिति, संघ) में इत्तिफाक और इत्तिहाद (एकता और मेल-जोल) नज़र आ रहा है। कोई शक नहीं कि हमारे मुस्लिम बिरादराने-वतन इस इत्तिफाक को शुबाआमेज़ (संदेहपूर्ण) नज़रों से देख रहे हैं और इस इज़्तिमाअ (सम्मिलन) को अपने कौमी वजूद के लिए खौफनाक समझते हैं। अब तक तबलीग (धर्म-प्रचार) के मैदान में मुसलमान यक्कयेनाज़ (गर्व करने में अनुपम) थे। कोई इनका रकीब (प्रतिद्वंदी) न था, लेकिन ये सूरते-हाल बहुत सुर्अत (शीघ्रता) से तब्दील होती जा रही है और मुसलमानों को यह अंदेशा होने लगा है कि कहीं यह तहरीक (आंदोलन) हमारे कौमी ज़बंहाल (दुर्दशा) का पेशखेमा (पृष्ठभूमि) तो नहीं है? आर्य समाज से उन्हें ज़्यादा खौफ नहीं थी, जब तक शुद्धि की तहरीक आर्यसमाज तक महदूद (सीमित) थी। वो उसकी ज़्यादा परवाह न करते थे, लेकिन हिन्दुओं की मज्मूई (सामूहिक) ताकत को उसकी इमदाद और इशाअत (प्रचार) पर आमादा देखकर मुसलमानों में सख्त बदगुमानी पैदा हो गई है। अब भी कुछ मुतास्सिब (धार्मिक) मुसलमान कांग्रेस के कामों में शरीक होते हैं और इस मुगायरत (अलगाव) के फितने (दंगे) को फरू (खत्म) करने की कोशिश में मुन्हमिक (संलग्न) हैं, मगर इन्हें जम्हूरे-इस्लाम (इस्लामी लोकतंत्र) अपने मज़हबी दायरे से खारिज (बाहर) समझता है। ऐसे आदमियों की तादाद रोज़-ब-रोज़ ज़्यादा होती जाती है जो स्वराज की तहरीक ही से बदज़न (बदगुमान) हो गए हैं और स्वराज्य को हिन्दू-राज्य का मुतारादिफ (पर्यायवाची) कहने लगे हैं।

हम ये मानते हैं कि हरेक कौम को अपने मज़हबी मदाकतों की इशाअत (प्रचार) का कामिल (पूर्ण) इस्तेहकाक (अधिकार) है। इस आम हक से किसी जीफहम (बुद्धिमान) इंसान को इंकार नहीं हो सकता, मगर इसके साथ ही हमको यह भी मालूम है कि तब्दीले-मज़हब की हरेक मिसाल बेशुमार आदमियों को इससे कहीं ज़्यादा रूहानी सदमा पहुंचाती है। जहां तक उनको रूहानी-सुकून अता करती है, एक हिन्दू मुसलमान होता है तो लाखों हिन्दुओं के दिलों में तअस्सुफ (संताप, पश्चाताप) का जोश पैदा होता है। यहां तक कि वो उस मुर्तद (धर्म बदलने वाले) को जान से मार डालने की तदबीरें सोचने लगते हैं। मज़हबी तौहीन का सबसे मुहलिक (घातक) पहलू यही है कि कोई आदमी इससे मुनहरिफ (विमुख) हो जाय। ये गोया उस मज़हब की खामी का ऐलान है और ऐसे शख्स की ज़ुबानी जो हमेशा से उसका मुतीअ (अनुयायी) रहा है। एक हिन्दू विधवा किसी मुसलमान के निकाह में आ जाती है तो हिन्दुओं को इससे जितना सदमा होता है, उसका इज़हार नहीं किया जा

सकता। हिन्दुस्तान के लोग मज़हब-परवर (धर्म-पालक) वाकै हुए हैं। यहां मज़हब ने 'कौमियत', 'ज़ात', 'हसब-व-नसब' (वंश और प्रतिष्ठा) सब पर सिक्का जमा लिया है और इस जमाने में मुसलमान हिन्दुओं से कोसों आगे हैं। इसलिए हम अंदाज़ा कर सकते हैं किसी मुसलमान के हिन्दू हो जाने से उन्हें कितना सदमा होगा। ऐसी हालत में क्या यह मुनासिब नहीं है कि तब्लीगी तहरीकें यककलम (पूर्णत:) बंद कर दी जाएं और चंद अफराद (व्यक्तियों) के रूहानी इत्मीनान (तुष्टि) के लिए एक कौम के दिल को ईज़ा (कष्ट, यातना) न पहुंचाई जाय। मज़हब अपने सच्चे मानों में खालिक (स्रष्टा) और माबूद (ईश्वर) का मामला है। हर एक शख्स को इख्तियार है कि वो जिस तरीके (प्रणाली, नियम) से चाहे माबूद की परस्तिश (पूजा) करे। मगर इसकी क्या ज़रूरत है कि इस खफीफ (साधारण) से वाकिये की सारे मुल्क मे तशहीर (प्रसिद्ध) की जाय? खामख्वाह जुलूस निकाले जाएं, जश्न मनाया जाय। इससे किसी मज़हब की वकत ज्यादा नहीं होती, कम होती है। हम गिला नहीं करते, मगर हक (सच्चाई) हमको ये कहने पर मजबूर करती है कि हिन्दुओं में इस तहरीक की बिना (नींव) मुसलमानों ने डाली। वो ही उसके जिम्मेदार हैं। उन्हीं के मज़हबी जोश ने हिन्दुओं को इज्तिमाअ (इकट्ठा होने) और इनज़बात (संगठन) पर आमादा किया। जिन सूबों में मुसलमानों की आबादी ज़्यादा है, वहां हिन्दुओं को आसाइश (सुख-चैन) और इत्मीनान मयस्सर नहीं। उनकी लड़कियां, उनकी बेवाएं हमेशा इस्लामी-दस्तंबुर्द (लूट खसोट) का शिकार होती रहती हैं और मुसलमान इस मामले में अपनी सुकूत (खामोशी) की ज़र्री (सुनहली) पालिसी को तोड़ना मुनासिब नहीं समझते। हम हिन्दुओं को इस तहरीक के इजरा (जारी) के लिए मुहिम (संघर्ष) नहीं करते, लेकिन चूंकि हिन्दू कौम ज्यादा तालीमयाफ्ता, बिलखैर कौमियत की ज़्यादा दिलदादा है, सिमत (इस दृष्टि से) ये देखकर अफसोस होता है कि बिल आखिर (अंतत:) इसने भी तब्लीग (प्रचार) का वो ही रवैया इख्तियार किया, जिस पर उसे खुद एतराज़ था, चाहे बांगे-दुहुल (नक्कारे की ऊंची आवाज़) से ऐलान किया जाय कि हिन्दू-कौम ने शुद्धि की तहरीक महज़ अपना शीराज़ा (संगठन) बांधने की लिए जारी की है और उसे किसी फिरका या मज़हब को नुकसान पहुंचाना मंजूर नहीं है, लेकिन हम कहे बगैर नहीं रह सकते कि ये सरीह (स्पष्ट) Retaliation की पालिसी है और इसी मौके पर जबकि हमने इसको सियासी माम्लात में ममनू (निषिद्ध) समझ रखा है। मज़हबी मामलात में इस पर कमरबंद (पाबंद) होना नाकाबिले-अफ्व (अक्षम्य) है।

यह माद्दीयत (भौतिकता) का दौर है। माद्दी (भौतिक) अग्राज़ (स्वार्थ) व-मकासिद (उद्देश्य) जिसका मजमुई (सामूहिक) नाम सियासयात (राजनीति) रखा गया है, जिन्दगी के कुल शोबों (विभागों) पर हावी हैं। मजहब भी इस कुल्लिये (सिद्धांत) से मुस्तस्ना (बचा हुआ) नहीं। हम आजकल मजहब को तलकीन (सदुपदेश) और तब्लीग (प्रचार), रूहानी सदाकतों (आत्मिक सत्यताओं) के बिना पर नहीं करते। इसमें सियासी और मुल्की फवाइद (लाभ) मुजमिर (गोपक, छिपे हुए) और मखफी (गुप्त) होते हैं। जमानए कदीम (प्राचीन काल) में मजहब कुल दुनियावी उमूर

(समस्याओं) पर हुक्मरान (शासक) था। अब सियासी हुकूमत और चीरादस्ती (जोर-जबर्दस्ती) का जमाना है। हिन्दुस्तान में ईसाइयत की मनादी इसलिए हो रही है कि अंगरेज़ी गोरमिण्ट को ऐसी जमात की इमदाद का यकीन हो जाय जो हम-मिल्लत (एक कौम का) होने के बाइस उसके दामन से बाबस्ता (बंधा) रहना अपने वजूद (अस्तित्व) के लिए लाजमी समझे। हिन्दू भी इसी सेलाब की जद (मार, चोट) में आ गए हैं। इस्लामी हुकूमत का जमाना मजहबा तास्सुबात (धार्मिक मदांधता) का जमाना था। उस वक्त तब्लीगे-इस्लाम (इस्लाम के प्रचार) का मंशा सियासी नहीं, बल्कि महज मजहबी था और गालिबन मौजूदा जमाने में भी यह तहरीक सियासी वजूद पर मबनी (आधारित) नहीं है। मगर हिन्दुओं की शुद्धि खालिसन (शुद्धत:) और कुल्लियतन (पूर्णत:) सियासी उमूर (मामलात, समस्याओं) पर मबनी है। जात की तफरीक (अंतर) को मिटाना, उसूलों को हम आगोश (आलिंगित, बगलगीर) करना, और इसी किस्म की दीगर तमद्दुनी तहरीकें सियासी फवाइद (लाभों) को मद्दे-नजर रखकर जारी की गई हैं। हमारा हुब्बे-वतन (देश-प्रेम) हुब्बे-मिल्लत (जाति प्रेम) है। हम किसी अम्र (कार्य, समस्या) को मुल्की नुक्ताए-नजर (दृष्टिकोण) से नहीं बल्कि मजहबी नुक्ताए-नजर से देखने के आदी हैं। हम जुबान से चाहे जो कुछ भी कहें, मगर दिल से हम पहले हिन्दू, बाद को हिन्दुस्तानी हैं, इसमें शक नहीं कि दीगर मुहज़्ज़ब (सभ्य) मुल्कों में भी वतन ने हुब्बे-मिल्लत को कुल्लियतन महव (पूर्णत: समाप्त) नहीं किया है। मगर वहां मजहब की हैसियत सानवी (द्वितीय) है। उनकी निगाहें वसीअ हैं। वह किसी मामले को मुल्की एतबार से जांचने के आदी हैं। फ्रांस, जर्मनी या अमेरीका में अगर हिन्दू या मुसलमान ज्यादा होने लगें तो वहां कोहराम नहीं मचेगा। अमरीका में आज हिन्दियों की तादाद इतनी ज्यादा हो जाय कि वहां हर-एक तालमगाह में हिन्दी की तालीम को जबरी करार देने का मसला दारुल कवाबीन (विधान-मंडल) में मंजूर हो जाए तो यकीनन अमरीका वाले इसे अपने मुल्क के लिए तबाही का शुगुन न ख्याल करेंगे। वहां तफरीक (शत्रुता, विरोध, पृथक्ता) की बुनियाद रंग है, मजहब नहीं। हम यह नहीं कहते कि उनके तफरीक की बुनियाद हमारी बुनियादे-मुखासेमत (झंझटों के आधार) से कम मुजिर (घातक) है। वहां भी आए दिन शब्बो-शतम (गाली-गलौज) की नौबत आती रहती है, मगर उनकी तकदीर अपने हाथ में है। इस मसले पर उनकी जिन्दगी या मौत मबनी (अवलम्बित) नहीं है। जहां और मुतनाजे (विवादास्पद) उमूर (समस्याएं) हैं, मसलन मजदूरों और सरमायादारों का मसला, वहां एक यह भी है। मगर हिन्दुस्तानी की हालत बिल्कुल जुदागाना (भिन्न) है। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सियासी, तमद्दुनी (सांस्कृतिक), माली-मसाइल (आर्थिक-समस्याओं) में मजहबी तफवीक (तरजीह, प्रधानता) के हामी हैं, और हकीर (क्षुद्र) फवाइद (लाभों) के लिए मुहतमविश्शान (भव्य, शानदार) कौमी अग्राज (उद्देश्यों) को कुर्बान कर देने में पसोपेश नहीं करते।

आइए अब देखें कि इस शुद्धि से हिन्दुओं ने क्या फायदा सोच रखा है। साफ जाहिर है कि हिन्दुओं की तादाद ज्यादा हो जाएगी और इसी मुनासबत (अनुपात) से मुसलमानों की तादाद कम होगी। मगर क्या कौमी मुआमलात में तादाद ही सब कुछ

है? तजुर्बा तो यह बतलाता है कि फीजमाना (इस युग में) तादाद की कोई वक्त नहीं। जर्मनी के छः करोड़ बाशिन्दे रूएजमीं (संपूर्ण पृथ्वी) के बाशिन्दों को दावते-जंग (युद्ध का आह्वान) दे सकते हैं। छः करोड़ का इंगलिस्तान बत्तीस करोड़ के हिन्दुस्तान पर कामयाबी के साथ हुक्मरानी कर सकता है, तो तादाद की इतनी अहमियत क्यों है? सिक्खों की तादाद कभी सोलह या सत्रह लाख से ज्यादा न थी, लेकिन उन्होंने पंजाब और सरहदी सूबों पर हुकूमत की और अगर अंगरेजों ने उनके कदम न रोक दिए होते तो गालिबन वह अपनी सल्तनत की हुदूद (सीमा) को और भी ज्यादा वसीअ कर सकते। गोरी या गजनी दस-बीस करोड़ की जमात लेकर हिन्दुस्तान पर हमलावर नहीं हुए थे। यूनान ने किसी जमाने में आलमगीर (विश्वव्यापी) सल्तनत कायम की। इटली भी एक जमाने में सारे योरोप पर हावी था। इससे जाहिर होता है कि तादादी फौकियत (संख्या की प्रधानता) सियासी फौकियत (राजनीतिक प्रधानता) की मूजिब (कारण) नहीं। बल्कि बाहमी (आपसी) इन्जबात (संगठन) और इत्तिफाक (एकता) ही वह चीज है जो कौम को कवी (शक्तिशाली) और बाअसर बना देती है।

हिन्दू आज चौबीस करोड़ हैं। अगर बहुत सरगर्मी (उत्साह) से काम लिया गया तो गालिबन दो-चार साल में सवा चौबीस करोड़ हो जाएंगे। इससे ज्यादा किसी तरह नहीं हो सकते। सारे मुल्क को हम-मजहब (एकधर्मी) बनाने का खयाल जुनून से ज्यादा वकत नहीं रखता, तो जब चौबीस करोड़ हिन्दुओं ने अपने को सियासी गुलामी से आजाद करने के नाकाबिल पाया तो 1/4 (चौथाई) करोड़ हिन्दुओं के इजाफे से क्या तवक्कों (आशा) की जा सकती है? शायद ज्यादा से ज्यादा इसका असर यह होगा कि एक या दो मेंबर कौंसिल में ज्यादा हो जाएंगे, तो इतने हकीर (तुच्छ) नतीजे के लिए इस कदर शोरोशराब (शोरोगुल, चीख-पुकार) की क्यों जरूरत समझी जाती है? क्या इस तहरीक के हामियों को इतना भी नजर नहीं आता कि इससे बाहमी मुगायरत (आपस में बेगानापन) बढ़ती जाती है और रोज-बरोज स्वराज्य के मंजिले-मक्सूद से दूर होते जाते हैं। वही अमृतसर है, जहां तीन साल कब्ल (पूर्व) हिन्दुओं और मुसलमानों ने खूनी यगानगत (एकता, सहमति) का ऐसा ऊंचा मेयार (स्तर) पेश किया था, जिसकी नजीर (उदाहरण) हिन्दुस्तान की तारखी में मुश्किल से मिल सकती है। उसी अमृतसर में आज दोनों फिरकों में खूरेजी के बाजार गर्म है। इसके लिए हम एक बड़ी हद तक इसी शुद्धि की तहरीक को मूरिद-ए-इल्जाम (दोषी) समझते हैं। गनीमत है कि अभी तक कांग्रेस के हामी मुसलमानों ने तहम्मुल (सहनशीलता) और जब्त से काम लिया है। मगर अब इसकी अलामतें (लक्षण) नजर आ रही हैं, जैसाकि मौलाना अबुल कलाम आजाद की एक ताजा तकरीर से साबित होता है (खुदा करे वह रिपोर्ट नादुरुस्त हो) कि अब उन लोगों का तहम्मुल (सहनशीलता) भी इन्तिहाई हद तक पहुंच गया है, और यही कैफियत रही तो वह दिन दूर नहीं है, जब हमको उनकी मुखालफत का अलानिया (खुल्लमखुल्ला) सामना करना पड़ेगा। यह खबर भी जब उस कुद्सीसिफात (देवात्मा), फना-फीलकौम (कौम पर मिटने वाला), पाकनफ्स (पवित्र आत्मा) बुजुर्ग को मिलेगी जो इस वक्त यरवदा जेल में अपनी कौम का कफ्फारा

(प्रायश्चित) अदा कर रहा है, तो मालूम नहीं, उसके सरीउलहिस (तीव्र) संवदेनशील) दिल पर क्या गुजरेगी। हिन्दू-मुस्लिम इत्तिहाद उसके कौमी तामीर (निर्माण) की बुनियाद थी। उसे उसने अपने खूने-जिगर से कायम किया था। वह इसी मजबूत बुनियाद पर अपनी आलीशान इमारत खड़ी करना चाहता था। इससे कब्ल (पूर्व) जमाना-ए-हाल के मुदीरों (संपादकों) में किसी ने इस बुनियाद को मुस्तहकम (स्थायी) और पायेदार बनाने की जरूरत नहीं समझी थी या उनमें इसकी सलाहियत (योग्यता) ही न थी। मगर आज अफसोस है कि आज हमारे चंद मजहबी फिदाइयों (भक्तों) की मजनूनाना (विक्षिप्त) सरगर्मी (उत्साह) इस बुनियाद को मुतजर्लजिल (कम्पित) किए देती है। हमको हिन्दुओं के तदब्बुर (बुद्धि) पर एतमाद (भरोसा) था। हमको अंदेशा था कि हिन्दू कौम की जानिब से इस इत्तिहाद को कोई अंदेशा नहीं है। अगर अंदेशा था तो मुसलमानों की जानिब से कि वह अर्बाबे-इख्तियार (सत्ताध ारियों) की तहरीस-व-तरतीब (प्रलोभपूर्ण संगठन) का शिकार न हो जाएं। मगर हुआ क्या? हिन्दुओं ने पहले इस बुनियाद पर फावड़ा चलाया और यह हजरात दलीलें कैसी पेश करते हैं ! कोई कहता है हिन्दू अपने तईं मजबूत बना रहे हैं और मुसलमानों को खुश होना चाहिए कि उनके बिरदराने-वतन में मुकाबले और मुजादले (लड़ाई) को कुव्वत पैदा हो रही है। इस अक्ल पर आंसू बहाने के सिवा और क्या किया जा सकता है? एक भाई को दूसरे भाई का गला घोंटकर मुकाबले का सबक सिखाया जा रहा है? इस पहलू से देखा जाए तो हमें हिन्दुस्तानियों से ज्यादा हमासिफत (सर्वगुण-संपन्न) मौसूफ (प्रशंसित) और कोई कौम नजर न आएगी, क्योंकि यहां हर एक घर का एक अखाड़ा है और वहां भाई-भाई, बाप बेटे मुकाबले और मुजादले (लड़ाई) की मश्क (कोशिश) कर रहे हैं। हमसे ज्यादा खुशनसीब और कौन होगा?

दुनिया में सबसे खौफनाक काम मजहबी तास्सुबात (धार्मिक मदांधता) को बरअंगेख्त करना (उकसाना) है। यहां तक कि सल्तनतें भी इस दायरे में कदम रखने की जुर्रत नहीं करतीं, मगर हिन्दुओं की दिलेर कौम इस वक्त शुजात (बहादुरी) के जोश में किसी रुकावट की परवा नहीं करती। कोई मार्शल लॉ और सख्त से सख्त जबरी कवानीन (दमनकारी कानून) इतने मोहलिक (नाशक) नहीं हो सकते, जितने बरअंगेख्ता तास्सुबात। इससे मस्तूरात (स्त्रियों) को बाहर निकालना मुश्किल हो जायगा। अमृतसर में एक हिन्दू लड़की की बेहुर्मती (बेइज्जती) ने कितनी जानें हलाक कीं। ऐसे हादसे रोज ही वुकूअ (घटित, दुर्घटना के रूप) में आते रहेंगे और इस तरह रोज ही खून-खराबा होता रहेगा। अगर इस बाहमी जंग-व-जदल से कोई तीसरी पार्टी फायदा न उठाने वाली होती और हिन्दुओं और मुसलमानों ही के शिकस्त और फतेह पर मसले का दारोमदार होता तो एक फरीक (पक्ष, दल) दूसरे पर गालिब (प्रबल, विजेता) आकर अपने तईं मुबारकबादी का मुस्तहक (पात्र, योग्य) समझ सकता था, लेकिन जब हम देख रहे हैं कि इस किस्म के इख्तिलाफात (मतभेद) हमारी गुलामी की जंजीरों को और मजबूत किए देते हैं तो करीने-कयास (ज्ञानगम्य) नहीं मालूम होता। क्योंकर कोई फहमीदा (बुद्धिमान) शख्स इन हालात को मुतमइन (निश्चिंत) नजरों से देख सकता है? हमारे बाहमी इत्तिफाक ने दुश्मनों के पित्ते पानी कर दिए थे। इतना अहम

(महत्त्वपूर्ण) होते हुए भी यह हमारी कौमी किलाबंदी का नाजुकतरीन पहलू था। हरीफ (शत्रु) इसी मुकाम (स्थान) पर अपनी मर्कजी (केन्द्रीय) ताकत का असर डालना चाहता था और हमारी नामाल-अंदेशी (अदूरदर्शिता) और कोताहनजरों (संकीर्ण दृष्टि) के बाइस उसकी कोशिशें कामयाब हो गईं।

हम शुद्धि के हामियों से पूछते हैं क्या हिन्दुओं को मुस्तहकम (शक्तिशाली) बनाने का यही एक वसीला (उपाय) है? उनको क्यों नहीं अपनाते, जिनके अपनाने से हिन्दू कौम को असली कुव्वत हासिल होगी। करोड़ों अछूत ईसाइयों के दामन में पनाह लेते चले जाते हैं। उन्हें क्यों नहीं गले से लगाते? अगर आप कौम के सच्चे खैरख्वाह हैं तो उन अछूतों को उठायें, इन पामालों (पद-दलितों) के जख्म पर मरहम रखें। उनमें तालीम और तहजीब की रोशनी पहुंचायें, आला (ऊंच) और अदना (नीच) की कैदों को मिटायें। छूतछात की बेमाना (अर्थहीन) और मुहमिल (निरर्थक) कैदों से कौम को पाक कीजिए। क्या हमारी रासिखुल-एतिकाद (अटल धर्मविश्वासी), मजहबी जमातें डोमों और चमारों से बिरादराना मसावात (समानता) करने के लिए तैयार हैं? अगर नहीं हैं तो उनकी शीराजाबंदी (संगठन, जोड़ने) का दावा बातिल (झूठा) है। आप या तो हुक्काम की रेशादवानियों (गुप्त कोशिशों) के शिकार हो गए हैं, या मजहबी तंगनजरी ने आपकी बिसारत (दृष्टि) को गायब कर दिया है। आपको वाजे (स्पष्ट) हो कि मुसलमानों से दुश्मनी करे अपने पहलू में कांटे बोके आप अपनी कौम को मजबूत नहीं कर रहे हैं। आप मुसलमानों को जबरन कहरन हुकमुरा कौम की मदद लेने के लिए मजबूर कर रहे हैं। आप अपनी तलवार मुकाबिल (प्रतिद्वंद्वी) के हाथ में दे रहे हैं। आपका खुदा ही हाफिज है। फिर भी क्या खबर है कि जिन मुसलमानों या बरायेनाम मुसलमानों को पाक करने के लिए आप सारी कौम को तबाही की तरफ लिए जा रहे हैं, वह हमेशा हिन्दू-दामन से बाबस्ता (बंधे) रहेंगे? कम-अज-कम (कम-से-कम) साबिकेतजर्बात (विगत अनुभव) तो इस इस्तिक्लाल (मजबूती, दृढ़ता) की शहादत (गवाही) नहीं देते, और समाज ने जितने मारके की शुद्धियां कीं, हर मौके पर धोखा खाया। धर्मपाल, धर्मवीर व गैरअहम (महत्त्वहीन) सब के सब आज फिर मुसलमान हैं, तो कौन यह कहने की जुर्अत कर सकता है कि मल्काने राजपूत इस नयी मेहमानी का लुत्फ उठाने के बाद अपने घर की तरफ रुख न करेंगे? हमको शक है कि इस जोश-व-खरोश के बाद जब इन हिन्दुओं को हिन्दू सोसाइटी से कमाहका (पूर्णतः) वाकफियत होगी, वे देखेंगे कि हमको शुद्धि से कोई खास फायदा नहीं हासिल हुआ—हमारे साथ अब भी वही छूतछात जारी है। हमारी औलादों की शादियों में अब और भी ज्यादा रुकावटें पैदा हो गयी हैं, तो मुतनफ्फिर (घृणा करने वाला) होकर फिर इस्लाम का दरवाजा खटखटायेंगे। मुस्लिम सरबरावर्द गाने कौम (कौम के प्रतिष्ठित व्यक्ति) की पॉलिसी की जितनी मद्‌हा (प्रशंसा) व सिताइश (तारीफ) की जाय, वह कम है। वह मोतरिफ (स्वीकार करने वाला) है कि हिन्दुओं को अपनी मजहबी तब्लीग का कामिल (संपूर्ण) इस्तेहकाक (अधिकार) है, लेकिन जब यह तब्लीग इन्फिरादी (व्यक्तिगत) हैसियत से गुजरकर मजमूई (सामूहिक) सूरत इख्तियार कर लेती है, जब अखबारों में उसके

जोर और तरक्की की खुश-आइंद (प्रिय) खबरें शाया (प्रकाशित) होती हैं, मुबारकबाद दी जाती हैं, चंदे होते हैं, वालण्टिर जमा किये जाते हैं, एक बाकायदा शुद्धिकैंप खोल दिया जाता है तो सूरते-हाल तब्दील हो जाती हैं और उनका यह कौल बिल्कुल सही है।

जमींदारों और काश्तकारों में जाबजा (जगह-जगह) बदमगजिगयां होती रहती हैं, उनका शुमार मुल्क के मामूली वाकेआत में किया जाता है। इस तरफ किसी की तवज्जो नहीं होती, लेकिन अगर यही बदमजगियां ज्यादा इज्तिमाई (सामूहिक) सूरत इख्तियार कर लें, किसानों के छत्ते कायम हो जायें, उधर जमींदारों की टोलियां बन जायें और आपस में बाकायदा जंग छिड़ जाय, तो सारे मुल्क में बावैला (हाहाकार) मच जायेगा।

बड़े शद्दोमद (जोर-शोर) के साथ कहा जाता है कि मल्काना तो दरअसल हिन्दु हैं। इन्हें मुसलमान समझना ही गलती है। वह हिन्दु नाम रखते हैं, हिन्दु देवताओं की पूजा करते हैं, शादियों में पुरोहितों को बुलाते हैं। सिर्फ मुर्दे दफन करते हैं और खतना कराते हैं, इसलिए उन्हें फिर हिन्दू दायरे में लेकर हम मुसलमानों पर कोई ज्यादती नहीं कर रहे हैं। मगर सवाल तो यह है कि अब तक मल्कानों का शुमार मर्दुमशुमारी के कागजात में किस जैल (समुदाय) में होता था? हिन्दुओं में या मुसलमानों में? जब यह जाहिर है कि वे मुसलमान शुमार किये जाते हैं तो उन्हें तब्दीले मजहब पर आमादा करना यकीनन मुसलमानों की आदादी-कुव्वत (संख्या की शक्ति) को जरर (आघात, हानि) पहुंचाना है। हिन्दुओं में कितने ही ऐसे फिरके हैं जो इस्लामी रस्मोरिवाज की पाबंदी करते हैं, पांचों पीरों की परस्तिश (पूजा) करते हैं, सैयद गाजी के मजार पर सिजदे करते हैं, ताजियों को शर्बत चढ़ाते हैं, मुहर्रम में सब्ज कपड़े पहनकर निकलते हैं। अगर इसी दलील पर आज वे सबके सब मुसलमान हो जायं तो क्या हिन्दू यह खयाल करके अपने को तस्कीन दे लेंगे कि वह तो बराएनाम हिन्दू थे? हिन्दुओं में ऐसे फिरके मौजूद हैं जो गायकुशी (गो-हत्या) करते हैं, मुसलमानों के घर के जूठे टुकड़े खाते हैं, मगर आज उनके मुसलपान होने की खबर पाकर हिन्दू जामे से बाहर हो जायेंगे। इसीलिए न कि इससे उनकी तादादी कुव्वते मारिज (संख्या-शक्ति के दौरान) खतरे में आती है। यह भी एक हुज्जत (दलील) पेश की जाती है कि मल्काने खुद-बखुद दस्तबस्ता (हाथ जोड़े) इल्तिजा कर रहे हैं कि हम हिन्दू बिरादरी में दाखिल कीजिए, हम अब मुसलमान नहीं रहना चाहते। माना, मगर क्या अब तक मल्काने सोते थे या आज किसी मोजिज (पैगम्बरी चमत्कार) से उनकी मजहबी इरादत (श्रद्धा) हिन्दुओं के तरफ मुन्तकिल (स्थानान्तरित) हो गयी है? कोई तहरीक (आन्दोलन) बिला खर्जी (बाहरी) तहरीक और इश्तिआल (उत्तेजना) के आलमगीर (विश्वव्यापी) नहीं हुआ करती। नमक ही इजाफाए-महसूल (कर-वृद्धि) को ले लीजिए। सियासी और बाखबर हलकों में इस पर जिस कदर चूनोचरा (वाद विवाद) हो रही है, इसके अस्रे-अशीर (छोटा हिस्सा) भी गरीब देहातियों में नहीं है, जिन पर इस इजाफे का बार (भार) पड़ेगा। अवाम में इश्तिआल (उत्तेजना) पैदा करने से होता है। यह शुद्धि की तहरीक भी इसी किस्म की है। शुद्धि के हामियों

ने महीनों और बरसों से यह तैयारी की होगी, ढेले तोड़े होंगे, ककर चुने होंगे, पानी से सेराब करके ढेलों को नरम किया होगा, तब जाकर अब तुख्मरेजी (बीजारोपण) का मौका आया है। इस किस्म की दलीलें पेश करना अपने को तूदए-तजहीक (हंसी का पात्र) बनाना है।

समझ में नहीं आता कि यह तहरीक इस खाम मौके पर क्यों जारी की गयी। मुसलमानों के दिल में यह शक पैदा होना फितरी (प्राकृतिक) है कि उन्हें बुलाकर, उन्हें दोस्त बनाकर तो यह बगली घूंसा नहीं लगाया जा रहा है? जब तक उनसे चशमक (विरोध) था, रकीबाना मुखालफत (शत्रु-सा विरोध) का हंगामा गर्म था, तब तक हिन्दुओं को यह तहरीक जारी करने की हिम्मत न पड़ी। अब जब उनसे बिरादराना इत्तहाद कायम होना शुरू हुआ तो हिन्दुओं को उनकी जानिब से कोई अन्देशा नहीं रहा। यह सवाल हरएक मुसलमान के दिल में कुदरती तौर पर पैदा होता है, और इसे मनतको (तर्क की) इन्तिहा (सीमा) तक ले जाने उसे गुमान होता है कि कहीं ये सब दिलजोइयां (दिल-बहलावे) और तलत्तुफ-आमेजियां (आनंद देना, मेहरबानियां), यह इत्तिहाद और इर्तिबात (मैत्री) हमें सुफए-हिन्द (हिन्दुस्तान की भूमि) से मिटाने का पेशखेमा (पूर्व-षड्यंत्र) तो नहीं हैं? इस गुमान का इजाला (निवारण) क्यों कर किया जाये? दलीलों से इसका इजाला नहीं होता। जब हामियाने-शुद्धि (शुद्धि के समर्थक) यह कहते हैं कि हम इस तहरीक से दस्तबरदार (विरक्त) नहीं होंगे, चाहे इसके नताइज (परिणाम) कितने ही नाखुशगवार क्यों न हों, हम तकदीर की-सी सबात स्थिरता के साथ खामोशी से मवानेआत (रुकावटों) को मुत्लक (बिल्कुल) परवाह न करके इस तहरीक (आंदोलन) को जारी रखेंगे तो ऐसी हालत में इस गुमान का इजाला होना तो दूर रहा, वह और वासिक (दृढ़) होता जाता है। यह सबात (स्थिरता) और अज्म (श्रेष्ठता) किसी ज्यादा कारामद (उपयोगी) तहरीक के लिए मौजूं (उचित) था।

शुद्धि के हामियों से तो अब हमें ज्यादा माकूलपसंदी की उम्मीद नहीं, उन्हें मजहबी जुनून ने अजकार रफ्ता (बेकार, नामर्द) कर रखा है। मगर हम हिन्दू कौम से पूछते हैं, अब ऐसी हालत में शुद्धि तहरीक के मुताल्लिक आप क्या तर्जेअमल (कार्यविधि) इख्तियार करना चाहते हैं? क्या आप उसके हामियों की दामे-दिरमे (रुपये-पैसे से), सुखने (जबान से) इमदाद देकर हमेशा के लिए हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद या दूसरे लफ्जों में स्वराज्य और कौमी हुकूमत से दस्तबरदार (विरक्त) होना चाहते हैं या अपनी जुबानी और अमली हमदर्दी को इस तहरीक से अलग करके इस इत्तहाद को कायम रखना चाहते हैं? इतने दिनों में बहुत-कुछ नुकसान हो चुका है। जब्त व तहम्मुल (सहिष्णुता) की रस्सियां तन गयी हैं और घर में बड़ी सेंध पड़ गयी है, लेकिन अगर आप अब भी चौंके तो इसकी नुकसान-तलाफी (क्षतिपूर्ति) हो सकती है। जब्तो-तहम्मुल की रस्सियां फिर ढीली हो सकती हैं और चोर सेंध के दरवाजे से भाग सकता है। यही मौका आपके जागने का है, यही मौका आपकी आने वाली तबाही से बचने का है। एक झपकी और ले ली, सहलंगारी (काहिली) से घाट पर पड़े रहे, तो फिर भागना बेसूद (निष्फल) है, क्योंकि उस वक्त आपका सब-कुछ

गायब हो चुका होगा। हिन्दुओं की मजहबी रवादारी (सहृदयता, उदारता) मशहूर है। मजहबी मजाहेमत उनके यहां ममनूअ (निषिद्ध) है। यह मौका कि हम इस रवादारी (सहृदयता) का इजहार (प्रकट) करें, और फिर पछताना और हाथ मलना बेसूद (व्यर्थ) होगा।

[उर्दू लेख। उर्दू मासिक पत्रिका 'ज़माना', मई, 1923 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कर्बला-I

हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद कुछ ऐसी परिस्थिति हुई कि खिलाफत का पद उनके चचेरे भाई और दामाद हजरत अली को न मिलकर उमर फारूक को मिला। हजरत मुहम्मद ने स्वयं ही व्यवस्था की थी कि खलीफा सर्व-सम्मति से चुना जाया करे, और सर्व-सम्मति से उमर फारूक चुने गए। उनके बाद अबूबकर चुने गए। अबूबकर के बाद यह पद उसमान को मिला। उसमान अपने कुटुंब वालों के साथ पक्षपात करते थे, और उच्च राजकीय पद उन्हीं को दे रखे थे। उनकी इस अनीति से बिगड़कर कुछ लोगों ने उनकी हत्या कर डाली। उसमान के संबंधियों को संदेह हुआ कि यह हत्या हजरत अली की ही प्रेरणा से हुई है। अतएव उसमान के बाद अली खलीफा तो हुए, किंतु उसमान के एक आत्मीय संबंधी ने, जिसका नाम मुआबिया था, और जो शाम-प्रांत का सूबेदार था, अली के हाथों पर बैयत न की, अर्थात् अली को खलीफा नहीं स्वीकार किया । अली ने मुआबिया को दंड देने के लिए सेना नियुक्त की। लड़ाइयां हुईं, किंतु पांच वर्ष की लगातार लड़ाई के बाद अंत को मुआबिया की ही विजय हुई। हजरत अली अपने प्रतिद्वंद्वी के समान कूटनीतिज्ञ न थे। वह अभी मुआबिया को दबाने के लिए एक नई सेना संगठित करने की चिंता में ही थे कि एक हत्यारे ने उनका वध कर डाला।

मुआबिया ने घोषणा की थी कि अपने बाद मैं अपने पुत्र को खलीफा नामजद न करूंगा, वरन् हजरत अली के ज्येष्ठ पुत्र हसन को खलीफा बनाऊंगा। किंतु जब इसका अंत-काल निकट आया, तो उसने अपने पुत्र यजीद को खलीफा बना दिया। हसन इसके पहले ही मर चुके थे। उनके छोटे भाई हजरत हुसैन खिलाफत के उम्मीदवार थे, किंतु मुआबिया ने यजीद को अपना उत्तराधिकारी बनाकर हुसैन को निराश कर दिया।

खलीफा हो जाने के बाद यजीद को सबसे अधिक भय हुसैन का था, क्योंकि वह हजरत अली के बेटे और हजरत मुहम्मद के नवासे (दौहित्र) थे। उनकी माता का नाम फातिमा जोहरा था, जो मुस्लिम विदुषियों में सबसे श्रेष्ठ थीं। हुसैन बड़े विद्वान्, सच्चरित्र, शांत-प्रकृति, नम्र, सहिष्णु, ज्ञानी, उदार और धार्मिक पुरुष थे। वह वीर थे, ऐसे वीर कि अरब में कोई उनकी समता का न था। किंतु वह राजनीतिक छल-प्रपंच और कुत्सित व्यवहारों से अपरिचित थे। यजीद इन सब बातों में निपुण था। उसने अपने पिता अमीर मुआबिया से कूटनीति की शिक्षा पायी थी। उसके गोत्र

(कबीले) के सब लोग कूटनीति के पंडित थे। धर्म को वे केवल स्वार्थ का एक साधन समझते थे। भोग-विलास और ऐश्वर्य का उनको चस्का पड़ चुका था। ऐसे भोग-लिप्सु प्राणियों के सामने सत्यव्रती हुसैन की भला कब चल सकती थी, और चली भी नहीं।

यजीद ने मदीने के सूबेदार को लिखा कि तुम हुसैन से मेरे नाम पर बैयत, अर्थात् उनसे मेरे खलीफा होने की शपथ लो। मतलब यह कि वह गुप्त रीति से उन्हें कत्ल करने का षड्यंत्र रचने लगा। हुसैन ने बैयत लेने से इनकार किया। यजीद ने समझ लिया कि हुसैन बगावत करना चाहते हैं, अतएव वह उनसे लड़ने के लिए शक्ति-संचय करने लगा। कूफा-प्रांत के लोगों को हुसैन से प्रेम था। वे उन्हीं को अपना खलीफा बनाने के पक्ष में थे। यजीद को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने कूफा के नेताओं को धमकाना और नाना प्रकार के कष्ट देना आरंभ किया। कूफा-निवासियों ने हुसैन के पास, जो उस समय मदीने से मक्के चले गए थे, संदेशा भेजा कि आप आकर हमें इस संकट से मुक्त कीजिए। हुसैन ने इस संदेश का कुछ उत्तर न दिया, क्योंकि वह राज्य के लिए खून बहाना नहीं चाहते थे। इधर कूफा में हुसैन के प्रेमियों की संख्या बढ़ने लगी। लोग उनके नाम पर बैयत करने लगे। थोड़े ही दिनों में इन लोगों की संख्या बीस हजार तक पहुंच गई। इस बीच में इन्होंने हुसैन की सेवा में दो संदेश भेजे, किंतु हुसैन ने उसका भी कुछ उत्तर नहीं दिया। अंत को कूफा वालों ने एक अत्यंत आग्रहपूर्ण पत्र लिखा, जिसमें हुसैन को हजरत मुहम्मद और दीन-इस्लाम के निहोरे अपनी सहायता करने को बुलाया। उन्होंने बहुत अनुनय-विनय के बाद लिखा था--"अगर आप न आए, तो कल कयामत के दिन अल्लाह-ताला के हुजूर में हम आप पर दावा करेंगे कि या इलाही, हुसैन ने हमारे ऊपर अत्याचार किया था, क्योंकि हमारे ऊपर अत्याचार होते देखकर वह खामोश बैठे रहे। और, सब लोग फरयाद करेंगें कि ऐ खुदा, हुसैन से हमारा बदला दिला दे। उस समय आप क्या जवाब देंगे और खुदा को क्या मुंह दिखायेंगे?"

धर्म-प्राण हुसैन ने जब यह पत्र पढ़ा, तो उसके रोएं खड़े हो गए, और उनका हृदय जल के समान तरल हो गया। उनके गालों पर धर्मानुराग के आंसू बहने लगे। उन्होंने तत्काल उन लोगों के नाम एक आश्वासन-पत्र लिखा–"मैं शीघ्र ही तुम्हारी सहायता को आऊंगा।" और अपने चचेरे भाई मुसलिम के हाथ उन्होंने यह पत्र कूफा वालों के पास भेज दिया।

मुसलिम मार्ग की कठिनाइयां झेलते हुए कूफा पहुंचे। उस समय कूफा का सूबेदार एक शांत पुरुष था। उसने लोगों को समझाया–"नगर में कोई उपद्रव न होने पाए। मैं उस समय तक किसी से न बोलूंगा, जब तक कोई मुझे क्लेश न पहुंचाएगा।"

जिस समय यजीद को मुसलिम के कूफा पहुंचने का समाचार मिला, तो उसने एक दूसरे सूबेदार को कूफा में नियुक्त किया जिसका नाम 'ओबैद बिन-जियाद' था। यह बड़ा निठुर और कुटिल प्रकृति का मनुष्य था। इसने आते-ही-आते कूफा में एक सभा की, जिसमें घोषणा की गई कि, "जो लोग यजीद के नाम पर बैयत लेंगे, उन पर खलीफा की कृपादृष्टि होगी, परंतु जो लोग हुसैन के नाम पर बैयत लेंगे,

उनके साथ किसी तरह की रियायत न की जाएगी। हम उसे सूली पर चढ़ा देंगे और उनकी जागीर या वृत्ति जब्त कर लेंगे।'' इस घोषणा ने यथेष्ठ प्रभाव डाला। कूफा वालों के हृदय कांप उठे। जियाद को वे भली-भांति जानते थे। उस दिन जब मुसलिम भी मसजिद में नमाज पढ़ाने के लिए खड़े हुए, तो किसी ने उनका साथ न दिया। जिन लोगों ने पहले हुसैन की सेवा में आवेदन-पत्र भेजा था, उनका कहीं पता न था। सभी के साहस छूट गए थे। मुसलिम ने एक बार कुछ लोगों की सहायता से जियाद को घेर लिया। किंतु जियाद ने अपने एक विश्वास-पात्र सेवक के मकान की छत पर चढ़कर लोगों को यह संदेशा दिया कि ''जो लोग यजीद की मदद करेंगे उन्हें जागीर दी जाएगी, और जो लोग बगावत करेंगे, उन्हें ऐसा दंड दिया जाएगा कि कोई उनके नाम को रोने वाला भी न रहेगा।'' नेतागण यह धमकी सुनकर दहल उठे और मुसलिम को छोड़-छोड़कर दस-दस, बीस-बीस आदमी विदा होने लगे। यहां तक कि मुसलिम वहां अकेला रह गया। विवश हो उसने एक वृद्धा के घर में शरण लेकर अपनी जान बचाई। दूसरे दिन जब ओबैदुल्लाह को मालूम हुआ कि मुसलिम अमुक वृद्धा के घर में छिपा है, तो उसने तीन सौ सिपाहियों को उसे गिरफ्तार करने के लिए भेजा। असहाय मुसलिम ने तलवार खींच ली, और शत्रुओं पर टूट पड़े। पर अकेले कर ही क्या सकते थे। थोड़ी देर में जख्मी होकर गिर पड़े। उस समय सूबेदार से उनकी जो बातें हुईं, उनसे विदित होता है कि वह कैसे वीर पुरुष थे। गवर्नर उनकी भय-शून्य बातों से और भी गरम हो गया। उसने उन्हें तुरंत कत्ल करा दिया।

हुसैन, अपने पूज्य पिता की भांति, साधुओं का-सा सरल जीवन व्यतीत करने के लिए बनाए गए थे। कोई चतुर मनुष्य होता, तो उस समय दुर्गम पहाड़ियों में जा छिपता, और यमन के प्राकृतिक दुर्गों में बैठकर चारों ओर से सेना एकत्र करता। देश में उनका जितना मान था, और लोगों को उन पर जितनी भक्ति थी, उसके देखते बीस-पच्चीस हजार सेना एकत्र कर लेना उनके लिए कठिन न था। किंतु वह अपने को पहले ही से हारा हुआ समझने लगे। यह सोचकर वह कहीं भागते न थे। उन्हें भय था कि शत्रु मुझे अवश्य खोज लेगा। वह सेना जमा करने का भी प्रयत्न न करते थे। यहां तक कि जो लोग उनके साथ थे, उन्हें भी अपने पास से चले जाने की सलाह देते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि मैं खलीफा बनना चाहता हूं। वह सदैव यही कहते रहे कि मुझे लौट जाने दो, मैं किसी से लड़ाई नहीं करना चाहता। उनकी आत्मा इतनी उच्च थी कि वह सांसारिक राज्य-भोग के लिए संग्राम-क्षेत्र में उतरकर उसको कलुषित नहीं करना चाहते थे। उनके जीवन का उद्देश्य आत्म-शुद्धि और धार्मिक जीवन था। वह कूफा में जाने को इसलिए सहमत नहीं हुए थे कि वहां खिलाफत स्थापित करें बल्कि इसलिए कि वह अपने सहधर्मियों की विपत्ति को देख न सकते थे। वह कूफा जाते समय अपने सब संबंधियों से स्पष्ट शब्दों में कह गए थे कि मैं शहीद होने जा रहा हूं। यहां तक कि वह एक स्वप्न का भी उल्लेख करते थे, जिसमें उनके नाना ने उनको स्वर्ग आने का निमंत्रण दिया था, और वह उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनकी टेक केवल यह थी कि

मैं यजीद के नाम पर बैयत न करूंगा। इसका कारण यही था कि यजीद मद्यप, व्यभिचारी और इस्लाम-धर्म के नियमों का पालन न करने वाला था। यदि यजीद ने उनकी हत्या कराने की चेष्टा न की होती, तो वह शांतिपूर्वक मदीने में जीवन-भर पड़े रहते। पर समस्या यह थी कि उनके जीवित रहते हुए यजीद को अपना स्थान सुरक्षित नहीं मालूम हो सकता था। उसके निष्कंटक राज्य-भोग के लिए हुसैन का उसके मार्ग से सदा के लिए हट जाना आवश्यक था। और इस हेतु कि खिलाफत एक धर्म-प्रधान संस्था थी, अत: यजीद को हुसैन के रण-क्षेत्र में आने का उतना भय न था, जितना उनके शांति-सेवन का। क्योंकि शांति-सेवन से जनता पर उनका प्रभाव बढ़ता जाता था। इसीलिए यजीद ने यह भी कहा था कि हुसैन का केवल उसके नाम पर बैयत लेना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें उसके दरबार में भी आना चाहिए। यजीद को उनकी बैयत पर विश्वास न था। वह उन्हें किसी भांति अपने दरबार में बुलाकर उनकी जीवन-लीला को समाप्त कर देना चाहता था। इसलिए यह धारणा कि हुसैन अपनी खिलाफत कायम करने के लिए कूफा गए, निर्मूल सिद्ध होती है। वह कूफा इसीलिए गए कि अत्याचारपीड़ित कूफा-निवासियों की सहायता करें। उन्हें प्राण-रक्षा के लिए कोई जगह दिखाई न देती थी। यदि वह खिलाफत के उद्देश्य से कूफा जाते, तो अपने कुटुंब के केवल बहत्तर प्राणियों के साथ न जाते, जिनमें बाल-वृद्ध सभी थे। कूफा वालों पर कितना ही विश्वास होने पर भी वह अपने साथ अधिक मनुष्यों को लाने का प्रयत्न करते। इसके सिवा उन्हें यह बात पहले से ज्ञात थी कि कूफा के लोग अपने वचनों पर दृढ़ रहने वाले नहीं हैं। उन्हें कई बार इसका प्रमाण भी मिल चुका था कि थोड़े-से प्रलोभन पर भी वे अपने वचनों से विमुख हो जाते हैं। हुसैन के इष्ट-मित्रों ने उनका ध्यान कूफा वालों की इस दुर्बलता की ओर खींचा भी, पर हुसैन ने उनकी सलाह न मानी। वह सहादत का प्याला पीने के लिए, अपने को धर्म की वेदी पर बलि देने के लिए, विकल हो रहे थे। इससे हितैषियों के मना करने पर भी वह कूफा चले गए। दैव-संयोग से यह तिथि वही थी। जिस दिन कूफा में मुसलिम शहीद हुए थे। अट्ठारह दिन की कठिन यात्रा के बाद वह 'नाहनेवा' के समीप, कर्बला के मैदान में पहुंचे, जो फरात नदी के किनारे था। इस मैदान में न कोई बस्ती थी, न कोई वृक्ष। कूफा के गवर्नर की आज्ञा से वह इसी निर्जन और निर्जल स्थान में डेरे डालने को विवश किए गए।

शत्रुओं की सेना हुसैन के पीछे-पीछे मक्के से ही आ रही थी। और सेनाएं भी चारों ओर फैला दी गई थीं कि हुसैन किसी गुप्त मार्ग से कूफा न पहुंच जाएं। कर्बला पहुंचने के एक दिन पहले उन्हें हुर की सेना मिली। हुसैन ने हुर को बुलाकर पूछा, "तुम मेरे पक्ष में हो या, या विपक्ष में?" हुर ने कहा, "मैं आपसे लड़ने के लिए भेजा गया हूं।" जब तीसरा पहर हुआ, तो हुसैन नमाज पढ़ने के लिए खड़े हुए, और उन्होंने हुर से पूछा-"तू क्या मेरे पीछे खड़ा होकर नमाज पढ़ेगा?" हुर ने हुसैन के पीछे खड़े होकर नमाज पढ़ना स्वीकार किया। हुसैन ने अपने साथियों के साथ हुर की सेना को भी नमाज पढ़ाई। हुर ने यजीद की बैयत ली थी। पर वह सद्विचारशील पुरुष था। हजरत मुहम्मद के नवासे से लड़ने में उसे संकोच होता

था। वह बड़े धर्म-संकट में पड़ा। वह सच्चे हृदय से चाहता था कि हुसैन मक्का लौट जायं। प्रकट रूप से तो हुसैन को ओबैदुल्लाह के पास ले चलने की धमकी देता था, पर हृदय से उन्हें अपने हाथों कोई हानि नहीं पहुंचाना चाहता था। उसने खुले हुए शब्दों में हुसैन से कहा-"यदि मुझसे कोई ऐसा अनुचित कार्य हो गया, जिससे आपको कोई कष्ट पहुंचा, तो मेरे लोक और परलोक, दोनों ही बिगड़ जाएंगे। और यदि मैं आपको ओबैदुल्लाह के पास न ले जाऊं, तो कूफा में नहीं घुस सकता। हां, संसार विस्तृत है, कयामत के दिन आपके नाना की कृपादृष्टि से वंचित होने की अपेक्षा यही कहीं अच्छा है कि किसी दूसरी ओर निकल जाऊं। आप मुख्य मार्ग को छोड़कर किसी अज्ञात मार्ग से कहीं और चले जाएं। मैं कूफा के गवर्नर (अर्थात् 'आमिल') को लिख दूंगा कि हुसैन से मेरी भेंट नहीं हुई, वह किसी दूसरी ओर चले गए। मैं आपको कसम दिलाता हूं कि अपने ऊपर दया कीजिए, और कूफा न जाइए।" पर हुसैन ने कहा-"तुम मुझे मौत से डराते हो? मैं तो शहीद होने के लिए ही चला हूं।" उस समय यदि हुसैन हुर की सेना पर आक्रमण करते, तो संभव था, उसे परास्त कर देते, पर अपने इष्ट-मित्रों के अनुरोध करने पर भी उन्होंने यही कहा-"हम लड़ाई के मैदान में अग्रसर न होंगे, यह हमारी नीति के विरुद्ध है।" इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि हुसैन को अब अपनी आत्मरक्षा का कोई उपाय न सूझता था। उनमें साधुओं का-सा संतोष था, पर योद्धाओं का-सा धैर्य न था, जो कठिन-से-कठिन समय पर भी कष्ट-निवारण का उपाय निकाल लेते हैं। उनमें महात्मा गांधी का-सा आत्मसमर्पण था, किंतु शिवाजी की दूरदर्शिता न थी।

इधर हुसैन और उनके आत्मीय तथा सहायकगण तो अपने-अपने खीमे गाड़ रहे थे, और उधर ओबैदुल्लाह-कूफा का गवर्नर-लड़ाई की तैयारी कर रहा था। उसने 'उमर-बिन-साद' नाम के एक योद्धा को बुलाकर हुसैन की हत्या करने के लिए नियुक्त किया, और इसके बदले में 'रै' सूबे के आमिल का उच्च पद देने को कहा। उमर-बिन-साद विवेक-हीन प्राणी न था। वह भली-भांति जानता था कि 'हुसैन की हत्या करने से मेरे मुख पर ऐसी कालिमा लग जाएगी, किंतु 'रै' सूबे का उच्च पद उसे असमंजस में डाले हुए था। उसके संबंधियों ने समझाया-"तुम हुसैन की हत्या करने का बीड़ा न उठाओ, इसका परिणाम अच्छा न होगा।" उमर ने जाकर ओबैदुल्लाह से कहा-"मेरे सिर पर हुसैन के वध का भार न रखिए।" परंतु 'रै' की गवर्नरी छोड़ने को वह तैयार न हो सका। अतएव अब ओबैदुल्लाह ने साफ-साफ कह दिया कि 'रै' का उच्च पद हुसैन की हत्या किए बिना नहीं मिल सकता। यदि तुम्हें यह सौदा महंगा जंचता हो, तो कोई जबरदस्ती नहीं है। किसी और को यह पद दिया जाएगा।" तो उमर का आसन डोल गया। वह इस निषिद्ध कार्य के लिए तैयार हो गया। उसने अपनी आत्मा को ऐश्वर्य-लालसा के हाथ बेच दिया। ओबैदुल्लाह ने प्रसन्न होकर उसे बहुत कुछ इनाम-इकराम दिया, और चार हजार सैनिक उसके साथ नियुक्त कर दिए। उमर-बिन-साद की आत्मा अब भी उसे क्षुब्ध करती रही। वह सारी रात पड़ा अपनी अवस्था या दुरवस्था पर विचार करता रहा। वह जिस विचार से देखता, उसी से अपना यह कर्म घृणित जान पड़ता था। प्रातःकाल वह फिर कूफा के गवर्नर

के पास गया। उसने फिर अपनी लाचारी दिखाई। परंतु 'रै' की सूबेदारी ने उस पर फिर विजय पाई। जब वह चलने लगा, तो ओबैदुल्लाह ने उसे कड़ी ताकीद कर दी कि हुसैन और उनके साथी फरात नदी के समीप किसी तरह न आने पाएं, और एक घूंट पानी भी न पी सकें। हुर की एक हजार सेना भी उमर के साथ आ मिली। इस प्रकार उमर के साथ पांच हजार सैनिक हो गए। उमर अब भी यही चाहता था कि हुसैन के साथ लड़ना न पड़े। उसने एक दूत उनके पास भेज कर पूछा–"आप अब क्या निश्चय करते हैं?" हुसैन ने कहा–"कूफावालों ने मुझसे दगा की है। उन्होंने अपने कष्ट की कथा कहकर मुझे यहां बुलाया, और अब वह मेरे शत्रु हो गए हैं। ऐसी दशा में मक्के लौट जाना चाहता हूं, यदि मुझे जबरदस्ती रोका न जाय।" उमर मन में प्रसन्न हुआ कि शायद अब कलंक से बच जाऊं। उसने यह समाचार तुरंत ओबैदुल्लाह को लिख भेजा। किंतु वहां तो हुसैन की हत्या करने का निश्चय हो चुका था। उसने उमर को उत्तर दिया–"हुसैन से बैयत लो, और यदि वह इस पर राजी न हों, तो मेरे पास लाओ।"

शत्रुओं को, इतनी सेना जमा कर लेने पर भी, सहसा हुसैन पर आक्रमण करते डर लगता था, कि कहीं जनता में उपद्रव न मच जाए। इसलिए इधर तो उमर-बिन-साद कर्बला का चला और उधर ओबैदुल्लाह ने कूफा की जामामस्जिद में लोगों को जमा किया। उसने एक व्याख्यान देकर उन्हें समझाया–"यजीद के खानदान ने तुम लोगों पर कितना न्याय-युक्त शासन किया है, और वे तुम्हारे साथ कितनी उदारता से पेश आए हैं। यजीद ने अपने सुशासन से देश को कितना समृद्धिपूर्ण बना दिया है। रास्ते में अब चोरों और लुटेरों का कोई खटका नहीं है। न्यायालयों में सच्चा, निष्पक्ष न्याय होता है। उसने कर्मचारियों के वेतन बढ़ा दिए हैं। राज भक्तों की जागीरें बढ़ा दी गई हैं। विद्रोहियों के कोट तरस-नहस कर दिए गए हैं, जिसमें वे तुम्हारी शांति में बाधक न हो सकें। तुम्हारे जीवन-निर्वाह के लिए उसने चिरस्थायी सुविधाएं दे रक्खी हैं। ये सब उनकी दयाशीलता और उदारता के प्रमाण हैं। यजीद ने मेरे नाम फरमान भेजा है कि मैं तुम्हारे ऊपर विशेष कृपादृष्टि करूं, और जिसे एक दीनार वृत्ति मिलती है, उनकी वृत्ति सौ दीनार कर दूं। इसी तरह वेतन में भी वृद्धि कर दूं। और तुम्हें उसके शत्रु हुसैन से लड़ने के लिए भेजूं। यदि तुम अपनी उन्नति और वृद्धि चाहते हो तो तुरंत तैयार हो जाओ। विलंब से काम बिगड़ जाएगा।"

यह व्याख्यान सुनते ही स्वार्थ के मतवाले नेता लोग, धर्माधर्म के विचार को तिलांजलि देकर, समर-भूमि में चलने की तैयारी करने लगे। 'शिमर' ने चार हजार सवार जमा किए, और वह बिन-साद से जा मिला। रिकाब ने दो हजार, हसीन ने चार हजार, मसायर ने तीन हजार और एक अन्य सरदार ने दो हजार योद्धा जमा किए। सब-के-सब दल-बल सजाकर कर्बला को चले। उमर-बिन-साद के पास अब पूरे बाईस सहस्र सैनिक हो गए। कैसी दिल्लगी है कि बहत्तर आदमियों को परास्त करने के लिए इतनी बड़ी सेना खड़ी हो जाए। उन बहत्तर आदमियों में भी कितने ही बालक और कितने ही वृद्ध थे। फिर प्यास ने सभी को अधमरा कर रखा था।

किंतु शत्रुओं ने अवस्था को भली-भांति समझकर यह तैयारी की थी। हुसैन की शक्ति न्याय और सत्य की शक्ति थी। यह यजीद और हुसैन का संग्राम न था। यह इस्लामी धार्मिक जन-सत्ता का पूर्व इस्लाम की राजसत्ता से संघर्ष था। हुसैन उन सब व्यवस्थाओं के पक्ष में थे, जिनका हजरत मोहम्मद द्वारा प्रादुर्भाव हुआ था। मगर यजीद उन सभी बातों का प्रतिपक्षी था। दैवयोग से इस समय अधर्म ने धर्म को पैरों-तले दबा लिया था; पर यह अवस्था एक क्षण में परिवर्तित हो सकती थी, और उसके लक्षण भी प्रकट होने लगे थे। बहुतेरे सैनिक जाने को तो चले जाते थे, परंतु अधर्म के विचार से सेना से भाग आते थे। जब ओबैदुल्लाह को यह बात मालूम हुई, तो उसने कई निरीक्षक नियुक्त किए। उनका काम यही था कि भागने वालों का पता लगाएं। कई सिपाही इस प्रकार जान से मार डाले गए। यह चाल ठीक पड़ी। भगोड़े भयभीत होकर फिर सेना में जा मिले।

इस संग्राम में सबसे घोर निर्दयता जो शत्रुओं ने हुसैन के साथ की, वह पानी का बंद कर देना था। ओबैदुल्लाह ने उमर को कड़ी ताकीद कर दी थी कि हुसैन के आदमी नदी के समीप न जाने पाएं। यहां तक कि वे कुएं खोदकर भी पानी न निकालने पाएं। एक सेना फरात-नदी की रक्षा करने के लिए भेज दी गई। उसने हुसैन की सेना और नदी के बीच में डेरा जमाया। नदी की ओर जाने का कोई रास्ता न रहा। थोड़े नहीं, छः हजार सिपाही नदी का पहरा दे रहे थे। हुसैन ने यह ढंग देखा, तो स्वयं इन सिपाहियों के सामने गए, और उन पर प्रभाव डालने की कोशिश की, पर उन पर कुछ असर न हुआ। लाचार होकर वह लौट आए। उस समय प्यास के मारे इनका कंठ सूखा जाता था, स्त्रियां और बच्चे बिलख रहे थे, किंतु उन पाषाण-हृदय पिशाचों को इन पर दया न आती थी।

शहीद होने के तीन दिन पहले हुसैन और अन्य प्राणी प्यास के मारे बेहोश हो गए। तब हुसैन ने अपने प्रिय बंधु अब्बास को बुलाकर, उन्हें बीस सवार तथा तीस पैदल देकर, उनसे कहा-''अपने साथ बीस मश्कें ले जाओ, और पानी से भर लाओ।'' अब्बास ने सहर्ष इस आदेश को स्वीकार किया। वह नदी के किनारे पहुंचे। पहरेदार ने पुकारा-''कौन है?'' इधर उस पहरेदार का एक भाई भी था। वह बोला-''मैं हूं, तेरे चाचा का बेटा। पानी पीने आया हूं।'' पहरेदार ने कहा-''पी ले।'' भाई ने उत्तर दिया-''कैसे पी लूं? जब हुसैन और उनके बाल-बच्चे प्यासे मर रहे हैं, तो मैं किस मुंह से पी लूं?'' पहरेदार ने कहा-''यह तो जानता हूं, पर करूं क्या, हुक्म से मजबूर हूं।'' अब्बास के आदमी मश्कें लेकर नदी की ओर चले गए और पानी भर लिया। रक्षक-दल ने इनको रोकने की चेष्टा की, पर ये लोग पानी लिए हुए बच निकले।

हुसैन ने अंतिम बार संधि करने का प्रयास किया। उन्होंने उमर-बिन-साद को संदेशा भेजा कि ''आज मुझसे रात को, दोनों सेनाओं के बीच में, मिलना।'' उमर निश्चित समय पर आया। हुसैन से उसकी बहुत देर तक एकांत में बातें हुईं। हुसैन ने संधि की तीन शर्तें बताईं-(1) या तो हम लोगों को मक्के वापस जाने दिया जाए, (2) या सीमा प्रांत की ओर शांतिपूर्वक चले जाने की अनुमति मिले, (3) या मैं

यजीद के पास भेज दिया जाऊं। उमर ने ओबैदुल्लाह को यह शुभ सूचना सुनाई, और वह उसे मानने के लिए तैयार भी मालूम होता था, किंतु शिमर ने जोर दिया कि दुश्मन चंगुल में आ फंसा है, तो इसे निकलने न दो, नहीं तो उसकी शक्ति इतनी बढ़ जाएगी कि तुम उसका सामना न कर सकोगे। उमर मजबूर हो गया।

मोहर्रम की नवीं तारीख को, अर्थात् हुसैन की शहादत से एक दिन पहले, कूफा के दिहातों से कुछ लोग हुसैन की सहायता करने आए। ओबैदुल्लाह को यह बात मालूम हुई, तो उसने उन आदमियों को भगा दिया, और उमर को लिखा–"अब तुरंत हुसैन पर आक्रमण करो, नहीं तो इस टालमटोल की तुम्हें सजा दी जाएगी।" फिर क्या था, प्रात:काल बाईस हजार योद्धाओं की सेना हुसैन से लड़ने चली। जुगुनू की चमक को बुझाने के लिए मेघ-मंडल का प्रकोप हुआ।

हुसैन को मालूम हुआ, तो वे घबराए। उन्हें यह अन्याय मालूम हुआ कि अपने साथ अपने साथियों और सहायकों के भी प्राणों की आहुति दें। उन्होंने इन लोगों को इसका एक अवसर देना उचित समझा कि वे चाहें, तो अपनी जान बचाएं, क्योंकि यजीद को उन लोगों से कोई शत्रुता न थी। इसलिए उन्होंने उमर-बिन-साद को पैगाम भेजा कि हमें एक रात के लिए मोहलत दो। उमर ने अन्य सेना-नायकों से परामर्श करके मोहलत द दी। तब हजरत हुसैन ने अपने समस्त सहायकों तथा परिवार वालों को बुलाकर कहा–"कल जरूर यह भूमि मेरे खून से लाल हो जाएगी। मैं तुम लोगों का हृदय से अनुगृहीत हूं कि तुमने मेरा साथ दिया। मैं अल्लाहताला से दुआ करता हूं कि वह तुम्हें इस नेकी का सवाब दे। तुमसे अधिक वीरात्मा और पवित्र हृदय वाले मनुष्य संसार में न होंगे। मैं तुम लोगों को सहर्ष आज्ञा देता हूं कि तुममें से जिसकी इच्छा हो, चला जाय, मैं किसी को दबाना नहीं चाहता, न किसी को मजबूर करता हूं। किंतु इतना अनुरोध अवश्य करूंगा कि तुममें से प्रत्येक मनुष्य मेरे आत्मीय जनों में से एक-एक को अपने साथ ले ले। संभव है, खुदा तुम्हें तबाही से बचा ले, क्योंकि शत्रु मेरे रुधिर का प्यासा है। मुझे पा जाने पर उसको और किसी की तलाश न होगी।"

यह कहकर उन्होंने इसलिए चिराग बुझा दिया कि जाने वालों को संकोचवश वहां न रहना पड़े। कितना महान् पवित्र और निस्वार्थ आत्मसमर्पण है।

किंतु इस वाक्य का समाप्त होना था कि सब लोग चिल्ला उठे–"हम ऐसा नहीं कर सकते। खुदा वह दिन न दिखाए कि हम आपके बाद जीते रहें। हम दूसरों को क्या मुंह दिखाएंगे? उनसे क्या यह कहेंगे कि हम अपने स्वामी, अपने बंधु तथा अपने इष्ट-मित्रों को शत्रुओं के बीच में छोड़ आए, उनके साथ एक भाला भी न चलाया, एक तलवार भी न चलाई। हम आपको अकेला छोड़कर कदापि नहीं जा सकते, हम अपने को, अपने धन को और अपने कुल को आपके चरणों पर न्योछावर कर देंगे।"

इस तरह नवीं तारीख, मोहर्रम की रात, आधी कटी। शेष रात्रि लोगों ने ईश्वर-प्रार्थना में काटी। हुसैन ने एक रात की मोहलत इसलिए नहीं ली थी कि समर की रही सही तैयारी पूरी कर लें। प्रात:काल तब सब लोग सिजदे करते और अपनी मुक्ति

के लिए दुआएं मांगते रहे।

प्रभात हुआ—वह प्रभात, जिसकी संसार के इतिहास में उपमा नहीं है। किसकी आंखों ने यह अलौकिक दृश्य देखा होगा कि बहत्तर आदमी बाईस हजार योद्धाओं के सम्मुख खड़े हुसैन के पीछे सुबह की नजाम इसलिए पढ़ रहे हैं कि अपने इमाम के पीछे नमाज पढ़ने का शायद अंतिम सौभाग्य है। वे कैसे रणधीर पुरुष हैं, जो मानते हैं कि एक क्षण में हम सब-के-सब इस आंधी में उड़ जाएंगे, लेकिन फिर भी पर्वत की भांति अचल खड़े हैं, मानो संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो उन्हें भयभीत कर सके। किसी के मुख पर चिंता नहीं है, कोई निराश और हताश नहीं है। युद्ध के उन्माद ने, अपने सच्चे स्वामी के प्रति अटल विश्वास ने, उनके मुख को तेजस्वी बना दिया है। किसी के हृदय में कोई अभिलाषा नहीं है। अगर कोई अभिलाषा है, तो यही कि कैसे अपने स्वामी की रक्षा करें। इसे सेना कौन कहेगा, जिसके दमन को बाईस हजार योद्धा एकत्र किए गए थे। इन बहत्तर प्राणियों में एक भी ऐसा न था, जो सर्वथा लड़ाई के योग्य हो। सब-के-सब भूख-प्यास से तड़प रहे थे। कितनों के शरीर पर तो मांस का नाम तक नहीं था, और उन्हें बिना ठोकर खाए दो पग चलना भी कठिन था। इस प्राण-पीड़ा के समय ये लोग उस सेना से लड़ने को तैयार थे, जिसमें अरब-देश के वे चुने हुए जवान थे, जिन पर अरब को गर्व हो सकता था।

उन दिनों समर की दो पद्धतियां थीं—एक तो सम्मिलित, जिसमें समस्त सेना मिलकर लड़ती थी, और दूसरी व्यक्तिगत, जिसमें दोनों दलों से एक-एक योद्धा निकलकर लड़ते थे। हुसैन के साथ इतने कम आदमी थे कि सम्मिलित संग्राम में शायद वह एक क्षण भी न ठहर सकते। अतः उनके लिए दूसरी शैली ही उपयुक्त थी। एक-एक करके योद्धागण समर-क्षेत्र में आने और शहीद होने लगे। लेकिन इसके पहले अंतिम बार हुसैन ने शत्रुओं से बड़ी ओजस्विनी भाषा में अपनी निर्दोषिता सिद्ध की। उनके अंतिम शब्द ये थे—

"खुदा की कसम, मैं पद-दलित और अपमानित होकर तुम्हारी शरण न जाऊंगा, और न मैं दासों की भांति लाचार होकर यजीद की खिलाफत को स्वीकार करूंगा। ऐ खुदा के बंदो! मैं खुदा से शांति का प्रार्थी हूं। और उन प्राणियों से, जिन्हें खुदा पर विश्वास नहीं है, जो गरूर में अंधे हो रहे हैं, पनाह मांगता हूं।"

शेष कथा आत्म-त्याग, प्राण-समर्पण, विशाल धैर्य और अविचल वीरता की अलौकिक और स्मरणीय गाथा है, जिसके कहने और सुनने से आंखों में आंसू उमड़ आते हैं, जिस पर रोते हुए लोगों को तेरह शताब्दियां बीत गईं, और अभी अनंत शताब्दियां रोते बीतेंगी।

हुर का जिक्र पहले आ चुका है। यह वही पुरुष है, जो पहले हजार सिपाहियों के साथ हुसैन के साथ-साथ आया था, और जिसने उन्हें इस निर्जल मरुभूमि पर ठहरने को मजबूर किया था। उसे अभी तक आशा थी कि शायद ओबैदुल्लाह हुसैन के साथ न्याय करे। किंतु जब उसने देखा कि लड़ाई छिड़ गई, और अब समझौते की कोई आशा नहीं है, तो अपने कृत्य पर लज्जित होकर वह हुसैन की सेना से

आ मिला। जब वह अनिश्चित भाव से अपने मोरचे से निकलकर हुसैन की सेना की ओर चला, तब उसी सेना के एक सिपाही ने कहा–"तुमको मैंने किसी लड़ाई में इस तरह कांपते हुए चलते नहीं देखा।"

हुर ने उत्तर दिया–"मैं स्वर्ग और नरक की दुविधा में पड़ा हुआ हूं, और सच यह है कि मैं स्वर्ग के सामने किसी चीज की हस्ती नहीं समझता, चाहे कोई मुझे मार डाले।"

यह कहकर उसने घोड़े के एड़ लगाई, और हुसैन के पास आ पहुंचा। हुसैन ने उसका अपराध क्षमा कर दिया, और उसे गले में लगाया। तब हुर ने अपनी सेना को संबोधित करके कहा–"तुम लोग हुसैन की शर्तें क्यों नहीं मानते? कितने खेद की बात है कि तुमने स्वयं उन्हें बुलाया, और जब वह तुम्हारी सहायता करने आए, तो तुम उन्हीं को मारने पर उद्यत हो गए। वह अपनी जान लेकर चले भी जाना चाहते हैं, किंतु तुम लोग उन्हें कहीं जाने भी नहीं देते? सबसे बड़ा अन्याय यह कर रहे हो कि उन्हें नदी से पानी नहीं लाने देते। जिस पानी को पशु और पक्षी तक पी सकते हैं, वह भी उन्हें मयस्सर नहीं।"

इस पर शत्रुओं ने उन पर तीरों की वर्षा कर दी, और हुर भी लड़ते हुए वीर-गति को प्राप्त हुए। उन्हीं के साथ उनका पुत्र भी शहीद हुआ।

आश्चर्य होता है कि दु:ख भी कि इतना सब कुछ हो जाने पर भी हुसैन को इन नर-पिशाचों से कुछ कल्याण की आशा बनी हुई थी। वह जब अवसर पाते थे, तभी अपनी निर्दोषिता प्रकट करते हुए उनसे आत्मरक्षा की प्रार्थना करते थे। दुराशा में भी यह आशा इसलिए थी कि वह हजरत मोहम्मद के नवासे थे, और उन्हें आशा होती थी कि शायद अब भी मैं उनके नाम पर इस कष्ट से मुक्त हो जाऊं। उनके इन सभी संभाषणों में आत्म-रक्षा की इतनी विषद चिंता व्याप्त है, जो दीन चाहे न हो, पर करुण अवश्य है, और एक आत्मदर्शी पुरुष के लिए, जो स्वर्ग में इससे कहीं उत्तम जीवन का स्वप्न देख रहा हो, जिसको अटल विश्वास हो कि स्वर्ग में हमारे लिए अकथनीय सुख उपस्थित है, शोभा नहीं देती। हुर ने शहीद होने के पश्चात् हुसैन ने फिर शत्रु-सेना के सम्मुख खड़े होकर कहा–

"मैं तुमसे निवेदन करता हूं कि मेरी इन तीन बातों में से एक को मान लो–

(1) "मुझे यजीद के पस जाने दो कि उससे बहस करूं। यदि मुझे निश्चय हो जाएगा कि वह सत्य पर है, तो मैं उसकी बैयत कर लूंगा।"

इस पर किसी पाषाण-हृदय ने कहा–"तुम्हें यजीद के पास न जाने देंगे। तुम मधुरभाषी हो, अपनी बातों में उसे फंसा लोगे, और इस समय मुक्त होकर देश में विद्रोह फैला दोगे।"

(2) "जब यह नहीं मानते, तो छोड़ दो कि मैं अपने नाना के रोज़े की मुजाविरी करूं।"

(इस पर भी किसी ने उपुयक्त शंका प्रकट की)

(3) "अगर ये दोनों बातें तुम्हें अस्वीकार हैं, तो मुझे और मेरे आशिकों को पानी दो, क्योंकि प्राणि-मात्र को पानी लेने का हक है।"

(इसका भी वैसा की कठोर और निराशाजनक उत्तर मिला)

इस प्रश्नोत्तर के बाद हुसैन की ओर से बुरीर मैदान में आए। उधर से मुअक्कल निकला। बुरीर ने अपने प्रतिपक्षी को मार लिया, और फिर खुद सेना के हाथों मारे गए। बुरीर के बाद अब्दुल्लाह निकले और दस-बीस शत्रुओं को मारकर काम आए।

अब्दुल्लाह के बाद उनका पुत्र, जिसका नाम वहब था, मैदान में आया। उसकी वीर-गाथा अत्यंत मर्मस्पर्शी है, और राजपूताने के अमर वीर-वृत्तांत की याद दिलाती है। वहब का विवाह हुए अभी केवल सत्रह दिन हुए थे। हाथ की मेहंदी तक न छूटी थी। जब उसके पिता शहीद हो गए, तो उसकी माता उससे बोलीं-

"मीख्वाहम कि मरा अज़ खूने-खुद शरतबे दिही ताशीरे कि अज़पिस्ताने मन खुरदई बर तो हलाल गरदद।"

कितने सुंदर शब्द हैं, जो शायद ही किसी वीर--माता के मुंह से निकले होंगे। भावार्थ यह है--

"मेरी इच्छा है कि तू अपने रक्त का एक घूंट मुझे दे, जिसमें कि यह दूध जो तूने मेरे स्तन से पिया है, तुझ पर हलाल हो जाए।"

वहब के शहीद हो जाने के बाद क्रम से कई योद्धा निकले, और मारे गए। इस्लामी पुस्तकों में तो उनकी वीरता का बड़ा प्रशंसात्मक वर्णन किया गया है। उनमें से प्रत्येक ने कई-कई सौ शत्रुओं को परास्त किया। ये भक्तों के मानने की बातें हैं। जो लोग प्यास से तड़प रहे थे, भूख से आंखों से तले अंधेरा छा जाता था, उनमें इतनी असाधारण शक्ति और वीरता कहां से आ गई? उमर-बिन साद की सेना में 'शिमर' बड़ा क्रूर और दुष्ट आदमी था। इस समर में हुसैन और उनके साथियों के साथ जिस अपमान मिश्रित निर्दयता का व्यवहार किया गया, उसका दायित्व इसी शिमर के सिर है। यह धार्मिक संग्राम था, और इतिहास साक्षी है कि धार्मिक संग्राम में पाशविक प्रवृत्तियां अत्यंत प्रचंड रूप धारण कर लेती हैं। इस पर संग्राम में ऐसे प्रतिष्ठित प्राणी के साथ जितनी घोर दुष्टता और दुर्जनता दिखाई गई, उसकी उपमा संसार के धार्मिक संग्रामों में भी मुश्किल से मिलेगी, हुसैन के जितने साथी शहीद हुए, प्राय: उन सभी की लाशों को पैरों तले रौंदा गया, उनके सिर काटकर भालों पर उछाले और पैरों से ठुकराए गए। पर कोई भी अपमान और बड़ी-से-बड़ी निर्दयता उनकी उस कीर्ति को नहीं मिटा सकती, जो इस्लाम के इतिहास का आज भी गौरव बढ़ा रही है। इस्लाम के साहित्य और इतिहास में उन्हें वह स्थान प्राप्त है, जो हिन्दू साहित्य में अंगद, जामवंत, अर्जुन, भीम आदि को प्राप्त है। सूर्यास्त होते- होते सहायकों में कोई भी नहीं बचा।

अब निज कुटुंब के योद्धाओं की बारी आई। इस वंश के पूर्वज 'हाशिम' नाम के एक पुरुष थे। इसीलिए हजरत मोहम्मद का वंश हाशिमी कहलाता है। इस संग्राम में पहला हाशिमी जो क्षेत्र में आया, वह अब्दुल्लाह था। यह उसी मुसलिम नाम के वीर का बालक था, जो पहले शहीद हो चुका था। उसके बाद कुटुंब के और वीर निकले। जाफर इमाम हसन के तीन बेटे, अब्बास के कई भाई, हजरत अली के कई बेटे और सब बारी-बारी से लड़कर शहीद हुए। हजरत अब्बास से हुसैन ने कहा--"मैं बहुत प्यासा हूं।" संध्या हो गई थी। अब्बास पानी लाने चले, पर रास्ते

में घिर गए। वह असाधारण वीर पुरुष थे। हाशिमी लोगों में इतनी वीरता से कोई नहीं लड़ा। एक हाथ कट गया, तो दूसरे हाथ से लड़े। जब वह हाथ भी कट गया तो जमीन पर गिर पड़े। उनके मरने का हुसैन को अत्यंत शोक हुआ। बोले–"अब मेरी कमर टूट गई।" अब्बास के बाद हुसैन के नौजवान बेटे अकबर मैदान में उतरे। हुसैन ने अपने हाथों उन्हें शस्त्रों से सुसज्जित किया। आह ! कितना हृदय-विदारक दृश्य है। बेटे ने खड़े होकर हुसैन से जाने की आज्ञा मांगी, पिता की वीर हृदय अधीर हो गया। हुसैन ने निराशा और शोक से अली अकबर को देखा, फिर आंखें नीची कर लीं और रो दिए। जब वह शहीद हो गया, तो शोक विह्वल पिता ने जाकर लाश के मुंह पर अपना मुंह रख दिया, और कहा–"बेटा, तुम्हारे बाद अब जीवन को धिक्कार है।" पुत्र-प्रेम की इहलोक की ममता के आदर्श पर, धर्म पर, गौरव पर कितनी बड़ी विजय है?

अब हुसैन अकेले रह गए। केवल एक सात वर्ष का भतीजा और हसन का एक दुधमुंहा पोता बाकी था। हुसैन घोड़े पर सवार महिलाओं के खीमों की ओर आये, और बोले–"बच्चे को लाओ, क्योंकि अब उसे कोई प्यार करने वाला न रहेगा।" स्त्रियों ने शिशु को उनकी गोद में रख दिया। वह अभी उसे प्यार कर रहे थे कि अकस्मात् एक तीर उसकी छाती में लगा, और वह हुसैन की गोदी में ही चल बसा। उन्होंने तुरंत तलवार से गढ़ा खोदा और बच्चे की लाश वहीं गाड़ दी। फिर अपने भतीजे को शत्रुओं के सामने खड़ा करके बोले–"ऐ अत्याचारियो, तुम्हारी निगाह में मैं पापी हूं, पर इस बालक ने तो कोई अपराध नहीं किया, इसे क्यों प्यासों मारते हो?" यह सुनकर किसी नर-पिशाच ने एक तीर चलाया, जो बालक के गले को छेदता हुआ हुसैन की बांह में गड़ गया। तीर के निकलते ही बालक की क्रीड़ाओं का अंत हो गया।

हुसैन अब रण-क्षेत्र की ओर चले। अब तक रण में जाने वालों को वह अपने खीमे के द्वार तक पहुंचाने आया करते थे। उन्हें पहुंचाने वाला अब कोई मर्द न था। अब आपकी बहन जैनब ने आपको रोकर विदा किया। हुसैन अपनी पुत्री सकीना को बहुत प्यार करते थे। जब वह रोने लगी, तो आपने उसे छाती से लगाया, और तत्काल शोक के आवेग में कई शेर पढ़े, जिनका एक-एक शब्द करुण-रस में डूबा हुआ है। उनके रण-क्षेत्र में आते ही शत्रुओं में खलबली पड़ गई, जैसे गीदड़ों में कोई शेर आ गया। हुसैन तलवार चलाने लगे, और इतनी वीरता से लड़े कि दुश्मनों के छक्के छूट गए। जिधर उनका घोड़ा बिजली की तरह कड़ककर जाता था, लोग काई की भांति फटे जाते थे। कोई सामने आने की हिम्मत न कर सकता था। इस भांति सिपाहियों के दलों को चीरते-फाड़ते वह फरात के किनारे पहुंच गए, और पानी पीना चाहते थे कि किसी ने कपट भाव से कहा–"तुम यहां पानी पी रहे हो, उधर सेना स्त्रियों के खीमों में घुसी जा रही है।" इतना सुनते ही लपककर इधर आए, तो ज्ञात हुआ कि किसी ने छल किया है। फिर मैदान में पहुंचे, और शत्रु दल का संहार करने लगे। यहां तक कि शिमर ने तीन सेनाओं को मिलाकर उन पर हमला करने की आज्ञा दी। इतना ही नहीं, बगल से और पीछे से भी उन पर तीरों की बौछार होने लगी। यहां तक कि जख्मों

से चूर होकर वह जमीन पर गिर पड़े, और शिमर की आज्ञा से एक सैनिक ने उनका सिर काट लिया। कहते हैं, जैनब यह दृश्य देखने के लिए खीमे से बाहर निकल आई थी। उसी समय उमर-बिन-साद से उसका सामना हो गया। तब वह बोली--"क्यों उमर, हुसैन इस बेकसी से मारे जाएं, और तुम देखते रहो।" उमर का दिल भर आया आंखें सजल हो गईं और कई बूंदें दाढ़ी पर गिर पड़ीं।

हुसैन की शहादत के बाद शत्रुओं ने उनकी लाश की जो दुर्गति की, वह इतिहास की अत्यंत लज्जाजनक घटना है। उससे यह भली-भांति प्रकट हो जाता है कि मानव-हृदय कितना नीचे गिर सकता है। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे की कथा भी यहां मात हो जाती है, क्योंकि ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि किसी धर्म-संचालक के नवासों को अपने नाना के अनुयायियों के हाथों यह बुरा दिन देखना पड़ा हो।

[लेख। 'माधुरी', नवम्बर, 1923 में प्रकाशित। कर्बला (नाटक) में 'नाटक का कथानक' शीर्षक से संकलित।]

मनुष्यता का अकाल

हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में इस वक्त मुसलमान कौम के बड़े लोगों ने बार-बार की उत्तेजना के बावजूद जो अच्छी रविश अख्तियार की है, और जिस सूझ-बूझ और दूरंदेशी का सबूत दिया है उस पर हिन्दुओं को शर्मिंदा होना चाहिए। अब तक उन्हें यह दावा था कि स्वराज्य के लिए हम जितनी कुर्बानियां कर सकते हैं, उतनी मुस्लिम संप्रदाय नहीं करता। वह हिन्दुस्तान में रहकर, हिन्दुस्तान का दाना पानी खाकर अरब और अजम के सपने देखा करता है। उसे स्वराज्य की उतनी फिक्र नहीं है जितनी पैन-इसलाम की। एक बार जब मौलाना शौकत अली ने किसी खिलाफत के जलसे में कहा था कि अगर मुसलमान को किसी कौमी काम के लिए एक रुपया देना मंजूर हो, तो वह चौदह आने खिलाफत को दे और दो आने कांग्रेस को, इस कौल को हिन्दू अखबारों ने बड़े निष्ठुर ढंग से बहुत ज्यादा महत्त्व दिया और उसने अपनी बात को प्रमाण के रूप में पेश किया।

इस कौल का तकाजा तो यह था कि हिन्दू महाशय अपने दिल में लज्जित होते कि एक मुसलमान को जो अपना सब कुछ भारतमाता की नजर कर चुका हो, इस तरह दोनों में भेद करने की जरूरत पड़ी क्योंकि जाहिर है कि अगर हिन्दुओं ने खिलाफत के मसले को महात्मा गांधी की व्यापक दृष्टि से देखा होता तो मौलाना साहब को यह बात कहने का कोई मौका ही न था। मगर सच्चाई यह है कि हिन्दुओं ने कभी खिलाफत के महत्त्व को ही नहीं समझा और न समझने की कोशिश की, बल्कि उसको संदेह की दृष्टि से देखते रहे। मगर अब जिसे न्याय की दृष्टि मिली हुई हो, वह चाहे तो देख सकता है कि वही व्यक्ति हिन्दू-मुस्लिम एकता को, जो दूसरे शब्दों में स्वराज्य है, कितना महत्त्वपूर्ण समझता है और उसके लिए कितनी बड़ी कुर्बानियां करने के लिए तैयार है। हिन्दू कौम कभी अपनी राजनीतिक उदारता

के लिए मशहूर नहीं रही और इस मौके पर तो उसने जितनी संकीर्णता का परिचय दिया है, उससे मजबूरन इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि इस कौम का राजनीतिक दीवाला हो गया वर्ना कोई वजह न थी कि सारी हिन्दू कौम सामूहिक रूप से कुछ थोड़े से उन्मादग्रस्त तथाकथित देशभक्तों की प्रेरणा से इस तरह पागल हो जाती। हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओं में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू-संगठन और शुद्धि की इतनी गर्मबाजारी न होती और इन हंगामों में काफी कमी हो जाती जो इस वैमनस्य के कारण दिखाई पड़ते हैं। मगर अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी समग्र रूप से इन आंदोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। इतना ही नहीं, एक भी जिम्मेदार कांग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आंदोलनों के खिलाफ आवाज बुलंद करने का साहस नहीं किया। पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, लाला भगवानदास, लाला श्रीप्रकाश इन आदमियों में, जिनसे ज्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, मगर इन सभी लोगों ने एक रोज अपने विरोध और अपनी आशंका को व्यक्त करके दूसरे रोज उसका खंडन कर दिया और डंके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और संगठन के बारे में हमने जो खयाल जाहिर किया था वह गलतफहमियों पर आधारित था। जब ऐसे-ऐसे लोग दबाव में आ जाएं तो फिर इंसाफ की उम्मीद किससे की जाएं। अगर मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली की तरह इन सज्जनों ने भी अपनी कौम को इन आंदोलनों के हानिकर और सांघातिक परिणाम बतलाए होते और उसके खिलाफ बाकायदा व्यवस्थित ढंग से प्रयत्न करते तो यकीनन आज हिन्दू-मुस्लिम संबंध इतने खिंचे हुए न होते। मगर जो राजनीतिक दूरदर्शिता सदियों से खत्म हो चुकी हो उससे और क्या हो सकता है। एक स्त्री ने सारे योरोप को दांतों तले उंगली दबाने पर मजबूर कर दिया। हिन्दुओं में ऐसे व्यक्ति पैदा करने के लिए अभी सदियां लगेंगी। आज कौन-कौन हिन्दू है जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जी-जान से काम कर रहा हो, जो उसे हिन्दोस्तान की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या समझता हो, जो स्वराज्य के लिए एकता की बुनियादी शर्त समझता हो। कौम का यह दर्द, यह टीस, यह तड़प आज हिन्दुओं में कहीं दिखाई नहीं देती।

दस-पांच हजार मलकानों को शुद्ध करके लोग फूले नहीं समाते, मानो अपने लक्ष्य पर पहुंच गए, अब स्वराज्य हासिल हो गया। हमें याद नहीं आता कि आज तक किसी हिन्दू ने वैसे पवित्र, ऊंचे, दैवी प्रेरणा के भाव व्यक्त किए हों जो इस रामलखन की जोड़ी ने जेल से निकलते ही रो-रोकर भीगी हुई आंखों से निकलती हुई दर्द की एक आवाज की तरह व्यक्त किए हैं। यह है वह राष्ट्रीय भावना जो राष्ट्रों के बेड़े पार करती है, उनकी नैया किनारे लगाती है। यह कौमी मेल-जोल और एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता का चमत्कार है। हमारे पास वह शब्द नहीं है जो उस कृतज्ञता को ज्ञापित कर सके, जो हर एक देशभक्त हिन्दू के दिल में इन आदरणीय व्यक्तियों के लिए उबल रहा है।

हमको यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि इन दोनों संप्रदायों में कशमकश

और संदेह और घृणा की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर अक्सर ज्यादतियां हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौका हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त-से-सख्त जुल्म किए। हम यह भी मानते हैं कि मौजूदा हालात में अजान और कुर्बानी के मौकों पर मुसलमानों की तरफ से ज्यादतियां होती हैं और दंगों में भी अक्सर मुसलमानों ही का पलड़ा भारी रहता है। ज्यादातर मुसलमान अब भी 'मेरे दादा सुल्तान थे' नारे लगाता है और हिन्दुओं पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है। तबलीग के मामले में ज्यादती मुसलमानों ने की और हिन्दुओं की रोज-ब-रोज घटती हुई संख्या का कारण भी किसी हद तक वही है। मगर इन सारे कारणों और दलीलों और घटनाओं के नजर के सामने रखते हुए हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं को इससे कहीं ज्यादा राजनीतिक सहिष्णुता से काम लेने की जरूरत है। इतिहास से उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं। दुनिया के इतिहास में इसकी मिसालें न मिलती हों, ऐसी बात नहीं है और अगर न भी मिलती हों तो कोई वजह नहीं कि हम इसे तावीज की तरह अपने गले में लटकाए रहें। हिन्दुओं के त्योहारों और जुलूसों के मौके पर अक्सर मुसलमानों की तरफ से यह तकाजा होता है कि मस्जिदों के सामने नमाज के मौके पर बाजा और शादियाने न बजाये जायें। यह बहुत ही स्वाभाविक मांग है। शोर-गुल से निश्चय ही उपासना में विघ्न पड़ता है और अगर मुसलमान इस शोर-गुल को बंद करने पर जोर देते हैं तो हिन्दुओं को चाहिए कि वह उनकी दिलजोई करें। यह तो हिन्दुओं का उनके आग्रह के बिना भी, भगवान के प्रति सम्मान की दृष्टि से ही कर्त्तव्य है, न कि जब कोई उन्हें उनका कर्त्तव्य याद दिलाए तो उससे लड़ने के लिए तैयार हो जाएं। हिन्दू कहेंगे कि हमारे मंदिरों के सामने से मुसलमानों के जुलूस भी बाजे बजाते न निकलें। ऊपरी दृष्टि से तो यह बात बिल्कुल न्याय की मालूम होती है लेकिन व्यवहार में इसका यह परिणाम होना संभव है कि शहरों में बाजे कतई बंद कर दिए जाएं क्योंकि मंदिरों की संख्या इतनी अधिक है कि किन्हीं-किन्हीं शहरों में तो हर एक घर के बाद मंदिर दिखाई पड़ता है। फिर हिन्दुओं की संध्या-हवन तो एकांत में होती है लेकिन देवताओं की पूजा अक्सर घंटे और घड़ियाल के साथ हुआ करती है। तो जब वह उपासना के लिए स्वयं भी मौन आवश्यक नहीं समझते तो किस मुंह से मुसलमानों से इस चीज की मांग कर सकते हैं। तो भी हम यह कह देना उचित समझते हैं कि जब उपासना एक ही परमात्मा की है और केवल उसके बाह्य रूप में भेद है तो हिन्दू लोग क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे। अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त की जरूरत नहीं। अच्छा काम करने वाले को सब अच्छा कहते हैं। दुनियावी मामलों में दबने से आबरू में बट्टा लगता है, दीन-धर्म के मामले में दबने से नहीं। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हम किसी के धर्म का आदर करें और वह हमारे धर्म का अपमान करे। थोड़ी देर के लिए यह भी सुन लें। अगर

मुसलमानों का आम गैर-जिम्मेदार तबका हमारे बाजों को मस्जिदों के सामने बंद होते देखकर तालियां बजाएगा और बड़ी शान के साथ कहेगा 'दब गए, दब गए' तो इतना सुन लेने में क्या बुराई है। निश्चय ही मुसलिम लीडरान इस हालत को ज्यादा अर्से तक कायम न रहने देंगे। यह किसी मजहब के लिए शान की बात नहीं है कि वह दूसरों की धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाए। गौकशी के मामले में हिन्दुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख्तियार किया है। हमको अधिकार है कि जिस जानवार को चाहें पवित्र समझें, लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, खामखाह दूसरों से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खाई जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे? यह किसी खूं-खार मजहब के लिए भी शान की बात नहीं हो सकती कि वह सारी दुनिया से दुश्मनी करना सिखाए, न कि हिन्दू जैसे दार्शनिक, व्यापक और सुसंस्कृत के लिए जिसका सबसे पवित्र सिद्धांत हो 'अहिंसा परमो धर्म:' अगर हिन्दुओं को अभी यह जानना बाकी है कि इंसान किसी हैवान से कहीं ज्यादा पवित्र प्राणी है, चाहे वह गोपाल की गाय हो या ईसा का गधा, तो उन्होंने अभी सभ्यता की वर्णमाला भी नहीं समझी। हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा उसका और कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन गोरक्षा का सारे हो-हल्ले के बावजूद हिन्दुओं ने गोरक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं किया जिससे उनके दावे का व्यावहारिक प्रमाण मिल सकता। गौरक्षणी सभाएं कायम करके धार्मिक झगड़े पैदा करना भी गोरक्षा नहीं है। इस सूबे में अधिकांश जमींदार हिन्दू हैं। उन्होंने गोचर जमीन का कोई इंतजाम किया या जहां पहले से इंतजाम था वहां उसे खत्म नहीं कर दिया? जिस मुल्क में तंबाकू और चाय और नील और रबर की खेती के लिए काफी जमीन हो वहां मौजों में गोचार का न होना आर्थिक खींच-तान की दलील हो सकती है, गोरक्षा की दलील हरगिज नहीं हो सकती। जब हम देखते हैं कि बैलों के लिए चारा मयस्सर नहीं तो गायों के लिए (वह भी जब बुड्ढी, मरियल, कमजोर हो जाएं) चारा इकट्ठा करने की दिक्कत का हाल किसी किसान से पूछिए। वह गायों को भूख से एड़ियां रगड़-रगड़कर मरने के बदले उन्हें कसाई के हवाले कर देना ज्यादा अच्छा समझता है।

रहा तबलीग का मसला। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं, क्योंकि हर मजहब को इसका काफी अख्तियार है बशर्ते कि उद्देश्य सच्चे अर्थों में धर्म का संस्कार और सिद्धांतों का प्रचार हो। जब उसमें कोई राजनीतिक उद्देश्य छिपा होता है तो वह फौरन एक सियासी मामले की सूरत अख्तियार कर लेता है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गई है जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं। जिस दिन यह आपस की होड़ और दूसरे से आगे बढ़ जाने का खयाल धर्म से दूर हो जाएगा, उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे।

गरज कि जिन कारणों का ऊपर जिक्र हुआ उनमें एक भी ऐसा नहीं है जो

हिन्दुओं के लिए 'हमारी जान खतरे में है' की हांक लगाने को उचित ठहरा सके। इस खास मौके पर हिन्दू संगठन की पुकार ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को जो ठेस पहुंचाई है, उसका बुरा असर अगर दूर भी होगा तो बहुत दिनों में होगा। हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होंगे और न होने चाहिए। दोनों की अलग-अलग सूरतें बनी रहनी चाहिए और बनी रहेंगी। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि उनके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो। आमतौर पर हमारे नेता वह सज्जन होते हैं जो अपने संप्रदाय की मुसीबतों और शिकायतों का हमेशा बहुत सरगर्मी से रोना रोया करते हैं। वह अपने संप्रदाय के लोगों की दृष्टि में लोकप्रिय बनने के लिए उसकी भावनाओं को उकसाते रहते हैं और समझौते के मुकाबिले में, जो उनके उस विलाप को बंद कर देगा, झगड़े को कायम रखना ज्यादा जरूरी समझते हैं। हिन्दुओं में इस वक्त सहिष्णु नेताओं का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गंभीरता से समस्याओं पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचाने वालों के हिस्से में आ जाती है जो अपनी जोरदार आवाज से जनता की गंदी भावनाओं को उभाड़कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया करते हैं। वह कौम को दरगुजर करना नहीं सिखाता, लड़ना सिखाता है, उसका फायदा इसी में है। कोई आदमी ऐसी उल्टी बुद्धि का नहीं हो सकता कि उसे इस नाजुक मौके पर दोनों संप्रदायों की आपसी खींच-तान के नतीजे न दिखाई दें और अगर है तो हमें उसकी नीयत में संदेह है। इस संदेह की पुष्टि इस कारण से और भी होती है कि इस आंदोलन के शुरू करने वाले और कार्यकर्ता अधिकतर वह लोग हैं जो राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने से कावा काटते रहते हैं या उसमें हिस्सा लेते भी हैं तो आबरू बचाए हुए वर्ना हिन्दू संगठन के बनारस में आयोजित जलसे में जमींदारों और राजाओं की इतनी बड़ी संख्या न दिखाई देती। जिधर देखिए राजे-महाराजे और सेठ-महाजन ही नजर आते थे। उनके पीछे चलने वालों में अधिकतर वह लोग थे जिनका पुश्तैनी पेशा गुलामी है, जिन्हें शुरू से यह शिकायत है कि मुसलमान सरकारी नौकरियां हड़प कर जाते हैं और हमारा हाल पूछने वाला कोई नहीं है, जिनके लिए एक मुसलमान सब-इंसपेक्टर या कुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इंकलाब या तुर्की की फतह से ज्यादा बड़ी घटना है।

हमारे रईसों ने जन-आंदोलनों की तरफ अब तक जो रवैया अख्तियार किया है उसने उन्हें एक नापने का आला बना दिया है जिससे हुक्काम के हथकंडों का साफ साफ पता चलता है। हिन्दू-मुस्लिम एकता हुक्काम की नजरों में कांटे की तरह खटकती थी, इसलिए जब धनी-मानी लोग किसी ऐसे आंदोलन का उत्साह से स्वागत करें जिससे एकता को नुकसान पहुंचने का यकीन हो तो जाहिर है कि उनका उसमें शरीक होना उनके अपने मन की बात नहीं, बल्कि किसी की प्रेरणा से होने वाली बात है। वर्ना जिन लोगों ने सख्त कानून पास करने में गवर्नमेंट का साथ दिया वह हिन्दू संगठन के जलसे में इस जोर-शोर से हरगिज शरीक न होते। मगर यहां तो यकीन था कि हमारी कोशिशें ऊपर वालों की दुनिया में कद्र की निगाहों से देखी जा रही हैं। तो फिर क्यों न हाथों से पुण्य लूटें, कौम रहे या मिटे, इसकी क्या फिक्र। यह एक सच्ची बात है

कि हुक्काम ने भी हिन्दू संगठन के आंदोलन से हमदर्दी दिखलाई। इसलिए रईसों का उसमें जोर-शोर से बड़ी संख्या में शरीक होना जरूरी था। उनके योगदान पर खुशी जाहिर करना घटनाओं से अपनी नादानी जाहिर करना है।

इन धार्मिक आवेशों को भड़काने का इल्जाम सबसे ज्यादा कौंसिलों की मांग करने वालों की गर्दनों पर है। चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान। कांग्रेस ने लिबरल नेताओं का पर्दाफाश कर दिया था। रईस और ताल्लुेदार भी जनता की नजरों से गिर चुके थे। वह हजरात जिन्होंने देशभक्ति के अपने तमाम दावों के बावजूद वकालत या सरकारी नौकरी न छोड़ी थी, पब्लिक की निगाहों में अपनी प्रतिष्ठा खो बैठे थे। इस बहुसंख्यक जमात के लिए अपनी खोई हुई आबरू हासिल करने का, अपनी साख जमाने का, अपनी कौमेपरस्ती का सबूत देने का, और ऐसे मौके पर जब कौंसिलों का चुनाव पास था, इससे बेहतर और कौन मौका हाथ आ सकता था? 'हिन्दू कौम खतरे में है' का नारा मारकर वह लोग हिन्दुओं के हितैषी बनना चाहते थे। मुसलिम जमात में भी उनकी तादाद कम न थी। धार्मिक पक्षपातों को भड़काना शुरू किया गया। राय साहब और खान साहब अपने गुप्त स्थानों से निकल पड़े और जनता की दोस्ती का दम भरने लगे। एक तरफ से आवाज आई, हिन्दुओं को खिलाफत के आंदोलन से सावधान रहना चाहिए क्योंकि यह उनकी हस्ती को मिटा देगा। दूसरी तरफ नारए-तकबीर बुलंद हुआ, हिन्दू हम पर हावी होते जा रहे हैं, स्वराज्य से दूर रहना हमारा कर्त्तव्य है। कहीं किसी म्युनसिपैलिटी ने कानूनन् गौकुशी बंद की। वावेला मच गया। शोर मचाने वालों की कमी न थी। जेल जाना था, तब शांतिपूर्वक अपने-अपने कोनों में दुबके बैठे थे। अब जेल का डर नहीं, इज्जत बढ़ने की उम्मीद थी। फिर क्यों चुप रहें। सवाल-जवाब शुरू हुआ। रोज-ब-रोज लहजा सख्त होता गया। इधर 'लीडर' था तो उधर ढेरों उर्दू अखबार ऐंग्लो-इंडियन अफसरों के निर्देशानुसार मैदान में आ खड़े हुए। युद्ध की घोषणा हो गई। जो इस हंगामें को ठंडा कर सकते थे वह जेल में थे। उनकी जगह लिबरल हजरात ने ली। नतीजा जो कुछ हुआ, जाहिर है। वह कौम के दोस्त साबित हो गए। सरकार से भी वाहवाही मिली। फूट का बीज बोया गया, कांग्रेस की जड़ खोदने के लिए। उसकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलाने के लिए। उसे पब्लिक की नजरों में जलील करने के लिए। और चूंकि कांग्रेस का एक हिस्सा खुद ही लिबरल सज्जनों के से स्वार्थ वाला था, उसने भी इस चिनगारी को भड़काया कि कहीं हम अपना भरम न खो बैठें। कांग्रेस के लीडरों ने भी अपराधियों जैसे मौन से काम लिया। यह है उस खींचतान का भेद जो इस वक्त कौम का सबसे नाजुक मसला बना हुआ है। यह सारी आग लगाने की कोशिशें या तो महज कौंसिलों में वोट हासिल करने के लिए की गई या सरकार को खुश करने के लिए। बस। लेकिन इसका असर लक्ष्य-सिद्धि के बाद बरसों तक कायम रहेगा। सितम यह है कि अब भी हिन्दू कौम के अलमबरदार एकता के महत्त्व को समझने मे असमर्थ हैं। चुनांचे कौंसिलों में जाने वालों की कमी नहीं है, हिन्दू संगठन तो ताकत पहुंचाने वालों की कमी नहीं है, ऐतिहासिक विद्वेषों के मुर्दे उखाड़ने वालों की कमी नहीं है—कमी है तो एकता के लिए अपने को समर्पित कर देने वालों की, एकता के लिए मिट ज़ाने

वालों की। मुसलमानों में अली बरादरान, मौलाना अबुलकलाम आजाद, डॉक्टर किचलू एकता के लिए अपने को समर्पित कर चुके हैं। हिन्दुओं में यह कतार खाली है। कितने शर्म की बात है कि जिस एकता को महात्मा गांधी ने स्वराज्य की पहली सीढ़ी करार दिया हो उसके लिए एक प्रभावशाली हिन्दू बुजुर्ग पूरी तरह तैयार नहीं हैं। अगर यही रफ्तार है तो स्वराज्य मिल चुका और अगर हलवाई की दुकान परदादे का फातिहा पढ़ा जाना मुमकिन हो तो हमें स्वराज्य के नाम पर फातिहा पढ़ लेना चाहिए।

[उर्दू लेख। 'कहतुरिजाल' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका 'जमाना', फरवरी, 1924 में प्रकाशित। प्रथम प्रकाशन उर्दू। हिन्दी रूप 'मनुष्यता का अकाल' शीर्षक से 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके कहने की जरूरत नहीं। हम सभी जानते हैं और सभी स्वीकार करते हैं। पूज्य महात्मा गांधी ने सूत्र रूप में कह दिया है कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य ही स्वराज्य है, और इस सत्य को व्यक्त करने के लिए इससे उत्तम शब्द नहीं मिल सकते। जैसा ही यह Himalayan (महान्) सत्य है, वैसा ही Himalayan (महान्) यह वाक्य है। अतएव हम सभी प्राणियों का, जिन्हें देश से कुछ अनुराग है, कर्त्तव्य है कि यथाशक्ति कोई ऐसा काम न करें न कोई ऐसी बात कहें, जिससे ऐक्य में बाधा पड़ने का भय हो। काश, हम इतने स्वार्थ-परायण न होते तो आज यह प्रश्न इतना जटिल, इतना दुर्गम, इतना असाध्य न होता। किसी को अपने पत्र के ग्राहकों की संख्या बढ़ानी है, किसी को अपने लड़के लिए नौकरी तलाश करनी है, किसी को नाम ही की धुन है, कोई गौरांग प्रभुओं की नज़रों में अपना रसूख जमाना चाहता है, कोई व्यावसायिक उन्नति के लिए यह हीला निकालता है। सब स्वार्थ ही की माया। हम अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए राष्ट्रीय उद्धार के इस महान् यज्ञ में विघ्न डाल रहे हैं। जो नामधारी महान् पुरुष जरा जरा सी बात पर, ज़रा जरा से झगड़े पर अपनी जाति के प्रवर्तक बन जाते हैं, वह यदि शांत चित्त से विचार करेंगे तो उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि इस वैमनस्य का कितना इलजाम उनके सिर है। इससे तो कहीं अच्छा होता कि वह सज्जन थोड़ी देर के लिए जाति सेवा से मुंह फेर लेते, थोड़ी देर के लिए जाति को जहन्नुम में चले जाने देते, भूल जाते कि हमारी जाति का ह्रास हो रहा है। अगर कोई हिन्दू हिन्दुओं को समझाता है तो वह जयचन्द और विभीषण कहा जाता है, कोई मुसलमान मुसलमानों को समझाता है तो काफिर और गद्दार कहा जाता है। चुन-चुनकर चोट करने वाली बातें कही जाती हैं और शाबाशी लूटी जाती है। महात्माजी ने इस विषय में अपने विचारों को जरूरत से ज्यादा तीक्ष्ण शब्दों में प्रकट किया तो बजाय इसके कि लोग उससे कुछ उपदेश ग्रहण करते, उन्हीं पर हमला करने लगे। यहां तक कि एक बूढ़े कवि महाशय ने, जो अनुप्रास का व्यवहार करने में बहुत सिद्धहस्त हैं, उनकी हजो भी कह डाली। किसी ने सोचा कि महात्माजी ने कितना जलकर, कितने मानसिक कष्ट से व्यथित

होकर यह अप्रिय सत्य कलम से निकाला है। महात्माजी हिन्दू हैं, और हिन्दुओं ही को समझाने का उन्हें अधिकार है। उसी भांति अली बिरादरान मुसलमान हैं और मुसलमानों को समझाने का उन्हीं को अधिकार है। पर आज एक तरफ महात्माजी पर बौछारें पड़ रही हैं, और दूसरी तरफ अली-बंधुओं पर। अब वह शौकत अली नहीं रहे जो 'अंजुमन खुद्दाए काबा' के निर्माता थे। उक्त मौलाना ने बहुत ठीक कहा था कि इन झगड़ों से हम यह साबित कर रहे हैं कि हम गुलाम ही बने रहना चाहते हैं।

इस वैमनस्य के कारण धर्म की कितनी छीछालेदर हो रही है कि उसके खयाल ही से शर्म आती है। वह बुरी साइत थी, जब हिन्दुओं को शुद्धि की धुन सवार हुई। दस-पांच हजार नौ-मुस्लिम संदिग्ध रूप से शुद्ध क्या हुए कि राष्ट्रीयता पर कुठाराघात, बल्कि वज्राघात हो गया। शुद्धि एक धार्मिक कार्य को अधार्मिक रीति से करने का अभिनय था। मुसलमान बराबर हिन्दुओं को शुद्ध करते चले आते हैं, उनकी तबलीग अविरल रूप से होती चली आती है, पर किसी को खबर भी नहीं होती कि कौन कब शुद्ध हो गया। हां, जब दसवें साल जनगणना होती है, तो ज्ञात होता है कि हमारे कितने आदमी काम आए। हिन्दुओं ने दस-पांच हजार आदमियों को शुद्ध करने में तूफान बरपा कर दिया।[1] केवल इसलिए कि यह काम करने का न यह तरीका था, न यह मौका। अब हमारे दोनों पक्षों के मनचले सज्जन अपने-अपने शिकार फंसाने में तल्लीन हैं, कोई भ्रष्ट मुसलमान किसी हिन्दू स्त्री के पीछे अपना धर्म-त्याग करने पर तैयार हो जाता है, तो उसका जुलूस निकलता है और उसका नाम सत्यव्रत रखा जाता है। हम दो-चार ऐसे महाशयों को जानते हैं जो मुसलमानों को शुद्ध करने के लिए स्त्री का प्रलोभन देने में संकोच नहीं करते, और मुसलमान तो दाइए-इस्लाम का अनुसरण कर ही रहे हैं, विधवाओं पर खूब हाथ साफ किया जा रहा है और यह सब धार्मिक अनुराग से नहीं, बल्कि अपने प्रतिद्वंद्वी को नीचा दिखाने के लिए। और जैसा हमेशा से होता आता है इस मैदान में बाजी मुसलमानों के हाथ है। मुसलमानों में हिन्दुओं से कुछ अधिक गुंडापन होता है। इसका कारण तो बाबू भगवानदास जैसा तत्त्वान्वेषी ही निकाल सकता है, पर हमारा जहां तक खयाल है, हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा का आधिक्य और मुसलमानों में अविवाहित पुरुषों की कसरत ही गुंडापन के कमोबेश होने का मुख्य कारण है। जिस अवस्था में मुसलमान गुंडा होता है, उस अवस्था में हिन्दू तीन बच्चों का बाप हो जाता है, वह बेचारा क्या खाके गुंडापन करेगा? फिर हिन्दुस्तान के मुसलमान, विशेषकर वह जो गुंडे होते हैं, नौमुस्लिम हैं और नौमुस्लिम खानदानी मुसलमानों से कहीं ज़्यादा उद्दंड हैं, उसी भांति जैसे

---

1 प्रेमचंदजी की तरह और भी कई सज्जनों की यह शिकायत है कि शुद्धि-आंदोलन में बहुत वावेला मचाया गया. काम की तरह काम नहीं किया गया, व्यर्थ का ढोल पीटा गया, पर असल बात यह है कि शुद्धि, खासकर इस प्रकार की जैसी कि इस समय हुई, हिन्दू धर्म में एक महान् क्रांति थी, ऐसी क्रांति सैकड़ों वर्षों में नहीं हुई थी। अत: इस समय शुद्धि को तबलीग की तरह चुपके-चुपके करना असंभव था। क्रांतिकारक विस्फोट में धड़ाका होता ही है।

—प्रधान संपादक

कोई सनातनी हिन्दू आर्य समाज में प्रवेश करते ही एक नए जोश का अनुभव करने लगता है। अगर इसी तरह अपनी संख्या और अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए नोच-खसोट होती रही, तो फिर भारत का उद्धार हो चुका। मज़ा तो यह है कि शुद्धिबाज़ों के सिर में यह सौदा समाया हुआ है कि हम सारे हिन्दुस्तान के मुसलमानों–और मुसलमान ही नहीं, अन्य सभी धर्मावलम्बियों–को भी शुद्ध कर लेंगे। इस कुबुद्धि का निवारण भगवान् ही कर सकते हैं। इस द्वेष का परिणाम अगर मुसलमानों के लिए हानिकर है तो हिन्दुओं के लिए घातक हैं। हमारी संख्या अधिक है और स्वराज्य से लाभ भी हमारा ही अधिक होगा, और कुछ न सही तो राजनैतिक बुद्धि का तो आदेश मानना ही पड़ेगा। स्वराज्य का उद्देश्य है अपनी शिक्षा का, अपने धर्म का, अपनी सभ्यता का पुनरुज्जीवन और पुनःसंस्कार। इसके अतिरिक्त स्वराज्य और कुछ नहीं है मुसलमानों की सभ्यता की रक्षा करने के लिए मिस्र, टर्की, काबुल मौजूद हैं, हिन्दुओं की सभ्यता की रक्षा करने वाली कोई जाति नहीं। ऐसी दशा में यदि मुसलमान स्वराज्य-प्राप्ति में हिन्दुओं के सहायक हो रहे हैं तो यह भी हिन्दुओं के सौभाग्य की बात है, लेकिन हम उनके विश्वास की ज़रा भी कद्र न करके अभी से आने वाले स्वराज्य की बानगी दिखने पर आमादा हैं। अगर मुसलमानों की हमदर्दी हमारे हाथों से निकल जाती है तो यह किसका कसूर है? हमारी वर्तमान नीति ने कितनी ही विचारशील मुसलमानों को हमसे सशंक कर दिया और अब वे स्वराज्य के नाम से कांपते हैं। अगर अब भी कुछ मुसलमान सज्जन हमारा साथ दे रहे हैं तो यह महात्मा गांधी के विश्वास पर। सात करोड़ मुसलमान अपने को 23 करोड़ हिन्दुओं के हाथों में सौंप देते हैं, क्या यह छोटी बात है? वह हिन्दुओं के आधिक्य से भयभीत नहीं होते, इधर हम हैं कि मुसलमानों से चौंकते हैं और यहां तक सोचने लगे हैं कि काबुल या टर्की हिन्दुस्तान पर हमला करेंगे तो मुसलमान उन लोगों के साथ तो जाएंगे। इस आत्मिक दुर्बलता की भी हद है। स्वराज के अंतर्गत मुसलमानों की स्थिति किसी चहेते बेटे या लाड़ली बेगम की न रहेगी। अंग्रेज़ों ने सदैव उन्हें हिन्दुओं पर तरजीह दी है। प्रत्येक अवसर पर अंग्रेज़ों ने मुसलमानों ही को आगे बढ़ाया है। क्या यह देखना कठिन है कि स्वराज्य-संग्राम में हिन्दुओं का साथ देकर मुसलमान आत्म-त्याग कर रहे हैं और हम अपनी दूरदर्शिता से उन्हें अपना शत्रु बनाए लेते हैं?

आइए देखें, इस वैमनस्य का कारण क्या है। गड़े-मुरदे उखाड़ने की ज़रूरत नहीं। अगर एक तरफ औरंगज़ेब है तो दूसरी तरफ छत्रपति शिवाजी हैं। वर्तमान समस्याओं पर ही दृष्टि को सीमित रखना हमारे लिए उचित होगा। सरकारी नौकरियां, कौंसिलों की मेम्बरी, उर्दू-हिन्दी संगम, गोवध और धार्मिक अपमान, यही मुख्य कारण मालूम होते हैं। कौंसिलों की जो दशा है और उनके द्वारा देश का जो उपकार हो सकता है, वह हम आंखों देख रहे हैं। उसमें स्थान की कमीबेशी इतनी गुरु नहीं है कि उसके पीछे हम राष्ट्रीय उद्धार की संभावना को तुच्छ समझ लें। Game is not worth the candle वाली कहावत यहां चरितार्थ होती है। लिपि-संग्राम में हम देख रहे हैं कि स्वाभाविक दशाओं ने सरकारी पक्षपात को निर्मूल कर दिया। हिन्दी दफ्तरी ज़बान न होने पर भी उत्तरोत्तर उन्नति कर रही है, उर्दू सरकारी आश्रय पाने पर भी गिरती

चली जाती है। यहां तक कि अब हिन्दी से मोर्चा लेने के योग्य भी नहीं रही। गोवध के विषय में भी मुसलमानों का विरोध बहुत-कुछ ठण्डा हो चला था, और अगर बीच में एक तीसरा दल ललकारने वाला न होता तो अब तक शांत हो गया होता। मुसलमानों ने ही साबित किया था कि टीपू सुलतान ने गोवध का निषेध कर दिया था। अकबर के राज्यकाल में गोवध का निषिद्ध होना भी एक मुसलमान विद्वान् की खोज थी। अमीर काबुल ने गोवध की मनाही कर ही दी है, वहां तो इतनी उदारता दिखलाई जा रही है और यहां हिन्दू लोग बोर्डों में अपनी बहुसंख्या के बल पर गोवध बंद करने के लिए कानून व्यवस्थाएं करने लगे। एक मुसलमान ही ने 'अलबकर' नाम का पत्र निकाला था जिसका उद्देश्य ही गोरक्षा था। यहां तक कि मौलवियों ने गो-हत्या के विरुद्ध फतवे देने शुरू कर दिए थे। बहुत संभव था कि अगर हिन्दुओं ने महात्मा जी के दिखाए हुए मार्ग को छोड़ न दिया होता, तो थोड़े दिनों में गोकुशी अपनी मौत मर जाती। मौलाना शौकत अली ने साफ कह दिया था कि अगर अब भी मुसलमान गोवध कर रहे हैं तो इसलिए कि उन्हें इसकी प्रेरणा दी जा रही है और जब तक यह प्रेरणा मिलती रहेगी, गो-हत्या बंद नहीं हो सकती। फिर हिन्दू ही गौ-रक्षा के लिए क्या प्रयत्न कर रहे हैं कि मुसलमान उनकी नेकनीयती के कायल होते? मुसलमान समझते हैं कि हिन्दुओं ने केवल हमें नीचा दिखाने के लिए इस प्रश्न को उठा रखा है और ऐसी दशा में स्वभावत: वे लोग अपने माने अधिकार का त्याग नहीं करना चाहते, और यही हाल रहा तो शायद गौ-हत्या कभी बंद न होगी। अगर हम कोई काम शुद्ध हृदय से करें तो अनिवार्यत: उसका असर पड़ता है। जहां राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता से कोई काम किया गया, वहीं उस पर लोगों का संदेह हुआ। बहुत कम ऐसे हिन्दू हैं, विशेषकर उन लोगों में जो गौ-हत्या के सबसे बड़े विरोधी हैं, जिन्होंने कभी गाय पाली हो, या गौशाला में चंदा देते हों या कभी किसी गाय को एक रोटी या एक गट्ठा चारा खिलाया हो। ऐसे लोग जब गौ हत्या पर बावेला मचाते हैं तो क्यों मुसलमानों को संदेह हो? हमें इस विषय में भाव की जगह बुद्धि से काम लेना चाहिए। गौ कितनी ही पवित्र हो, लेकिन मनुष्य की तुलना नहीं कर सकती। मुसलमान कितने ही गए-गुजरे हों फिर भी आदमी हैं। क्या अंधेर है कि हम अपने खाने के बरतनों में कुत्ते को ग्रास खिलाते हैं, लेकिन किसी मुसलमान को पानी पिलाना हो तो कुल्हड़ तलाश करते हैं !!! कुत्ते के मुख का स्पर्श मांजने से साफ हो जाता है, लेकिन मुसलमान के मुख का स्पर्श अमिट हैं । क्या ऐसी स्थिति में भी हम आशा कर सकते हैं कि कोई आत्माभिमानी मुसलमान हमसे भाईचारे का बरताव करेगा?

अब रहा धार्मिक अपमान । हमको शिकायत है कि मुसलमान हमारे धर्म की तौहीन करते हैं, मुसलमान यही आक्षेप हिन्दुओं पर लगाते हैं। किसी धर्म का अपमान करना, चाहे हिन्दु धर्म का या इस्लाम का, नीच और घृणित कार्य है। कोई समझदार आदमी किसी धर्म की निंदा न करेगा। इसमें कौन-सी शान घट जाती है, अगर हम बाजे बजाते हुए किसी बड़ी मस्जिद के सामने से गुज़रें तो एक क्षण के लिए बाजा बंद कर दें, अगर मुसलमान बाजे बजाते हुए मंदिरों के सामने से आते हैं तो जाने

दो। आपकी सहृदयता उन्हें स्वयं लज्जित करके आपके धर्म का आदर करने को बाध्य करेगी।[1]

इन सब कारणों में कोई भी ऐसा बलवान कारण नहीं है, जिसके लिए हम आपस में लड़ मरें। मगर यहां तो सभी छोटे-बड़े नेता बनना चाहते हैं। मतविरोध को भड़काना जातीय हीरो (Hero) बनने का सबसे सहज नुस्खा है, किंतु यह धर्म की रक्षा नहीं है। जैसा मौ॰ मुहम्मद अली ने कहा है, इस मामले में समाचार-पत्रों के संपादकों पर सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी है। वह राष्ट्रीय सेना के नायक हैं, कौम को पार लगाना या डुबा देना दोनों की उनके हाथ में हैं। शांत विचार से काम लेने की कभी इतनी ज़रूरत न थी, जितनी कि आज है। उन्हें कलम से एक-एक शब्द निकालते हुए यह सोचना चाहिए कि इससे परस्पर विरोध तो न बढ़ेगा। आवेश, उद्गार, उफान से यों डरिए, जैसे सांप से। केवल बुद्धि, गंभीर बुद्धि से काम लीजिए। छिद्रान्वेषण की स्पिरिट का त्याग देना हमारे विरोध को बहुत-कुछ मिटा देगा। हमारे एक प्रौढ़ विचार के मित्र, जो बराबर मुसलमानों के हमदर्द रहे, मौलाना मुहम्मद अली के मुख से वह ऐतिहासिक वाक्य सुनकर, जिसका महात्मा गांधी ने स्वयं समर्थन किया, मुसलमानों के कट्टर विरोधी हो गए। मौलाना के शब्दों का आशय क्या था, इसके पहले वह कितने अवसरों पर कैसे विचार प्रकट कर चुके थे, उनकी Spirit क्या थी, इसको ज़रा भी विचार न किया, बस लेना-लेना करके दौड़ पड़े कि मौलाना ने महात्मा का घोर अपमान किया। राष्ट्रीयता के लिए सहिष्णुता लाज़मी चीज़ है। बात का बतंगड़ भी हो सकता है और बतुक्का भी। बतंगड़ न बनाइए। शुद्धि और संघटन और महावीर दल और बल की खाल निकालने से समस्या दिनों-दिन जटिल होती जाएगी। यह राष्ट्र-निर्माण का मार्ग नहीं है। यह पतन का मार्ग है। जब द्वेष की आग दिलों में दहक रही हो तो प्रेम कहां से आए? यह हमारे इतिहास में वह नाज़ुक समय आ गया है, जब ज़रा-सी गलती, ज़रा-सी चूक, जरा सा आंखों का झपक जाना हमें सदियों पीछे धकेल ले जाएगा। यह शांत, अविचलित रहने का समय है। Pan Islamism धोखे की टट्टी है, जो अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं को भड़काने के लिए खड़ी की है। इसके सिवा उसका और कोई अस्तित्व नहीं है। इन चकमों में न आइए। बस, सौ बात की एक बात है कि सहृदयता ही सहृदयता उत्पन्न कर सकती है। हिन्दू तबलीग की आग को भड़काकर भी पेश नहीं पा सकते, क्योंकि हिन्दू औरतों को भगा ले जाने, जबरदस्ती निकाह पढ़ा लेने और ऐसे ही दूसरे हथकंडों में वे कुशल नहीं हैं। अभी बहुत दिन बाकी हैं, जब हमारा समाज-संघटन इन घटनाओं की संभावना का अंत कर देगा। ईश्वर न करे कि हमें अपने धर्म-प्रचार के लिए गुंडेपन की शरण लेनी पड़े। वह दिन 'आर्य-धर्म' के मातम का दिन होगा। मुसलमानों में भी बहुत

1. लेखक महाशय के इस सिद्धांत की सत्यता का अनुभव करते हुए भी हम यह कह देना चाहते हैं कि पारस्परिक व्यवहार में परपक्ष रूप सिद्धांत को प्रथम पक्ष की कायरता समझेगा, अर्थात् प्रस्तुत परिस्थिति में हिन्दुओं की उदारता निर्बलता समझी जाकर उससे अनुचित लाभ उठाने की कोशिश की जायगी। —प्रधान संपादक

कम ज़िम्मेदार आदमी ऐसे होंगे, जिन्होंने मौलाना हसन निज़ामी का तिरस्कार न किया हो। गुण्डे बड़े काम की चीज़ हैं। इनका अपनी ही घर ढाने में दुरुपयोग न कीजिए, लेकिन अगर ऐसा अवसर आ पड़े कि हमारी महिलाओं की बेआबरूई हो रही हो तो उस वक्त प्राणपण से उनकी रक्षा करनी चाहिए। साहस भी सहृदयता का अंग है। कायर कभी सहृदय हो ही नहीं सकता। चोरों से रक्षा करने के लिए अपने घर को सुरक्षित रखने की ज़रूरत है। हमको विश्वास है कि मुसलमानों में ऐसे भाव के आदमी मौजूद हैं जिन्हें इन दुष्कृत्यों से उतनी ही घृणा हो सकती है, जितनी कि किसी हिन्दू को। ऐसे दुष्टाघातों से अपनी रक्षा के लिए हम जो करेंगे उसमें समझदार मुसलमान हमारा साथ देंगे। लठैतियों के अखाड़ों से हमारी रक्षा नहीं होगी। हमारी रक्षा होगी अपनी मनोवृत्तियों को स्वार्थ से हटाकर मर्यादा-रक्षा के प्रवृत्त करने से। हम धन के दास हो गए हैं। धन के आगे हमारी दृष्टि में बहू-बेटियों की लाज का भी कोई मूल्य नहीं। इसी धन लिप्सा ने हमें कायर भीरु, अकर्मण्य बना रखा है। जब तक हमारे चित्त की यह वृत्ति रहेगी, एक क्या, सौ महावीर दल भी हमें दुष्टों से नहीं बचा सकते।

[लेख। हिन्दी साप्ताहिक 'प्रताप', कानपुर कृष्णाष्टमी, संवत् 1981, अर्थात् सितंबर, 1924 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

उपन्यास-1

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएं हैं। किन्ही दो विद्वानों की परिभाषाएं नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नही मिलतीं उसी भांति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पांव, आंखे, कान, नाक, मुंह होते हैं पर इतनी समानता पर भी उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भांति सब आदमियों के चरित्रों में बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएं होती हैं। इसी चरित्र समानता और विभिन्नता, अभिन्नता, अभिन्नत्व, और भिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। संतान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी संतान प्यारी न हो। लेकिन इस संतान प्रेम की मात्राएं हैं, उसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उनके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरुता से, अनुचित रूप से धन-संग्रह नहीं करता। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेशमात्र भी विचार नहीं करता, जिस तरह भी हो

कुछ धन संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है, जहां संतान का चरित्र प्रधान होती है, जब कि पिता संतान कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भांति अन्य मानवीय-गुणों की भी मात्राएं और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है कि जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है; वह भी संतानप्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र का घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहां शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है। अब यहां प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट-छांट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए, यहीं से उपन्यासकारों के दो गिरोह हो गए हैं, एक Idealist या आदर्शवादी, दूसरा Realist या यथार्थवादी। Realist चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा; उसके चरित्र अपनी कमजोरियां या खूबियां दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएं सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है; और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उमकी बदी को फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। Realist अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहां तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए Realism हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है वास्तव में Realism हमको Pessimist बना देता है, मानव-चरित्रों पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है। इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए Realism अत्यंत उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएं जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब Realism दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव स्वभाव की एक विषेशता, यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुंच जाना चाहता है, जहां उसके चित्त को ऐसे कुत्सित

भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ है, जहां उसे सजीव, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहां छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में खयाल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों? अंधेरी कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठाएं। इस कमी का Idealist पूरा करता है। Idealism हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु-प्रकृति होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें व्यवहारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन कांइयेंपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद होता है। Realism यदि हमारी आंखें खोल देता है, तो Idealism हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है। लेकिन जहां Idealism में यह गुण है, वहां इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हों। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए हम वही उपन्यास उच्चकोटि के समझते हैं, वहां Realism और Idealism का समन्वय हो गया हो। उसे आप 'Idealistic Realism' कह सकते हैं। Idea को सजीव बनाने के लिए Realism का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करना है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी के हैं। चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हों। महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियां होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। यही कमजोरियां उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हम Idealist हैं। हमारे प्राचीन साहित्य पर Idealism की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊंचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएं बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फंसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भांति शत्रुओं का संहार करके विजय नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव

पड़ता है।

उपन्यास-साहित्य पर थोड़ी-सी विवेचना करने के बाद अब हम अपने हिन्दी उपन्यासों पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। पाठकगण यह तो जानते ही हैं कि उपन्यास एक पश्चिमी पौधा है जो भारतवर्ष में लगाया गया है। हमारे यहां उपन्यास-काल स पहले ऐसे किस्से-कहानियों का बहुत प्रचार था जिनमें प्रेम और विरह के वर्णन ही प्रधान होते थे। प्रेमी एक निगाहे माशूका का 'कुश्तए नाज' हो जाता था। माशूका अपनी सहेलियों से अपनी विपत्ति कहानी सुनाती थी, आशिक साहब आहें भरते थे, सिर धुनते थे, घर पर खबर होती थी, यार समझाने के लिए जमा हो जाते थे, हकीम दवा करने जाते थे, पर इशक के बीमार पर किसी दवा या समझाने-बुझाने का असर न होता था। दोनों महीनों, बरसों जुदाई की तकलीफें झेलने के बाद किसी हिकमत से मिल जाते थे। अक्सर किस्सों में तिलिस्म और ऐयारी के विचित्र दृश्य होते थे, जिससे कुतूहल बढ़ता था। उर्दू में 'तिलिस्म होशरुबा' बड़े-बड़े पृष्ठों के सत्ताइस जिल्दों में खत्म होता था और 'बोस्ताने खयाल' सात जिल्दों में। उस वक्त तक हिन्दी में उपन्यास का मैदान प्राय: खाली था। दो एक अनुवाद अवश्य निकल गए थे पर कोई उपन्यास-लेखक न पैदा हुआ था। उर्दू में तो उसके पहले 'फसाना आज़ाद' के रचयिता पंडित रतननाथ दर 'सरशार', मौलवी अब्दुल हलीम शरर, मौलाना मुहम्मद अली आदि कई अच्छे उपन्यासकार हो गए थे। बंगला में भी बंकिम बाबू के उपन्यास निकल चुके थे, लेकिन हिन्दी में मैदान खाली था। उस समय स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' की रचना हुई और वह हिन्दी में अनोखी, एकदम नयी चीज थी। हिन्दी पाठक टूट पड़े और 'चन्द्रकान्ता' की खूब धूम हो गयी। यद्यपि 'चन्द्रकान्ता संतति' 'तिलिस्म होशरुबा' का अनुकरण मात्र है, लेकिन हिन्दी में आशिक-माशूक की जो कथाएं छपती थीं, जिनमें न कोई भाव होता था न कोई प्रभाव, उन पाठकों के लिए चन्द्रकान्ता ही गनीमत थी। समझ में नहीं आता कि जब अन्य भाषाओं में ऐसे-ऐसे उपन्यासकार पैदा हुए जिनका जोड़ अब तक पैदा नहीं हुआ तो हिन्दी में क्यों यह मैदान खाली रहा।

'चन्द्रकान्ता' के बाद देवकीनन्दन ने कई सामाजिक उपन्यास लिखे जिनमें उपन्यास के अंकुर मौजूद थे। ऐयारी की ऐसी हवा बंधी कि उनके बाद भी बहुत दिनों तक ऐयारी के किस्से निकलते रहे। उसके बाद जासूसी उपन्यास निकलने शुरू हुए जो अधिकांश European detective stories अधिकांश के अनुवाद होते थे। कुछ दिनों तक जासूसी उपन्यासों की खूब धूम रही और बहुत संभव था कि उसके बाद मौलिक उपन्यासों की बारी आती, लेकिन इसी बीच में बंगला उपन्यासों का रेला शुरू हुआ और वह अभी तक जारी है। बंगला के अच्छे-बुरे जितने उपन्यास मिल सकते हैं उनका बिना कुछ सोचे-समझे अनुवाद कर लिया जाता है। किसी अन्य भाषा के रत्नों से अपना भंडार भरना आपत्ति की बात नहीं। सम्पन्नतम भाषाओं में अन्य भाषाओं के अनुवाद होते रहते हैं, लेकिन वह भाषा ही क्या जहां सब कुछ अनुवाद ही हो और अपना कुछ न हो। इस पहलू से देखिए तो 'चन्द्रकान्ता संतति' का महत्व बहुत कुछ बढ़ जाता है। कम से कम अपनी वस्तु तो है। हमारा ध्येय

है कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनायें। क्या अनुवादों से राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया जा सकता है? एक मित्र से इस विषय पर वार्तालाप होने लगा तो उन्होंने कहा, 'हम यह मानते हैं कि अनुवाद से भाषा का महत्व नहीं बढ़ता लेकिन, जिन लोगों के लिए अनुवाद जीविका का प्रश्न है उन्हें आप क्या कह सकते हैं।' इसका आशय यह हुआ कि जो लोग और किसी उपाय से जीविका का अर्जन नहीं कर सकते वे ही अनुवाद किया करते हैं। मगर इसी तरकीब से तो किसी त्याज्य विषय की रक्षा की जा सकती है। चोर के लिए चोरी भी तो जीविका ही का प्रश्न है फिर चोर को सजा क्यों दी जाती है? फिर, जब हम देखते है कि हिन्दी जानने वाला आदमी एक महीने में बंगला का इतना ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि बंगला की साधारण पुस्तकें समझने लगे, तो बंगला से अनुवाद करने के लिए और भी उज्र नहीं रह जाता। अगर अनुवाद ही करना है तो उन भाषाओं से किया जाये जो बंगला से कहीं संपन्न हैं। हमने अभी तक जिन गिने-गिनाये French या Russian पुस्तकों का हिन्दी मे अनुवाद किया है, अंग्रेजी अनुवादों से किया है। हमारे युवकों को, जिनको विचार साहित्य-सेवा करने का हो, उनको उचित है कि वे योरोपियन भाषाए सीखें और उनके रत्नों से हिन्दी का भंडार भरें। वह हमें कोई ऐसी चीज दे सकेंगे जिन्हें प्राप्त करने के हमारे यहां बहुत कम साधन हैं।

साहित्य का सबसे ऊंचा आदर्श वह है जबकि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। Art for Art's Sake के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो पर अवलम्बित हो। ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, अनुराग और विराग, दुःख और लज्जा--यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियां हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊंचे पद से गिर जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आजकल परिस्थितियां इतनी तीव्रगति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं कि शायद अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि Author पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारत ही में नहीं, योरोप के बहुत बड़े विद्वान भी अपनी रचनाओं द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है उसका Interest क्षणिक होता है। ह्यूगो का ला मिजरेबुल, टाल्सटाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएं विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्चकोटि की हैं और अब तक उनका Interest कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं। हमारा ख्याल है कि कुशल कलाकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुंदरता से करता है कि उनसे

मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। Art for Art's Sake का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनैतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं। विपत्ति का करुण-क्रंदन सुनाई देता है तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का दिल न दहल उठे। हां, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पावे, वरना उपन्यास नीरस हो जायेगा।

अंत में हम अपने सहृदय नवीन लेखकों से अनुरोध करते हैं कि यदि आप उपन्यास लिखना चाहते हैं तो पहले तैयारी कीजिए। बिना मानव-शास्त्र का उचित ज्ञान प्राप्त किए, कभी न कलम उठाइये। यों तो जिन्हें रचना की ईश्वरप्रदत्त शक्ति प्राप्त है, वह आप ही आप लिख लेंगे, लेकिन मन में वीरभाव होने पर भी तो शास्त्रों का कुछ ज्ञान होना परमावश्यक है। सबसे प्रधान मनोवृत्ति है। एक बार किसी सुप्रसिद्ध चित्रकार से एक शरीफ ने पूछा कि 'ऐसे सुंदर रंग आप कहां से लाते हैं?' चित्रकार ने मुस्कराकर उत्तर दिया, 'जनाब, अपने दिमाग से।'

[लेख। हिन्दी मासिक पत्रिका 'समालोचक', जनवरी, 1925 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित]

उपन्यास-2

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएं हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना उपन्यास का मूल तत्त्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भांति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पांव, आंख, कान, नाक, मुंह होते हैं पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उसमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भांति सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएं होती हैं। यही चरित्र-संबंधी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

संतान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा, जिसे अपनी संतान प्यारी न हो? लेकिन इस संतान-प्रेम की मात्राएं हैं, इसके भेद हैं। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए कि आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन

संचय नहीं करता है। उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी विचार नहीं करता–जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा संतान-प्रेम वह है, जहां संतान का चरित्र प्रधान कारण होता है, जब कि पिता संतान कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है–उसके लिए कुछ छोड़ जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी संतान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भांति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएं और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चरित्र कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है, जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान प्रेम ही है, जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह संतान-प्रेम भी देखने में आता है जहां शराबी, जुआरी पिता पुत्र प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यह प्रश्न होता है, उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए, उसमें अपनी तरफ से काट छांट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासों के दो गिरोह हो गए हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा उसके चरित्र अपनी कमजोरियां या खूबियां दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाएं सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं, उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, और बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है।) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है यहां तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ-न-कुछ दाग धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है।

इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखाएं जितना

वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की विषेशता यह भी है कि वह जिस छल, क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुंच जाना चाहता है, जहां उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाय कि मैं चिंताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूं, जहां उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहां छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़े ही क्यों?

अंधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठाएं। इसी कमी का आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है, लेकिन कांइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद होता है।

यथार्थवाद यदि हमारे आंखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है। लेकिन जहां आदर्शवाद में यह गुण है, वहां इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की पूर्तिमात्र हों—जिसमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहां यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ को उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ-न-कुछ कमजोरियां होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसको कमजोरियां का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमजोरियां उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊंचा है। वह हमारा पथ

प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम-से-कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिए। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर पर झुकाएं बल्कि उनको परास्त करें। जो वासनाओं के पंजे में न फसें बल्कि उनका दमन करें। जो किसी विजयी सेनापति की भांति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊंचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो, ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दु:ख और लज्जा--यह सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियां हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊंचे पद से गिर जाता है--इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आजकल की परिस्थितियां इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए-नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवाह नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है? विक्टर ह्यूगो का 'ले मिजरेबुल', टॉल्स्टॉय के अनेक ग्रंथ, डिकेंस की कितनी ही रचनाएं विचार-प्रधान होते हुए उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियां हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी वेल्स, शॉ आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रंथ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा खयाल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुंदरता से करें जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश संपन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दु:ख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे? हां, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स'

उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसफिरों की जबान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश—सबकी रचना हो गई। 'साइलस मार्नर' भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज एलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है, कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगाने वाली जुलाहे को पीठ कर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुंदर मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकद्दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गए, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से काई उदाहरण देना कठिन है। 'रंगभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गांव में रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुंचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम॰ ऐंड्रूज हिम' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन है इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वह उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध? उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घंटों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों का आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, मैं ऐसा उपन्यास लिखूंगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हाल केन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। मेटरलिंक बेल्जियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेल्जियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोमाबोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डॉक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितनी वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है इसकी खोज करके भी कितनी ही लोग 'डॉक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक वृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकबर के दरबार वाले फैजी कहे जाते हैं। हालांकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम-से-कम 20,000 पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व॰ बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएं हैं, जिन पर हजारों बरसों से लेखकगण

आख्यायिकाएं लिखते हैं। और शायद हजारों वर्षों तक लिखते जाएंगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितनी नाटक और कितनी कथाएं रची गई हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं का साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहां तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की ज्यों मिलती है।

किंतु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता तो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हां, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके है उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती—कलम उठाया और लिखने लगे। लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, वह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य-विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से। किसी को नए सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ठ सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएं होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी, उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेदवार का वह टुकड़ा देकर उस नाम के संबंध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहां रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिए, तो उन्हें अयोग्य समझकर बिदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर

लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर प्रकार की चीजों को वे अलग-अलग खानों में संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद वह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन आरंभकाल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना–

'अगस्त 21, 12 बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सफेद बाल, आंखें तिरछी, पलकें भारी, ओंठ ऊपर उठे हुए और मोटे, मूंछें ऐंठी हुई।

'सितंबर 1, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिंब काला, हरा, चमकीला, लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।'

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहां मिलते हैं? तो आपने कहा, 'चारों तरफ।' अगर लेखक अपनी आंखें खुली रखे, तो उसे हवा में से भी कहानियां मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों जगहों से सुंदर कहानियां बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देखभाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छांट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चर्चा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जाएं तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुंदर कहानियां सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए, वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं–

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आंखें से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे, वह तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा? यह सत्य है। लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े, कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नए चरित्र न मिलें पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वह भी देखिए-

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है, तो वह सूक्ष्मतम-भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छवनियां नहीं देखीं, उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है

कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अंग्रेज उपन्यासकार को जानता हूं, जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर सहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहां मिला? (फ्रांस, रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहां साधारणत: नहीं दिखाई पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्राटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इंच से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्व की वस्तु है।'

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियां लिखने मे बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियां लिखने का जो नियम बनाया है, वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं

'कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बंटना चाहिए। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में रहस्य खुल जाय। लेकिन हर एक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमें पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परम आवश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मजा है जबकि वह चरित्र अपराधी सिद्ध हो, जिस पर कोई भूलकर भी संदेह न कर सकता था।'

उपन्यास कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है, इसीलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोड़े। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी अधिक सामग्री रहेगी उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मजा नहीं आता। किसी चरित्र की रूपरेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलियानवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरंत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत सी अनावश्यक बातों के आ जाने की संभावाना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें ही आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपने आशय

और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हमें उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनंद तो है?

श्याम—हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े?

राम—कहो क्या रंग-ढंग है? तुम तो भले ईद के चांद हो गए।

श्याम—मैं तो ईद का चांद न था, हां, आप गूलर के फूल भले ही हो गए।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ?

श्याम—हां, चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है, जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है, तो वह केवल इतना ही लिख देगा

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।

[लेख। मूल स्रोत अज्ञात। 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'कुछ विचार' से संकलित । थोड़ी भिन्नता, पर मिलती-जुलती सामग्री के कारण इसे उपन्यास-1 के साथ संकलित किया गया है।]

कर्बला-II

मित्रवर श्रीयुत रामचन्द्र टंडन ने मेरे 'कर्बला' नामी ड्रामा की आलोचना करते हुए यह शंका प्रकट की है कि वह नाटक में हिन्दू पात्र क्यों लाए गए। उनका कथन है—'हिन्दू पात्रों के समावेश से न हिन्दुओं को प्रसन्नता होगी, न मुसलमानों को तुष्टि इसलिए हिन्दू पात्र न लाए जाते तो कोई हानि न होती।' यह ड्रामा ऐतिहासिक है और इतिहास से यह पता चलता है कि कर्बला के संग्राम में कुछ हिन्दू योद्धाओं ने भी हजरात हुसैन का पक्ष लेकर प्राणोत्सर्ग किए थे, अत: उन पात्रों का बहिष्कार करना किसी भांति युक्तिसंगत न होता। रही यह बात कि उनके समावेश से हिन्दू और मुसलमान, दो में से एक को भी प्रसन्नता न होगी, इसके लिए लेखक क्या कुसूरवार ठहराया जाय? आज हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में वैमनस्य है, इसलिए संभव है कि ऐसे मिश्रित दृश्य रुचिकर न हों, लेकिन जरा गौर से देखिए, तो उस दृश्य में ऐसी कोई बात नहीं है, जिस पर किसी हिन्दू या मुसलमान को आपत्ति हो। हिन्दू जाति यदि अपने पुरखाओं को किसी धर्म-संग्राम में आत्मोत्सर्ग करते हुए देखकर प्रसन्न न हो तो सिवाय इसके और क्या कहा जा सकता है कि हममें वीर पूजा की भावना भी नहीं रही, जो किसी जाति के अध:पतन का अंतिम लक्षण है। जब तक हम अर्जुन, प्रताप, शिवाजी आदि वीरों की पूजा और उनकी कीर्ति पर गर्व करते हैं तब तक हमारे पुनरुद्धार की कुछ आशा हो सकती है। जिस दिन से हम इतने जातिगौरव-शून्य हो जाएंगे कि अपने पूर्वजों की अमरकीर्ति पर आपत्ति करने लगें, उस दिन हमारे लिए कोई आशा न रहेगी। हम तो उस चित्तवृत्ति की कल्पना करने में भी असमर्थ हैं जो हमारे अतीत गौरव की ओर इतनी उदासीन हो। हमारा तो अनुमान है कि हिन्दू इच्छा न रहने पर भी इस बात से प्रसन्न होंगे और उस

पर गर्व करेंगे। हां, मुसलमानों की तुष्टि के विषय में हम निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकते। लेकिन चूंकि मुसलमान लेखकों ने यह अन्वेषण किया है और उन्हीं के आधार पर हमने हिन्दू पात्रों का समावेश किया है इसलिए इस विषय में शंका करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि मुसलमान संतुष्ट होंगे। यदि मुसलमानों को एक महान् संकट में आर्यो से सहायता पाने पर खेद होता तो वह इसका उल्लेख ही क्यों करते। आजकल की समुन्नत जातियां भी संकट के अवसर पर दी गई सहायता का एहसान मानने में अपमान नहीं समझतीं। फिर कोई कारण नहीं कि मुसलमान क्यों आर्यों की प्राणपण से दी गई सहायता का अनादर करें। हां, यदि हिन्दू लोग आज उस एहसान के बल पर मुसलमानों के सामने शेखी बघारने लगें तो संभव है, मुसलमानों के मन में कृतज्ञता की जगह द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाय और वे उस घटना को भूल जाने की चेष्टा करने लगें।

समालोचक महोदय को दूसरी शंका यह हुई है कि यदि आर्यो का अरब में जाकर बसना मान लिया जाय तो यह क्यों कर हो सकता है कि महाभारत काल से हुसैन के समय तक वे लोग अपने धार्मिक आचार विचार की रक्षा कर सके, कैसे मंदिर बनवा सके, कैसे रियासत बना सके? अतएव उनकी वेश भूषा तथा भाषा भी अरबों ही से मिलनी चाहिए थी। अरब जैसी मूर्ति विध्वंसक जाति के बीच में रहकर वे कैसे अपनी जातीयता का पालन कर सके?

हमारे मित्र को मालूम होगा कि महाभारत काल में अरब या ईरान आर्यों के लिए कोई अपरिचित स्थान न थे। परस्पर गमनागमन होता रहता था। उस समय मुसलमान धर्म का जन्म न हुआ था और अरब जाति मूर्तिपूजा में रत थी। एक नहीं, अनेक देवता की पूजा होती थी। बहुत संभव है उनकी वेश-भूषा भी आर्यो से मिलती-जुलती रही हो। सिदियन, हूण, कुशन आदि जातियां उत्तर-पश्चिम से आकर आर्यो में सम्मिलित हो गईं। इससे प्रकट होता है कि उस समय उनमें और आर्यों में विशेष सादृश्य था। कम-से-कम यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत काल में प्रतिमा-पूजा का प्रसार न हुआ था और इसका कोई प्रमाण नहीं कि आर्यो और अरबों में उतनी विभिन्नता न थी जितनी इस समय है। हुसैन के समय तक मुसलमान धर्म का प्रादुर्भाव हुए पचास वर्ष से अधिक न हुए थे। उस वक्त ईरान भी पूर्णरीति से मुसलमान सेनाओं के सामने परास्त न हुआ था। जब हम लोग जानते हैं कि अश्वत्थामा के अरब निवासी वंशज मूर्ति पूजक थे तो मुसलमानों को उनसे ख्वामख्वाह लड़ने का क्या कारण हो सकता था? ऐसी दशा में यदि वे आर्य अपने आचरण का पालन कर सके तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनका नामकरण हमने नहीं किया। हमने उनके वही नाम लिख दिए हैं, जो हमें इतिहास में मिले। यह इस बात की एक और दलील है कि इतना जमाना गुजरने पर भी वे आर्य वीर अपनी वंश-परंपरा को भूले न थे। जब हम देखते हैं कि पारसी जाति शताब्दियों से भारतवर्ष में रहने पर भी अपने धर्म और आचरण को निभाती चली जाती है, तो आर्यो के विषय में ऐसी शंका करना सर्वथा निर्मूल है।

[लेख। 'माधुरी', जनवरी, 1925 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

वर्तमान यूरोपियन ड्रामा

यों तो वर्तमान उपयोगितावाद के सिद्धांत ने यूरोपियन साहित्य के हर एक विभाग पर असर डाला है, लेकिन नाटक पर इसका जितना असर पड़ा है, कदाचित् और किसी अंग पर नहीं पड़ा। इंग्लैंड के सबसे श्रेष्ठ नाटककार बर्नार्ड शॉ महोदय हैं। आपने किसी मत के प्रचार, किसी-न किसी सामाजिक व्यवस्था के सुधार और किसी न-किसी वाद के स्पष्टीकरण की चेष्टा की है। किसी में वैवाहिक प्रथा की मुखर आलोचना है, तो किसी में जनतावाद का प्रचार किया गया है। यहां तक कि अंग्रेजी लेखन-विधि की अस्वाभाविकता भी उनके तीव्र आक्षेपों से नहीं बची है। उनके नाटक बहुधा एक ही अंक के हैं, यहां तक कि कई में तो दृश्य भी एक ही है। भारतवर्ष में ऐसे नाटक तुच्छ समझे जाएंगे। गायन, सीनरी, परदे और ठाठबाट पर प्राण देने वाली भारतीय जनता को उन नाटकों में मजा न आएगा, लेकिन इंग्लैंड में शॉ के ड्रामे बड़ी सफलता के साथ खेले जाते हैं। उनकी सारी खूबी केवल पात्रों के वाक्चातुर्य, व्यंग्य, सूक्ति और विचारों की मौलिकता, नवीनता तथा प्रभावोत्पादकता में है। बर्नार्ड शॉ व्यंग्य तथा तीव्र कटाक्ष का राजा है। उसके विचारों में इतनी मौलिकता होती है कि एक-एक वाक्य श्रोताओं के चित्त में विचार तरंगें आंदोलित कर देता है वह किसी के साथ रिआयत नहीं करता, सभी पर फब्तियां कसता है। कोई प्रथा कितनी ही प्राचीन और सम्मानित क्यों न हो, यदि उसकी कसौटी पर पूरी नहीं उतरती तो वह उसकी जरा भी परवा नहीं करता, लेकिन उसके व्यंग्य निर्दयता से रहित होते हैं। उसमें शिष्टता और सहानुभूति छिपी रहती है। फ्रांस के नाटककार ब्रियो भी उपयोगिता के पुजारी हैं। बर्नार्ड शॉ ब्रियो के परम भक्त हैं उनका कहना है कि मोलियर के बाद ब्रियो के बराबर कोई नाटककार नहीं हुआ। ब्रियो रंगमंच को केवल मनोरंजन और विलास का सा साधन नहीं बनाना चाहता। उसकी निगाह में उसका महत्त्व कहीं ऊंचा है। ब्रियो का कहना है कि नाटककारों के लिए यह बात लज्जाजनक है कि वे केवल आमोद प्रमोद के साधन बनें। वे नाटककारों को उपदेशक का सा स्थान दिलाना चाहता है। हमारे विचार में उसका कथन बहुत कुछ विचारणीय है।

यूरोप का तीसरा नाटककार इब्सेन है। समस्त यूरोप में इसके नाटकों की धूम है। इब्सेन की सबसे प्रसिद्ध रचना 'डाल हाउस' है। इसमें स्त्रियों की पराधीनता का दिग्दर्शन कराया गया है। कहा जाता है कि ऐसा सर्वांग सुंदर नाटक शेक्सपियर के बाद फिर नहीं लिखा गया। उसकी दूसरी रचना 'घोस्टस' का स्थान भी बहुत ऊंचा है। यूरोप की सभी भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है। इब्सेन भी बर्नार्ड शॉ और ब्रियो की भांति उपदेशवादी है। वह अपने विचारों के प्रचार करने के ऐसे उत्तम साधन को हाथ से नहीं जाने देना चाहता है।

संभव है कि इन महानुभावों के नाटकों में जनता को बहुत आनंद न आता हो, लेकिन सभ्य समाज में और विद्वज्जनों में इन नाटकों का बड़ा सम्मान है। राष्ट्रों और जातियों की बागडोर यही समाज अपने हाथ में रखता है। इब्सेन के यहां व्यंग्य और कटाक्ष नहीं हैं, उसकी आलोचना भी तीव्र नहीं होती, उसके पात्रों में इतनी

स्वाभाविकता और घटनाओं में इतनी यथार्थता होती है कि वह यूरोप का सर्वप्रधान नाटककार माना जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि नाटक हो या काव्य, उपन्यास हो या गल्प, जब उसमें किसी मत का प्रतिपादन किया जाता है तो उसकी सरसता में बाधा पड़ जाती है, मानो सुधा के निर्मल प्रवाह में गंदला की कीचड़ मिल गया हो। लेकिन हमारा विचार है कि मत-प्रधान रचनाएं भी कुशल हाथों में अपनी सरसता को बहुत-कुछ अक्षुण्ण रख सकती हैं। आखिर ऐसी रचनाएं क्यों अरुचिकर हो जाती हैं? केवल इसीलिए कि उसमें लेखक को अपने मत का संपादन करने के लिए बहुधा सत्य की हत्या करनी पड़ती है। उसके पात्र और घटनाएं स्वेच्छा से नहीं चलते, ऐसा मालूम होता है कि वे बेड़ियों में जकड़े हुए हैं। बस इसी अस्वाभाविकता के कारण ऐसी रचनाएं नीरस हो जाती हैं। पर कुशल लेखक इस बात का ध्यान रखेगा कि काव्यानंद की कल्पना इस ढंग से की जाय, पात्रों के चित्रण इस तरह हों मालूम हो कि वह स्वेच्छा से अपने-अपने काम कर रहे हैं। कोई मत विशेष उन्हें संचालित नहीं कर रहा है, बल्कि उनके मनोभाव आप-ही-आप उन्हें स्वाभाविक स्थिति की ओर लिए जाते हैं, और यह काम असाध्य भी नहीं है। इब्सेन के सभी नाटक उपदेश प्रधान हैं, लेकिन उनकी सरसता या स्वाभाविकता में जरा भी कमी नहीं होने पाई है। बर्नार्ड शॉ के यहां घटनाएं तो नहीं होतीं, लेकिन उसके पात्रों का संभाषण इतना सुंदर और सजीव होता है कि दर्शकों को शायद ही यह खयाल आता हो कि उनको कोई उपदेश दिया है।

फ्रेंच क्रांति के पहले जब यूरोप उसी निद्रा में मग्न था, जिसमें उस समय का भारत, तो मानव जीवन ही साहित्य का मुख्य विषय था। रूसो ने इतिहास में जो क्रांति पैदा की, उससे कहीं अधिक बड़ी क्रांति साहित्य में क्षेत्र में पैदा कर दी। उस समय मानव जीवन की आलोचना करना ही साहित्य का मुख्य विषय था। इस आलोचना के द्वारा जीवों के रहस्यों का उद्घाटन होता था। प्रेम भक्ति, द्वेष, दंभ आदि मौलिक भावों की विचित्रता अंकित की जाती थी। आदर्श चरित्रों का चित्रण किया जाता था। मनुष्य को संसार बीती सुनने में आनंद आता था, जो परम स्वाभाविक है। क्रांति ने मानव-जीवन में नई नई समस्याएं उपस्थित कर दीं। सामाजिक अत्याचारों की ओर लोगों का ध्यान कभी इतने वेग से आकर्षित न हुआ था। छोटे-बड़े का भेद, धनियों की स्वार्थपरता, दीनों की पराधीनता आदि समस्याओं पर मनुष्य ने कभी इतनी सुव्यवस्थित रीति से विचार न किया था। उस क्रांति ने कितनी ही परम्परागत समस्याओं की जड़ें हिला दीं, कितने ही रूढ़ियों का सर्वनाश कर दिया। स्वार्थ ने दीनों को दबाए रखने के लिए जो नियम बना रखे थे, उनकी कृत्रिमता का परदाफाश हो गया तथा 'व्यक्ति' की प्रधानता स्वीकार की जाने लगी। शिक्षा में सुधार की आयोजनाएं होने लगीं, स्त्रियों के प्रति लोगों के विचारों में परिवर्तन होने लगा। इन समस्याओं के सामने मानव-जीवन की आलोचना भी गौण मालूम होने लगी। जैसे कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में नित्य नई-नई खोज किया करता है, उसी भांति साहित्यकारों ने भी समाज के राम-राज्य उपस्थित करने के लिए नए-नए विधानों का संपादन करना शुरू किया। किसी को मालूम होने लगा कि स्त्रियों की पराधीनता ही वर्तमान विषमता

का मुख्य कारण है किसी की समझ में व्यवसाय की पराधीनता ही सुख-साम्राज्य के मार्ग में बाधक पाई गई। सभी लोग अपने-अपने विचार के अनुसार नए-नए उपाय सोचने लगे, और चूंकि नाटकों द्वारा अपने विचारों को जनता के सामने बड़े प्रभावजनक रूप में लाया जा सकता है, इसलिए रंगमंच पर ही लेखकों की सुधार-वृत्ति का असर सबसे अधिक आने लगा।

[लेख। हिन्दी मासिक 'साहित्य-समालोचक', अप्रैल, 1925 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का आप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

देशबन्धु चितरंजन दास

देशबन्धु दास उन महान् पुरुषों में थे ,जो राष्ट्रों के इतिहास में अपनी यादगार छोड़ जाते हैं,जो जातियों के भाग्य-विधाता होते हैं। जिनके दिल में मुर्दा हो चुके होते हैं जिनमें दर्द और शर्म की झलक तक नहीं रह गई होती, ऐसों ही को दीन दशा से उठाकर वे ऐसे शक्तिमान राष्ट्रों की बुनियाद डालते हैं कि देखने वाले दांतों तले उंगली दबाते हैं किसे उम्मीद थी कि कभी पंजाब में नादिर और अब्बाली से टक्कर लेने वाली कोई संस्था बनेगी? कौन कह सकता था कि मुगलों को अखंड राज्य एक पहाड़ी मराठे के हाथों जड़ से हिल जायगा? ऐसे वीरों के सिर पर मुकुट नहीं होता, लेकिन जाति के असली राजा वे ही होते हैं। उन्हें गद्दी पर बैठने की हवस नहीं होती, वह जनता के हृदयों में उन्हें वह स्थान मिल जाता है जो राजों को भी मयस्सर नहीं हो सकता। देशबन्धु दास इसी श्रेणी के मनुष्यों में थे। वह बड़े विद्वान्, बड़े वक्ता, बड़े राजनीतिज्ञ न रहे हों, लेकिन उनमें वह प्रतिभा भी, जिसने उन्हें विद्वानों में विद्वान, वक्ताओं में वक्ता और राजनीतिज्ञों में राजनीतिज्ञ बना दिया। वह स्वतंत्रता के भक्त थे और उसी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उनके मन में केवल एक अभिलाषा थी, और वह थी स्वदेश को स्वतंत्र देखने की। पर वह स्वतंत्रता देवी के उन भक्तों में न थे, जो मंदिर में गला फाड़-फाड़कर गाते हैं, अपने सिजदों से मंदिर की चौखट को रगड़ डालते हैं और उसी भक्ति और उपासना को अवसर पड़ने पर मान और पद का जीना बना लेते हैं। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति, यहां तक कि अपने प्राण भी उस देवी के चरणों पर चढ़ा दिए। यही कारण था कि भारतवर्ष का बच्चा-बच्चा उन पर प्राण देता था। वह जाति के सच्चे सेवक थे और जाति भी उन पर सच्चे दिल से प्रेम करती थी। उन्होंने बहुत थोड़े दिनों से राजनीतिक क्षेत्र में पग रखा था, लेकिन अपने अनवरत उद्योग, अदम्य उत्साह, असीम उदारता और अनुपम त्याग के कारण इस थोड़े समय में उन्होंने भारतवर्ष में एक युगांतर-सा उपस्थित कर दिया। भारत में प्रजा पक्ष को शायद ही कभी सफलता मिलती है। प्रजा की इच्छाएं और आशाएं तो कुचली जाने ही के लिए होती हैं। किंतु यह गौरव देशबन्धु ही को प्राप्त हुआ कि उन्होंने स्वराज्य दल को जिस उद्देश्य से स्थापित किया था, वह पूरा हो गया। उन्होंने द्वैत शासन का अंत करने की ठानी थी। उनकी विजय से भारत को अपना अंतिम लक्ष्य प्राप्त करने में कोई सहायता मिलेगी या नहीं, इसके विषय में

कुछ नहीं कहा जा सकता। किंतु देशबन्धु ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत अब पश्चिमी राजनीति समझने लगा है और उसे भड़कीले खिलौने से नहीं फुसलाया जा सकता।

चितरंजन के पिता बाबू भुवनमोहन दास कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। वह बहुत ही उदार हृदय पुरुष थे। जो कमाते थे उससे ज्यादा खर्च करते थे। नतीजा यह हुआ कि ऋण का भार बढ़ने लगा, और अंत में दिवालिया बनना पड़ा। चितरंजन उन दिनों विलायत में थे। वहां से वापस आकर उन्होंने स्थिति बहुत खराब देखी। पिता की बदनामी के कारण पहले उनसे लोगों ने रुखाई की, कोई सहारा देने को तैयार न हुआ। पर नौजवान बैरिस्टर को इसकी बहुत जरूरत होती है। आखिर कलकत्ते से निराश होकर चितरंजन को मुफस्सिल में वकालत करनी पड़ी और थोड़े ही दिनों में उन्होंने फौजदारी के सीगे में अच्छा नाम पैदा कर लिया। तब वह कलकत्ते फिर लौट आए और हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। यद्यपि आमदनी अभी खर्च के लिए काफी न होती थी, पर आपको कर्ज अदा करने की फिक्र हमेशा लगी रहती थी। दस्तावेजों की मियाद गुजर चुकी थी। कानूनन महाजन भी उनका कुछ न कर सकता था। पर चितरंजन अनीति की आड़ में छिपने वाले आदमी न थे। मियाद गुजर जाने से कर्ज नहीं मिट सकता। कर्ज तो अदा करने ही से मिट सकता है। ज्योंही हाथ फैला, चितरंजन ने अपने पिता का देना पाई पाई चुका दिया। महाजन निराश हो चुका था। उसका कथन है कि जब मेरे पास चेक पहुंचा, तो मैं चकित हो गया। मौका पाकर भी जो लोग धर्म या कर्त्तव्य से विचलित नहीं होते, वहे ही सच्चे धर्मात्मा हैं, इसी एक काम से चितरंजन की विवेकशीलता का पता लग जाता है।

मि० दास को अब अपने पेशे में ख्याति प्राप्त होने लगी। उनकी जिरह-शैली और बहस को देखकर उस विद्या के विशारदों को अनुमान होने लगा कि किसी दिन यह युवक ख्याति के शिखर पर पहुंचेगा। सन् 1908 के पूर्व तक मि० दास को कोई ऐसा मार्के का मुकदमा न मिला था जिससे उनकी बुद्धि की कुशलता का परिचय मिलता। इतने में अलीपुर के बम का अभियोग चला। बाबू अरविंद घोष और उनके कई सहकारियों पर मुकदमा चला। इस मुकदमे ने सारे भारतवर्ष में हलचल पैदा कर दी। सारे देश की आंखें उसकी ओर लगी हुई थीं। सरकार की ओर से प्रसिद्ध बैरिस्टर मि० नार्टन पैरवी कर रहे थे। मि० दास ने जी तोड़कर इस मुकदमे की पैरवी की। इन दिनों उन्हें कभी दो बजे से पहले रात को सोना नसीब न होता था। मि० दास केवल अरविंद बाबू के वकील ही न थे उनके भक्त भी थे। आखिर आपकी मेहनत ठिकाने लगी और अरविंद बाबू जो प्रधान अभियुक्त थे, बरी कर दिए गए।

इस सफलता ने मि० दास को वकीलों की प्रथम श्रेणी में ला बिठाया, उनकी गणना प्रधान वकीलों में होने लगी। शनैः शनैः आपकी इतनी ख्याति हुई कि आपकी सालाना आमदनी तीन लाख तक पहुंच गई। बंगाल में लार्ड सिन्हा के सिवा आपके जोड़ का दूसरा कानूनदां न था। लार्ड सिन्हा और बहस में ज्यादा कुशल थे, तो जिरह में मि० दास को कोई सानी न था। विशेषता यह थी कि मुकदमा जितना ही कमजोर

और सारहीन होता था, उतनी ही उनकी बुद्धि उसमें लड़ती थी। बेजान मुकदमे उनके हाथ में आकर पनप जाते थे। राजनीतिक अभियोगों पर तो मानो उनका इजारा ही था।

जिन दिनों बाबू अरविंद घोष पर मुकदमा चल रहा था, बाबू विपिन चन्द्रपाल भी उस मुकदमे में गवाही देने के लिए तलब किए गए। बाबू साहब ने गवाही देने से इनकार किया। सबको विश्वास हो गया कि अब हजरत पर आफत आई। कानून की धारा इस विषय में साफ थी। जरा भी संदेह या भ्रम न था। बचने का कोई उपाय न था। मि० दास ने आखिर यह युक्ति निकाली कि यह धारा अंग्रेजी नीति-विधान पर अवलंबित है, भारतवर्ष की नैतिक और सामाजिक अवस्था इस धारा के विरुद्ध है। इंग्लैंड की नीति में जो बात उचित हो वह भारत में अनुचित हो सकती है और उस धारा का यह प्रयोग करना स्वार्थ न्याय-विरुद्ध होगा। आपने इस युक्ति को ऐसे प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया कि विपिन बाबू को केवल छह मास की सादी कैद की सजा मिली।

यद्यपि अब तक मि० दास राजनीति के क्षेत्र में न आए थे, लेकिन राजनीतिक संग्राम में उनका काम किसी बड़े-से-बड़े नेता से कम न था। आपकी अभिरुचि का परिचय उसी समय मिलने लगा था। आपकी बार-बार इच्छा होती थी कि वकालत को तिलांजलि देकर रण-क्षेत्र में कूद पड़े, किंतु उन दिनों अरविंद घोष और विपिनचन्द्र पाल, दोनों, ही राष्ट्रीय झंडा संभाले हुए थे। इसलिए मि० दास ने अपने को रोका।

मि० दास का सार्वजनिक जीवन 1917 में शुरू हुआ, जब इंग्लैंड की लिबरल गवर्नमेंट ने बहुत दिनों के बाद अपनी हस्ती का सबूत दिया और घोषणा करके यह स्वीकार किया कि भारतवर्ष का राजनीतिक लक्ष्य स्वराज्य है। दो साल तक मि० दास बंगाल के राजनीतिक जीवन में नए विचारों का संचार करते रहे। अलीपुर में अभियोग के बाद बंगाल में नरम विचार वालों की विजय-सी हो गई थी। राजनीतिज्ञों को इस घोषणा में गुण-ही-गुण नजर आते थे। वे खुशी से फूले न समाते थे। उन दिनों नरम और गरम दलों में नए सुधारों पर जो वाद-विवाद हुए, और आंदोलन ने अंत में जो रूप धारण किया, वह अभी कल की बात है। उसका उल्लेख करने की यहां जरूरत नहीं। केवल इतना कहना काफी है कि मि० दास पर भी पंजाब के अत्याचारों का वही असर हुआ जो अन्य कितनी ही सहृदय प्राणियों पर। आप भी असहयोग दल में शामिल हो गए। कांग्रेस की ओर से उन अत्याचारों की तहकीकात करने के लिए जो कमेटी कायम की गई, उसमें मि० दास भी शमिल थे।

इसमें संदेह नहीं कि असहयोग का मार्ग कांटों से भरा हुआ था, और महात्मा गांधी के जेल जाने के बाद कोई ऐसा न रह गया था, जो उस भार को संभालता। अकर्मण्यता की कुछ ऐसी प्रतिक्रिया शुरू हुई कि आंदोलन बिल्कुल बेजान-सा हो गया। देहातों में जाते हुए लोगों के रोएं खड़े होने लगे। उस अकर्मण्यता को दूर करने और जातीय उत्साह को किसी ढर्रे पर लगाने के लिए मि० दास को कार्उसिल में जाकर गवर्नमेंट का विरोध करने की सूझ गयी। यही ऐसा मार्ग था जिसका हमारे

नेताओं को कुछ अनुभव था। अन्य कोई मार्ग उन्हें सूझ ही न सकता था। आखिर स्वराज पार्टी का जन्म हुआ और महात्मा गांधी के छूट कर आते-आते इस पार्टी ने देश की बहुत कुछ सहानुभूति प्राप्त कर ली। मि॰ दास यद्यपि पहली बार यह प्रस्ताव स्वीकार न करा सके, पर उन्होंने हिम्मत न हारी और कांग्रेस को उनका प्रस्ताव मानना ही पड़ा। यह सबसे बड़ी विजय थी, जो मि॰ दास को अपने जीवन में प्राप्त हुई, और इसमें संदेह नहीं कि जिस दशा में सारा देश उत्साह-शून्य हो रहा था, उसी में आपने उत्साही पुरुषों को काम करने का एक रास्ता दिखा दिया। पर असहयोग आंदोलन की उसी दिन पूर्णाहुति भी हो गई। भारी पत्थर था, सबने चूमकर छोड़ दिया। काउंसिल की मेंबरी और असहयोग, दोनों में नैसर्गिक विरोध था। काउंसिल में जाना सहयोग के मुंह में जाना था, और आज वे शंकाएं पूरी हो रही हैं, जो उन दिनों कुछ लोगों के मन में उठी थीं। मि॰ दास ने अपनी अंतिम वक्तृता में सहयोग का संकेत भी किया था, और पं॰ मोतीलाल नेहरू ने सैण्डहर्स्ट कमेटी में सम्मिलित होकर बतला दिया था अब उन्हें वजारत स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी। यह हमारी राजनीतिक पराधीनता और असमर्थता का करुणाजनक दृश्य है।

मगर कुछ भी हो, मि॰ दास ने हमारे राजनीतिक जीवन को आदर्श बहुत ऊंचा कर दिया है। अब राजनीति केवल काउंसिल या कांग्रेस के प्लेटफार्म पर नहीं रही। वह अब आत्म बलिदान का दूसरा नाम है। अब वही प्राणी हमारा नेता बनने का दावा कर सकता है, जो जाति के लिए त्याग कर चुका हो, जिसने अपने को जाति के हाथ में समर्पित कर दिया हो, जिसका चरित्र उज्ज्वल हो, जिसने अपने मन को जीत लिया हो और जो कड़ी-से कड़ी आंच सह कर खरा निकल आवे। मि॰ दास के स्वराज्य का आशय भी वह न था, जिसकी साधारणतः कल्पना कि जाती है, वह पश्चिमी नमूने का स्वराज्य न चाहते थे। वह तो यथार्थ में बनियों का राज्य है, भारत के लिए वह ऐसा स्वराज्य चाहते थे, जिसमें गरीबों के अधिकार प्रधान हों। देहातों की उन्नति और स्वास्थ्य उनके स्वराज्य का सबसे उज्ज्वल अंग था। वह बड़े-बड़े शहरों की समृद्धि वृद्धि के पक्ष में न थे। इसे वह नवीन सभ्यता का कलंक समझते थे। वह देहातों में ऐसे केन्द्र स्थान बनाना चाहते थे, जो स्वावलंबी हों, जिनकी सारी जरूरतें वहीं पूरी हो जाएं। इन्हीं केन्द्रों को वह अपने स्वराज्य का प्रवेश-द्वार समझते थे। सारांश यह कि वह भारतीय जनता को नरभुख शिक्षित समाज के पंजे से छुड़ाना चाहते थे। वह इस देश को योरोप की नकल से बाज रखकर राष्ट्रीयता की ओर खींचना चाहते थे। उनका कथन था कि यदि देहातों में सड़कें बन जाएं, सफाई और रोशनी का प्रबंध हो जाय, तो कोई कारण नहीं कि बहुत से वे व्यवसाय देहातों में न किए जा सकें, जो अब शहरों ही में किए जाते हैं। उन्हें भारतवर्ष से असीम प्रेम था। उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं इसी देश में फिर जन्म लूं और फिर इसकी सेवा में जीवन बिताऊं। उनकी देश भक्ति में अधिकार-प्रेम नहीं छिपा था। देशभक्ति ने उनकी अंतरात्मा में घर कर लिया था। और उनकी भक्ति भारत ही तक मर्यादित न थी। वह एशियाई संगठन के भी अनुमोदक थे। यदि अकाल मृत्यु ने उन्हें कुछ दिनों का अवकाश दिया होता, तो वह उस वृहद क्षेत्र में भी अपनी

कीर्ति का चिह्न अवश्य छोड़ जाते।

राजनीति हमेशा से एक बदनाम चीज है। यहां वह सब कुछ उचित और क्षम्य है, जिससे हमारा काम निकले। यहां औचित्य की परख परिणाम से होती है। यदि कुटिलता सफल हो तो श्रेष्ठ है, उदारता हो तो त्याज्य है। भारतवर्ष में भी पहले इसी ढंग की राजनीति चलती थी। यहां सफाई और ईमानदारी की जरूरत न थी। महात्मा गांधी पहले देश-भक्त हैं, जिन्होंने राजनीति के माथे से यह कलंक का दाग मिटाने की चेष्टा की, और राजनीति को 'सत्यवादिता' का समानार्थक बना दिया। मि॰ दास की राजनीति भी निष्कलंक थी। उन्होंने कभी कुटिल चालों से अपना दामन नहीं मैला किया कभी धांधली नहीं की। जब वार किया, तो ललकार कर, कभी जांघ के नीचे तीर न मारा। उनकी बाणी और व्यावहार में कोई भेद न होता था। उनके हृदय में गुप्त बातों के लिए कोई अंधेरा स्थान न था। वह उन राजनीतिज्ञों में न थे जो शब्द-जाल ही को राजनीति का प्राण समझते हैं, जिनका सारा जीवन सत्य पर पर्दा डालने और चिकनी-चुपड़ी बातें बनाने में कट जाता है, जो मन में छुरी छिपाकर भी मुंह से मिश्री के डले घोल सकते हैं। यहां तो हृदय आईने की भांति निर्मल था। जो मन में था, वही मुख पर, चाहे किसी को बुरा लगे या भला। इसी स्वच्छंदता के कारण कई बार गवर्नमेंट को उन पर अनुचित संदेह हुआ। यहां तक कि आखिर वही संदेह स्वराज्य-दल पर काले कानून के रूप में वज्र बन कर गिरा। अभी तक संदेह के बादल फटे नहीं हैं। मि॰ दास शांति की मूर्ति थे। यह संदेह सबसे कठोर आघात था, जो उन पर किया जा सकता था। यह आघात उनकी आत्मा पर था। इस संदेह को मिटाने के लिए मि॰ दास को बार बार अपनी सफाई देनी पड़ी और आखिर उनकी फरीदपुर वाली वक्तृता ने किसी अंश तक संदेह को हटाया, हालांकि उस अवसर पर भी उन्होंने साफ साफ कह दिया कि पशु बल का प्रयोग यदि प्रजा की ओर से निंद्य है, तो सरकार की ओर से वह और भी अपमानजनक है। कानून वही है जिसे समाज अपने सुख और कल्याण के लिए आवश्यक समझता हो। जो कानून समाज में अशांति और उपद्रव पैदा करे, वह कानून नहीं। आश्चर्य तो यही है कि ऐसे आत्मवादी पुरुष के विषय में ऐसा संदेह क्योंकर हुआ। असल में यह केवल एक बहाना था, स्वराज्य दल को परास्त करने का, उसकी शक्ति को हरने का। मि॰ दास षड्वादी न थे। वह विप्लव और हत्या की कल्पना भी न कर सकते थे। सेवा और भक्ति में ही उनकी आत्मा को शांति मिलती थी। जहां त्याग और समर्पण के भाव राज्य करते हों, वहां हत्या और षड्यंत्र के लिए स्थान कहां? उन्हें तो प्रत्येक ऐतिहासिक घटना में ईश्वरीय प्रेरणा छिपी हुई मालूम होती थी। भारत के इतिहास में भी वह ईश्वरीय प्रेरणा का स्वरूप देखते थे। आर्यों का आगमन और अनार्य जातियों से उनका मेलजोल, बौद्ध धर्म का प्रचार, वैदिक धर्म का पुनरुद्धार मुसलमानों का आक्रमण, अंग्रेजों का प्रसार ये सारी घटनाएं एक उसी प्रेरणा की शृंखला की कड़ियां थीं और वह लक्ष्य क्या था? वह था भारतवर्ष को संयुक्त और संगठित करके राष्ट्रों के दरबार में उचित स्थान पर बिठाना, भारत के आध्यात्मिक प्रकाश से संसार को आलोकित करना, उन आदर्शों की सृष्टि करना, जिनका अनुसरण करते

से संसार में शांति और प्रेम का साम्राज्य हो सकता है। जिनके विचार ऐसे उन्नत और परिष्कृत हों, उस पर ऐसे सारहीन संदेह करना घोर अन्याय है।

मि० दास हिन्दू-मुसलिम एकता के परम भक्त थे। शायद सारे देश में महात्मा गांधी के सिवा एकता का महत्त्व किसी ने इतना न समझा था, जितना मि० दास ने। इस विषय में प्राय: हिन्दू नेताओं को आपसे मतभेद था। जब मि० दास ने बंगाल में मुसलमानों से यह समझौता कर लिया, जिसमें मुसलमानों को उनकी संख्या से अधिक स्वत्व दिए, तो हिन्दू समाज में बड़ी खलबली मची। लोगों ने मि० दास पर भाँति-भाँति के आक्षेप किए। लेकिन मि० दास अंत तक उस समझौते पर डटे रहे।

वह एकता का महत्त्व समझते थे और थोड़ी-सी हानि उठाकर भी उसकी जड़ मजबूत करना चाहते थे।

यों तो बंगाल की भूमि महान् आत्माओं को जन्म देने में बहुत उर्वर है, लेकिन जो सार्वदेशिक ख्याति मि० दास ने प्राप्त की वह कदाचित् पहले और किसी ने न की थी। और यह केवल सात-आठ वर्षों की कमाई थी। इसका कारण उनका वह विनय और सेवाशीलता थी, जो दूसरों को आपका दास बना लेती थी। बंगाल में तो आप देवता ही समझे जाते थे। आप में वे सारे गुण थे, जो जनता देवताओं में देखना चाहती है। आप बहुत ही सहृदय थे, परले सिरे के दीन-वत्सल। दानशीलता तो आपमें दुर्गुण की सीमा तक पहुची हुई थी। आप अपने सिद्धांतों पर अटल, बड़े ही मिलनसार, हंसमुख और सरलहृदय पुरुष थे। कांग्रेस में ऐसा छोटे-से-छोटा कार्य भी न था, जिससे आपका परिचय न हो। कल की चिंता उन्हें कभी न सताती थी और जमा करना तो उन्होंने सीखा ही न था। आप बड़े साहसी थे। कठिनाइयों में आपकी हिम्मत और भी चमक उठती थी। उदार आप इतने थे कि आपके द्वार से कोई निराश न लौटता था। उनके गुप्त दानों की सूची बहुत लंबी है। उन पर जनता की निगाह कदाचित् कभी न पड़ेगी। आपके जीवन में कई बार ऐसे मौके आए हैं कि आपके पास उस वक्त जो कुछ था, वह सब आपने दान कर दिया। पर आप दबकर न देते थे, न देकर अहसान जताते थे। जो कुछ देते थे बड़ी खुशी से देकर फिर भूले से भी उसकी चर्चा न करते थे। आप में वह आकर्षण शक्ति थी जो मिलते ही दूसरों पर अपना असर डालती थी। आपकी सुरुचि, सुबुद्धि, रसिकता और विनोद-प्रियता, अखंड उत्साह आदि सभी ऐसे गुण थे, जिनसे आप दूसरों के दिल में घर कर लेते थे। आप में बालकों की-सी सरलता थी, दिखावे और ठाट से आपको घृणा थी। एक लेखक के शब्दों में-उनमें ऋषियों की सूक्ष्म दृष्टि, कवि की कल्पना, राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता और एक सिद्धहस्त नेता की गंभीर सुदृढ़ और निश्चित शक्ति थी।

जब आप जुहू में ठहरे हुए थे, तब एक महाशय खद्दर का एक थैला लाए और आपको दिखाया। आपने लपककर थैला उनके हाथ से छीन लिया और इतना उछले कूदे मानो कोई पड़ी निधि हाथ आ गई।

सन् 1902 में जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिए चंदा मांगने कलकत्ता गए थे, जब मिस्टर दास के पास बैंक में कुछ सोलह सौ रुपये थे। आपकी वकालत उस वक्त बहुत अच्छी न थी, और आर्थिक दशा भी चिंतामय हो

रही थी। पर आपने वह सब रुपया, महात्माजी को भेंट कर दिया। आपकी वार्षिक आमदनी तीन लाख के लगभग थी, लेकिन आपने उसकी अणुमात्र परवाह न की। यह दरियादिली थी, जिसने आपको इतना प्रभावशाली बना दिया था। एक बार एक महाशय को जिनसे उनकी विशेष मित्रता न थी, बिना लिखा-पढ़ी किए अट्ठाइस हजार रुपये दे दिए। उन महाशय ने चकित होकर पूछा—आपको मुझ पर इतना विश्वास क्यों कर हुआ? आपने कहा—विश्वास की बात तो जब होती है, जब मैं किसी दूसरे को देता। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि मैं अपने ही को दे रहा हूं। अंग्रेजी के ऊंचे विद्वान होने पर भी आपका जीवन भारतीय था। आप अपने कुटुंब के साथ मिलकर प्रेम से रहते थे। आप जो कुछ पैदा करते थे, उसमें घर भर का हिस्सा था। यह नहीं कि अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण की धुन में आप अपने संबंधियों को भूल जाएं। आपको संगीत और कविता से प्रेम था। स्वयं भी बड़ी मनोहर भावपूर्ण कविता करते थे। आपकी रचनाओं में 'सागर-संगीत' बहुत सुंदर है। उसमें दर्शन नहीं, उपदेश नहीं, केवल भक्ति है, एक भक्ति-विह्वल आत्मा के उद्‌गार हैं और एक सौंदर्योपासक के पवित्र मनोभाव हैं। क्या उनके ये शब्द हम भूल जाएंगे—'मैंने अपने प्यारे देश का बचपन में, जवानी में, बुढ़ापे में, संपत्ति में, विपत्ति में, सदैव और सभी दशाओं में प्यार किया है। मैंने अपने हृदय और अपनी आत्मा में उसकी मूर्ति को अंकित कर लिया है, और अब अंत समय निकट आने पर वह चिह्न और भी उज्जवल और प्रकाशमय हो रहा है।'

[लेख। 'माधुरी', जुलाई, 1925 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

इस्लामी सभ्यता

हिन्दू और मुसलमान दोनों 1,000 वर्षों से हिन्दुस्तान में रहते चले आते हैं, लेकिन अभी तक एक दूसरे को समझ नहीं सके। हिन्दू के लिए मुसलमान एक रहस्य है मुसलमान के लिए हिन्दू एक मुअम्मा। न हिन्दू को इतनो फुरसत है कि इस्लाम के तत्त्वों की छानबीन करे, न मुसलमान को इतना अवकाश कि हिन्दू-धर्म-तत्त्वों के सागर में गोते लगाए। दोनों एक दूसरे में बेसिर-पैर की बातों की कल्पना करके माथा फुटौवल करने पर आमाद रहते हैं। हिन्दू समझता है कि दुनिया भर की बुराईयां मुसलमानों में भरी हुई हैं, इसमें न दया है, न धर्म, न सदाचार, न संयम। मुसलमान समझता है हिन्दू पत्थरों को पूजने वाला, गर्दन में धागे डालने वाला, माथा रंगने वाला और दाल-भात खाने वाला पशु है। दोनों एक-दूसरे के साये से बचते हैं। और दोनों दलों में जो बड़े से बड़े धर्माचार्य हैं वह इस भेदभाव में सबसे आगे हैं, मानो द्वेष और विरोध ही धर्म का प्रधान लक्षण है। हम इस समय हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य पर कुछ नहीं कहना चाहते। मौलाना शौकतअली के साथ हमारा भी यह विश्वास है कि यह दशा अस्थायी है और वह समय दूर नहीं है जब हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी गलती पर पछतावेंगे, और अगर मनुष्यता और सज्जनता से प्रेरित होकर नहीं तो आत्मरक्षा के लिए संयुक्त होना आवश्यक समझेंगे, हम इस समय केवल यह देखना चाहते

हैं कि हिन्दुओं की मुसलमानों की सभ्यता के विषय में जो धारणा है वह कहां तक न्याय है।

पुराने ज़माने में किसी जाति की धर्म-परायणता और उपकार-वृत्ति ही उसकी सभ्यता की द्योतक थी। सेवा और त्याग ही सभ्यता का मुख्य अंग था, चीन, जापान, भारत, मिस्र किसी देश की प्राचीन सभ्यता को लीजिये आप उसे धर्म प्रधान पावेंगे। यद्यपि अब भी वही आदर्श सर्वोपरि है, पर उसमें परिस्थितियों ने थोड़ा-सा परिवर्तन कर दिया है, या यों कहिए कि उनका रूपांतर कर दिया है। फ्रांस की राज्य क्रांति ने सभ्यता का जो आदर्श स्थापित किया वह न्याय, भ्रातृभाव और समता, इन तीन स्तंभों पर आधारित है। ज़रा गौर से देखिए तो नवीन और प्राचीन आदर्शों में कोई विशेष अंतर नहीं रह जाता। लेकिन हम नई सभ्यता की जांच कर रहे हैं, इसलिए नए मापयंत्रों का व्यवहार करना ही उपयुक्त होगा।

सबसे पहले न्याय को लीजिए। जहां तक हम जानते हैं किसी धर्म ने न्याय को इतनी महानता नहीं दी जितनी इस्लाम ने। ईसाई धर्म में दया प्रधान है। दया में छोटे-बड़े, ऊंच-नीच, सबल-निबल का भाव छिपा रहता है। जहां न्याय होगा वहां ये भेद हो ही नहीं सकते और वहां दया का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। कम से कम मनुष्यों के लिए नहीं। अन्य जीव-धारियों ही पर उसका व्यवहार हो सकता है। हिन्दू धर्म अहिंसा प्रधान है, और तह तक जाइए तो न्याय और अहिंसा दोनों ही वस्तु हैं। अहिंसा के बगैर न्याय की, और न्याय के बगैर अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। हम यह मानते हैं कि मुसलमानों ने बड़े बड़े अन्याय किए हैं। धर्म के नाम पर न्याय को खूब पैरों से कुचला है, पर क्या हिन्दुओं ने अहिंसावादी होते हुए हिंसा के झंडे नहीं गाड़ दिए, यहां तक कि बौद्ध और जैन राजाओं ने अहिंसा को धर्म का मुख्य लक्षण मानते हुए धर्म के नाम पर खून की नदियां नहीं बहाईं? किसी धर्म की श्रेष्ठता व्यक्तियों के कृत्यों से न जांचनी चाहिए, यह देखना चाहिए कि धर्म के आचार्य और संस्थापक ने क्या उपदेश किया है। हज़रत मुहम्मद ने धर्मोपदेशकों को इसलाम को प्रचार करने के लिए देश-देशांतरों में भेजते हुए ये उपदेश दिया था—जब तुमसे लोग पूछें कि स्वर्ग की कुंजी क्या है तो कहना कि वह ईश्वर की भक्ति और सत्कार्य में है। आराफात के पहाड़ पर हज़रत के मुख से जिस वचनामृत की वर्षा हुई थी वह अनंत काल तक इसलामी जीवन के लिए संजीवनी का काम करती रहेगी। और उस उपदेश का सार क्या था? न्याय। उसके एक एक शब्द से न्याय की ध्वनि निकल रही है। आपने फरमाया--

"ऐ मोमिनो, मेरी बातें सुनो और उन्हें समझो। तुम्हें मालूम हो कि सब मुसलमान आपस में भाई-भाई हैं, तुम्हारा एक ही भ्रातृ-मंडल है। एक भाई की चीज़ दूसरे भाई पर कभी हलाल नहीं हो सकती, जब तक वह खुशी से न दे दी जाय। बेइंसाफी कभी मत करो। इससे हमेशा बचते रहो।"

इस अमर वाणी में इसलाम की आत्मा छिपी हुई है। इसलाम की बुनियाद न्याय पर रखी गई है, वहां राजा और रंक, अमीर और गरीब बादशाह और फकीर के लिए केवल एक न्याय है। किसी के साथ रियायत नहीं, किसी का पक्षपात नहीं।

ऐसा सैकड़ों रवायतें पेश की जा सकती हैं। जहां बेकसों ने बड़े-बड़े बलशाली अधिकारियों के मुकाबले में न्याय के बल से विजय पाई है। ऐसी मिसालों की भी कमी नहीं है जहां बादशाहों ने अपने राजकुमार, अपनी बेगम, यहां तक कि स्वयं अपने को, न्याय की वेदी पर होम कर दिया है। संसार की किसी सभ्य से सभ्य जाति की न्याय-नीति की इसलामी न्याय-नीति से तुलना कीजिए। आप इसलाम का पल्ला झुकता हुआ पाएंगे। अध:पतन होने पर सभी जातियों के आदर्श भ्रष्ट हो जाते हैं। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई किसी की कैद नहीं। आज हम मुसलमानों को तअस्सुब से भरा हुआ पाते हैं। लेकिन जिन दिनों इसलाम का झंडा कटक से लेकर डैन्युष तक और तुर्किस्तान से लेकर स्पेन तक फहराता था, मुसलमान बादशाहों की धार्मिक उदारता इतिहास में अपना सानी नहीं रखती थी। बड़े से बड़े राज्यपदों पर गैर-मुसलिमों को नियुक्त करना तो साधारण बात थी, महाविद्यालयों के कुलपति तक ईसाई और यहूदी होते थे। इस पद के केवल योग्यता और विद्वत्ता की शर्त थी, धर्म से कोई संबंध न था। प्रत्येक विद्यालय के द्वार पर ये शब्द खुदे होते थे—पृथ्वी का आधार केवल चार वस्तुएं हैं : बुद्धिमानों की विद्वत्ता, सज्जनों की ईश-प्रार्थना, वीरों का पराक्रम और शक्तिशाली की न्यायशीलता।

अब सभ्यता के दूसरे अंग को लीजिए। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस विषय में इसलाम ने सभी अन्य सभ्यताओं को बहुत पीछे छोड़ दिया है। वे सिद्धांत जिनका श्रेय अब कार्ल मार्क्स और रूसो को दिया जा रहा है, वास्तव में अरब के मरुस्थल में प्रसूत हुए थे, और उनका जन्मदाता अरब का वह उम्मी था जिसका नाम मुहम्मद है। मुहम्मद के सिवा संसार में और कौन धर्म-प्रणेता हुआ है जिसने खुदा के सिवा किसी मनुष्य के सामने सिर झुकाना गुनाह ठहराया है? मुहम्मद के बनाए हुए समाज में बादशाह का स्थान ही नहीं था। शासन का काम करने के लिए केवल एक खलीफा की व्यवस्था कर दी गई थी जिसे जाति के कुछ प्रतिष्ठित लोग चुन लें। इस नियम से उन्होंने अपने आपको भी मुस्तसना नहीं किया और हार्दिक इच्छा रहते हुए भी अपने चचेरे भाई और दामाद हज़रत अली को खलीफा नहीं बनाया, हालांकि उनका दबाव इतना था कि केवल एक संकेत से अली का निर्वाचन हो सकता था। और इस चुने हुए खलीफा के लिए कोई वज़ीफा, कोई पेंशन कोई जागीर, कोई रियायत न थी। यह पद केवल सम्मान का था। अपनी जीविका के लिए खलीफा को भी दूसरों की भांति मेहनत मजदूरी करनी पड़ती थी, ऐसे ऐसे महान पुरुष जो एक बड़े साम्राज्य का संचालन करते थे, जिनके सामने बड़े बड़े बादशाह अदब से सिर झुकाते थे, जिनके एक इशारे पर बादशाहतें बनती बिगड़ती थीं, जूते सी कर या कलमी किताबें नकल करके, लड़कों को पढ़ाकर अपनी जीविका अर्जन करते थे। हज़रत मुहम्मद ने खुद कभी पेशवाई का दावा नहीं किया। खज़ाने में उनका हिस्सा भी वही था जो एक मामूली सिपाही का। उन्हें कभी-कभी मेहमानों के आ जाने के कारण बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था, फाके करने पड़ जाते थे, घर की चीज़ें बेच डालनी पड़ती थीं, पर क्या मजाल कि अपना हिस्सा बढ़ाने का ख्याल भी दिल में आए। और संप्रदायों में गुरु-प्रथा ने जितने अनर्थ किए हैं उनसे इतिहास

काला हो गया है। ईसाई धर्म में पादरियों के सिवा और किसी को इंजील पढ़ने की आज़ादी न थी। हिन्दू-समाज ने भी शूद्रों की रचना करके अपने सिर कलंक का टीका लगा लिया। पर इसलाम पर इसका धब्बा तक नहीं। गुलामी की प्रथा तो उस वक्त समस्त संसार में थी, लेकिन इसलाम ने गुलामों के साथ जितना अच्छा सलूक किया उस पर उसे गर्व हो सकता है। इसलाम कबूल करते ही गुलाम आज़ाद हो जाता था। यहां तक कि ऐसे गुलामों की कमी नहीं है जो अपने मालिक के बाद उसकी गद्दी पर बैठे और उसकी लड़की से विवाह किया। और किस समाज ने नीचों के साथ यह उदारता दिखाई है। कोमल वर्ग के साथ तो इसलाम ने जो सलूक किए हैं उनको देखते अन्य समाजों का व्यवहार पाशविक जान पड़ता है। किस समाज में स्त्रियों का जायदाद पर इतना हक माना गया है जितना इसलाम में? यों बुद्धि और धन की असमता हमेशा रही है और हमेशा रहेगी, लेकिन इसलाम ने समाज के किसी अंग के पैरों में बेड़ी नहीं डाली। वहां प्रत्येक व्यक्ति उतनी मानसिक और सामाजिक उन्नति कर सकता है जितनी उसमें सामर्थ्य हो। उसके मार्ग में कोई कंटक, कोई बाधा नहीं। हमारे विचार में वही सभ्यता श्रेष्ठ होने का दावा कर सकती है जो व्यक्ति को अधिक से अधिक उठने का अवसर दे। इस लिहाज़ से भी इसलामी सभ्यता को कोई दूषित नहीं ठहरा सकता।

अब सभ्यता का तीसरा अंग लीजिए। इस विषय में भी इसलाम किसी अन्य जाति से पीछे नहीं है। हज़रत ने फरमाया है–कोई मनुष्य उस वक्त तक मोमिन नहीं हो सकता जब तक वह अपने भाई-बंदों के लिए भी वही न चाहे जो वह अपने लिए चाहता है। एक दूसरी जगह आपने लिखा है–जो प्राणी दूसरों का उपकार नहीं करता, खुदा उससे खुश नहीं होता। उनका यह कौल सोने के अक्षरों में लिख जाने योग्य है–''ईश्वर की समस्त सृष्टि उसका परिवार है और वही प्राणी ईश्वर का भक्त है जो खुदा के बंदों के साथ नेकी करता है।'' किसी मोमिन ने एक बार आपसे पूछा था–खुदा की बंदगी कैसे की जाय? आपने जवाब दिया–अगर तुम्हें खुदा की बंदगी करनी है तो पहले उसके बंदों से मुहब्बत करो। इन शिक्षाओं से यह बात भली भांति विदित हो जाती है कि इसलाम के नियामक ने भ्रातृ भाव का महत्त्व अन्य जातियों से कम नहीं समझा।

यह तो सभ्यता के मूल तत्त्व हुए। उसके गौण अंगों में, राजनैतिक विधान, विद्याव्यसन, स्वाधीनता का प्रेम, कलाकौशल, भवन-निर्माण, वेष-भूषा सभी समाविष्ट हैं। सूद की पद्धति ने संसार में जितने अनर्थ किए हैं और कर रही है वह किसी से छिपे नहीं हैं। इसलाम वह अकेला धर्म है जिसने सूद को हराम ठहराया हो। यह दूसरी बात है कि व्यवसाय की दृष्टि से इस निषेध का खंडन किया जाय, पर सामाजिक दृष्टि से कोई इसका समर्थन किए बगैर नहीं रह सकता। विद्यानुराग में तो शायद बहुत कम जातियां मुसलमानों की बराबरी का दावा कर सकती हैं। हिन्दुस्तान से आयुर्वेद, गणित और ज्योतिष, अध्यातम, यूनान से दर्शन और प्रजा-वाद, गरज़ जहां जो रत्न मिला, इसलाम ने दोनों हाथ फैलाकर अपनाया और उसे अपनी सभ्यता का अंग बना लिया। भवन-निर्माण करने में तो शायद संसार की

कोई जाति मुसलमानों से टक्कर नहीं ले सकती। जहां जहां इसलामी तहज़ीब का झंडा लहराया, उनकी बनवाई हुई इमारतें, अब तक अपने निर्माताओं का यशोगान कर रही हैं। स्वाधीनता का ऐसा सच्चा अनुराग कदाचित् और कहीं देखने में न आएगा। आज कौन ऐसा सहृदय प्राणी है जो मुट्ठी भर रिफों को यूरोप की दो महान शक्तियों से युद्ध करते देखकर गर्व से फूल न उठे? दमिश्क में, शाम में, तुर्की में, मिस्र में, जहां देखिए मुसलमान अपने को स्वाधीनता की वेदी पर बलिदान कर रहे हैं। अफगानिस्तान केवल स्वाधीनता पर मर मिटने के लिए तैयार होने के कारण आज स्वाधीन बना हुआ है। हम तो यहां तक कहने को तैयार हैं कि इसलाम में जनता को आकर्षित करने की जितनी शक्ति है उतनी और किसी संस्था मे नहीं है। जब नमाज़ पढ़ते समय एक मेहतर अपने को शहर के बड़े से बड़े रईस के साथ एक ही कतार में खड़ा पाता है तो क्या उसके हृदय में गर्व की तरंगे न उठने लगती होंगी। उसके विरुद्ध हिन्दू समाज ने जिन लोगों को नीच बना दिया है उनको कुएं की जगत पर भी नहीं चढ़ने देता, उन्हें मंदिरों में घुसने नहीं देता। ये अपने में मिलाने के नहीं, अपने से अलग करने के लक्षण हैं। इसलामी धर्म और सभ्यता को संसार में जो सफलता मिली है वह तलवार के ज़ोर से नहीं, इसी भ्रातृभाव के कारण मिली है। आज भी अफ्रीका में ईसाइयों के मुकाबले में इसलाम का प्रचार अधिक हो रहा है, हालांकि ईसाइयों के पास सभी प्रकार के प्रलोभन हैं और यहां केवल अल्लाह का नाम है।

अंत में हम संगठन और तंज़ीम के प्रेमियों से यह निवेदन करना चाहते हैं कि इन आयोजनाओं से आप हम दोनों जातियों के बीच में एक लोहे की दीवार खड़ी कर रहे हैं। अगर आप बिना मुसलमानों से बिगाड़ किए हुए अपनी जाति में संगठन कर सकते हैं, विधवाओं का, अनाथों का, अछूतों का उद्धार कर सकते हैं तो शौक से कीजिए। तंज़ीम में भी कोई बुराई नहीं है अगर वह बिना हिन्दुओं से बिगाड़ किए हुए की जा सके। लेकिन अब तक हमें जो अनुभव हुआ है वह साफ बता रहा है कि आंतरिक संगठन और अंदरूनी तंज़ीम केवल कल्पना का स्वर्ग है। आंतरिक संगठन तो नहीं होता, क्योंकि वह भक्ति, प्रेम और अनुराग की स्पिरिट में नहीं किया जाता। भीतर जो लाखों बुराइयां हैं वह ज्यों की त्यों बनी हुई हैं, उसमें अणुमात्र भी सुधार नहीं हो सका, और दोनों जातियों में वैमनस्य दिन दिन बढ़ता जाता है। कम से कम इतना तो सिद्ध ही हो गया है कि जिस वेग से हिन्दू मुसलिम विरोध बढ़ रहा है, उस वेग से हिन्दुओं का आंतरिक संगठन नहीं बढ़ रहा है, हमें तो दिन दिन इसमें शैथिल्य और उसमें स्फूर्ति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। नतीजा यही होगा कि न हम संगठित होंगे, न स्वराज्य-पथ पर ही अग्रसर होंगे। और हमारी दशा उत्तरोत्तर हीन होती चली जाएगी।

•

[लेख। साप्ताहिक 'प्रताप', दिसंबर, 1925 के विशेषांक में प्रथम बार प्रकाशित। असंकलित। 'इंडिया टुडे' (साहित्य वार्षिकी) 1995-96 में पुनर्प्रकाशन। 'प्रताप' की दुर्लभ फाइल से इसे श्री भारत यायावर ने खोजने में सफलता प्राप्त की। 'प्रेमचंद रचनावली' में इस निबंध को हम 'इंडिया टुडे' और श्री भारत यायावर के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए पहली बार संकलित कर रहे हैं।]

प्रेमचंद की प्रेम-लीला का उत्तर

कई साल हुए नागरी प्रचारिणी पत्रिका में किसी मराठी लेख के आधार पर एक हिन्दी लेख प्रकाशित हुआ। मुझे वह लेख बहुत अच्छा मालूम हुआ। मैंने उसका टूटा-फूटा अनुवाद उर्दू में करके 'ज़माना' में 'हंसी' के नाम से छपवा दिया। 'ज़माना' के संपादक को उसके अनुवाद होने की इत्तला भी दे दी। मेरा अभिप्राय यह कदापि नहीं था, मैं उस हिन्दी या मराठी लेख के यश का अपहरण कर लूं। इस तरह नोच-खसोट करने से कीर्ति नहीं मिलती। कीर्ति बहुत ही दुर्लभ वस्तु है और मैं इतना बड़ा मंदबुद्धि नहीं हूं कि इधर-उधर से तर्जुमे करके अपनी कीर्ति बढ़ाने का प्रयत्न करूं। जिसमें मौलिक लिखने की शक्ति है वह अनुवाद करता ही नहीं और न अनुवाद से यश कमाने की अभिलाषा ही होती है। मैंने अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ-काल में जरूर अंग्रेजी से उर्दू में बहुत कुछ अनुवाद किया है। इसका कारण यही है कि उस वक्त तक मैं मौलिक रचना करने में असमर्थ था। वे सारे अनुवाद मिट गए, क्योंकि उनमें जीवित रहने की कोशिश न थी। 'हंसी' नामक लेख भी मैंने छिपाकर नहीं लिखा। छिपाने की जरूरत ही न थी। जिस महीने में मूल लेख हिन्दी में प्रकाशित हुआ उसके शायद एक ही महीने बाद उसका अनुवाद उर्दू की सर्वोत्तम पत्रिका में हो गया। मैं इतना उस वक्त भी जानता था कि 'ज़माना' का हिन्दी पाठकों में काफी प्रचार है। इसलिए अगर उर्दू लेख में मूल का हवाला नहीं दिया गया तो वह Technical Omission कहा जा सकता है, अपहरण नहीं। लेख इतना सुंदर था कि मैं उस वक्त उतने अच्छे लेख के लेखक बनने का दावा ही नहीं कर सकता था। विषय खुद ही पुकार-पुकारकर कह रहा था कि मैं किसी दार्शनिक के मस्तिष्क से निकला हूं। मैं दावे से कह सकता हूं कि मुझे किसी ने भी उस लेख का लेखक नहीं समझा। सब ने अनुवाद समझा और कदाचित् यही कारण था जिससे मैंने हिन्दी लेख का हवाला नहीं दिया। इस वक्त यह भी याद नहीं कि मैंने हवाला दिया था या नहीं, लेकिन मैं हवाला देने के कोई प्रमाण न रहने के कारण माने लेता हूं कि मैंने जान-बूझकर हवाला नहीं दिया। इसलिए कि जो बात स्वयं प्रकट थी उसके प्रकट करने की जरूरत न थी।

लेकिन हिन्दी में आजकल मुझ पर आलोचक महोदयों की विशेष कृपा है। 'समालोचक' के पिछले अंक में एक महाशय ने मेरे उसी 'हंसी' नामक लेख का हिन्दी मूल से मिलाकर यह सिद्ध किया है कि यह उसका अनुवाद है। अनुवाद तो है ही, बीच खेत अनुवाद है, मैं कब कहता हूं नहीं। जिन महाशय ने इतने दिनों के बाद यह खोज की है, यदि लेख के प्रकाशित होते ही हवाला दे देने के लिए 'ज़माना' के संपादक को लिख भेजते तो हवाला मिल जाता और आज उन्हें मुझ पर आक्षेप करने की जहमत न उठानी पड़ती।

उक्त लेख में मेरे डाके के बारे में और मेरी रचनाओं की तत्त्वहीनता के विषय में भी बहुत कुछ लिखा गया है। उसका जवाब देने की जरूरत नहीं, हां, इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'साहित्य-पाठक' के साहित्य विद्यालय के वार्षिकोत्सव

पर मेरे मुंह से जिन शब्दों के निकलने की चर्चा की है, वे शब्द मेरे मुंह से कभी नहीं निकले और न निकल सकते हैं। यह सलाह और साहित्यिक मंडली में बैठकर मैंने दी—यह कल्पनातीत है और लेखक महोदय इतना घोर कलंक मेरे सिर पर थोप सकते हैं, इसका मुझे आश्चर्य है। लेख का भाव भाषा और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लड़के ने लिखा है, जिसने मेरी कोई रचना पढ़ी ही नहीं। उनसे मेरा आग्रह है कि कृपया एक बार धैर्य रखकर 'रंगभूमि' पढ़ जाइए। जिसने 'वैनिटी फेयर' और 'रंगभूमि' दोनों की सैर की है, वह कभी ऐसी बेतुकी बातें लिख ही नहीं सकता। 'वैनिटी फेयर' आसमान पर हो, 'रंगभूमि' जमीन पर, पर है वह 'रंगभूमि'। रहा 'प्रेमाश्रम' पर 'रिजरेक्शन' का प्रभाव, इसके विषय में यही कहना है कि अभी मैंने 'रिजरेक्शन' नहीं पढ़ा है और अगर बिना उसके पढ़े ही 'प्रेमाश्रम' में 'रिजरेक्शन' के भाव आ गए हैं तो यह मेरे लिए गौरव की बात है। अभी जिंदा रहा तो कुछ लिखूंगा और मेरे भाषा और विचारों में उच्चकोटि के लेखकों जैसी बहुत-सी बातें आवेंगी। आप जो अच्छी पुस्तक देखेंगे, वह मेरी किसी पुस्तक से मिलती-जुलती जान पड़ेगी, कारण यही है कि मैं अपने प्लाट जीवन से लेता हूं, पुस्तकों से नहीं और जीवन सारे संसार में एक है। समकालीनता में भी सादृश्यता होती है, इससे कोई लेखक अपने को नहीं बचा सकता, अगर वह केवल जासूसी और तिलस्मी बातें नहीं लिखता। जो राजनैतिक भाव आज रूस में दिलों को विकल कर रहे हैं वही भाव आज भारत के हृदय में स्पंदन कर रहे हैं। कैसे संभव है कि हृदय रखने वाले दो लेखकों के विचार और भाव आपस में न मिलें।

'समालोचक' के भाग-दो संख्या-तीन में 'गुलाब' महाशय ने 'रंगभूमि' की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस पर 'वैनिटी फेयर' का कुछ प्रभाव है। हो सकता है। लेकिन मैंने 'वैनिटी फेयर' सन् 1903 में पढ़ा था और 'रंगभूमि' सन् 1924 में लिखी, इससे 'वैनिटी फेयर' के भावों का इतने दिनों मन में संचित रहना मुश्किल है, विशेष कर मेरे लिए क्योंकि मेरी मेमोरी अच्छी नहीं। और सभी बातों में मैं उनसे सहमत हूं। जो चीज मौलिक है वह मौलिक रहेगी। उसकी मौलिकता को कोई मिटा नहीं सकता। जिस रचना पर वर्षों आंखें फोड़ी गई हैं और कलेजे का खून बहाया गया है उसे आज कोई रसिकता-हीन आलोचक मिटा नहीं सकता।

मुझे खुद उपन्यास-सम्राट कहलाना पसंद नहीं। मैं कसम खा सकता हूं कि मैंने इस उपाधि की कभी अभिलाषा नहीं की। यदि 'साहित्य-पाठक' महोदय किसी तरह मुझे इस विपत्ति से बचा दें तो उनका एहसान मानूंगा।

'समालोचक' के इसी अंक में बाबू ब्रजरत्न दास जी ने मेरी 'आभूषण' नामक कहानी के प्लाट का टामस हार्डी का एक गल्प से सादृश्य दिखाया है। हां, सादृश्य अवश्य है। टामस हार्डी को जो बात सूझ सकती है, वह किसी दूसरे लेखक को क्या नहीं सूझ सकती? कहानी के प्लाट में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं है जो हिन्दी के लेखक के लिए असूझ हो। हार्डी भी आदमी ही था, कोई देवता न था। और फिर ऐसी घटनाएं जब हमें नित्य ही जीवन में मिलती हैं तो हमें क्या कुत्ते ने काटा है जो टामस हार्डी से उधार लेने जाते। हां, जिन लोगों को आंखों के सामने की

वस्तु नहीं दिखाई पड़ती हो वे ऐसी शंका कर सकते हैं तो करें।

यहां मुझे एक भ्रम-निवारण करना जरूरी मालूम होता है। जब हम अपने किसी सहवर्गी को अपने से आगे बढ़ते देखते हैं तो संभवत: मन में एक कुरेदन-सी होती है। उसे किसी तरह नीचा दिखाने की इच्छा होती है। शायद कुछ लोग समझते हों कि यह कल का लौंडा हमसे बाजी मारे लिए जाता है और हम पीछे रहे जाते हैं, इसे किसी तरह रगेदना चाहिए। उन महाशयों से मेरा निवेदन है कि यह अभागा कल का लौंडा नहीं, पुराना खुर्राट है। तीन साल और हों तो पूरे पचास का हो जाय। उसे कलम घिसते हुए तीस वर्ष हो गए। इतना बतला देने के बाद मुझे आशा है कि आगे मेरी रचनाओं की आलोचना करते समय जरा मेरी अवस्था और उसके योग्य गंभीरता का ध्यान रखा जाएगा।

पुनिश्च:

हां, 'हंसी' का अनुवाद प्रेमचंद ने नहीं शायद 'नवाबराय' ने किया था, यद्यपि यह दोनों व्यक्ति एक जान दो नाम हैं।

[लेख। 'समालोचक' शरद् संवत् 1983 'नवबर, 1926' में प्रकाशित। 'विविध-प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

गुरुकुल में तीन दिन

पिछले आषाढ़ में मुझे गुरुकुल कांगड़ी के दर्शनों का अवसर मिला। इच्छा तो बहुत दिनों से थी, मगर यह सोचकर कि उस वेद वेदांगों के केन्द्र में मुझ-जैसे धर्मशून्य व्यक्ति का कहां गुजर, कभी जाने की हिम्मत न पड़ी। सौभाग्य से साहित्य-परिषद् ने उन्हीं दिनों अपना वार्षिक उत्सव करने की ठानी और मुझे न्योता मिला। ऐसा अवसर पाकर भला कैसे चूकता। दिली मुराद पूरी हुई। रात को लखनऊ से चलकर प्रात:काल हरिद्वार जा पहुंचा। वहां दो ब्रह्मचारी मेरी राह देख रहे थे। गुरुकुल की सिद्धांतवादिता का कुछ थोड़ा-सा परिचय मुझे स्टेशन पर ही मिला। एक तांगा करने की ठहरी। तांगे वाले ने शायद यह समझकर कि दो नए यात्री हैं, कनखल के आठ आने मांगे। इधर से छ: आने कहा गया। तांगे वाले ने शायद कहा, आठ आने से कम न होंगे। ब्रह्मचारियों ने वाजिब किराया कह दिया था। तांगे वाले से ठांय-ठांय करना उनकी शान के खिलाफ था। आध मील जाकर दूसरा तांगा उन्हीं दामों पर लाए। पहला तांगे वाला उन्हीं दामों पर चलने को तैयार था, अपना अपराध क्षमा कराता था, अपनी भूल स्वीकार करता था, पर ब्रह्मचारियों को उस पर दया न आई। उसने यात्रियों को ठगना चाहा था, इसका दण्ड उसे देना जरूरी था। और नीति की दृष्टि में दया का कोई मूल्य नहीं।

तांगा आध घंटे में कनखल आ पहुंचा। हम लोग उतरकर घाट पर पहुंचे। सामने की पहाड़ियां हरे-भरे आभूषण पहने खड़ी थीं। नीचे गंगा पहाड़ियों की गोद से निकलकर उछलती-कूदती चली जाती थी। यहां कई धाराएं हैं, जो वर्षाकाल में मिलकर कांगड़ी के नीचे तक चली जाती हैं। मैंने समझा था किसी किश्ती पर नदी पार करनी पड़ेगी,

मगर किश्ती का कहीं पता न था। यहां पानी का तोड़ इतना तेज है, नीचे का पेटा इतना पथरीला कि थोड़ी दूर के बाद किश्ती आगे जा ही नहीं सकती। तमेड़ों पर बैठकर लोग आते-जाते हैं। यह एक प्रकार की घन्नई है, जिसमें मिट्टी के मटकों की जगह टीन के कनस्तर होते हैं। कई कनस्तरों को लंबे-लंबे रखकर रस्सी और बांसों से बांध देते हैं। तमेड़ा बीच में चौड़ा और दोनों सिरों पर पतला होता है। जिन्हें इस पर पहली बार बैठना पड़े उन्हें मन में कुछ संशय होने लगता है कि यह डोंगा पार लगेगा या बीच ही में डूबेगा। मगर थोड़ी ही दूर चलकर यह संशय दूर हो जाता है। यह डोंगी डूब नहीं सकती। पानी का बहाव कितना ही तेज हो, भंवर कितनी ही भंयकर हों, वायु कितनी ही प्रचण्ड हो, लहरें उछलकर उसके ऊपर ही क्यों न आ जाती हों, पर उसे परास्त नहीं कर सकतीं। आदमी अगर उस पर जरा संभलकर बैठा रहे, तो चाहे अनंत तक पहुंच जाय, डूब नहीं सकता। इस तुच्छ-सी वस्तु को विराट् और प्रचंड जल-प्रवाह का इतनी वीरता से सामना करते देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो कोई अकेली आत्मा प्राण-सागर की लहरों को ठुकराती, विघ्न-बाधाओं को कुचलती परम धाम की ओर चली जा रही हो।

अभी आध घंटा भी न गुजरने पाया था कि घटा छा गई और वर्षा होने लगी। सारे कपड़े भीग गए, हवा भी चलने लगी। लहरें उछलती ही न थीं, छलांगें भरती थीं। कई बार तमेड़ा नीचे की चट्टान से टकराया और हम गिरते-गिरते बचे। दस बजते-बजते हम कांगड़ी पहुंच गए।

2

गुरुकुल की इमारतें देखकर बेअख्तियार मुंह से निकल गया—नाम बड़े दर्शन थोड़े। एक ही इमारत है जिसे इमारत कह सकते हैं, पर साधारण हाईस्कूलों की इमारत भी इससे अच्छी होती है। तीन साल पहले यहां कई और इमारतें थीं। पर सन् 1924 की बाढ़ में कई इमारतें बह गईं और हरा-भरा बाग बालू से भर गया। गिरे हुए भवनों के खंडहर अभी तक नजर आते हैं। हम लोग एक छोटे-से पक्के घर में ठहरे, जिसे यहां पक्का धर्मशाला कहते हैं। श्रद्धेय पंडित पद्मसिंह जी शर्मा भी आ गए थे। हम दोनों इसी कमरे में ठहरे। स्नान किया। इतने में भोजन आ गया। खाने बैठ गए। पेड़े बहुत स्वादिष्ट थे। अतिथि-सत्कार यहां की विशेषता है। भस्मक रोगी भी यहां से तृप्त हुए बिना नहीं जा सकता। सबसे बड़ा आनंद मुझे यहां के ब्रह्मचारियों को देखकर हुआ। ऐसे सरल-हृदय, सेवाशील युवक हमारे अंग्रेजी कालेजों में बहुत कम हैं। वह पंडिताई वातावरण, जो काशी की किसी संस्कृत पाठशाला में नजर आता है, यहां नाम को भी न था। यहां विद्यालय का मेहमान प्रत्येक ब्रह्मचारी का मेहमान है, वह उसकी चारपाई बिछा देगा, उसके लिए पानी भर लाएगा और उसकी धोती भी खुशी से छांट देगा। यह विद्यालय नहीं, किसी ऋषि का आश्रम मालूम होता है। ऐसे उत्साही युवक मैंने नहीं देखे। जो काम करते हैं, उसमें तन-मन से लिपट जाते हैं। प्रमाद की मात्रा इनमें बहुत ही कम है। कुछ सीखने के लिए, कुछ जानने के लिए यह लोग सदैव उत्सुक रहते हैं।

साहित्य-परिषद् का उत्सव संध्या-समय हुआ। आचार्यजी का व्याख्यान हुआ। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचानाएं सुनाईं। कुछ साहित्यिक लेख थे, दो-चार गल्पें थीं, एक-दो लेख ऐतिहासिक थे। इन रचनाओं को किस ऊंचे आदर्श से तोलना अन्याय होगा-ये प्रौढ़ लेखकों की कृतियां न थीं, पर किसी विद्यालय के शिष्यों को उन पर गर्व हो सकता है। हां, यहां जो संगीत सुनने में आया, उससे कुछ निराशा हुई। गुरुकुल में संगीत-शिक्षा का कोई प्रबंध नहीं। शायद संगीत ब्रह्मचर्य के लिए बाधक समझा जाता हो। मगर मुझे तो ऐसी धार्मिक संकीर्णता यहां कहीं न दिखाई दी। सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे ब्रह्मचारियों में विचार-स्वातंत्र्य पर हुआ। उनके राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक विचारों में मुझे संकीर्णता का कोई चिह्न नहीं मिला।

दूसरे दिन प्रीतिभोज था। भोजनगृह में सभी ब्रह्मचारी और आचार्य फर्श पर बैठकर थालियों में भोजन कर रहे थे। हमारे अंग्रेजी विद्यालयों में कुर्सियों और मेजों का व्यवहार होता है। यहां अभी तक अंग्रेजियत की वह हवा नहीं आई। हमारे जातीय रीति-नीति, आचार-विचार की रक्षा अगर हो सकती है तो ऐसी ही संस्थाओं में हो सकती है। मगर शायद अब उसकी रक्षा करने की जरूरत ही नहीं समझी जाती। आजकल वही पक्का आर्य है, जो चाहे और सभी बातों में विदेशियों का गुलाम हो, केवल अन्य धर्मावलम्बियों को गाली देता जाय।

आज संध्या-समय एक कवि-सम्मेलन था। पंडित पद्मसिंह जी सभापति थे। ब्रह्मचारियों ने अपनी-अपनी रचनाओं सुनायीं। अधिकांश कविताएं हास्यास्पद थीं, मगर मैं ब्रह्मचारियों के साहस को तारीफ करूंगा कि उन्हें अपनी अंड-बंड रचानाएं सुनाने में लेशमात्र भी संकोच न होता था। किसी हद तक तो यह बालोचित साहस सराहनीय है। हमने ऐसे बालक भी देखे हैं, जो किसी सभा में खड़े कर दिए जाय तो उनकी घिग्घी बंध जायगी। उस झिझक के देखते तो यह धृष्टता फिर भी अच्छी है। पर रसिकजनों के सामने ऐसी रचानाएं न सुनाना ही अच्छा, जिन्हें सुनकर हंसी आवे। रचनाओं के समाप्त हो जाने के बाद शर्माजी ने विचारपूर्ण वक्तृता दी और ब्रह्मचारियों को खूब हंसाया। शर्माजी जितने विद्वान् हैं, उतने ही सरल और उदार हैं। और मेहमानवाजी तो उनका जौहर है।

तीसरे दिन हमने मुख्याधिष्ठाता जी के घर भोजन किया। उसका स्वाद अभी तक भूला नहीं। रामदेव जी उन सज्जनों में हैं, जिनकी बातों से जी नहीं भरता। ज्यों-ज्यों बातें मालूम होती हैं और मनोरंजन भी होता है, आप अंग्रेजी साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं और भारतीय इतिहास के तो आप पूरे माहिर हैं। ब्रह्मचारियों को उन पर असीम श्रद्धा है। गुरुकुल अगर कुछ न करे, तो भी इतने युवकों के सम्मुख सरल जीवन और उच्च विचार का आदर्श रखना ही उसके जीवित रहने के लिए काफी है। अंग्रेजी कालेजों में तो आवश्यकताओं की गुलामी सिखाई जाती है और अध्यापक लोग ही इस विद्या के सबसे बड़े शिक्षक होते हैं। जिंदगी की दौड़ में वे युवक क्या पेश पा सकते हैं, जिनके पैरों में जरूरतों की भारी बेड़ियां पड़ी हों। सरकारी विभागों में चाहे वे अच्छे पद पा जाएं, पर सरकारी नौकरियों से तो राष्ट्र नहीं बनते। गुरुकुल ने अपने जीवन के थोड़े से सालों में राष्ट्र के जितने सेवक पैदा किए हैं, उतने और

किसी विद्यालय ने न किए होंगे। डिग्रियां लेकर पद प्राप्त करना राष्ट्रीय सेवा नहीं। प्रचार और उद्धार के कामों को संभालना ही राष्ट्रीय सेवा है। अब तक गुरुकुल ने एक सौ इकतालीस स्नातक निकाले हैं। उनमें सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वालों की संख्या सत्तासी है। यह कहने में जरा भी अत्युक्ति नहीं है कि हिन्दी भाषा को जितना प्रोत्साहन गुरुकुल से मिला है, उतना शायद ही और किसी विद्यालय से मिला हो।

गुरुकुल की उपयोगिता के विषय में पहले जनता में बड़ा संदेह फैला हुआ था। पर गुरुकुल से निकले हुए स्नातकों का सांसारिक जीवन देखकर इस विषय की सभी शंकाएं शांत हो जाती हैं। इस सौ इकतालीस स्नातकों में उन्तीस तो गुरुकुलो में काम कर रहे हैं, नौ साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं, तेईस आर्य-समाज के उपदेशक हैं, पांच सफल वैद्य हैं, अठारह व्यापार में लगे हुए हैं और सात विदश में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इनमें से दो उत्तीर्ण होकर लौट आये हैं। डाक्टर प्राणनाथ हाल ही में इंग्लैंड से डाक्टर होकर लौटे हैं, एक और महाशय बैरिस्टर हो आए हैं। पिछले साल चार ब्रह्मचारी Senior Cambridge परीक्षा में सम्मिलित हुए और तीन पास हो गए। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी में भी काफी अभ्यास हो जाता है। महाशय सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार ने हाल ही में ब्रह्मचर्य पर अंग्रेजी में एक ग्रंथ लिखा है। जिसकी शैली और भाषा दोनों ही परिमार्जित हैं। किसी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी के लिए ऐसी पुस्तक लिखना गर्व का कारण हो सकता है।

गुरुकुल विद्यालय में एक आयुर्वेद विद्यालय भी है। यहां ब्रह्मचारियों को न बूटियों तथा रसों का भी ज्ञान हो जाता है। शरीर विज्ञान की शिक्षा भी इन वैद्यों को दी जाती है। हमें आशा है कि यहां के पढ़े हुए वैद्यों द्वारा आयुर्वेद का उद्धार होगा। वे केवल पुरानी लकीर के फकीर नहीं होते, बल्कि मानव शरीर के तत्त्वों को जानते हैं और शल्य-चिकित्सा में भी दखल रखते हैं।

गुरुकुल की प्राकृतिक शोभा को तो कहना ही क्या। बलवान् चरित्र ऐसे ही जलवायु में विकसित होते हैं। सामने गंगा की जल-क्रीड़ा है, पीछे पर्वतो का मौन संगीत। दाहिने-बाएं मीलों तक शीशम और कत्थे के वृक्ष, ऐसी साफ छनी हुइ, निर्मल वायु में सांस लेना स्वयं आत्मशुद्धि को एक क्रिया है। न शहरों का दूध-घी, न यहां की स्वच्छ वायु। ब्रह्मचारी गंगा माता की गोद में किलालें करते हैं, और बड़ी दूर तक तैरते चले जाते हैं, नगरों की दूषित जलवायु में यह गुण कहां। मगर पिछली बाढ़ ने विद्यालय को जो क्षति पहुंचाई है, उसको देखते हुए अब विद्यालय का स्थान बदल देने का प्रश्न आवश्यक हो गया है। इसका प्रबंध भी हो रहा है।

[संस्मरण/लेख। 'माधुरी', अप्रैल, 1928 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 मे संकलित।]

युवक कौन है?

बुजुर्गी की पहचान बुद्धि है, उम्र नहीं। बूढ़े बेवकूफ भी होते हैं। उसी तरह जवानी की पहचान उम्र नहीं कुछ और है। हम उसे जवान नहीं कहते, जिसकी उम्र अठारह

से पच्चीस वर्ष तक हो, जो सिर से पांव तक फैशन में सजा हुआ, विलासिता का दास, जरूरतों का गुलाम, स्वार्थ के लिए गधे को बाबा कहने पर तैयार हो। वह न जवान है न बूढ़ा, वह मृतक है, जिससे न जाति का उपकार, न देश का भला हो सकता है।

हम जवान उसे कहते हैं, जो बीस का हो, चाहे चार बीस का, पर हो हिम्मत का धनी, दिल का मर्द, आन पर मर जाय, पर किसी का एहसान न ले, सिर कटा दे, पर झुकावे नहीं, आफतों से घबराए नहीं बल्कि उसमें कूद पड़े, छह महीने का सुगम मार्ग न चलकर छः दिन का जान जोखिम मार्ग पकड़े, नदी के किनारे नाव के इंतजार में खड़ा न हो, बल्कि उछलती लहरों पर सवार हो जाय, नहीं, नाव सामने देखकर भी उसे ठुकरा दे और अगम्य जल राशि में कूद पड़े, प्रवाह अगर पूरब की ओर हो तो पच्छिम का रुख करे, कठिनाइयां न हों, तो उनकी सृष्टि करे, जो संतोष को संतोष समझे, विश्राम को विष का प्याला, जिसे संघर्ष में विजय का आनंद प्राप्त हो, उद्योग में साफल्य का उल्लास।

युवक वह है, जो अपने ऊपर असीम विश्वास रखता हो, जो अकेला चना होकर भी भाड़ को फोड़ डालने की हिम्मत रखे, जो उपासना करे तो शक्ति की, आराधना करे तो स्फूर्ति की, जिसकी नाड़ियों में रक्त की जगह आकांक्षा हो, हृदय में प्राण की जगह अशांति। जो रूढ़ियों का शत्रु और परिपाटी का नाशक हो, जो पाखंड के पीछे हाथ धोकर पड़ जाय और जब तक उसका नाम निशान न मिटा दे, चैन न ले।

युवक वह है जिस पर सदैव कोई न कोई धुन सवार रहती है। अगर आज भंग पीने पर आए, तो इतनी पी कि सिर पैर का सुधि नहीं, सोने पर आए, तो दो पहर दिन की खबर ली, खेलने पर आए तो रात आंखों में कट गई, हंसने पर आए, तो छतें हिल गई, पढ़ने पर आए, तो भार हो गया, किसी से दोस्ती हुई, तो उस पर प्राण तक निछावर कर दिए, दुश्मनी हुई, तो खून के प्यासे हो गए। वह जो काम करता है- उत्साह से, उमंग से, दिलोजान से, बेदिली से, दुबधे में पड़कर वह कोई काम नहीं करता।

युवक वह है जिसे कल की चिंता सताती, जो 'आज' में मगन रहता है, 'कल' को कल पर छोड़ता है, जिसके जीवन में भी सभी दिन 'आज' हैं, कल का कहीं अस्तित्व नहीं। जिसके जीवन का सार है उमंग! उमंग! उमंग!

ऐसे युवक को हम प्रणाम करते हैं।

[उर्दू हिन्दी मासिक 'युवक', फरवरी, 1929 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

हिन्दी रंगमंच

एक समय था, जब भारतवर्ष में नाट्य कला की बड़ी उन्नति थी। यह हम उस समय की बात कह रहे हैं, जब यहां संस्कृत का पूरा प्रचार था, और 'उत्तर रामचरित' तथा

'शाकुन्तल' जैसे नाटक खेले जाते थे। अधिकतर इतिहासज्ञ तो यहां तक कहते हैं कि अन्य कलाओं की भांति नाट्य-कला की जन्मभूमि भी यही भारतभूमि है। नाटक के प्रथम आचार्य कोई भरत मुनि को बताता है, कोई लव-कुश को। शंकर, नारद और हनुमान को तो सभी एक स्वर से मानते आए हैं। खैर, इधर कई शताब्दियों से और बातों के अध:पतन के साथ-साथ इस साहित्य का भी अध:पतन होना प्रारंभ हुआ। संस्कृत का तो ज़िक्र ही क्या, हिन्दी तक में–चन्दबरदाई के संबंध में–कोई उल्लेख योग्य नाटक नहीं निकला। मुसलमानी शासन के अंत में और ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के प्रारम्भ में, समुद्र-पार से यह लहर नए रूप में यहां आयी। भारत के दुर्भाग्य से अब तक यहां प्रांतीय भाषाएं चल रही हैं, उन्हीं भाषाओं में नाटक खेले जाने प्रारंभ हुए। महाराष्ट्र तथा बंगाल वालों ने इसमें यथेष्ट उन्नति की, पर वह उन्नति कहलाई मराठी रंगमंच और बंगीय रंगमंच ही के रूप में, हिन्दी के रूप में नहीं। गुजराती नाटक वालों ने भी अपनी भाषा के नाटकों की भरमार की, फिर कितने ही अच्छे नाटक निकाले, जिनको अदल बदलकर आजकल के कितने ही हिन्दी नाटककार हिन्दी में ला रहे हैं, और अपने लिए इतना बड़ा परिश्रम करने के कारण महाकवि समझ रहे हैं। बरसों तक बेचारी हिन्दी का, उर्दू की यमुना से मिलकर वह रूपांतर रहा कि यह पहचानना कठिन हो गया कि इस त्रिवेणी में कालिंदी का नीला जल कितना और गंगा का स्वच्छ-श्वेत कितना है।

घूम-फिरकर व्यवसाय करने वाली कंपनियों के बनाने में पारसी जाति ने इधर उधर भारत की ओर कदम बढ़ाया। उन दिनों इधर न नाटक थे, न नाटककार, गाना की प्रधानता थी, और थी ऊंट-पटांग उर्दू जबान में लिखे हुए इंदर सभा, हवाई मजलिस जैसे इश्किया नाटकों की। हम अगर भूलते नहीं हैं, तो हिन्दी नाटकों का श्रीगणेश करने का श्रेय सबसे पहले स्वनामधन्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को प्राप्त हुआ। परन्तु उनके नाटक 'प्रमैच्योर क्लब' ही तक खिलकर रह गए, किसी व्यवसायी कंपनी के रंगमंच पर नहीं पहुंचे। भला हो मुंशी विनायकप्रसाद जी 'तालिब' बनारसी का कि उन्होंने उन दिनों की विख्यात 'बालों वाला विक्टोरिया' कंपनी को 'हरिश्चन्द्र, 'रामायण', 'कनकतारा', 'भर्तृहरि' आदि हिन्दी के ड्रामे सबसे पहले लिखकर दिए और खिलवाए। इस खूबी के साथ इन्होंने उन नाटकों में हिन्दी दी थी कि उर्दू हिन्दी के सम्मिश्रण में, हिन्दी की चाशनी का आनंद भी नाटक-प्रेमी जनता को प्राप्त हुआ, और नाटक भी पास हो गए। फिर कोई थोड़े ही वर्षों के बाद बेताबजी का 'महाभारत' हश्रजी का 'सूरदास' स्टेज पर आ गया। यद्यपि इन नाटकों की भाषा भी उर्दू-हिन्दी-मिश्रित थी, और इनका कथानक तथा इनके भाव, गुजराती के 'सती द्रौपदी' और बिल्वमंगल' के रूपांतर थे, तथापि इसमें संदेह नहीं कि इन नाटकों का बड़ा मान मिला और पारसी कंपनियों के मालिकों का यह अनुभव हुआ कि हिन्दी नाटक निकालने चाहिए। उन दिनों के उर्दू-नाटक 'ज़हरी सांप' और 'खूबसूरत बला' आदि को जब हम देखते हैं, तो इतना तो नि:संकोच कह सकते हैं, कि प्राय: इस श्रेणी के समस्त नाटकों में गाने हिन्दी-भाषा में ही ज्यादातर लिखे और गाए गए हैं। यह नहीं समझ में आता कि ऐसा क्यों हुआ, या तो गानों के बोल बनाने वालों की

यह कमज़ोरी थी या हिन्दी के बोलों पर गाने बनाए जाने में जो मिठास थी, उसी के कारण ज़र्बदस्ती उसे वह पद प्राप्त हो गया। इसके बाद राधेश्याम जी का 'वीर अभिमन्यु' आया। हम समझते हैं कि इससे पहले इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक परसी कंपनियों के स्टेज पर नहीं आया। इस नाटक का हास्य वाला भाग (कॉमिक) भी बड़ा शिक्षाप्रद और अश्लीलता से रहित था। यह उस ज़माने में पहली बार स्टेज पर आया जिस ज़माने में, कितने ही उर्दू के नाटककारों ने, ऐसे-ऐसे गंदे कॉमिक स्टेज पर पहुंचाए थे कि माताओं और बहनों को थिएटर में ले जाते हुए भी लज्जा आती थी। माता को स्त्री, और स्त्री को माता कहलाना तो उन दिनों में कुछ उर्दू नाटककारों का मान धर्म हो रहा था। खैर, 'वीर अभिमन्यु' को पूर्ण सफलता मिली। महामना मालवीय जी तक ने इसे देखा और प्रशंसा की। इतना ही नहीं, जनता ने भी इसे उतना आदर दिया, जितना आदर इससे पहले के पारसी कंपनियों के किसी नाटक को नहीं प्राप्त हुआ था। अर्थात् पंजाब यूनिवर्सिटी ने इसे क्रमशः 'हिन्दी-भूषण' और 'इंटरमीडियट क्लास' कोर्स की पुस्तकों में पढ़ाए जाने के लिए चुना। अब तो हिन्दी की किशोरावस्था इन कंपनियों में प्रारंभ हो गई। उधर बाबू हरिकृष्ण जी जौहर के 'पति-भक्ति', 'वीर भारत' और शैदाजी का 'नल-दंमयंती' आदि स्टेज पर पहुंचे। उत्साह यहां तक बढ़ा कि हिन्दी-नाटकों को प्रधानता का पद देने के लिए मेरठ से एक लिमिटेड कपंनी 'व्याकुल भारत' के नाम से बन गई। निःसंदेह उस कंपनी का 'बुद्ध देव' बड़ा सुंदर और बड़ा उत्तम नाटक था। खेद है कि व्यवस्था ठीक न होने के कारण यह कंपनी लिक्विडेशन में आ गई, और इसके परम प्रवीण और विद्वान नाटककार व्याकुल जी का भी अकाल ही देहावसान हो गया। यदि वे आज होते, तो उनसे हिन्दी को बड़ी आशाएं थीं। 'व्याकुल भारत' ही में रहकर 'वरमाला' के प्रसिद्ध लेखक 'पन्त जी' को नाटक लिखने का शौक हुआ, परन्तु खेद है कि उन्होंने स्टेज का नाटक न लिखकर साहित्य का (पाठ्य) नाटक लिखा। हमारी उनसे प्रार्थना है कि वह अब स्टेज के लिए नाटक लिखे, उन्हें इसका अनुभव भी है, उनसे हमें इसकी बहुत आशाएं हैं। इन्हीं दिनों काठियावाड़ से आई हुई 'सूरविजय' ने अपने संपूर्ण नाटक हिन्दी ही में आकर खेले। राधेश्याम जी ने 'वीर अभिमन्यु' के बाद जो नाटक 'श्रवणकुमार' लिखा था, वह इसी कंपनी का दिया था। 'श्रवणकुमार' के बाद भी कई नाटक उन्होंने इस कंपनी को दिए थे। खेद है कि आज वह कंपनी भी नहीं रही। इस समय उल्लेख-योग्य ये कंपनियां हैं जिनमें हिन्दी में नाटक खेले जा रहे हैं, और जिनसे हिन्दी-प्रेमियों को और भी अच्छे नाटकों की आशा है—कलकत्ते की करिन्थियन, जिनके मालिक चरखारी महाराज हैं और जिसके नाटककार आगा हश्र है। मदन थिएटर की पारसी एल्फ्रेड, जिसके पहले स्वर्गीय कावस जी मालिक थे, और जिसमें इस समय जौहर जी, शैदा जी नाटककार हैं। सुना है कि बेताब जी भी फिर इस कंपनी के लिए कोई हिन्दी नाटक दे रहे हैं। तीसरी कंपनी है 'न्यू एल्फ्रेड, जो 35 वर्ष से चल रही है, और जिसके भारत-प्रसिद्ध और डाइरेक्टर मि० सोराब जी ओग्रा हैं। यद्यपि अब वह रिटायर्ड हो गए हैं, तथापि वह इस कंपनी का गौरव इतना बढ़ा गए हैं कि आज भी इसका नाम जनता में बड़े आदर के साथ लिया

जाता है। इस कंपनी के मालिक हैं मि॰ मेहरवान जी, मि॰ पणिक शाह और मि॰ फ्रामरोज़। एक चौथी कंपनी भी है और वह हश्र जी की कहलाती है। कुछ दिन पहले उसका नाम 'ग्रेट शेक्सपियर कंपनी' था, परंतु अब कई मास से 'ग्रेट एल्फ्रेड' रक्खा गया है। भगवान् ही जाने कि यह 'एल्फ्रेड' नाम तीन-तीन कंपनियों के साथ क्यों है। स्वर्गीय मि॰ अल्फ्रेड की आत्मा को तो इससे हर्ष होता ही होगा, और चाहे किसी को हो या न हो।

हां, तो 'न्यू एल्फ्रेड' कंपनी के हमने कितने ही नाटक स्वयं देखे हैं। हमारी राय है कि इस समय हिन्दी नाटकों की दृष्टि ही से नहीं, स्टेज की दृष्टि से भी यह कंपनी आदर्श है। श्रीयुत राधेश्याम जी, जिनके नाटक इस कंपनी में खेल जाते हैं, और मि॰ सोराब जी ओग्रा के रिटायर हो जाने के बाद, जो स्वयं ही इसमें अपने नाटक स्टेज कर रहे हैं, निःसंदेह सफलता प्राप्त कर रहे हैं। 'वीर अभिमन्यु' का जिक्र तो ऊपर आ ही चुका है, उसके अतिरिक्त राधेश्याम जी के 'प्रह्लाद', परिवर्तन, 'मंशरिकी हूर' आदि सब वर्क एक से एक उत्तम हैं। इन नाटकों में आदर्श है, शिक्षा है, पवित्रता है, और है ओज, जिनका विशेष परिचय हम फिर कभी देंगे। आज तो राधेश्याम जी के 'श्री कृष्णवतार' और दूसरे भाग 'रुक्मिणी-मंगल' का जिक्र करते हैं।

'श्रीकृष्णावतार' का प्रारभ नाटककार ने इस प्रकार किया है कि कंस के अत्याचारों से जब पृथ्वी कांप रही थी, संसार त्राहि-त्राहि कर रहा था, तब देवर्षि नारद, क्षीर सागर में भगवान् विष्णु को इसके लिए मजबूर कर देते हैं कि वह 'धर्म संस्थापनार्थाय' अवतार लें। नारद का भगवान् विष्णु से वार्तालाप बड़ा ही ओजपूर्ण, प्रभावशाली और दिल को हिला देने वाला है। उधर तो नारद भगवान् को अवतार लेने के लिए मजबूर करते है, और इधर इस विचार से कि-''अत्याचार जितनी जल्दी सीमा पर पहुंच जायगा, उतनी ही जल्दी भगवान् मृत्युलोक में अवतीर्ण होंगे'' कंस के जुल्म को बढ़ाते हैं। तीसरी ओर कंस के जुल्म जब मथुरावासी उत्तेजित होते हैं, तो उन्हें गीता का पाठ पढ़ाते हैं। एक ही चरित्र में यह तीन तरह का चित्रण बड़ा ही सुंदर है और बड़ा ही अनूठा है, या नारद का पार्ट करने वाले महाशय भी अपने पार्ट को खूब ही अदा करते हैं। नारद के बाद योगमाया का पार्ट है। योगमाया के पार्ट में लेखक ने उन सब बातों को लाकर रख दिया है, जिनका संबंध गुप्त संसार से है। यह पार्ट भी स्वाभाविक होता है, और इस पार्ट में जो गाने रक्खे गए हैं, वे तो एक नई जान नाटक में पैदा कर देते हैं। उन्हें गाया भी अच्छे ढंग से जाता है। इसके उपरांत पहला अंक भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म पर समाप्त होता है। दूसरे अंक में बालक श्रीकृष्ण स्टेज पर आते हैं, और क्रमशः अंक समाप्ति तक गौचारण, कलिय-मर्दन गोवर्द्धन-धारण और रासमंडल आदि लीलाओं का दिग्दर्शन कराया जाता है। बालक श्रीकृष्ण की इन बाल-लीलाओं का क्या उद्देश्य है, किस लीला में क्या मर्म है, इसे लेखक ने बड़ी अच्छी तरह दिखलाया है। इस अंक में कोई तीस छोटे छोटे बालक काम करते हैं, जिनमें श्रीकृष्ण, मनसुखा और श्रीदामा के पार्ट सराहनीय हैं। राधा का पार्ट करने वाला बालक तो अपने नाम का जवाब नहीं रखता। राधा और कृष्ण का प्रेम-संबंध कितना पवित्र है, यह बड़ी अच्छी तरह इसमें दिखलाया गया है कहीं

भी नाममात्र को भी अश्लीलता और बुरी भावना दर्शकों के हृदय में नहीं आने पाती, बल्कि उस परम-प्रेम का बड़ा ही पावन रूप सामने आकर खड़ा हो जाता है। कदंब के नीचे गोप-गोपियों साथ खड़ी हुई युगल छवि के दृश्य का अवलोकन कीजिए। यह दूसरे अंक का दूसरा सीन हमारी राय में इस नाटक का सर्वोत्तम सीन है। तीसरे अंक में कंस-वध है। पहला अंक राजनीति से पूर्ण है, दूसरा भक्तों की नस-नस में भक्ति का स्रोत बहा देने वाला है और तीसरा वीरता का सजीव चित्र सामने लाकर रख देता है, जैसा कि 'कंस-वध' के चित्र को देखकर आप कल्पना कर सकेंगे। उस चित्र में आए हुए नट वसुदेव, बलराम, देवकी और उग्रसेन सभी अपने-अपने पार्ट खूब अदा करते हैं, सीन-सीनरी तो इतनी अच्छी दिखाई जाती है कि देखने वालों का कहना है कि अब तक ऐसी नहीं देखी। यहां पर कंपनी के पेंटर मि० वासुदेव दिनकर की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। निःसंदेह छोटी-सी उम्र ही में आपने इस आर्ट में कमाल हासिल कर लिया है। नाच भी अपने-अपने स्थान पर अच्छे हैं, जिन्हें तैयार करने में कंपनी के नाच-मास्टर श्रीयुत नर्मदा शंकर ने यथार्थ में परिश्रम किया है। पोशाकें भी ठीक हैं। सब मिलाकर स्टेज इतना सजा हुआ रहता है कि दर्शक बारंबार देख-देखकर भी नहीं अघाते। हमने स्वयं इस विषय का इससे अच्छा कहीं नहीं देखा।

'श्रीकृष्णावतार' ने जब समस्त पंजाब और संयुक्त प्रांत में अपनी धूम मचा दी, तो राधेश्याम जी ने 'रुक्मिणी-मंगल' के नाम से इस पावन चरित्र का दूसरा भाग स्टेज किया। निःसंदेह यह दूसरा भाग पहले भाग से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। भाषा की दृष्टि से, भावों की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, नाच और गानों की दृष्टि से इसने पहले भाग को भुला दिया है। हमारी सम्मति है कि जिन्होंने यह नाटक नहीं देखे हैं, वे पहली बार दूसरा भाग न देखकर पहला भाग देखें। पहला भाग देखकर वे जब आश्चर्यान्वित रह जाएंगे, तब दूसरा भाग उन्हें वह आनंद देगा कि जो पहले भाग के आनंद को भुला देने वाला होगा। इस दूसर भाग में जरासंध से युद्ध, कालयवन का भस्म होना, रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और अंत में रुक्मिणी-हरण तथा प्रद्युम्न का शम्बरासुर को मारकर द्वारका में आना दिखाया जाता है। राधा-कृष्ण का वास्तविक नाता क्या है, यह अंतिम सीन के एक उठोली वाले दृश्य में बड़ी ही योग्यता से अंकित किया गया है। 'श्रीकृष्णावतार' में जैसे नारद-चरित्र लेखनी की दृष्टि से बड़ा योग्यतापूर्ण है, उसी प्रकार इसमें रुक्मिणी की भाभी, रुक्म की स्त्री सुलेखा, का चरित्र बड़ा ही प्रभावशाली है, और वह सब कवि की कल्पना, कवि की प्रतिभा और कवि की अपनी उपज है। इस 'रुक्मिणी-मंगल' में तो सुलेखा ही का चरित्र क्या, जिस चरित्र को भी लेखक ने लिखा है, खूब ही लिखा है। इसमें सबसे अच्छा पार्ट रुक्म का, श्रीकृष्ण का, रुक्मिणी का, सुलेखा का और रुक्मिणी की माता प्रभा का होता है। नारद, योगमाया और राधा का पार्ट करने वाले वही नट इसमें भी पार्ट करते हैं, जो 'श्रीकृष्णावतार' में करते हैं। इस दूसरे भाग में हम सबसे अच्छे कई दृश्य देखते हैं, एक तो राधा-उद्धव के संबंध का, दूसरा भीष्म के दरबार का, तीसरा रुक्मिणी-रुक्मी और प्रभा के संवाद वाला, चौथा शिशुपाल के दूल्हा-

वेश वाला, पांचवां रुक्मिणी-हरण वाला दृश्य दिखाया गया है। इस दूसरे भाग की सीनरी भी बड़ी उत्तम है, इसमें ड्रेसें भी बड़ी अच्छी और उपयुक्त हैं। नाच भी अच्छे हैं। सबसे अच्छा नाच, नाटक के संसार में पहली बार स्टेज पर आने वाला, संस्कृत बोलों का नाच है। इस नाच में 24 लड़के काम करते हैं। अब तक संस्कृत बोलों का नाच किसी कंपनी में नहीं निकला। आगे इस दूसरे भाग के गाने पहले भाग से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, और उनकी तर्जें भी बड़ी ही अच्छी हैं। हमारी राय में ऐसे गाने किसी कंपनी में और किसी नाटक में अब तक नहीं आए।

पं॰ राधेश्याम जी स्वयं भी एक बड़े अच्छे नट हैं, कारण कि उन्होंने अपनी सारी उम्र कथाओं के कहने में बिताई है। अतएव यदि वह स्टेज पर स्वयं पार्ट करने लगें, तब तो संयुक्त प्रांत को भी इस बात का गर्व हो जाय कि हमारे यहां भी एक गिरीश, शिशिर बाबू या दानी बाबू जैसा नट है। पं॰ राधेश्याम जी गाने में और तर्ज बनाने में तो कुशल हैं ही, उर्दू का 'मशरिकी' हूद लिखकर आपने उर्दू नाट्य जगत् में भी एक क्रांति पैदा की है। हमने पंडितजी का चित्र भी इस लेख में, बड़ी श्रद्धा के साथ दिया है।

पं॰ राधेश्याम जी का विचार क्रमशः संपूर्ण श्रीकृष्ण-चरित्र को स्टेज कर देने का है। भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें सफल-प्रयास करें। यह भी सुना है कि तीन-चार वर्ष से वह 'सती पार्वती' नाम का भी एक नाटक इसी कंपनी के लिए लिख रहे हैं जो आधे से ज़्यादा लिखा जा चुका है, और जिसकी बाबत यह सुनने में आया है कि ऐसा नाटक आज तक न कहीं लिखा गया है और न स्टेज ही हुआ है।

[लेख। हिन्दी मासिक 'माधुरी', वर्ष 8, खण्ड-1, संख्या 6, दिसबर, 1929, 'नाटक प्रेमी' के नाम से प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज से, दूसरी ललित कलाओं से कहीं ज्यादा विस्तृत है। वाल्टर बेसेंट ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किए हैं

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसका संबंध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है, मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्त्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है तो आप उपन्यास में महान दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहां लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी

अंग में नहीं मिल सकता, लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बंधन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यास को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलने वालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुंचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लंबे-चौड़े मार्गहीन मैदान में चलने वालों के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में कभी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, अगर इस भक्ति की कमी है तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यों हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक, सूक्ष्म और प्रभाव डालने वाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है, लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तस्वीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह खयाल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास की रचना शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई-न-कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में गलत राय कायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम खयाल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। संभव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाए, किंतु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाए, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढांचे से निकट संबंध रखती हो। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाए, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जाएगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है, तो वह पाठक के उसे आनंद में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आनंद आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएं, वही विचार लाना चाहिए जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाये, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था, इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएं मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। सम्प्रति-कालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों को खोलना होता है, अतएव यह आवश्यक

है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाए। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुंजाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊंची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागृत कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाए।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागृत नहीं होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाये। हमारे हृदय के अंतरतम भाव साधारण दशाओं में आंदोलित नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दें, जो हमारे भावों की गहराई तक पहुंच जाएं। अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालने वाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यन्त के दरबार में आकर खड़ी होती है और राजा उसे न पहचान कर अपनी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचंड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आए दिन की साधारण बातों ही में उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं का, कमजोरियों और अपकीर्तियों का विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बांध लेता है, वह कभी उस कलाविद् की महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आंतरिक दशा को सत् और असत् के संघर्ष और अंत में सत्य की विजय को मार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियां लेना, यहां तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी अनावश्यक होता है। लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शांत हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊंचा नहीं बना सकते बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जाएगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य

का संबंध सत्य और सुंदर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ़-सी आ गई है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी उपन्यासों में क्यों इतना आनंद आता है? क्या इसका कारण यह कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगों को यह यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुंचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारा समाज पतन की ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शांति के युग में ऐसी घटनाओं का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को संतुष्ट कर सके—जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन-लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फंसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं, वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सजा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनंद नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गयी। अगर मेरा अनुभव गलत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है, जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य में पशु-वृत्तियां इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा, और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते बल्कि उनमें क्रमश: विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त, अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़ने वाले को किसी तब्दीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिए, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जाएगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल, बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं, लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह वही अंत में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की भी जरूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्—पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिए था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अंकित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ-न-कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भांति उपन्यास में भी न होनी चाहिए। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता कर देते हैं, लेकिन असली अंतर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की कलम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुंदर होगा। वार्तालाप केवल रस्सी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुंह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हां भिन्न-भिन्न जातियों की जबान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लोइण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाए जाते हैं। लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं। पर ग्रामीण बातचीत हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभाव का, उसके चरित्र का उसके जीवनादर्शन का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देखने की लगन है उसके चरित्र घटनावली और परिस्थितियां सभी उसी रंग में रंगी हुई नजर आएंगी। लहरी आनंदी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हें जगत गति नहीं व्यापती। वह जासूसी, तिलिस्मी चीजें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता झलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को जिंदादिल न बना सकेगा। 'आजाद कथा' को उठा लीजिए, तुरंत मालूम हो जाएगा कि लेखक हंसने-हंसाने वाला जीव है जो जीवन को गंभीर विचार के योग्य नहीं समझता। जहां उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है, वहां शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं—जो जीवन से लद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने जिंदगी के ऊंच-नीच देखे हैं, संपत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिंदगी मखमली गद्दों पर ही नहीं गुजरती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिसमें प्रकाश, जीवन और आनंद-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हें केवल लेखक की कल्पनाओं से संतोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है, जो अनुभूति पर खड़े हों।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा। हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है, पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बांधते हैं कि अंत स्वाभाविक होने पर भी वही होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वांग जितनी खूबसूरती से भर सकें, उतने ही सफल होते हैं, लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वांग से संतुष्ट न होगा।

यों कहना चाहिए कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जाएगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हां, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जाएगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य मे सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देशभक्त का, या किसी बड़े आदमी का, पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है, क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

[लेख। 'हंस', मार्च, 1930 मे प्रकाशित। 'कुछ विचार' तथा 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।]

आज़ादी की लड़ाई

आजादी की लड़ाई शुरू हो गई। महात्मा गाधी ने छः अप्रैल को समुद्र के तट पर डंडी में गुलामी की बंडी पर पहला हथौड़ा चलाया और उसकी झंकार सारे देश में गूंज उठी। पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे हैं। मजाक भी उड़ाया गया। एक गवर्नर ने अपने खुशामदी टट्टुओं को जमा करके अपने दल के फफोले फोड़ते हुए इस संग्राम को दुःखमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था, कि यह दुःखमय प्रहसन दो सप्ताह ही में आजादी का एक प्रचंड प्रवाह सिद्ध हो जायगा, जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया, जो ऐसी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन चुनकर जेल भेज दिए गए, अफसरों को नए-नए अधिकार दिए गए, वायसराय ने भी अपने स्वरक्षित अस्त्र निकाला लिए, यहां तक कि इस लू और गर्मी में देवताओं को पर्वतशिखरों से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पड़ा, जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी, लेकिन स्वराज्य-सेना के कदम आगे ही बढ़े जाते हैं। जैसे बच्चे हार जाते हैं, तो दांत काटने लगते हैं, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर डंडों और गोलियों की बौछार हो रही है, कहीं जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है, (जिस गवर्नर का हमने ऊपर

जिक्र किया है, उसी ने एक-दूसरे मजमे में जमींदारों को इन विद्रोहियों की खबर लेने की सलाह भी दी थी) फिल्मों पर रोक लगाई जा रही है। तार की खबरों का सेंसर किया जा रहा है। हमने इन सब बातों की कल्पना पहले ही कर ली थी। कोई बात हमारी आशाओं के खिलाफ नहीं हुई। अंग्रेजों की दानवता का नाच हम देख चुके हैं। कायरता, कमीनापन, निर्दयता आदि गुणों में इस जाति से बाजी ले जाना मुश्किल है। फिर भी हमारा जो कुछ अनुमान था, उससे कुछ ज्यादा ही हो रहा है। न कोई कानून है, न कायदा, न नीति, न धर्म। बस जिधर देखिए, लबड़-धों-धों, एक घबराए हुए आदमी की बौखलाहट। एक ही अपराध के लिए दो महीने से दो साल तक की सजा और वह भी कठोर। मगर हम इन बातों की शिकायत नहीं करते। इन्हीं अन्यायों से तो हमारी विजय है। सन्निपात मौत के चिह्न हैं।

हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के कायल हैं। जो बात की, खुदा की कसम लाजवाब की ! न जाने कहां से नमक-कर खोज निकाला, कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। कोई दूसरा ऐसा कर नहीं, जो गरीब से गरीब आदमी से वसूल किया जाता हो, और न कोई दूसरा कर ऐसा है, जिसका ऐसेंबली में इतना विरोध किया हो। अगर हमारी स्मृति भूल नहीं करती तो शायद 1924 में ऐसेंबली ने इस कर को अस्वीकार कर दिया था और वाइसराय को इसे अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करना पड़ा था। कर का व्यापक नियम है, कि वह विलास की वस्तुओं पर लगाया जाना चाहिए। जो चीज जीवन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी हवा और पानी, उस पर कर लगाना नीति-विरुद्ध है। अंग्रेजी राज्य के पहले, भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया-भर में भारत ही एक ऐसा देश है, जहां नमक पर कर लगाया जाता है। मुसलिम स्मृतिकारों ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है, पर हम 150 वर्षों से यह कर देते आए हैं, और मजा यह कि जिस वस्तु पर दो आना मन लागत न आवे, उस पर सवा रुपये मन कर लिया जाता है जो लागत का दस गुना है। सबसे बड़ी बात यह है, कि इस कर को सामूहिक रूप से निहायत आसानी से तोड़ा जा सकता है। ऐसा कोई भूभाग नहीं, जहां लोनी मिट्टी न हो और शहर या गांव, दोनों ही जगहों के आदमी बड़ी संख्या में जमा होकर इसे तोड़ सकते हैं, और सरकारी नमक को बाजार से निकाल बाहर कर सकते हैं। नौकरशाही ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया, जितना पशुबल, संभव था, उससे काम लिया, पर कर टूट गया। जिस नियम के भंग करने वालों को सरकार दंड न दे सके, जिसकी रक्षा करने के लिए डंडे के सिवा और कोई दूसरा साधन न हो, वह कानूनी देवताओं में भले स्वरक्षित रह, पर व्यावहारिक रूप से वह टूट गया और सरकार के लिए अब इसके सिवा कोई उपाय नहीं है, कि इस कर को मंसूख कर दे और अपनी हार स्वीकार कर ले। गवर्नमेंट सोचती होगी कि जब नमक के बड़े-बड़े कारखाने खुल जाएंगे, तो हम उसे जब्त कर लेंगे और इस तरह आज़ाद नमक का सिर न उठाने देंगे, लेकिन हमारे पास इस चाल का यही जवाब है कि हम अपने-अपने घरों मे नमक बनाना उतना ही जरूरी समझ लें, जितना भोजन बनाना। फिर हम देखेंगे कि सरकार अपना नमक कैसे हमारे गले मढ़ती है। लक्षणों से मालूम

होता है, कि नमक आंदोलन असर कर रहा है, और नमक के व्यापारियों ने सरकारी नमक मंगाने में आना-कानी शुरू कर दी है। सरकार के इस प्रचंड दमन के फलस्वरूप बाज बड़े शहरों में जनता भी शांति के आदर्श को न निभा सकी, और कराची, बंबई, पूना और कलकत्ता आदि शहरों में कुछ गोलमाल हुआ, जिससे पुलिस को अपने दिल के अरमान निकालने का अच्छा मौका मिल गया, पर इन दुर्घटनाओं का दोष अगर किसी के ऊपर है, तो वह सरकार है। अगर वह सत्याग्रहियों को कायदे के अनुसार पकड़ लेती, तो कहीं कुछ न होता, जलूसों को रोकना, सत्याग्रहियों को डंडों से पीटना जनता से अगर न देखा जाय, तो हम उन्हें क्षम्य समझते हैं। अगर नौकरशाही को यही विश्वास है, कि निरस्त्र जनता पर लाठियों का प्रहार करके, वह उन पर धाक जमा सकती है, तो यह उसकी भूल है। इन चारों स्थानों में ही पुलिस ने जिस गुंडेपन का परिचय दिया है, वह असभ्य से असभ्य जातियों को कलंकित करने के लिए काफी है।

क्या मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं?

अभी तक तो सरकार के लिए यह कहने की गुंजाइश बाकी थी, कि इस आंदोलन में केवल कांग्रेस के गरम दल वाले ही शामिल हैं, लेकिन दिन-दिन उस पर यह हकीकत खुलती जाती है, कि आजादी की लड़ाई में देश के सभी दल मिले हुए हैं। और अगर उसके मिलने में कुछ कसर थी, तो वह सरकार की हिमाकत और पागलपन की बदौलत पूरी हुई जाती है। पुरानी कहावत है—बुरे दिन आते हैं, तो बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। इस वक्त ऐसा जान पड़ता है, कि अंग्रेजों के बुरे दिन आ गए हैं, नहीं तो अंग्रेजी कपड़े को अन्य देशों के कपड़ों से कम महसूल पर लाने का प्रस्ताव पास करने की जरूरत ही क्या थी। गैर सरकारी बहुमत इस प्रस्ताव के विरुद्ध था, पर सरकार ने अपनी जिद से उसे पास करके ही छोड़ा। नतीजा क्या हुआ। आज पं॰ मदनमोहन मालवीय, मि॰ केलकर, मि॰ अणे, मि॰ हसन इमाम हमारे साथ हैं और व्यापारी-दल तो तो बिलकुल अलग ही हो गया। अब सरकार को माडरेटों में नाम लेने के लिए दो-चार लिबरल और रह गए हैं। हमें आशा है, कि उसकी कोई नई हिमाकत यह कमाल भी कर दिखाएगी। हालांकि लिबरलों के विषय में हमें संदेह है कि काई अनीति, कोई अत्याचार इन्हें जगा सकता है। इनकी आशा अपार है और धैर्य अनंत। वायसराय, सेक्रेटरी, अंडरसेक्रेटरी और भी जिसकी वाणी की कुछ इज्जत है, कह चुके कि डोमिनियन स्टेटस अभी बहुत दूर है, लेकिन हमारे लिबरल भाई हैं, कि उस 'बहुत दूर' को 'बहुत नजदीक' समझने के लिए बेकरार हैं। लिबरलों की राजनीतिक डिनर-पार्टी और ड्राइंग-रूम तक महदूद है, इसलिए सरकार के अंतिम आधार अगर लिबरल हों, तो यह सरकार और लिबरल दोनों ही के लिए आपस में हाथ मिलाने और बधाइयां देने का अवसर हो सकता है। अगर इस तिनके का सहारा सरकार लेना चाहती है, तो शौक से ले, मगर सरकार ने शुरू से जिस हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की उपासना की है, उसे इस संकट के अवसर पर कैसे भूल जाती। कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आंदोलन में कांग्रेस

के साथ नहीं हैं। मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बनकर कैद हों, मार खाएं, कितनी ही कांग्रेस कमेटियों के प्रधान और मंत्री हों, लेकिन फिर भी यही कहा जाता है, कि मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं। जमैयतुल-उलमा जैसा सर्वमान्य मंडल पुकार-पुकारकर कह रहा है, कि नमक का महसूल इसलामी शरीयत के खिलाफ है, पर कहने वाले कहे जाते हैं—मुसलमान इस आंदोलन के साथ नहीं। मालूम नहीं, वह यह कह-कहकर किसे धोखा देना चाहते हैं। हां, हम यह मानने को तैयार हैं कि हमारे खान बहादुर, साहबान, जिनकी संख्या ईश्वर की दया से, अंग्रेजों की असीम कृपा होने पर भी, बहुत ज्यादा नहीं हैं मगर खां साहब नहीं हैं तो बेशक हमारे साथ तो राय साहब भी तो नहीं है। यों कहिए कि यह उन लोगों का आंदोलन है, जो अपने सारे संकटों का मोचन एकमात्र स्वराज्य ही को समझते हैं। जो गरीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं, या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते हैं, और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है, कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे। इसमें न हिन्दू की कैद है, न मुसलमान की। दोनों ही समान रूप से यह संकट झेल रहे हैं, तो दोनों समान रूप से शरीक हैं। मुसलमान आजादी के प्रेम में हिन्दुओं से पीछे रह जाय, यह असंभव है। मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्की यह सब मुसलमानों ही के देश हैं। देखिए अपनी आजादी के लिए उन्होंने क्या-क्या किया और कर रहे हैं। वह कौम कभी आजादी के खिलाफ नहीं जा सकती। दो-चार मौलवी, दो-चार 'सर', दस-पांच 'आनरेबुल' यह हांक लगाये जाएंगे, शौक से लगावें। हिन्दू हों या मुसलमान, जो अंग्रेजी राज्य में धन और अधिकार के सुख लूट रहे हैं, वे अंग्रेजी सरकार के परम भक्त हैं, और रहेंगे और रहना चाहिए। वे किसी के तो नमक हलाल बने रहें। जिसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने बाहुबल पर भरोसा नहीं है, जो अंग्रेजों की शरण आकर कोई ओहदा पा जाना ही अपनी जिंदगी का निर्वाण समझता है, वह हमेशा उस पक्ष की तरफ रहेगा, जहां उसे सफलता का पूरा भरोसा है। ऐसे लोग खतरे की तरफ भूलकर भी न आवेंगे। अमेरिका के गुलाम भी तो 'गुलामों की आजादी' की लड़ाई में मालिकों के पक्ष में लड़े थे। ऐसे गुलाम प्रकृति के लोग हमेशा रहेंगे और उनके रहने के किसी आंदोलन का नाश नहीं होता। मगर हमें यह कोशिश करते रहना चाहिए, कि हमारी इस मुसाहलत की हालत में हवा का झोंका न लगने पाए, नहीं तो वह घातक हो जाएगा। कहीं अछूतों को हमसे भड़काने की कोशिश की जायगी और की जा रही है, कहीं हिन्दू-मुसलमानों को लड़ा देने के मंसूबे सोचे जाएंगे। हमें इन सब चालों को तीव्र दृष्टि से देखते रहना चाहिए। क्या जमाने की खूबी है, कि जिन लोगों ने अछूतों को उससे कहीं ज्यादा दलित किया है, जितना कट्टर-से-कट्टर हिन्दू-समाज कर सकता था, वह आज अछूतों के शुभचिंतक बने हुए हैं। बेगार की सख्तियों का दोष किस पर है, हिन्दू-समाज पर या सरकार पर? उन्हें अपढ़ रखने का दोष किस पर है, हिन्दू-समाज पर या सरकार पर? उन्हें ताड़ी, शराब, गांजा, चरस पिला पिलाकर कौन रुपये कमाता है, सरकार या हिन्दू समाज? प्रारंभिक शिक्षा का बिल सरकार ने पेश किया था, या स्वर्गीय मि० गोखले ने? उसे किसने धनाभाव का बहाना कर नामंजूर कर दिया, हिन्दू-समाज ने या सरकार

ने? हमें पूरा विश्वास है, कि जिस सरकार ने कितनी ही अछूत जातों को जरायम पेशा बना दिया, उसकी शुभ-चिंतना पर हमारे दलित-समाज के नेता लोग भरोसा न करेंगे। हिन्दू-समाज अपने दलित भाइयों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगा है और वह दिन दूर नहीं है, जब आर्य और अनार्य, ऊंच और नीच की कैद नाम को भी बाकी न रहेगी। संभव है, देहातों के कट्टर हिन्दू कहीं-कहीं अब भी उनके साथ वही पुराना बर्ताव करते-हों, लेकिन विचारशील हिन्दू-समाज अब उस अन्याय को कायम न रहने देगा।

आज़ादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं?

इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। हमने आशा की थी, कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्रवर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहां भी होगा, पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो, या वकील, या प्रोफेसर, या छात्र, सभी अंग्रेजी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उसकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्नानवे सैकड़े गेजुएटों के लिए सभी द्वार बंद हैं, पर निराशा में भी आशा लगाए हुए बैठे हैं, कि शायद हमारे ही तकदीर जाग जाय। देख रहे हैं, कि कांग्रेस के आंदोलन से ही अब थोड़े-से ऊंचे ओहदे हिन्दुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझे बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या आत्मगौरव नहीं, उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मंदोत्साह हों, उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। हमारा वकील समुदाय तो इस संग्राम से ऐसा भाग रहा है, जैसे आदमी की सूरत देखते ही गीदड़ भागे। हमारे बड़े-से-बड़े नेता—जिनकी जूतियों का तस्मा खोलने के लायक भी यह लोग नहीं—धड़ाधड़ जेलों में बंद किए जा रहे हैं, पर यह है कि अपने बिलों में मुंह छिपाए पड़े हैं। यहां तक कि स्वदेशी वस्तु-व्यवहार की प्रतिज्ञा पर दस्तखत करते हुए भी उसके हाथ कांपने लगते हैं और कलम हाथ से छूटकर गिर पड़ती है। और आजादी का नमक देखकर तो उन्हें जूड़ी-सी चढ़ आती है। हमें यह देखने का अरमान ही रह गया, कि कोई वकील किसी जत्थे का नायक होता। नहीं, वह तमाशा देखना भी खतरनाक समझते हैं। बस, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। कचहरी गए, और घर आए। उन्हें दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं। इस बेगैरती का भी कोई ठिकाना है। अभी किसी सरकारी पार्टी में शरीक होने का नेवता मिल जाय, तो मारे खुशी के पागल हो जाएं। नेवते के कार्ड के लिए बड़ी-बड़ी चालें चली जाती हैं, नाक रगड़ी जाती हैं, और वह कार्ड तो साक्षात् कल्प-वृक्ष ही है। गोरी सूरत देखी और माथा जमीन पर टेक दिया। ऐसे लोगों के दिन अब गिने हुए हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देशद्रोहियों के लिए कोई स्थान न होगा। वह जनता, जिसे यूनिवर्सिटियों की हवा नहीं लगी, और आंदोलनों की तरह इस संग्राम में भी आगे-आगे है। हमारे छोटे-छोटे दूकानदार, मजदूर, पेशेवर ही सैनिकों की अगली सफों में हैं और भविष्य उन्हीं के हाथ में है। लक्षण कह रहे हैं, कि सूट-बूट वाले अंग्रेजों के गुलामों की वही हालत होने वाली है, जो रूस में हुई है।

यह लोग खुद अपने पांव में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जनता और सब मुआफ कर देती है; पर देशद्रोह को वह कभी मुआफ नहीं करती। राष्ट्रीय संस्थाओं को देखिए –गुजरात-विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, अभय-आश्रम, गुरुकुल-कांगड़ी, प्रेम-विद्यालय वृन्दावन आदि ने अपने-अपने सिपाहियों के जत्थे भेजे और भेज रहे हैं। उनके छात्र जान हथेली पर रखे मैदान में निकल पड़े हैं, पर यूनिवर्सिटियों ने भी कोई जत्था भेजा? हमें तो खबर नहीं। यूनिवर्सिटियों में भी कोई प्रोफेसर आगे बढ़ा? कहां की बात ! अपने लोग यह रोग नहीं पालते। आनंद से भोजन करें, रूसी उपन्यास पढ़ें, ताश खेलें, ग्रामोफोन या रेडियो का आनंद उठायें, या इस झंझट में पड़ें? जिंदगी सुख भोगने के लिए है, झोंकने के लिए नहीं। काश यह यूनिवर्सिटियां न खुली होतीं, काश आज उनकी ईंट-से-ईंट बज जाती, तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। यह विद्यालय नहीं, गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं। स्वाधीन भारत ऐसे विद्यालयों को जड़ खोदकर फेंक देगा।

देहातों में प्रोपेगंडे की जरूरत

अब तक हमारे आंदोलन शहरों ही तक महदूद रहे हैं, लेकिन नमक-कर-भंग देहातों में भी जा पहुंचा है। सत्याग्रही दलों का देहातों से पैदल निकलना ऐसा प्रोपेगंडा है, जिसके महत्त्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। नौकरशाही का आतंक देहातों पर शहरों से कहीं ज्यादा छाया हुआ है। वहां सब-इंसपेक्टर का दर्जा ईश्वर से कुछ ही कम होता है और कांस्टेबुल तो खुदमुख्तार बादशाह ही है। कोई आंदोलन जिससे पुलिस के रोब-दाब में फर्क पड़े, उसकी हवा भी वहां नहीं पहुंचने पाती। मगर अब समय आ गया है, कि हमारे स्वयंसेवक बड़ी संख्या में देहातों में पहुंचें और जुलूसों और जुलूसों से लोगों में राजनैतिक भाव करें और उन्हें आने वाले महासंग्राम के लिए तैयार करें। अगर देहातों में यह आग लग गई, तो फिर किसी के बुझाये न बुझेगी। हम यह मानते हैं, कि देहातों में नौकरशाही दमन के कठोर-से- कठोर शास्त्रों का प्रहार करेगी, जमींदारों को भड़काएगी, तरह-तरह की गलतफहमियां फैलाएगी, पर हमें इन कठिनाइयों का सामना करना है। हमें यह समझा देना है, कि इस राज्य में सबसे ज्यादा हमारे देहात ही सताए जाते हैं, और स्वराज्य में सबसे ज्यादा हित देहात वालों का ही सिद्ध होगा।

हिन्दू-मुसलिम बांट-बखरे का प्रश्न

भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते, कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, उसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह है, कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा। पूरी एकता तो स्वराज्य मिल जाने पर ही हो सकती है। हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक

बार कोशिशें की गईं, यहां तक कि आज भी सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल-सम्मेलन करने में लगे हुए हैं, मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला? समझौता न हुआ, न हुआ। कोई रोजगार शुरू किया जाता है, तो पहले ही से यह निश्चय नहीं कर लिया जाता, कि हम इतने रुपये फी सैकड़े नफा लेंगे। पहले तो इसके लिए पूंजी जमा की जाती है। फिर संगठन शुरू होता है, तब माल की तैयारी होती है, इकसे बाद खपत का सवाल होता है, आखिर में नफे का प्रश्न आता है। यहां पहले ही से नफे के हिस्से तय करने की सलाह दी जाती है। अरे भाईजान, पहले पूंजी तो लगाओ, अभी नफे का क्या सवाल है? हिन्दुस्तान अगर इतने दिनों की गुलामी से कुछ सीख सका है, तो वह यह है कि समाज के किसी अंग को असंतुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया में उन्नति में नहीं कर सकता। हमें विश्वास है, कि भारत इस सबक को अब कभी न भूलेगा। महात्मा गांधी ने तो यहां तक कह दिया है कि मुसलमान जितना चाहें ले लें, इसमें हिस्से का सवाल ही नहीं। स्वराज्य के अधीन राजपद धन कमाने का साधन नहीं, प्रजा की सेवा का साधन होगा। हम तो यही समझे बैठे हैं। अगर उस दशा में भी हमारे मुसलमान भाई राजपदों या मेंबरियों में बड़ा हिस्सा लेने का आग्रह करेंगे, तो स्वराज्य-सरकार उनके मार्ग में बाधक न बनेगी। उस वक्त राजपद वहीं स्वीकार करग, जो देश के लिए त्याग करना चाहेंगे, धन-लोलुप और विलासी जनों के लिए स्वराज्यशासन में कोई स्थान न होगा।

मशीनगन और शांति

शांति स्थापित करने के दो साधन हैं। एक तो मानवी है, दूसरा दानवी। एक मशीनगन है, दूसरा देश की वास्तविक दशा का समझना और उसके अनुकूल व्यवहार करना। सरकार ने अपने स्वभावानुसार मशीनगन से काम लेना ही उचित समझा है। इसका परिणाम क्या होगा, सरकार को इसकी चिंता नहीं। पुलिस और सेना उसके पास है। देश में जितने स्वाधीनता के उपासक हैं, वह सब बड़ी आसानी से तोप का शिकार बनाए जा सकते हैं। भारत गरीब है, यहां ऐसे आदमियों की कभी कमी न रहेगी, जो पेट के लिए अपने भाइयों का गला काटने को तैयार रहें। कांग्रेस के लोग जेल में पहुंच ही गए है। और दलों के इने-गिने आदमी हैं, उनको फांस लेना और भी आसान है। रहे हमारे लिबरल भाई, उनकी परवाह ही किसे है? सरकार उनकी सहायता के बगैर भी राज कर सकती है। टैक्सों को दूना कर देने का उसे अख्तियार है। इस तरह वह इससे बड़ी फौज भी रख सकती है। मशीनगनों के सामने चूं करने का किसे हौसला हो सकता है। अंग्रेज अधिकारियों के वेतन बड़ी आसानी से बढ़ाए जा सकते हैं। कुछ थोड़े-से ओहदे हिन्दुस्तानियों को देकर बड़ी आसनी से काम लिया जा सकता है। समाचार-पत्रों को एकदम बंद कर देने से फिर कहीं से विरोध की आवाज भी न आवेगी। सरकार अपने दिल में संतोष कर सकती है, कि अब किसी को कोई शिकायत नहीं रही। रिफार्म की, गोलमेज-कॉफ्रेंस की और डोमिनियन स्टेट्स की चर्चा ही व्यर्थ है। यह इसी दानवी नीति का फल है, कि आज भारत में अंग्रेजों का कोई दोस्त नहीं है। जो लोग अपने

स्वार्थवश सरकार की खुशामद करते हैं, वे भी उसके भक्त नहीं हैं। ऐसा प्रजा पर राज करना, अगर अंग्रेजों के लिए गौरव की बात है, तो हम नहीं समझते, कि वह अपनी सभ्यता और उच्चता का किस मुंह से दावा कर सकती है। अगर अंग्रेजों की जगह इस वक्त हब्शी होते, तो वे भी दमन ही तो करते। दमन शासन का सबसे निकृष्ट रूप है और अंग्रेजों ने उसी का आश्रय लिया है। क्या उनका ख्याल है, कि जिस शक्ति से दबकर उन्होंने सुधार किए और कॉफ्रेंस के वादे किए, वह शक्ति अब गायब हो गई है? दमन उस शक्ति को दिन-दिन मजबूत कर रहा है। उस राज्य में लिए इससे बढ़कर कलंक की दूसरी बात नहीं हो सकती कि उसे हर एक बात के लिए मशीनगनों की ही शरण लेना पड़े। जिस राज्य में जनता पर महज इसलिए गोलियां चलाई जाएं, कि वह अपने लीडरों की गिरफ्तारी पर शोक मनाने के लिए जमा होती है, उसे चल-चलाव के दिन अब आ गए हैं। पेशावर में जो हत्याकांड हुआ है, वह कभी न होता, अगर नौकरशाही ने मशीनगनों और फौजी हथियारों से जनता को धमकाया न होता। वह ज़माना गया, जब जनता पशुबल के प्रदर्शन से डर जाया करती थी। अब वह डरती नहीं, वह उसे अपनी पराधीनता का हेतु समझकर उसकी जड़ खोदने के लिए और दृढ़ संकल्प कर लेती है। नमक कानून टूट गया। सरकार की मशीनगनें उसको न बचा सकीं। लाखों नमक बनाने वाले आज गर्व से सिर उठाए घूम रहे हैं। आर्डिनेंस भी टूट जायगा। कोई कानून, जिसको राष्ट्र के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया है और जिसका केवल पशु बल पर आधार है, अब जनता उसके सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं है। सरकार अगर आंखें बंद रखना चाहती है, तो रक्खे, पर उसके आंखें बंद कर लेने से देश की स्थिति नहीं बदल सकती। देश अब अपनी किस्मत का मालिक आप बनना चाहता है। और उसकी कीमत अदा करने का निश्चय कर चुका है। पेशावर और कराची जैसे कांड उसके पतन को और निकट ला रहे हैं।

[लेख। 'हंस', अप्रैल, 1930 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

बच्चों को स्वाधीन बनाओ

बहुत से लोग यह शीर्षक देखकर ही चौंक पड़ेंगे। वाह ! लड़के तो आप ही स्वाधीन होते हैं। वह तो बचपन ही में न पुट्ठे पर हाथ रखने देते हैं, न मुंह में लगाम डालने देते हैं और जहां जरा समझ आई कि सरपट दौड़ना शुरू कर देते हैं। जरूरत है कि उन्हें आज्ञा पालन सिखाओ, बड़ों का अदब करना सिखाओ, संयम सिखाओ। उन्हें स्वाधीन बनाना तो ऐसा ही है, जैसा आग पर तेल छिड़कना।

यह समय है कि लड़के आजकल उससे कहीं ज्यादा स्वाधीन हैं, जितने कि उनके माता-पिता इस उम्र में खुद थे। इस स्वाधीन प्रवृत्ति का जो नतीजा हो रहा है, उसे देखकर यदि माता-पिता के मन में ऐसी शंका पैदा हो तो कोई आश्चर्य नहीं, लेकिन इसीलिए तो जरूरत है कि लड़कों को स्वाधीन बनने की शिक्षा दी जाय। बालक जितना ही बलशाली होगा, उतना ही स्वाधीन भी होगा, लेकिन अभी हम

उसे इसकी शिक्षा नहीं देते। अगर युवकों को फौज के लिए भरती किया जाय, तो उन्हें कवायद सिखाने की जरूरत होती है। अगर वे गायक बनना चाहें, तो यह संभव नहीं है, कि बिला सिखाए आप-ही-आप गाने लग जाय, लेकिन यह देखकर भी कि हमारे बालक वृन्द जितने स्वाधीन आज हैं, उतने किसी अतीत काल में न थे। हम उन्हें बचपन से इस समस्या को हल करने की उचित शिक्षा नहीं दे रहे हैं।

थोड़े से शब्दों में, बालक को प्रधानतः ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, कि वह जीवन में अपनी रक्षा आप कर सके।

यह तो मानी हुई बात है कि आज के बालक स्वाधीन हैं, और अब किसी के बस की बात नहीं है कि इस दशा को पलट दे। इसके बहुत से कारण हैं—परिवारों का देहातों से निकलकर शहरों में आबाद होना, जहां परिचित जनों के दबाव और स्वभाव से लोग मुक्त हो जाते हैं, पुराने नीति-व्यवहारों का शिथिल हो जाना, जिनका पहले विद्रोही युवकों पर बहुत दबाव पड़ता था। मोटरकार, सिनेमा और समाचार-पत्र सब स्वाधीनता की प्रवृत्ति को मजबूत करते हैं।

लेकिन इस पर आंसू बहाने से काम न चलेगा। पुराने जमाने में जब बड़ों का हुक्म और अदब मानना समाज का सबसे मान्य नियम था और हर एक छोटी जाति अपने से ऊंची जाति के सामने अदब से सिर झुकाती थी, तब बालकों को बचपन ही से अदब करना सिखाया जाता था और उचित भी था, लेकिन आज किसी बाहरी सत्ता की आज्ञाओं को मानने की शिक्षा देना बालकों की सबसे बड़ी जरूरत की तरफ से आंखें बंद कर लेना है। युवकों के सामने आज जो परिस्थिति है उसमें अदब और नम्रता का इतना महत्त्व नहीं हैं, जितना व्यक्तिगत विचारों और कामों की स्वाधीनता का।

इस नई शिक्षा का आशय क्या है? आज्ञा-पालन हमारे जीवन का एक अंग है और हमेशा रहेगा। अगर हर एक आदमी अपने मन की करने लगे, तो समाज का शीराजा बिखर जायगा। अवश्य हर एक घर में जीवन के इस मौलिक तत्त्व की रक्षा होनी चाहिए, लेकिन इसके साथ ही माता-पिता की यह कोशिश भी होनी चाहिए, कि उनके बालक उन्हें पत्थर की मूर्ति या पहेली न समझें। चतुर माता-पिता बालकों के प्रति अपने व्यवहार को जितना स्वाभाविक बना सकें, उतना बनाना चाहिए, क्योंकि बालक के जीवन का उद्देश्य कार्य क्षेत्र में आना है, केवल आज्ञा मानना नहीं। वास्तव में जो बालक इस तरह की शिक्षा पाते हैं, उसमें से आत्म-विश्वास का लोप हो जाता है। वे हमेशा किसी की आज्ञा का इंतजार करते हैं। हम समझते हैं कि आज कोई बाप अपने लड़के को ऐसी आदत डालने वाली शिक्षा न देगा।

दूसरा सिद्धांत यह है कि माता-पिता को कोई बात खुद न तय करनी चाहिए, बल्कि लड़कों पर ही छोड़ देनी चाहिए। एक बादशाह ने जब अपने बालक को एक अध्यापक को सौंपा, तो यह सलाह दी—जितनी जल्दी हो सके, अपने को बेकार बना लेना। हमारा यह कर्त्तव्य नहीं है कि हम सदा अपने लड़कों से अपनी आज्ञाएं मनवाते रहें, बल्कि उनको इस योग्य बना दें, कि वह खुद अपने मार्ग का अपने-आप निश्चय कर लें। युवकों मे यह प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी, उतनी ही सफल उनकी शिक्षा

भी समझनी चाहिए।

तीसरा सिद्धांत यह है कि गृहस्थी को जनंतत्र के कायदों पर चलना चाहिए। तजुर्बे से यह बात मालूम होती है, कि हम जनतंत्र पर चाहे कितना ही विश्वास क्यों न रक्खें, हमारे घरों में स्वेच्छाचार ही का राज्य है। घर का मालिक मुसोलिनी या कैसर की तरह डटा हुआ उसे जिस रास्ते चाहता है, ले जाता है और कभी इसका उलटा दिखाई देता है। घर में न कोई कायदा है न कोई कानून। जो जिसके जी में आता है, करता है, जैसे चाहता है, रहता है, कोई किसी की खबर नहीं लेता। लड़के अपनी राह जाते हैं, जवान अपनी राह और बूढ़े अपनी राह। दोनों ही तरीके जनतंत्र से कोसों दूर हैं--पहले तरीके में स्वतंत्रता का नाम नहीं, दूसरे तरीके में जिम्मेदारी का। यह दोनों तरीके लड़कों की शिक्षा की दृष्टि से अनुचित हैं। करना यह चाहिए कि घर के मामलों में शुरू ही से बच्चों की राय ली जाय। छोटा बालक भी- अगर उसको सीधे रास्ते पर लगाया जाय--अपनी जिम्मेदारी को समझने लगता है। जिन लड़कों के साथ मां-बाप बुरा व्यवहार करते हैं, वे भी उनके साथ सच्चा स्नेह रखते हैं, मगर मां-बाप उनकी इस प्रकृति को अपने स्वेच्छाचार से कुचल डालते हैं और उसका बुरा नतीजा हम रोज अपनी आंखों से देखते हैं।

हर एक मामूली आदमी को यह जानकर गर्व और आनंद होता है कि घर में उसका भी कोई स्थान है, वह भी कुछ समझा जाता है। बालक भी इस भाव से खाली नहीं होता। सफल परिवार का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस प्रवृत्ति को व्यवहार में लावे। ऐसा बालक सदैव परिवार के सम्मान की रक्षा करेगा। यहां उसे स्वाधीन राय कायम करने का पाठ मिल रहा है। हो सकता है कि इस विषय में कुछ लोगों का कड़वा तजुर्बा हो- युवकों ने परिवार के हित की ओर ध्यान न देकर अपने ही अधिकारों पर जोर दिया हो। अभिमान और विलास उनकी राय में आजकल के युवकों में जरूरत से ज्यादा मौजूद है, लेकिन यह बालक का दोष नहीं, मां-बाप का दोष है। बालकों को यह शिक्षा देने के लिए समय, धैर्य, बुद्धि और सहानुभूति की जरूरत है। इसका आशय यह है कि बच्चा ज्योंही आने और पैसे में फर्क समझने लगें, उनके हाथ में पैसे दे दिए जायं, उनका वजीफा बांध दिया जाय और कुमारावस्था में ही उन्हें इस योग्य बना दिया जाय कि वे पैसे का मूल्य समझने लगें और खर्च को आमदनी के अंदर रखने की आदत सीखें।

हम इन बातों पर ध्यान नहीं देते। कितने ही मां-बाप अपने लड़कों के विषय में उतने ही बेखबर होते हैं, जितने अपने तोते या कुत्ते के विषय में। बदमाश और शरीफ बालकों की पारिवारिक स्थिति की परीक्षा ली जाय, तो सिद्ध हो जायगा कि बाल-चरित्र में जो दोष आ जाते हैं, उसका कारण घर वालों की लापरवाही है।

बच्चों में स्वाधीनता के भाव पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि जितनी जल्दी हो सके, उन्हें कुछ काम करने का अवसर दिया जाय। आमतौर पर यह समझा जाता है कि अच्छे माता-पिता का कर्त्तव्य अपनी संतानों को कठिनाइयों से दूर रखना है। इसका फल यह है कि ऊंचे खानदानों में लड़के क्रियाहीन हो जाते हैं। जब उन्हें बिना कोई उद्योग किए ही सारी चीजें मिल जाती हैं, तो फिर वे काम क्यों करें?

हालांकि विचार शास्त्र का यह एक मोटा सिद्धांत है कि लड़कों को अपने हाथ से, अपने उद्योग से, कोई काम कर दिखाने में या कोई चीज बनाकर खड़ी कर देने में जितना आनंद मिलता है, उतना और किसी बात में नहीं। लड़का अपनी कागज की नाव पानी में डालकर जितना खुश होता है, उतना बड़े-बड़े विशाल जहाजों को चलते देखकर नहीं होता।

हमारे सुचालित मदरसों में अब इस बात को लोग समझने लगे हैं कि लड़कों को हाथ से कुछ काम कराना अव्वल दर्जे की मानसिक और नैतिक साधना है। हर एक घर में ऐसा ही होना चाहिए। लड़कों में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने का इससे उत्तम साधन नहीं है।

सम्पन्न घरों में अपने हाथ से कुछ करना अपमान समझा जाता है। लड़कों के हर एक काम के लिए नौकर लगे हुए हैं। आने-जाने के लिए मोटरें हैं, उन्हें सैर कराने के लिए खूब साफ कपड़े पहना दिए जाते हैं और ताकीद कर दी जाती है कि कपड़े मैले न होने पावें। उनके मनोरंजन के लिए सिनेमा हैं, चित्रशालाएं हैं,जहां उन्हें केवल आंख से देखने की जरूरत है, खुद कुछ करना नहीं पड़ता। इससे परतंत्रता की जो बुरी आदत पड़ जाती है, वह जिंदगी भर साथ नहीं छोड़ती। ऐसे ही विलास में पले हुए युवक हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए अपने भाइयों का अहित करते हैं, सरकार की बेजा खुशामद करते हैं।

हम बहुधा लड़कों को कोई नया काम करते देखकर घबड़ा जाते हैं। घड़ी छू रहा है, कहीं तोड़ न डाले। लड़के ने कलम हाथ से लिया और हां, हां, हां का शोर मचा। ऐसा नहीं होना चाहिए। लड़को की स्वाभाविक रचनाशीलता को जगाना चाहिए। लड़का खिलौने बनाना चाहे, बेतार का यंत्र बनाना चाहे, मछली का शिकर करना चाहे, तरकारियां पैदा करना चाहे, कपड़े सीना चाहे, बीन बजाना चाहे, नाटकों मे अभिनय करना चाहे, या कविता लिखना चाहे, उसे बाधा मत दो। अगर कोई बालक साल के चंद हफ्ते भी प्राकृतिक शक्तियों के बीच मे रहे, दरिया में किश्ती चलाए, मैदान में गाड़ी चलाए या फावड़ा लेकर खेत में काम करे, तो उसे आत्म-विश्वास को जो अनुभव होगा, वह पुस्तकों और उपदेशों से नहीं हो सकता। आश्चर्य तो यह है कि वह लोग भी, जिनकी जवानी कठिनाइयों में गुजरी, अपने बालकों को जीवन-संग्राम के उत्साह बढ़ाने वाले कामों से बचाते हैं।

हम यहां यह बतला देना चाहते हैं कि स्वाधीनता से हमारा मतलब क्या है? इसका यह मतलब नहीं है कि हम बिना रोक-टोक जो कुछ चाहे करें और कुछ चाहे न करें। इसका मतलब यह है कि बाहरी दबाव की जगह हममें आत्म-संयम का उदय हो। सच्चा स्वाधीन आदमी वही है, जिसका आत्मा के शासन से संयमित हो जाता है, जिसे किसी बाहरी दबाव की जरूरत नहीं पड़ती। बालकों में इतना विवेक होना चाहिए कि वे हर एक काम के गुण-दोष को भीतर की आंखों से देखें।

[लेख। 'हंस' अप्रैल, 1930 में प्रकाशित 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

उर्दू में फिरऔनियत[1]

मिस्टर नियाज फतेहपुरी उर्दू के एक प्रतिष्ठित पत्रकार हैं यानी उसमें इस तरह लिखने की जनमजात प्रतिभा है कि पढ़ने वाले भड़क जाएं। इतना ही नहीं, उसमें देश-भक्ति के तमाम दावों के बावजूद हद दर्जे की सांप्रदायिक भावनाओं और विचारों को प्रकट करने का आश्चर्यजनक साहस भी है। जिस व्यक्ति में यह दोनों तत्त्व एकत्र हो जाए उसके सफल पत्रकार होने में संदेह की गुंजाइश नहीं। उधर सरकार भी खुश, खरीददार भी खुश और समझदार लोग हैरत से दांतों तले उंगली दबाये हुए। इन महाशय ने उर्दू दुनिया में एक लेखन-शैली का आविष्कार किया जिसे उलझी हुई शैली कह सकते हैं और शुरू में 'रक्कासा' और 'मुगलिया' और 'क्यूपिड' और इसी तरह के दूसरे मौलवियाना विषयों पर लिखते रहे। आप आजकल इनसाइक्लोपीडिया या दूसरी पत्रिकाओं में गंभीर लेखों का अनुवाद, उनका हवाला दिए बगैर, किया करते हैं और इस ख्याल से उनकी गिनती विद्वानों में की जा सकती है। आप रूढ़ियों के तोड़ने वाले हैं और मौलवियों के सुधार के प्रबल पोषक। समय-समय पर आप अपने स्वतंत्र चिंतन को प्रकाशित करने के लिए धार्मिक मान्यताओं और नैतिक समस्याओं पर चोटें किया करते हैं जिससे मित्र-मंडली में अच्छी चहल-पहल हो जाया करती है। शायद इसी वजह से कोई आपकी आपत्तियों का उत्तर देने की जरूरत नहीं समझता। आप पिछले तीन सालों तक हिन्दुस्तानी एकेडेमी के एक विशिष्ट सदस्य रहे मगर नए चुनाव में किसी कारण से न आ सके। यह तो उनके एकेडेमी पर गुस्सा होने का कोई कारण नहीं हो सकता क्योंकि खुदा के फजल से आप इतने तंगदिल नहीं हैं मगर शायद आपकी अनुपस्थिति में एकेडेमी ने सरासर नियमों का उल्लंघन और सांप्रदायिक भावना को बल देना शुरू कर दिया है और इसीलिए आपका आजाद कलम इधर दो-तीन महीनों से एकेडेमी की बखिया उधेड़ने में लगा हुआ है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जन्म उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं में सशक्त और उन्नति करने के लिए हुआ और दोनों ही भाषाओं के कुछ विशिष्ट लोग उसके सदस्य बनाए गए। हिन्दी के विभाग में किसी मुसलमान लेखक को नामजद नहीं किया गया क्योंकि इस सूत्र में हिन्दी का कोई मुसलमान लेखक नहीं है। उर्दू विभाग में दो-एक हिन्दू भी नामजद कर दिए गए इसलिए कि हजरत नियाज चाहे उनके अस्तित्व से इनकार करें पर उर्दू में हिन्दुओं की एक अच्छी-खासी संख्या है। एकेडेमी चूंकि एक साहित्यिक संस्था है जहां उसने तत्त्व चिंतन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति की ओर ध्यान दिया वहां साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की और अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध नाटककार के कुछ नाटकों को दोनों भाषाओं में प्रकाशित करने का निश्चय किया। हिन्दी अनुवाद मुझको सौंपा गया, उर्दू अनुवाद मुंशी दयानरायन साहब निगम एडिटर 'जमाना' और मुंशी जगत मोहनलाल साहब 'खां' को। हजरत नियाज उस वक्त एकेडेमी के मेंबर थे। मगर

1 मिस्र के बादशाह 'फिरौन' से, जिसने घमंड के मारे खुदाई का दावा किया था और जिसे हजरत मूसा के शाप ने समाप्त किया।

तब उन्होंने इन प्रस्ताव के विरोध में जबान खोलना किसी वजह से ठीक नहीं समझा। अब आपको यह आपत्ति है कि अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद क्यों किया गया और क्या इसके लिए मुसलमान लेखक न मिल सकते थे। आपके खयाल में कोई हिन्दू उर्दू लिख ही नहीं सकता चाहे वह सारी उम्र इसकी साधन करता रहे और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह मां के पेट से लेकर आता है । यह दावा इतना गलत, पोच, लचर और बेवकूफी से भरा हुआ है कि इसके जवाब की जरूरत नहीं। मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि जिस जबान के साहित्यकार इतने तंग-नजर, अपने घमंड में फूले हुए हों उसका खुदा ही मालिक है। मुसलमानों पर यह आम एतराज है कि उन्होंने हिन्दू शायरों और लिखने वालों का कभी सम्मान नहीं किया। यहां तक कि नसीम और सरशार भी उर्दू के बड़े लिखने वालों के दायरे से बाहर कर दिए गए मगर ऐसे ढिठाई की हिम्मत आज तक किसी ने न की थी। उसका सेहरा मिस्टर नियाज के सर है। मैं यह मानने के लिए तैयार हूं कि उर्दू जबान पर निसबतन् मुसलमानों के एहसान ज्यादा हैं लेकिन यह नहीं मान सकता कि हिन्दुओं ने उर्दू में कुछ किया ही नहीं। आज करोड़ों हिन्दू उर्दू पढ़ते हैं, लाखों लिखते हैं, हजारों इस जबान में साहित्य-रचना करते हैं चाहे कविता में, चाहे गद्य में, और उर्दू की हस्ती हिन्दुओं के सहयोग से कायम है। पंजाब के मुसलमान पंजाबी लिखते और बोलते हैं, बंगाल के मुसलमान बंगाली, सिंध के सिंधी, गुजरात के गुजराती, मद्रास के तामिल। उर्दू बोलने वाले हिन्दू या मुसलमान ज्यादातर इस सूबे में हैं। कुछ पंजाब और हैदराबाद में। अगर इस बात की छानबीन का कोई सही तरीका हो कि कितने हिन्दू उर्दू बोलते हैं और कितने मुसलमान तो मेरे ख्याल से दोनों की तादाद में बहुत ज्यादा फर्क न नजर आएगा। यह दूसरी बात है कि हजरत नियाज हिन्दुओं को उर्दू को उर्दू ही न कहें। इसी तरह हिन्दू भी मुसलमानों की उर्दू को उर्दू न समझें, तो उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अगर मुसलमान उर्दू में अरबी और फारसी लफ्ज ठूंस-ठूंस कर उसे इस्लामी रंग देना चाहता है तो हिन्दू भी उसमें हिन्दी और भाषा के शब्द दाखिल करके उसे हिन्दू रंग देने का इच्छुक हो सकता है। उर्दू न मुसलमान की बपौती है न हिन्दू की। उसके लिखने और पढ़ने का हक दोनों को हासिल है। हिन्दुओं का उस पर हक पहला है क्योंकि वह हिन्दी की एक शाखा है, हिन्दी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है और सिर्फ कुछ थोड़े से अरबी और फारसी शब्दों के दाखिल कर देने से उसकी असलियत नहीं बदल सकती, उसी तरह जैसे पहनावा बदलने से राष्ट्रीयता या जाति नहीं बदल सकती। हजरत नियाज़ चाहे जितनी ही आंखें लाल-पीली करें मगर हिन्दू उर्दू पर अपने हक से अपना हाथ नहीं खींच सकता और न वह उसे अपने ढंग पर लिखने ही से बाज आ सकता है उसी तरह जैसे मुसलमान उसे अपने ढंग पर लिखने से बाज नहीं आते। हिन्दू उर्दू का खून कर रहे हैं। उसी तरह हिन्दू भी कह सकता है मुसलमान उर्दू के गले पर कुंद छुरी फेर रहे हैं। बंटवारा इसी तरह हो सकता है कि मुसलमान लिखें, मुसलमान पढ़ने वालों के लिए, हिन्दू लिखेगा हिन्दू पढ़ने वालों के लिए, मगर यह नहीं हो सकता कि हिन्दू उर्दू लिखने-पढ़ने से बिल्कुल किनारा कश हो

जाएं और मुसलमानों की लिखी हुई किताबें पढ़कर अपना संतोष कर लें। वह इस गौण स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं और हर आंदोलन जो उर्दू जबान की तरक्की के लिए अमल में आए उसमें हिन्दू अपनी हैसियत से शरीक होने का हक रखते हैं और मुझे यकीन है कि हजरत नियाज जैसे तंग-नजर लोगों को छोड़कर ऐसे मुसलमान बहुत कम होंगे जो हिन्दुओं के इस हक से इंकार कर सकें। एकेडेमी की जिस सब-कमेटी पर उर्दू अनुवादकों का चुनाव करने का दायित्व है उसमें काफी तादाद मुसलमान साहबान की है। अगर वह लोग हिन्दुओं को इस हद तक नालायक नहीं समझते, जितना हज़रत नियाज समझते हैं और कुछ हिन्दू लेखकों की पिछली सेवाओं या साहित्यिक रुचि का सम्मान करना उन्हें उचित मालूम होता है तो किसी को शिकायत का मौका न होना चाहिए। मिस्टर निगम ने उर्दू को जो खिदमतें की हैं उनसे इंकार करना साहित्य के प्रति ऐसी निर्लज्ज कृतघ्नता है और हजरत नियाज से ही मुमकिन है। कौन अंदाजा कर सकता है कि मिस्टर निगम ने 'ज़माना' के प्रकाशन में कितने नुकसान उठाए हैं। उस पर खानदानी जायदाद ही नहीं लुटा दी बल्कि अपनी जिंदगी भी उनको भेंट कर दी और आज एक तंगदिल अखबारनवीस को यह कहने की हिम्मत होती है कि पच्चीस साल की इस साहित्यिक सेवा का कुछ ही मूल्य ही नहीं। हजरत खां उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं। उनकी कविता के शायद हजरत नियाज भी कद्रदां हों मगर आपकी कद्रदानी ज्यादा से ज्यादा जबानी जमाखर्च तक जा सकती है। रुपये-पैसे का मौका आते ही वह कद्रदानी उड़नछू हो लग जाती है। मैं हजरत नियाज को बड़ी ईमानदारी से मशविरा दूंगा कि वह एकेडमी के सदस्यों का चुनाव भाषा के आधार पर नहीं संप्रदाय के आधार पर करवाएं। उस वक्त अगर कोई हिन्दू अनधिकार हस्तेक्षप करे तो उसके पीछे लट्ठ लेकर दौड़ें। लेकिन जब तक चुनाव भाषा के आधार पर है, और हिन्दू भी उर्दू लिखते हैं, उस वक्त तक वह हिन्दुओं को अमली कद्रदानी के दायरे से बाहर नहीं रख सकते। मगर यह याद रहे कि संप्रदाय के आधार पर हद से हद एक-तिहाई से ज्यादा रकम उर्दू के हाथ नहीं पड़ सकती। इस तिहाई में ऐतिहासिक महत्त्व और आनबान सब कुछ शामिल है।

यहां तक हिन्दू लेखकों के साथ यह कद्रदानी दिखाई जाती है उधर हिन्दुओं को हिन्दी के मुसलमान कवियों से कितना सच्चा प्रेम है। रहीम और जायसी आदि की कविता के नए-नए संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं। उन्हें इतने ही शौक से पढ़ा जाता है जैसे सूर या तुलसी का। पाठ्यक्रम में हिन्दू कवियों के साथ-साथ जगह दी जाती है, हिन्दू या मुसलमान होने का किसी को ख्याल ही नहीं आता। उर्दू में किसी हिन्दू शायर का कलाम किसी मुसलमान ने संग्रह किया हो इसकी मुझे कोई मिसाल नहीं मिलती। हाल में हजरत असगर ने 'यादगारे नसीम' का संकलन किया है जिसका भुगतान उन्हें करना पड़ रहा है। इस साहित्यिक संकीर्णता और द्वेष की भी कोई सीमा है।

[उर्दू लेख। 'जमाना', दिसंबर, 1930 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग' भाग-2 में संकलित।]

मानसिक पराधीनता

हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं, पर मानसिक पराधीनता में अपने-आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है? उसकी भाषा, उसकी सभ्यता, उसके विचार, उसका कल्चर। यही कल्चर हिन्दू को हिन्दू, मुसलमान को मुसलमान और ईसाई को ईसाई बनाए हुए है। मुसलमान इसी कल्चर की रक्षा के लिए हिन्दुओं से अलग रहना चाहता है, उसे भय है, कि सम्मिश्रण से कहीं उसके कल्चर का रूप ही विकृत न हो जाय। इसी तरह हिन्दू भी अपने कल्चर की रक्षा करना चाहता है, लेकिन क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनों अपने कल्चर की रक्षा की दुहाई देते हुए भी उसी कल्चर का गला घोंटने पर तुले हुए हैं।

कल्चर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियां, हमारे राजनैतिक सिद्धांत, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार, सब हमारे कल्चर के अंग हैं, पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कल्चर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गए हैं, कि हममें सिर से पांव तक दोष ही दोष हैं, और उनमें सिर से पांव तक गुण ही गुण। इस अंधभक्ति में हम उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा को ही ले लीजिए। आज अंग्रेजी हमारे सभ्य-समाज की व्यावहारिक भाषा बनी हुई है। सरकारी भाषा तो वह है ही, दफ्तरों में भी हमें अंग्रेजी में काम करना ही पड़ता है पर इस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गए हैं, कि निजी चिट्ठियों में, घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। स्त्री पुरुष को अंगेजी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं, तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं, कोई सभा होती है, तो अंग्रेजी में। डायरी अंग्रेजी में लिखी जाती है। वाह ! क्या भाषा है, क्या लोच है, कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति, शब्द भंडार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत कविता कितनी मर्मस्पर्शिणी, गद्य कितना अर्थबोधक। जिसे देखो अंगेजी जबान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है। यहां तक हमारी योग्यता और विद्वता की यही एक परख हो गई है, कि हम अंग्रेजी बोलने या लिखने में कितने कुशल हैं। आठवें क्लास में अंग्रजी के मुहाविरों की रटन शुरू हो जाती है, पर्यायों के सूक्ष्म अर्थभेद पर विचार होने लगता है, अपनी अंग्रेजी वक्तृता में अंगेजों का ऐक्सेंट और उच्चारण कैसे लाएं, इस प्रयत्न में जान खपा दी जाती है। अगर किसी स्वर का उच्चारण अंग्रेजों से उनके मौखिक गठन के दोषों के कारण नहीं होता, तो हम भी अपने में वही बात पैदा करेंगे। आज तक 'the' जैसे साधारण शब्द का भी ठीक उच्चारण--जो अंग्रेजों को भ। जंचे- बहुत कम लोग कर सकते हैं और हमारी यह मनोवृत्ति राष्ट्रीय भावों के साथ-ही-साथ बढ़ती जाती है। यहां तक कि अंग्रेजी ही पठित समाज की भाषा बन गई है। अपनी भाषा में बात-चीत करते समय कभी-कभी एकाध अंग्रेजी शब्द आ जाने को तो हम मुआफी से काबिल समझते हैं, लेकिन दु:ख तो यह है, कि ऐसे सज्जनों की भी कमी नहीं है, जो बहुत

थोड़ी-सी अंग्रेजी जानकर भी अंग्रेजी ही में अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेज स्वप्न में भी किसी अंग्रेज से गैर-अंग्रेजी भाषा में न बोलेगा, मगर यहां हम आपस में ही अंग्रेजी बोलकर अपनी मानसिक दासता का ढिंढोरा पीटते हैं। मैं उस मनोवृत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता, जो एक ही भाषा-भाषियों को अंग्रेजी में बातें करने की प्रेरणा करती है। किसी मदरासी, बंगाली या चीनी से तो अंग्रेजी में बातें करने का कोई अर्थ हो सकता है। उनसे बातें करनी जरूरी हैं और इस वक्त और कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं, जिसका सभी प्रांत वालों का एक-सा ज्ञान हो। मगर एक ही प्रांत के रहने वाले, एक ही भाषा के बोलने वाले, क्यों आपस में अंग्रेजी बोलें, क्यों अंग्रेजी में पत्र लिखें, क्यों 'प्रणाम' या 'नमस्कार', या 'वंदे' या 'नमस्ते' या 'तस्लीम' करने के बदले 'मार्निंग-मार्निंग' कहें, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्यों 'हल्लो' ही मुंह से निकले, मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता। संसार में ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है,जो मंगनी की चीजों का व्यवहार करके भी सिर उठाकर चलते हैं। उन्हें यही खुशी है, कि लोग मुझे इन चीजों का स्वामी समझते होंगे। अंग्रेजी का व्यवहार करने वालों की मनोवृत्ति भी कुछ इसी तरह की होती है। या तो उनका अभिप्राय यह होता है, कि देखें हम दोनों में कौन अच्छी अंग्रेजी बोलता है, या यह कि देखो, हम जितनी सफाई से अंग्रेजी बोलते हैं, तुममें वह सफाई नहीं है। और इसका परिणाम यह होता है, कि अच्छी अंग्रेजी लिखनी और बोलनी तो आ जाती है. पर अपनी भाषा भूल जाती है, या हेय और तुच्छ समझकर भुला दी जाती है। यह हमारे शिक्षित-समुदाय की लज्जाजनक ही नहीं, शोकजनक मानसिक दासता है।

फ्रांसीसी कवि फ्रेंच में कविता करता है, जर्मन जर्मन में, रूसी रशियन में, कम-से-कम जिन रचानाओं पर उसे गर्व होता है, वह अपनी ही भाषा में करता है, लेकिन हमारे यहां के सारे कवि और सारे लेखक अंग्रेजी में लिखने लगें, अगर केवल कोई प्रकाशक उनकी रचनाओं को छापने पर तैयार हो जाय। जिन्हें प्रकाशक मिल जाते हैं, वह चूकते भी नहीं, चाहे अंग्रेज आलोचक उनका मजाक ही क्यों न उड़ावें, मगर वह खुश हैं।

हम मानते हैं, कि अंग्रेजी भाषा पौढ़ है, हरके प्रकार के भावों को आसानी से जाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आई, लेकिन जब वही लोग, जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें, तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगे? यह हिमाकत है। आज हमारा पठित-समाज साधारण जनता से पृथक् हो गया है। उसका रहन-सहन, उसकी बोल-चाल, उसकी वेश-भूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रह हैं। शायद वह अपने दिल में फूला नहीं समाता, कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गंवार समझता है, लेकिन वह खुद जनता की नजरों से गिर गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती, उसे 'किरंटा' या 'बिगड़ैल', या 'साहब बहादुर' कहकर उसका बहिष्कार करती है और आज खुदा न ख्वासता वह किसी अंग्रेज के हाथों पिट रहा हो, तो लोग उसकी दुर्गति का मजा उठावेंगे,

कोई उसके पास भी न फटकेगा। जरा इस गुलामी को देखिए, कि हमारे विद्यालयों में हिन्दी या उर्दू भी अंग्रेजी द्वारा पढ़ाई जाती है। अगर बेचारा हिन्दी-प्रोफेसर अंग्रेजी में लेक्चर न दे, तो छात्र उसे नालायक समझते हैं। आदमी के मुख से कलंक लग जाय तो वह शरमाता है, उस कलंक को छिपाता है, कम-से-कम उस पर गर्व नहीं करता; पर हम अपनी दासता के कलंक को दिखाते फिरते हैं, उसकी नुमाइश करते हैं, उस पर अभिमान करते हैं, मानो वह नेकनामी का तमाशा हो, या हमारी कीर्ति की ध्वजा। वाह री भारतीय दासता, तेरी बलिहारी है ।

भाषा को छोड़िए, वेश-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं, जो हैट-कैट लगाए, गरूर से इधर-उधर देखते चले जा रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी योरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं। साहब को सलाम करो, आप पूरे साहब बहादुर हैं ! मुझे तो आप सिर से पांव तक गुलाम नजर आते हैं, जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं, जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। आपमें आत्मबल अवश्य है, बड़े ऊंचे दरजे का आत्मगौरव, आप लोकमत को ठुकरा देते हैं, किसी के नाक-भौं सिकोड़ने की परवाह नहीं करते, जो अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी या अपनी मनोतुष्टि के लिए वांछनीय समझते हैं, वह अबाध्य रूप से करते हैं। क्यों लोकमत का आदर करें ! लोकमत के गुलाम नहीं, लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले से कहिए, कि जरा शाम को बिना फेल्टकैप लगाए किसी अंग्रेजी-क्लब में चला जाय, तो उसके हाथ-पांव फूल जाएंगे, खून ठंडा हो जायगा, चेहरा फक हो जायगा। क्यों? इसलिए कि उसका आत्मगौरव केवल अपने भाइयों पर रोब जमाने के लिए है, उसमें सार का नाम नहीं। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी-से-छोटी रूढ़ियों की भी अवहेलना नहीं कर सकता। जनता को वह समझता है, हमारा कर ही क्या लेगी, यह खुश रहे तो क्या, और नाराज रहे तो क्या, यह हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती। जिनसे कुछ बनने-बिगड़ने का भय है उनके सामने वह भीगी बिल्ली बना जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा—तुम इस ठाठ से क्यों रहते हो, तो बड़े दार्शनिक भाव से बोले—इसलिए कि अंग्रेजों से मिलने जाता हूं, तो जूते बाहर नहीं उतारने पड़ते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं, उन्हें जूते उतार देने पड़ते हैं। मैं कहता हूं, जो स्वार्थ लेकर अंग्रेजों से मिलने नहीं जाते, वह अचकन नहीं, मिर्जई भी पहने हो, तो उन्हें जूते उतारने की जरूरत नहीं और जो स्वार्थ लेकर जाते हैं, वह किसी वेश में हों, उनकी आत्मा दबी रहती है। ऐसी प्राणियों की दशा उस आदमी की-सी है, जो अपने कपड़े पर एक दाग को छिपाने के लिए सारा कपड़ा ही काला रंग ले। अगर स्वार्थ मजबूर कर रहा हो, तो मेरे विचार में तो जूते उतार देना इससे कहीं अच्छा है, कि हम उस अपमान से बचने के लिए बेहयाई का एक अपराध और अपने सिर पर लें। यह मत समझो, कि अंग्रेज तुम्हारा कोट-पैंट देखकर तुम्हारा ज्यादा आदर करता है। और अगर ऐसी हो, भी तो अपना वेष छोड़कर उस आदर को लेना, एक प्याले शोरबे के लिए अपने जन्म-सिद्ध गौरव को बेचना है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया, तो बोले—इससे सफर करने में बड़ा सुभीता होता है, जनता समझती है यह कोई साहब हैं, मेरे डब्बे

में नहीं आती है। एक और साहब ने कहा—अंग्रेजी कपड़े पहनने से देह में बड़ी चुस्ती और फुरती आ जाती है। गरज, लोग तरह-तरह की दलीलों से आपका समाधान कर देंगे। मैं पूछता हूं—क्यों साहब, क्या सारी चुस्ती और फुर्ती अंग्रेजी कपड़ों में ही है? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज है, कि बदन पर आई और आपकी देह में स्फूर्ति दौड़ी। यह दलीलें लगों और लचर हैं। हां, इस तर्क में अवश्य सार है, कि जब सारा संसार योरोपीय देश के लिए पीछे जा रहा है, तो आप उससे अलग कैसे जा रहे हैं। दूसरी दलील यह हो सकती है, कि हमारा कोई जातीय परिधान भी तो नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रांतीय परिधानों की अपेक्षा तो एक सार्वदेशिक योरोपीय परिधान का होना कहीं अच्छा है। बेशक यह टेढ़ा प्रश्न है। यह बात भी विचारणीय है, कि अन्य देशों में अमीर-गरीब सबका पहनावा एक ही है, चाहे उसके कपड़े में कितना ही अंतर ही हो। आपके यहां किसान मिर्जई या नीम आस्तीन या कुर्ता-धोती पहनता है, कहीं शलवार हैं, कहीं पगड़ी, कहीं जांघिया। पहले एक जातीय ठाठ की सृष्टि तो कर लीजिए, फिर विलायती पहनावे पर आक्षेप कीजिएगा। भाषा ही की भांति एक जातीय पहनावा भी बरसों के बाद कहीं जाकर आविर्भूत होता है, किसी संस्था या नीति द्वारा उसकी सृष्टि नहीं की जा सकती। अभी भारत को एक सार्वदेशिक परिधान के लिए बहुत दिनों तक इंतजार करना पड़ेगा, मगर जब तक वह समय नहीं आता, तब तक के लिए हमारे विचार में इसी नीति को सामने रखना चाहिए कि यथासाध्य जनरुचि को सम्मान किया जाय। अगर कि प्रांत में जनता कोट पहनती है, तो वहां के लिए कोट-पतलून ही उपयुक्त है। इसी भांति जिन प्रांतों में साधारण जनता कुरता और धोती पहनती है, वहां कुरता और धोती को ही जातीय परिधान के पद पर सम्मानित करना चाहिए। अभिप्राय केवल यह है, कि शिक्षित समाज केवल अपनी विशिष्टता या प्रभुत्व जताने के लिए ऐसे वेष-भूषा का व्यवहार न करे जिसमें विदेशीपन की झलक आती हो। हो सकता है, कि कुछ लोगों को अंग्रेजी वेश में रहने पर भी जरा अभिमान या स्वार्थसिद्धि की भावना न हो, पर दुर्भाग्यवश यह विदेशी वेष जनता की आंखों में खटकता है और इसे धारण करने वाले चाहे देवता ही क्यों न हों, वे स्वजाति के द्रोही और शासक जाति के अनन्य भक्त के रूप में नजर आते हैं। संभव है, स्वाधीन हो जाने पर यही हमारा स्वजातीय वेष हो जाय लेकिन तब इसमें वह कुसंस्कार न रहेंगे, जिन्होंने इस वक्त इसे इतना अवहेलनीय बना रक्खा है। जरा सोचिए, क्या यह एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को शोभा देता है कि वह अपना रहन-सहन ऐसा बना ले, कि जनता उसे श्रद्धा से देखने के बदले घृणा या भय की दृष्टि से देखे। किसी समय जनरुचि को पद-दलित करने का नतीजा बुरा भी हो सकता है, और यह तो स्पष्ट ही है, कि अगर जनता के हाथों में प्रभुत्व होता, तो बहुत से अंग्रेजी वेश के प्रेमी यह वेश धारण करने के पहले ज्यादा विचार से काम लेना आवश्यक समझते, मगर हमारी यह मनोवृत्ति भाषा और वेश तक ही रहती, तो अधिक चिंता की बात न थी। इसने हमारे कितने और सामाजिक विचारों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है और अभी से रोक-थाम न की गई, तो एक दिन हमारी जातीय संस्कृति का ही लोप हो जायगा। यह एक साधारण सी बात है,

कि पराधीन जाति को अपने में सारी बुराइयां और राज्य करने वाली जाति में भलाइयां ही भलाइयां नजर आती हैं। हमारी सभ्यता कहती है—अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओ, ताकि तुम्हारी जात से कुटुंब और परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है—अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओ, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए ही जिओ और अपने ही लिए मरो। हमारी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, हम गांवों में रहते थे, जहां अपने आत्मीयजनों का संसर्ग बहुत-सी बुराइयों से हमारी रक्षा करता था। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय-प्रधान है और बड़े-बड़े नगरों का निर्माण करती है, जहां हम सारे बंधनों से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता में सम्मिलित-कुटुंब एक प्रधान अंग था। पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ है—केवल स्त्री और पुरुष। दोनों में बुराइयां और भलाइयां, दोनों ही हैं, पर जहां पर में सेवा और त्याग प्रधान है, वहां दूसरों में स्वार्थ और संकीर्णता। हमारी सभ्यता में नम्रता का बड़ा महत्त्व था, पश्चिमी सभ्यता में आत्मप्रशंसा को वही स्थान प्राप्त है। अपने को खूब सराहो, अपने मुंह खूब मियां मिट्ठू बनो। हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था, विद्या और आचरण से आदर मिलता था। पश्चिमी सभ्यता मे धन ही मुख्य वस्तु है। हम भी धन कमाते थे, पर दया के साथ। पश्चिम भी धन कमाता है, पर दया का नाम नहीं। हमारी सभ्यता का आधार धर्म था, पश्चिमी सभ्यता का आधार संघर्ष है।

लेकिन यहां हम अपने सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करने बैठे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है, कि हमें हरेक पश्चिमी चीज के पीछे आंखें बन्द करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण। हमारी सभ्यता में भी रोग थे, मगर उसका दवा योरोपीय सभ्यता की अंधभक्ति नहीं है। उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति से खोजनी थी। योरोपीय सभ्यता की नकल करके हमें अपने यहां भी उन्हीं दवाओं का व्यवहार करना पड़ेगा, जो योरोप कर रहा है। योरोप पथ-भ्रष्ट है, उसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहा और आज योरोप के विचारवान् लोग कह रहे हैं, कि यह संस्कृति अब विध्वंस के गर्त में जाने वाली है। क्या हम भी उन्हीं बुराइयों की नकल करके अपनी संस्कृति को भी विध्वंस के गर्त में ढकेलने की तैयारी करें? यह समझ लीजिए, कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व को खो दिया, अपने धर्म की सत्ता खो दी, अपनी संस्कृति को खो बैठे, तो हमारा अत हो जायगा।

[लेख। जनवरी, 1931 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग ३ म सकलित।]

मुंशी बिशुन नारायण भार्गव

मुंशी नवलकिशोर के प्रतिष्ठित घराने का यह सूरज ठीक मध्याह्न के समय डूबा। स्व० मुंशी बिशुननारायण के जीवन का एक-एक कण रईस था। खूबियां सब थीं, ऐब एक भी नहीं। मुरौवत के पुतले थे। किसी याचक का निराश करना उन्होंने सीखा ही न था। किसी दोस्त का दिल तोड़ना उनकी शक्ति से बाहर था। कर्मचारियों की

संख्या हजारों तक पहुंचती थी, मगर कभी किसी को तेज निगाह से न देखा। गबन के मामले सामने आए, अयोग्यता और काम ढीलेपन की शिकायतें रोज ही आती रहती थीं, स्पष्ट बदनीयती की घटनाएं भी बार-बार सामने आईं पर हमेशा दरगुजर कर जाते थे। यह खूबी उनमें कमजोरी की हद तक थी। इससे बहुत बार कारोबार को नुकसान पहुंचता था और जिन लोगों के सर पर जिम्मेदारी थी, उन्हें नीचा देखना पड़ता था।

दिवंगत की अवस्था अभी कुछ न थी। लखनऊ का यह विद्या-प्रेमी घराना अल्पायु हुआ है। स्व० मुंशी प्रयागनारायण साहब ने बयालीस साल की उम्र में इस संसार से प्रस्थान किया, उसने सुपुत्र ने कुछ और कमी कर दी, अभी चौतीसवां ही साल था।

मझोला कद, चकली हड्डी और दोहरे बदन के सुंदर आदमी थे। गंदुमी रंग, रौबदार मूंछें, बड़ी-बड़ी आंखों में सज्जनता और क्षमा की झलक। रहन-सहन बिल्कुल सादा था। बाहर निकलते तो अचकन और चुस्त पाजामा बदन पर होता, सर पर फेल्ट केप। घर पर कुर्ता और धोती पहनते थे। हुक्के और पान का शौक था।

उनका दरबार हर आदमी के लिए खुदा रहता था। न कार्ड भेजने की जरूरत, न इत्तला कराने की पाबंदी। दीवानखाने के सामने बरामदे में बैठे हुक्का पी रहे हैं। दोस्त और कर्मचारी, याचक और गरजमंद सभी आते हैं और अपनी जरूरत बतलाकर चले जाते हैं। सबसे यकसां प्रेम और सज्जनता से पेश आते हैं। स्वभाव में घमंड का नाम नहीं, दंभ की गंध नहीं, झूठे शिष्टाचार की छाया नहीं। अफसोस वह जगह हमेशा के लिए खाली हो गई।

स्वभाव में दानशीलता भरी हुई थी। साधनों से कहीं ज्यादा दिल के धनी थे। दौलत को लुटाने की चीज समझते थे। उनके लिए इससे बहुत बड़ी रियासत की जरूरत थी। इस तंगी में उनका दया का हाथ अपने जौहर न दिखा सकता था, जैस नेपोलियन को बरकंदाजों की एक टोली का अफसर बना दिया गया हो, जैसे अरबी घोड़े को अहाते में बंद कर दिया गया हो।

कर्मचारियों के लोभ के हाथों को लंबा होते देखते थे, मगर शिकायत का हरफ ज़बान पर न लाते थे। स्वभाव वैराग्य की ओर झुका हुआ था। साधु-संतों के चमत्कारों पर उन्हें पूरा विश्वास था। खुदा साधु-संत न थे लेकिन स्वभाव में ये गुण अवश्य था। जहां तक बेलौस रहने और नफे-नुकसान से बेअसर रहने का संबंध है, वह साधु-संतों से कहीं ज्यादा साधु-संत थे। दुनिया से दिल कभी नहीं लगाया। जब तक जिए बेलाग जिए। नुकसान हुआ तो परवाह नहीं, फायदा हुआ तो परवाह नहीं। फायदा हुआ तो जरा मुस्कराए, नुकसान हुआ तो कहकहा मार कर हंसे। योग और किसे कहते हैं? योग गेरुए बाने और जटा में नहीं, स्वभाव में होता है।

साधु-संतों के चमत्कारों की कहानियां बड़े चाव से सुनते थे। खुद भी बड़े विश्वास से बयान करते थे। कई योगियों से उन्हें बड़ी श्रद्धा थी। यहां तक कि कभी-कभी उनके इस चरम विश्वास पर आश्चर्य होता था। उनकी दृष्टि में अलौकिक शक्ति की कोई सीमा न थी। एक सिद्ध पुरुष एक ही समय दुनिया के अलग-अलग हिस्सों

में मौजूद हो सकते हैं—इस तरह की दंत-कथाएं वह अटल सच्चाई की तरह मानते और बयान करते थे। इसको मानने में किसी को शक हो सकता है, यह ख्याल शायद उन्हें आता ही न था। यह वैराग्य इसी साधु-प्रकृति का परिणाम न था। शायाद यही उनकी जिंदगी का सबसे गहरा पहलू था। खुद भी योग करते थे और इसमें उन्हें अच्छा अभ्यास हो गया था।

शादी कम उम्र में ही हो गई थी। उनकी मृत्यु के दो-ढाई साल पहले ही पत्नी का स्वर्गवास हो गया। जिस लगन और प्रेम से उनकी चिकित्सा में व्यस्त रहे, वह एक करुण दृश्य था। देवी जी स्वाभिमानी, समझदार और मामले की तह तक पहुंचने वाली स्त्री थीं। मुंशीजी की स्वच्छंदता उनके जीवनकाल में सीमाओं की पाबंद रहीं। उनकी मृत्यु इस वफा के पुतले के लिए कूच का पैगाम थी। मुश्किल से साल भरा गुजरा होगा कि बीमारियों ने आ घेरा। भीतर का दर्द बाहर निकल पड़ा। डॉक्टरों और वैद्यों पर विश्वास न था, होमियोपैथिक इलाज के कायल थे। लखनऊ में मुंशी महादेवप्रसाद साहब एक गरीब-दोस्त रईस हैं। जनता की सेवा के लिए ही उन्होंने होमियोपैथिक चिकित्सा का अध्ययन किया है और शहर के गरीबों की बहुत दिनों से निःस्वार्थ सेवा कर रहे हैं। मुंशीजी उनके गुणों से कायल थे। उनका इलाज शुरू किया। रोज-ब-राज सेहत खराब होती जाती थी। चेहरा पीला पड़ गया था। कई महीने के बाद सेहत हुई मगर शोक सांघातिक था। कुछ महीनों के बाद फिर बीमार हुए और अबकी दुनिया से ही विदा हो गए। तेईस दिसंबर को मद्रास गए। इतने लंबे सफर के काबिल हरगिज न थे, मगर मिट्टी तो मद्रास में लिखी थी, धीरे-धीरे खींच ले गई।

गुस्सा बहुत आता था। या यों कहिए कि जब्त बहुत कर सकते थे। गुस्से की इंतहाई सूरत थी नीची आंखें होंठों पर खामोशी की मुहर।

प्रदर्शन से उन्हें घृणा थी, जो इस प्रदर्शन के युग में असाधारण बात है। 'नेकी कर और दरिया में डाल' के पाबंद थे। कोई सोसाइटी, कोई अ[illegible]न या सभा ऐसी न थी जिसे उनके साथ हाथों लाभ न पहुंचता हो। जो कुछ देते थ चुपचाप देते थे। मरने के बाद अब मालूम हो रहा है कि उनके दान की परिधि कितनी विशाल थी। पब्लिक लाइफ से उन्हें दिलचस्पी न थी, मगर राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रशंसक थे। मित्र-मंडली में अपने राजनैतिक विचारों को निर्भीकता से व्यक्त करते थे। राजनीतिक आंदोलनों की सहायता करने में आगा-पीछा न करते थे। तकदीर ने उन्हें रियासत दी थी, हमदर्दियां जनता के साथ थीं।

रईसों में हाकिमों का मुंह जोहने और खिताबों की भूख का मर्ज आम है। मर्ज क्यों कहो, प्रतिष्ठा की हवस किसे नहीं। विद्यार्थी परीक्षा में प्रतिष्ठा चाहता है, हुक्काम कारगुजारी में, रईस शुहरत में। मुंशीजी की अ[illegible]सक्त प्रकृति के लिए शुहरत और खिताब में कोई आकर्षण न था, यहां तक कि हुक्काम से मुलाकात करना भी न पसंद करते थे।

कुछ लोगों की स्वभावगत विशेषताएं बहुत स्पष्ट और खुली हुई होती हैं, और कहीं गिरी हुई, इतनी गिरी हुई कि उसे शर्मनाक कह सकते हैं, कहीं बुलंद, इतनी

बुलंद कि जल्दी कहीं देखने को नहीं मिलतीं। मुंशीजी का स्वभाव समतल था, चौरस मैदान की तरह जिसमें खुलापन है, हरियाली है, सरसता है, ऊंचे-खाने का नाम नहीं। उनकी जिंदगी में क्या चीज सबसे बड़ी थी इसका फैसला मुश्किल है। वह किसी तरह भी उद्दाम प्रेरणाओं के व्यक्ति न थे। जहां तक दिखाई पड़ता है, बीच का रास्ता ही उनका रास्ता था। झंझटों से भागते थे। दुनिया के मामलों में सोच-विचार कम की परवाह न थी। उनके दीवानखाने के नीचे ही बुक-डिपो है, जहां सैकड़ों लोग काम करते हैं, मगर शायद जिंदगी में एक-दो बार से ज्यादा डिपो में कदम नहीं रखा। लंबा-चौड़ा इलाका है मगर शायद ही किसी हिस्से में निगरानी के ख्याल से गए हों। चिंताओं और झंझटों से मुक्त जीवन व्यतीत करते थे। स्वामिभक्त सलाहकारों का आग्रह बेकार होता था। इसी वैराग्योचित निस्पृहता को उनकी सबसे बड़ी विशेषता कह लीजिए।

शिकार और घुड़दौड़ से बहुत शौक था। साल में दो बार हिमालय की तराई में शिकार खेलने जरूर जाते थे। यहां तक कि बीमारी कुछ कम होते ही शिकार खेलने गए और वहीं बीमारी फिर बढ़ गई। निशाना अचूक था। घुड़दौड़ में इससे भी ज्यादा दिलचस्पी थी। अच्छे-अच्छे असील घोड़े जमा कर रखे थे। मद्रास की पागलपन यात्रा भी पर इन जीतो से क्या खुशी होती।

लखनऊ के आशिक थे। मामूली रईस भी गर्मियों में पहाड़ों की सैर करते हैं, मुंशीजी मई-जून की गर्मियां लखनऊ ही में गुजार देते थे, पहाड़ की दिलचस्पियों से उन्हें कोई वास्ता न था। उनका समतल स्वभाव हर तरह की परेशानी और [illegible] से घबराता था। दौलत की हवस न थी। यों एक बार सट्टे का भी शौक हुआ [illegible] दौलत उनके हाथों में छलनी का पानी थी। दरबार के हितैषियों की आंखें [illegible] जो आदमी पहुंच जाता, कुछ-न-कुछ लेकर ही लौटता था।

व्यापार की मंदी कुछ दिनों से प्रबंधकों के लिए चिंता का कारण हो रही थी। प्रस्ताव हुआ कि कर्मचारियों के वेतन में कटौती कर दी जाए। इसका नक्शा [illegible] हुआ, आपस में मुबाहसे हुए और प्रस्ताव ने अमली सूरत अख्तियार की। मगर मुं[शीजी] ने बहुत आग्रह किए जाने पर भी उस पर दस्तखत न किए। बात वहीं खत्म हो गई। उनका कलम परवरिश करने के लिए था, खून करने के लिए नहीं।

दिवंगत की यादगार दो बेटे हैं। बड़े साहबजादे की उम्र सोलह साल की है, छोटे अभी चौथे-पांचवें साल में हैं। तीन बेटियां भी हैं। बड़ी बेटी की शादी हो चुकी है। मां के प्यार से पहले ही वंचित हो चुके थे, बाप का साया भी उठ गया।

मगर उनसे भी ज्यादा दर्दनाक हालत उनकी मां की है जिनका लाल उनकी गोद से हमेशा के लिए छीन लिया गया। खुशनसीब हैं वह जो नेकनाम जीते हैं और नेकनाम मरते हैं। आज सारा शहर दिवंगत के लिए मातम कर रहा है और दुनिया एक आवाज होकर कह रही है

धरती माता का एक सपूत उठ गया।

[उर्दू लेख। 'ज़माना', फरवरी 1931 में प्रकाशित। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित]

साहित्य में समालोचना

साहित्य में समालोचना का जो महत्त्व है उसको बयान करने की जरूरत नहीं। सद्साहित्य का निर्माण बहुत गंभीर समालोचना पर ही मुनहसर है। योरप में इस युग को समालोचना का युग कहते हैं। वहां प्रतिवर्ष सैकड़ों पुस्तकें केवल समालोचना के विषय की निकलती रहती हैं, यहां तक कि ऐसे ग्रंथों का प्रचार, प्रभाव और स्थान क्रियात्मक रचनाओं से किसी प्रकार घटकर नहीं है। कितने ही पत्रों और पत्रिकाओं में स्थायी रूप से आलोचनाएं निकलती रहती हैं, लेकिन हिन्दी में या तो समालोचना होती ही नहीं या होती है तो द्वेष या झूठी प्रशंसा से भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसा समालोचक बहुत कम हैं जो किसी रचना की तह में डूबकर उसका तात्त्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन कर सकें। हां, कभी-कभी प्राचीन ग्रंथों की आलोचना नजर आ जाती है जिसे सही मानों में समालोचना कह सकते हैं, मगर हम तो इसे साहित्यिक मुर्दापरस्ती ही कहेंगे। प्राचीन कवियों और साहित्याचार्यों का यशोगान हमारा धर्म है, लेकिन जो प्राणी केवल अतीत में रहे, पुरानी संपदा का ही स्वप्न देखता रहे और अपने सामने आने वाली बातों की तरफ से आंखें बंद कर ले, वह कभी अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है, इसमें हमें संदेह है। पुरखों ने कुछ लिखा, सोचा और किया, वह पुरानी दशाओं और परिस्थितियों के अधीन किया। हम जो कुछ लिखते, सोचते या करते हैं, वह वर्तमान परिस्थितियों के अधीन करते हैं। हमारी रचनाओं में वही भावनाएं और आकांक्षाएं होती हैं जिनसे वर्तमान युग आंदोलित हो रहा है। यदि हम पुराने विशाल खंडहरों ही को महिमा की सदैव पूजा करें और अपनी नई इमारतों की बिल्कुल चिंता न करें तो हमारा क्या दशा होगा, इसका हम अनुमान कर सकते हैं।

आइए देखें इस अभाव का कारण क्या है। हिन्दी साहित्य में ऐसे लेखकों की ईश्वर की दया से कमी नहीं है जो संसार साहित्य से परिचित हैं, साहित्य के मर्मज्ञ हैं, साहित्य के तत्त्वों को समझते हैं। साहित्य का पथ प्रदर्शन उन्हीं का कर्त्तव्य है। लेकिन या तो वह हिन्दी पुस्तकों की आलोचना करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं या उन्हें हिन्दी-साहित्य में कोई चीज आलोचना के योग्य मिलती ही नहीं या फिर हिन्दी भाषा उन्हें अपने गहरे विचारों को प्रकट करने के लिए काफी नहीं मालूम होता। इन तीनों ही कारणों में कुछ न कुछ तत्त्व है, मगर इसका इलाज हिन्दी साहित्य से मुंह मोड़ लेना है? क्या आंखें बंद करके बैठ जाने से ही सारी विपत्ति-बाधाएं टल जाती हैं? हमें साहित्य का निर्माण करना है, हमें हिन्दी को भारत की प्रधान भाषा बनाना है, हमें हिन्दी द्वारा राष्ट्रीय एकता की जड़ जमाना है। क्या इस तरह उदासीन हो जाने से ये उद्देश्य पूरे होंगे? योरोपीय भाषाओं की इसीलिए उन्नति हो रही है कि वहां दिमाग और दिल रखने वाले व्यक्ति उससे दिलचस्पी रखते हैं, बड़े बड़े पदाधिकारी, लीडर, प्रोफेसर और धर्म के आचार्य साहित्य की प्रगति से परिचित रहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यही नहीं बल्कि अपने साहित्य से प्रेम उनके जीवन का एक अंग है, उसी तरह जैसे अपने देश के नगरों और दृश्यों की सैर। लेकिन हमारे यहां चोटी के लोग देशी साहित्य की तरफ ताकना भी हेय समझते हैं। कितने

ही तो बड़े रोब से कहते हैं, हिन्दी में रखा ही क्या है। अगर कुछ गिने-गिनाये लोग हैं भी तो यह समझते हैं इस क्षेत्र में आकर हमने एहसान किया है। वह यह आशा रखते हैं कि हिन्दी संसार उनकी हर एक बात को आंखें बंद करके स्वीकार करें, उनके कलम से जो कुछ निकले, ब्रह्मवाक्य समझा जाय। वह शायद समझते हैं, मौलिकता उपाधियों से आती है। वह यह भूल जाते हैं कि बिरला ही कोई उपाधिधारी मौलिक होता है। उपाधियां जानी हुई और पढ़ी हुई बातों के प्रदर्शन या परिवर्तन से मिलती हैं। मौलिकता इसके सिवा और भी है। अगर कोई 'डॉक्टर' या 'प्रोफेसर' लिखें तो शायद ऊंचे मस्तिष्क वालों की यह बिरादरी उसका स्वागत करे। लेकिन दुर्भाग्यवश हिन्दी के अधिकांश लेखक न डॉक्टर हैं, न फिलॉसफर, फिर उनकी रचनाएं कैसे सम्मान पाएं और कैसी आलोचना के योग्य समझी जायें। किसी वस्तु की प्रशंसा तो और बात है, निंदा भी कुछ-न-कुछ उसका महत्त्व बढ़ाती है। वह निंदा के योग्य तो समझी गई। हमारी यह दिमाग वालों की बिरादरी किसी रचना की प्रशंसा तो कर ही नहीं सकती, क्योंकि इससे उसकी हेठी होती है, दुनिया कहेगी, यह तो शॉ और शेली और शिलर की बातें किया करते थे, उस आकाश से इतने नीचे कैसे गिर गये। हिन्दी में भी कोई चीज हो सकती है, जिसकी ओर वह आंखें उठा सकें यह उनकी शिक्षा और गौरव के लिए लज्जास्पद है। बेचारे ने तीन वर्ष पेरिस और लंदन की खाक छानी, इसलिए कि हिन्दी लेखकों की आलोचना करे। फारसी पढ़कर भी तेल बेचे। हम ऐसे कितने ही सज्जनों को जानते हैं जो डॉक्टर या डी॰ लिट् होने के पहले हिन्दी में लिखते थे, लेकिन जब से डॉक्टरेट की उपाधि मिली वह पतंग की भांति आकाश में उड़ने लगे। आलोचना साहित्य की उनके द्वारा पूर्ति न सकती थी, क्योंकि रचना के लिए चाहे विशेष शिक्षा की जरूरत न हो, आलोचना के लिए संसार-साहित्य से परिचित होने की जरूरत है। हमारे पास कितने ही युवक लेखकों की रचनाएँ, प्रकाशित होने के पहले, सम्मति के लिए आती रहती हैं। लेखक के हृदय में भाव है, मस्तिष्क में विचार है, कुछ प्रतिभा है, कुछ लगन, कुछ संस्कार उसे केवल एक अच्छे सलाहकार की जरूरत है। जितना सहारा पाकर वह कुछ से कुछ हो जा सकता है, लेकिन यह सहारा उसे नहीं मिलता। न कोई ऐसे व्यक्ति हैं, न समिति, न मंडल। केवल पुस्तक प्रकाशकों की पसंद का भरोसा है। उसने रचना स्वीकार कर ली, तो खैर, नहीं सारी की कराई मेहनत पर पानी फिर गया। प्रेरक शक्तियों में यशोलिप्सा शायद सबसे बलवान है। जब यह उद्देश्य पूरा भी होता, तो लेखक कंधा डाल देता है और इस भांति न जाने कितने गुदड़ी के रत्न छिपे रह जाते हैं। या फिर वह प्रकाशक महोदय के आदेशानुसार लिखना शुरू करता है और इस तरह कोई नियंत्रण न होने के कारण, साहित्य में कुरुचि बढ़ती जाती है। इस तरफ जैनेन्द्रकुमार जी की 'परख', प्रसाद जी का 'कंकाल', प्रतापनारायण जी की 'विदा', निराला जी की 'अप्सरा', वृंदावनलाल जी का 'गढ़कुंडार' आदि कई सुंदर रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। मगर इसमें से एक की भी गहरी, व्यापक, तात्त्विक आलोचना नहीं मिलती। जिन महानुभावों में ऐसी आलोचना की सामर्थ्य थी, उन्हें शायद इन पुस्तकों की खबर भी नहीं हुई। इनसे कहीं घटिया किताबें अंग्रेजी में निकलती रहती

हैं और उन्हें ऊंची बिरादरी वाले सज्जन शौक से पढ़ते और संग्रह करते हैं, पर इन रत्नों की ओर किसी का ध्यान आकृष्ट न हुआ। प्रशंसा न करते, दोष तो दिखा देते, ताकि इनके लेखक आगे के लिए सचेत हो जाते, पर शायद इसे भी वे अपने लिए जलील समझते हैं। इंग्लैंड का रामजे मैकेडानेल्ड या बौनर या अंग्रेजी साहित्य पर प्रकाश डालने वाला व्याख्यान दे सकता है, पर हमारे नेता खद्दर पहनकर अंग्रेजी लिखने और बोलने में अपना गौरव समझते हुए, हिन्दी-साहित्य का अलिफ बे नहीं जानते। यह इसी उदासीनता का नतीजा है, कि 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' जैसा भावशून्य गीत हमारे राष्ट्रीय जीवन में इतना प्रचार पा रहा है। 'वंदेमातरम्' को यदि 'विजयी विश्व' के मुकाबले में रखकर देखिए, तो आपको विदित होगा कि आपकी लापरवाही ने हिन्दी-साहित्य को आदर्श से कितना नीचे गिरा दिया है। जहां अच्छी चीज की कद्र करने वाले और परखने वाले नहीं हैं वहां नकली, घटिया, जटियल चीजें ही बाजार में आवें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में हमारे यहां साहित्यिक जीवन का पता ही नहीं। नीचे से ऊपर तक मुरदनी-सी छाई हुई है। यही मुख्य कारण है कि हिन्दी लेखकों में बहुत से ऐसे लोग आ गए हैं, जिनका स्थान कहीं और था। और, जब तक शिक्षित समुदाय अपने साहित्यिक कर्त्तव्य की यों अवहेलना करता रहेगा, यही दशा बनी रहेगी। जहां साहित्य सम्मेलन जैसी सार्वजनिक संस्था के सदस्यों की कुल संख्या दो सौ से अधिक नहीं, वहां का साहित्य बनने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

[लेख। 'हंस', मई, 1931 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।]

श्रीकृष्ण और भावी जगत्

मनुष्य को आदि से सुख और शांति की खोज रही है और अंत तक रहेगी, मानव सभ्यता का इतिहास इसी खोज की कथा है। जिस जाति ने इस रहस्य को जितना अधिक समझा वह उतनी ही सभ्य और जितना ही कम समझा उतनी ही असभ्य समझी जाती है। लोग भिन्न भिन्न मार्गों से चले। किसी ने योग का मार्ग लिया, किसी ने तप का, किसी ने भक्ति का, किसी ने ज्ञान का, किंतु त्याग सभी वादों का स्थायी लक्षण था। 'निवृत्ति' की दुहाई सभी दे रहे हैं। सुख का मूल निवृत्ति है, सबने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया। मोक्ष, आवागमन के बंधन से छूट जाना, सुख और शांति की चरम सीमा है। मोक्ष-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्गों पर दीपक सबके लिए एक है-निवृत्ति।

इसका परिणाम क्या हुआ? जिसे धर्म का अनुराग हुआ उसने संसार और संसार के व्यापार से मुंह मोड़कर जंगल की राह ली। कर्म बंधन है, कर्म से भागो नहीं। यह बंधन पृथ्वी में बांध देगा। तपोवन आबाद हो गए। आज भी मोक्षार्थी उसी धर्मतत्त्व पर अटल है। बुद्ध ने भी निवृत्ति को ही प्रधान रखा, जैन मत में भी इसी तत्त्व की प्रधानता रही। भिक्षुओं के विहार बस्ती से दूर बने और वहां निर्माण पद प्राप्त होने लगा। ईसाई धर्म में भी पोप का राजाओं पर आधिपत्य हुआ, आश्रम बने और

क्लर्जी लोग बस्ती से दूर जंगल में रहने लगे। इस्लाम ने भी यही शिक्षा दी कि दुनिया से दिल न लगाओ। शंकर, रामानुज, वल्लभाचार्य सभी निवृत्ति मार्ग के उपासक रहे और यदि जन-साधारण उस मार्ग पर चलने लगते तो आज संसार से मानव-वंश मिट गया होता। किंतु काम, क्रोध, मोह, लोभ ने मोक्ष-प्राप्ति की निवृत्ति में सदैव बाधा डाली। यह गौरव भगवान कृष्ण को ही है उन्होंने निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को संयुक्त कर दिया। प्रवृत्ति-युक्त निवृत्ति और निवृत्ति-युक्त प्रवृत्ति के आदर्श की सृष्टि की। कर्म करो, लेकिन उसमें बंधो मत। कर्म बंधन नहीं है, कर्म से फल की आशा रखना बंधन है। यज्ञार्थ जो कर्म किया जाय, जो निष्काम हो, उससे बंधन नहीं होता। वही सुख और शांति का मूल है।

सोचिए कितना महान् सत्य है ! कितना मौलिक आदर्श ! निर्वृत्ति मानव स्वभाव से मेल नहीं खाती। उसके मार्ग पर चलने वाले विशिष्ट जन ही होंगे। जन-साधारण के लिए वह मार्ग नहीं है। फिर उनके लिए धर्म का क्या आदर्श रह जाता है। वर्णाश्रम धर्म पर चलना। यहां ऊंच-नीच का भेद उत्पन्न हो जाता है। निवृत्ति-मार्ग का पथिक कर्म के बंधन में फंसे हुए प्राणियों से अपने को यदि ऊंचा नहीं तो पृथक् अवश्य समझता है। कर्म मनुष्य के लिए स्वाभाविक क्रिया है। आंखें हैं तो देखेगा, पांव हैं तो चलेगा, पेट है तो खाएगा। कर्म के पूर्ण विनाश की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। समाधि भी तो कर्म है। मौन रहना भी कर्म है। सोचना भी कर्म है, नित्य कर्म हो या निमित्त कर्म, आप कर्म के फंदे से नहीं निकल सकते। फिर कर्म सदैव बंधन ही क्यों हो। उससे परमार्थ भी तो किया जा सकता है, सेवा भी तो की जा सकती। तत्त्व यह निकला कि स्वार्थ भाव से कोई कर्म न किया जाए, वरन् जितने कर्म हों यथार्थ भाव से, निष्काम भाव से ही किये जायें। यहां कर्म का आनंद तो मिलता है, कर्म से उत्पन्न होने वाला दु:ख नहीं मिलता। न कोई भेद है न द्वेष है। कर्म में पुरुषार्थ भी तो है।

लेकिन कर्मयोग के आदर्श पर जमे रहना छोटी बात नहीं है। जंगल में समाधि लगाकर बैठ जाना उतना कठिन नहीं है जितना कर्त्तव्य की वेदी पर अपना बलिदान करना। अपने कर्मों में हानि या लाभ से उदासीन रहना वीरों का ही काम है। और ऐसे कर्मयोगी संसार में विरले ही होते हैं। ममत्व के पंजे से निकलना सिंह के मुंह से निकलना है। समय-समय पर ज्ञानी पुरुष अवतरित होते रहते हैं और ममत्व के बंधन को दु:ख के मूल को, तोड़ने का उद्योग करते हैं, पर यह बंधन झटके खाकर कुछ और दृढ़ होता जाता है। यहां तक कि आज इस संसार में ममत्व का अखंड राज्य है। भारतीय महत्त्व पर कुछ रोक थी, कुछ निग्रह था क्योंकि वह अपने परम्परागत संस्कारों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता था। बुद्ध और अशोक जैसे चरित्र जो प्रभुता को लात मारकर ज्ञानार्जन के लिए निकल खड़े हों, संसार में मुश्किल ही से मिलेंगे। भारत की संस्कृति धर्म की भित्ति पर खड़ी की गई थी। हमारे समाज और राज्य की संपूर्ण व्यवस्था धर्म पर अवलंबित थी। लेकिन पाश्चात्य देशों में धर्म को जीवन से पृथक् रखा गया, जिसका फल यह हुआ कि आज संसार में जीवन संग्राम ने प्रचंड रूप धारण कर रखा है। और यह ईश्वरहीन सभ्यता किसी संक्रामक रोग

की भांति फैलती जा रही है। जातियों और राष्ट्रों में अविश्वास है, आपस में संघर्ष। स्वामी और मजूर, अमीर और गरीब में भीषण युद्ध हो रहा है। धन और प्रभुता की तृष्णा एक विकराल जंतु की भांति समस्त सभ्य संसार को निगलती चली जा रही है। उद्धार की जो युक्तियां सोची जाती हैं वह फलीभूत नहीं होतीं। हरेक राष्ट्र सशस्त्र दूसरे की गर्दन दबा बैठने की घात में लगा हुआ है। निर्बल जातियां उनके पैरा में नीचे पड़ी अंतिम सांसें ले रही हैं। मनुष्य एक मशीन बनकर रह गया है। जीवन में कृत्रिमता बढ़ती जाती है। संपदा के पीछे संसार पागल हो रहा है। उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार के बंधन नहीं, बलवान राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का, बलवान व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों का गला दबा रहे हैं। संघर्ष की व्यापाक ध्वनि सुनाई दे रही है। कहीं शांति नहीं, कहीं सुख नहीं। ईश्वरहीन उद्योग में शांति कहां। हम नहीं समझते कि किसी युग में स्वार्थ का इतना प्राबल्य था। विचारवान लोग कह रहे हैं कि यह प्रलय का मार्ग है, वह संघर्ष एक दिन अग्नि की भांति फैलकर सारे राष्ट्रों को भस्म कर डालेगा।

ऐसे समय में संसार के उद्धार का एक ही उपाय है और वह है कर्मयोग। इसी तत्त्व को सम्मुख रखकर हम ममत्व, स्वार्थ और संघर्ष के पंजे से छूट सकते हैं। स्वार्थ का विलुप्त होना ही प्रेम का प्रसार है, उसी भांति जैसे अंधकार का हटना ही प्रकाश है। हिंसा और अप्रेम से दबा हुआ संसार पंगु हो रहा है। हिंसामय जनतंत्र और हिंसामय एकतंत्र में विशेष अंतर नहीं है। आधिभौतिकवाद के धर्महीन तत्त्वों से संसार का उद्धार न होगा। उसमें अध्यात्मवाद की स्फूर्ति डालनी पड़ेगी। आधिभौतिकवाद योरोप का आविष्कार नहीं। हमारे यहां चार्वाक् के सिद्धांत भी उसी पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। पर योरोप का ईश्वरहीन सुखवाद ही आज संसार पर आधिपत्य जमाए हुए है। 'अधिकांश' प्राणियों का अधिक से अधिक उपकार सिद्धांत रूप से निर्दोष है लेकिन जब तक यह सिद्ध न हो जाय कि 'उपकार' से क्या अभिप्राय है तब तक इस मत का भारत समर्थन नहीं कर सकता। जिस तरह 'उपकार' शब्द का व्यवहार किया जा रहा है उसे तो यही विदित होता है कि 'उपकार' का आशय स्वार्थ के सिवाय और कुछ नहीं। यह स्वार्थ-बुद्धि वर्तमान जगत का संग्राम का क्षेत्र बनाए हुए है। समाज में जो विषमता फैली हुई और उसका कारण यही स्वार्थोपासना है। जब तक कर्मयोग के तत्त्व व्यवहृत न होंगे, संसार स्वार्थ के पंजे में दबा पड़ा रहेगा। कर्मयोग ही वह तत्त्व है, जो स्वार्थ को मिटाकर परार्थ की ध्वजा फहरायेगा। योरोप में कांट, हीगेल, शॉपेनहार आदि दार्शनिकों ने अध्यात्मवाद के बीज बो दिए हैं। अमेरिका में वेदांत-तत्त्वों का जिस उत्साह से स्वागत किया जा रहा है, भारत के धर्मोपदेशकों और दार्शनिकों का वहां जो सम्मान हो रहा है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि हवा का रुख किधर है। वही लोग जो स्वार्थ के सबसे बड़े उपासक हैं, उससे अब विरक्त-से होते जा रहे हैं। विचारशील समुदाय प्रत्येक राष्ट्र में बाह्य व्यवहारों से पराङ्मुख होता जा रहा है। योरोप ने अपनी परंपरागत संस्कृति के अनुसार स्वार्थ को मिटाने का प्रयत्न किया है और कर रहा है। समष्टिवाद और बोलशेविज्म उसके वह नये आविष्कार हैं जिनसे वह संसार में युगांतर कर देना चाहता है। उनके समाज का आदर्श इसके आगे और जा ही न सकता था। किंतु अध्यात्मवादी भारत इससे संतुष्ट होने

वाला नहीं। वह अपने परलोक को ऐहिक स्वार्थ पर बलिदान नहीं कर सकता। वह अध्यात्मवाद से भटककर दूर जा पड़ा था जिसके फलस्वरूप उसे एक हजार वर्ष तक गुलामी करनी पड़ी। अबकी वह चेतेगा तो संसार को भी अपने साथ जगा देगा और उस व्यापक भ्रातृभाव की स्थापना करेगा जो संसार के सुख और शांति का एकमात्र साधन है। अबकी इस जागृति में ऊंच-नीच, छोटे-बड़े का भेद मिट जायगा। समस्त संसार में अहिंसा और प्रेम का जयघोष सुनाई देगा और भगवान कृष्ण कर्मयोग के जन्मदाता के रूप में संसार के उद्धारकर्ता होंगे।

[लेख। 'कल्याण', अगस्त, 1931 (कृष्णांक) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जीवन-सार

मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं उन्हें तो यहां निराशा ही होगी। मेरा जन्म संवत् 1967 में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज। एक बड़ी बहन भी थी। उस समय पिताजी शायद 20) पाते थे। 40) तक पहुंचते-पहुंचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वह बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आंखें खोलकर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गए और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पंद्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दरजे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थी, उनके दो बालक थे। और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूंजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था, वकील बनने का और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस ज़माने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस-बारह की कोई जगह पा जाता, पर यहां तो आगे पढ़ने की धुन थी - पांव में लोहे की नहीं अष्टधातु की बेड़ियां थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।

पांव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महंगी अलग—10 सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वींस कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था। और मैं बांस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुंचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, कभी वक्त पर स्कूल न पहुंचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बांधे हुए था।

मैट्रिकुलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकेंड डिवीजन में और क्वींस कालेज में भरती होने की आशा न रही। फीस केवल अव्वल दरजेवाले की ही मुआफ हो सकती थी। संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया। मैंने इस नए कालेज में

पढ़ने का निश्चय किया। प्रिंसिपल थे मि॰ रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे। कुरता और धोती पहने फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे। मगर मिजाज को तब्दील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर, आधी ही कहने पाया था, बोले कि घर में कालेज की बातचीत नहीं करता, कालेज में आओ। खैर, कालेज में गया। मुलाकात तो हुई, पर निराशाजनक। फीस मुआफ न हो सकती थी। अब क्या करूं? अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता, तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता, लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था?

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊं, पर बारह मील की मंजिल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूं? कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों के बाद एक सिफारिश मिली। एक ठाकुर इंद्रनारायण सिंह हिन्दू कालेज की प्रबंध-कारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनंद की सीमा न रही। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसिपल से मिलने का इरादा था, लेकिन घर पहुंचते ही मुझे ज्वर आ गया। और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया। एक दिन द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहितजी आ गए। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा और तुरंत खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाए और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ पिसवाकर मुझे पिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घंटे ही भर की देर थी। इस औषध ने, मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने पंडितजी से बार-बार उस जड़ी का नाम पूछा, पर उन्होंने न बताया। कहा—नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं फिर मि॰ रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसिपल ने मेरी तरफ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा—इतने दिनों कहां थे?

'बीमार हो गया था।'

'क्या बीमारी थी?'

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूं तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी-सी चीज थी, जिसके लिए इतनी लंबी गैरहाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए, जो अपनी कष्टसाध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इंद्रनारायण सिंह से जब मैं सिफारिश के लिए मिला था, तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया।

मैंने कहा—पैलपिटेशन आफ हार्ट सर।

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा—अब तुम बिल्कुल अच्छे हो?

'जी हां।'

'अच्छा, प्रवेश-पत्र भरकर लाओ।'

मैंने समझा बेड़ा पार हुआ। फार्म लिया, खानापूरी की और पेश कर दिया। साहब उस समय कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा

था—इसकी योग्यता की जांच की जाए।

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेजी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी और बीजगणित और रेखागणित से तो रूह कांपती थी। जो कुछ याद था, वह भी भूल-भाल गया था. लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था? भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म दिखाया। प्रोफेसर साहब बंगाली थे, अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। वाशिंगटन इर्विंग का 'रिपिवान विंकिल' था मैं पीछे की कतार में जाकर बैठ गया और दो-ही-चार मिनिट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घंटा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किए और फार्म पर 'संतोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घंटा बीजगणित का था। इसके प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्राय: वही छात्र आते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती यहां भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया वह भरती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था छात्र चुन-चुन कर लिए जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने में 'असंतोषजनक' लिख दिया

मैं इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधे घर चला आया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका इंटरमीडिएट में दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा में अख्तियारी हो गई तब मैंने दूसरे विषय लेकर उसे आसानी से पास कर लिया। उस समय तक यूनिवर्सिटी के इस नियम ने, कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है खैर मैं निराश होकर घर तो लौट आया, लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किसी तरह गणित को सुधारूं और कालिज में भरती हो जाऊं, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पांच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुजर करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया। बाजार से एक छोटा सा लैंप लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो मांजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ दर का 'फिसाने आज़ाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चंद्रकान्ता संतति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिकुलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी इसलिए जब जरूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दुकान की ओर खींच

ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता, लेकिन कभी-कभी उधार मांगने में भी संकोच होता और दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पांच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिए थे। रोज उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने-दो-महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका, तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी जमाने में शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। वकील साहब के पिछवाड़े उसका मकान था। 'जान लो भैया' उसका सखुन-तकिया था। हम लोग उसे 'जान लो भैया' ही कहा करते थे। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिए थे। वह पैसे उसने मुझसे मेरे घर गांव में जाकर पांच साल बाद वसूल किए। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी, लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था, कहीं नौकरी कर लूं। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहां मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था, या संकोचवश मैं उससे मांग न सका था। चिराग जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने गया था। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए खरीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था, पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी, लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूंछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दूकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा तुम कहां पढ़ते हो?

मैंने कहा—पढ़ता तो कहीं नहीं हूं, पर आशा करता हूं कि कहीं नाम लिखा लूंगा।

'मैट्रिकुलेशन पास हो?'

'जी हां।'

'नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है।'

'नौकरी कहीं मिलती ही नहीं।'

वह सज्जन एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे। इन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी। अठारह रुपये वेतन था। मैंने स्वीकार कर लिया। अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा व्यथित कल्पना की ऊंची-से-ऊंची उड़ान से भी ऊपर थे। मैं दूसरे दिन हेडमास्टर साहब से मिलने का वादा करके चला, तो पांव जमीन पर न पड़ते थे। यह सन् 1899 की बात है। परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता, पर सबसे कठिन परिस्थिति यूनिवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक ही खाट पर सुलाता है।

2

मैंने पहले-पहल 1907 में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने 1901 ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास 1902 में निकला और दूसरा 1904 में, लेकिन गल्प 1907 से पहिले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था, 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह 1907 में 'ज़माना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पांच कहानियां और लिखीं। पांच कहानियों का संग्रह 'सोज़े वतन' के नाम से 1909 में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पांचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में सब डिप्टी इंस्पेक्टर था और हमीरपुर के जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छ: महीने हो चुके थे। एक दिन मैं रात को अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुंचा, कि मुझसे तुरंत मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातों-रात 30-40 मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोज़े वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथ ठनका। उस वक्त मैं 'नवाबराय' के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और इसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा–यह पुस्तक तुमने लिखी है?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अंत में बिगड़ कर बोले–तुम्हारी कहानियों में 'सिडीशन' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुगलों का राज्य होता, तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियां एकांगी हैं, तुमने अंग्रेजी सरकार की तौहीन की है, आदि। फैसला यह हुआ कि मैं 'सोजे वतन' की सारी प्रतियां सरकार के हवाले कर दूं और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूं। मैंने समझा, चलो सस्ता छूटे। एक हजार प्रतियां छपी थीं। अभी मुश्किल से 300 बिकी थीं। शेष 700 प्रतियां मैंने 'जमाना कार्यालय' से मंगवाकर साहब की सेवा में अर्पण कर दीं।

मैंने समझा था, बला टल गई, किंतु अधिकारियों को इतनी आसानी से संतोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय में जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिण्टेंडेण्ट पुलिस, दो डिप्टी कलेक्टर और डिप्टी इंस्पेक्टर–जिनका मैं मातहत था, मेरी तकदीर का फैसला करने बैठे। एक डिप्टी कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमें आदि से अंत तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है और सिडिशन भी साधारण नहीं, बल्कि संक्रामक। पुलिस के देवता ने कहा–ऐसे खतरनाक आदमी को जरूर सख्त सजा देनी चाहिए। डिप्टी इंसपेक्टर साहब मुझसे बहुत स्नेह करते थे। इस भय से कि कहीं मुआमला तूल

न पकड़ ले, उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वह मित्रभाव से मेरे राजनीतिक विचारों की थाह लें और उस कमेटी में रिपोर्ट पेश करें। उनका विचार था, मुझे समझा दें और रिपोर्ट में लिख दें, कि लेखक केवल कलम का उग्र है और राजनैतिक आन्दोलन से उसका कोई संबंध नहीं है। कमेटी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार किया। हालांकि पुलिस के देवता उस वक्त भी पैंतरे बदलते रहे।

सहसा कलेक्टर साहब ने डिप्टी इंस्पेक्टर से पूछा—आपको आशा है, कि वह आपसे अपने दिल की बातें कह देगा?

'आप मित्र बनकर उसका भेद लेना चाहते हैं। यह तो मुखबिरी है। मैं इसे कमीनापन समझता हूं।'

डिप्टी साहब अप्रतिभ होकर हकलाते हुए बोले—मैं तो हुजूर के हुक्म...साहब ने बात काटी—नहीं, यह मेरा हुक्म नहीं है। मैं ऐसा हुक्म नहीं देना चाहता। अगर पुस्तक में लेखक का सिडीशन साबित हो सके, तो खुली अदालत में मुकदमा चलाइए, नहीं धमकी देकर छोड़ दीजिए। 'मुंह में राम बगल में छुरी' मुझे पसन्द नहीं।

जब यह वृत्तांत डिप्टी इंस्पेक्टर साहब ने कई दिन पीछे खुद मुझसे कहा, तो मैंने पूछा—क्या आप सचमुच मेरी मुखबिरी करते?

वह हंसकर बोले—असंभव। कोई लाख रुपये भी देता, तो न करता। मैं तो केवल अदालती कार्रवाई रोकना चाहता था, और वह रुक गई। मुकदमा अदालत में आता, तो सजा हो जाना यकीनी था। यहां आपकी पैरवी करनेवाला भी कोई न मिलता, मगर साहब हैं शरीफ आदमी।

मैंने स्वीकार किया—बहुत ही शरीफ।

3

मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत पैदा हो गई। गर्मी के दिनों में देहातों में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुंइयां खानी पड़ी। यों मैं घुंइयों को बिच्छू समझता हूं और तब भी समझता था, लेकिन न-जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गई कि अजवाइन से घुंइयां का बादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा, शायद बुंदेलखंड की पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल पाचन शक्ति को तीव्र कर दिया, लेकिन एक दिन पेट में दर्द हुआ और सारे दिन मैं मछली की भांति तड़पता रहा। फंकियां लगाई, मगर दर्द न कम हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गई, मल के साथ आंव आने लगा, लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुंचा, तो वहां के थानेदार साहब ने मुझसे थाने ही में ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूंग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा क्या हरज है, आज यहीं ठहरो। भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा। थाने ही में अड्डा जमा दिया। दारोगाजी ने जमींकंद का सालन पकवाया, पकौड़ियां, दही-बड़े, पुलाव। मैंने एतियात से खाया—जमींकंद तो मैंने केवल दो फांकें खाईं, लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दारोगाजी के

फूस के बंगले में लेटा, तो दो-ढाई घंटे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन-भर कराहता रहा। सोड़े की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई, तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमींकंद की कारस्तानी है। घुंइयां से पहले मेरी कुट्टी हो चुकी थी। अब जमींकंद से भी बैर हो गया। तब से इन दोनों चीजों की सूरत देखकर मैं कांप जाता हूं। दर्द तो फिर जाता रहा, पर पेचिश ने अड्डा जमा लिया। पेट में चौबीसों घंटे तनाव बना रहता। अफरा हुआ करता। संयम के साथ चार-पांच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई न-कोई औषधि भी खाया करता, किंतु पेचिश टलने का नाम न लेती थी, और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा कराई, एक बार महीने-भर प्रयाग में डाक्टरी और आयुर्वेदिक औषधियों का सेवन किया, पर कोई फायदा नहीं।

तब मैंने तबादला कराया। चाहता था रोहेलखंड, पर पटका गया बस्ती के जिले में, और हलका वह मिला जो नेपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्व॰ पं॰ मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ, जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी, लेकिन यहां जाकर पेचिश और बढ़ गई। तब मैंने छ: महीने की छुट्टी ली, और लखनऊ के मेडिकल कालेज से निराश होकर काशी के एक हकीम से इलाज कराने लगा। तीन-चार महीने बाद कुछ थोड़ा सा फायदा तो मालूम हुआ, पर बीमारी जड़ से न गई। तब फिर बस्ती पहुंचा तो वही हालत हो गई। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती हाई स्कूल में स्कूल-मास्टर हो गया। फिर यहां से तब्दील होकर गोरखपुर पहुंचा। पेचिश पूर्ववत् जारी रही। यहां मेरा परिचय महावीर प्रसाद पोद्दारजी से हुआ जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े ही उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती से ही 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाईं थीं। पोद्दारजी की प्रेरणा से मैंने फिर उपन्यास लिखा और 'सेवा-सदन' की सृष्टि हुई। वहीं मैंने बी॰ ए॰ भी पास किया। 'सेवासदन' का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित होकर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पें भी बराबर लिखता रहा।

कुछ मित्रों को, विशेषकर पोद्दारजी की सलाह से मैंने जल-चिकित्सा आरम्भ की, लेकिन तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक जीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और लोग धड़धड़ाते हुए चले गये, पर मेरे पांव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुंचा। उसी दिन मुझे अपनी कमजोरी का यथार्थ ज्ञान हुआ। समझ गया, अब थोड़े दिनों का और मेहमान हूं, जल चिकित्सा बंद कर दी।

एक दिन संध्या समय उर्दू बाजार में श्री दशरथप्रसाद जी द्विवेदी, सम्पादक, 'स्वदेश' से मेरी भेंट हो गई। कभी-कभी उनसे साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा- बाबूजी, आप तो बिल्कुल पीले पड़ गये हैं, कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि

मैं बीमार हूं। जब दो-चार महीने ही का जिंदगी से नाता है, तो क्यों न हंसकर मरूं? मैंने चिढ़कर कहा—मर ही तो जाऊंगा भई, या और कुछ। मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूं। द्विवेदीजी बेचारे लज्जित हो गए। मुझे पीछे से अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह 1921 की बात है। असहयोग आंदोलन जोरों पर था। जलियांवाला बाग का हत्याकांड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियां के मैदान में ऊंचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था, कि मुझ-जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी 20 साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।

अब देहात में चलकर कुछ प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दारजी का देहात में एक मकान था। हम और वह दोनों वहां चले गए और चर्खे बनवाने लगे। वहां जाने के एक ही सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी। यहां तक कि एक महीने के अंदर मल के साथ आंव का आना बंद हो गया। फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठकर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। गुलामी से मुक्त होते ही मैं नौ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् की जो इच्छा होती है वही होता है, और मनुष्य का उद्योग भी इच्छा के बिना सफल नहीं होता।'

[लेख। 'हंस', जनवरी-फरवरी, 1932 में प्रकाशित। 'कफन' तथा 'मंगलसूत्र व अन्य रचनाएं' में संकलित।]

स्वामी श्रद्धानन्द और भारतीय शिक्षा प्रणाली

यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार मे राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है उसकी कोई नजीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाजारी चीजों की तरह विद्या बिकती है, यह स्वामी जी ही का दिमाग था, जिसने प्राचीन गुरुकुल प्रथा में भारत के उद्धार का तत्त्व समझा। लडका शिक्षा पाता है, वैसा ही मनुष्य बनता है। हमारे विद्यालय ही राष्ट्र की संस्कृति के सबसे बड़े रक्षक हैं। विद्यालय पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए, चाहे स्वराज्य हो या परराज्य। राज्य से किसी प्रकार की सहायता लेना मानो शिक्षा का गला घोंटना है। और जब शिक्षा के पैरों में बेड़ियां पड़ गईं तो उस शिक्षा की गोद में पले हुए छात्र भी गुलाम मनोवृत्ति के मनुष्य हों तो कोई आश्चर्य नहीं। र[illegible]-परिवर्तन होते रहते हैं, राष्ट्र के आदर्शों में कोई परिवर्तन नहीं होता। अगर उसके आदर्श बदल जायं तो उसकी परंपरा नष्ट हो जाय और वह राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को खो बैठे। बौद्धकाल तक गुरुकुल प्रथा जीवित रही। मुस्लिम युग में वह प्रथा नष्ट हो गई और उसके नष्ट होते ही राष्ट्र नौका का लंगर उखड़ गया। जीवन के किसी विभाग पर नियंत्रण न रह सका।

वर्ण और आश्रम, जो आर्य-संस्कृति के स्तंभ थे, अपना असली रूप खोकर जात-पांत के रूप में आ गये और गेरुए वस्त्रधारी, अकर्मण्य, पेट के बंदों ने संन्यास और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया। अंग्रेजी राज्य में नये-नये विद्यालय खुले मगर उनका आदर्श और उद्देश्य कुछ और था। वह दफ्तरी शासन का एक विभाग मात्र था जिसका उद्देश्य सत्य की खोज और संस्कृति का विकास नहीं, दफ्तरों के लिए कर्मचारियों का निर्माण था। वहां की पुस्तकों पर, शिक्षाविधि पर, अंग्रेजी राज की छाप थी। छात्रों के आत्मसम्मान को कुचला जाता था। कोई दुकानदारी थी जहां पग-पग पर छात्रों से कुछ-न-कुछ वसूल करने की फिक्र रहती है। जुर्मानों का भाव गर्म है। हाजिर न हो सको तो जुर्माना दो, देर में आओ तो जुर्माना, शरारत करो तो जुर्माना, सबक याद न हो तो जुर्माना, दर्जनों तरह की फीस—पढ़ाई की फीस, पुस्तकालय की फीस साइंस की फीस, इंतहान की फीस, रोशनाई की फीस। ऐसी संस्थाओं के छात्रों से यह आशा करना कि वह राष्ट्र की कोई सेवा करें दुराशा मात्र है। उनकी तो आत्मा कुचली जा चुकी है।

भारत के प्राचीन आदर्श की इस पश्चिमी आदर्श से जरा तुलना कीजिए। यहां हमारे वाइस-चांसलर साहब साढ़े तीन हजार रुपया महीना वेतन पाते हैं। कितना शानदार आपका बंगला है, कितनी अच्छी-अच्छी मोटरें हैं, कितने स्टाइल में रहते हैं। प्रिन्सिपल साहब का वेतन भी लगभग दो हजार है। उतना शानदार बंगला तो आपका नहीं है पर आप सिगार ज्यादा कीमती पीते हैं। लेडियों में आपकी ज्यादा पहुंच है। घुड़दौड़ के शौकीन हैं ही। प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर, डीन, ट्यूटर, डिमांस्ट्रेटर, गरज ऊपर से नीचे तक वही शान, वही नमूना, वही ठाट। इस वातावरण में चरित्र का जिक्र ही क्या। किसी पुरानी संन्यासी को लाकर बिठायें तो वह भी विलायती फैशन और फैम का गुलाम हो जाय, कोमल-हृदय युवकों का पूछना ही क्या। जीवन के वह तकल्लुफ और स्पर्द्धा और मिथ्या-भोग के दृश्य देख दखकर युवक भी वही रंग पकड़ता है। सिगार और लेवेंडर, बहुसंख्यक सूट और खुदा जाने क्या-क्या बलाएं उसके पीछे पड़ जाती हैं, नहीं, बल्कि उसके कसर पर सवार हो जाती हैं। उन व्यसनों को पूरा करने के लिए वह झूठ, छल, बहानेबाजी, सभी कुछ करता है, यहां तक कि आत्म सम्मान तक खो बैठता है। वह संकटों का जरा भी मुकाबला नहीं कर सकता। उसे किसी-न-किसी के आश्रय की जरूरत है। अपने बल पर तो खड़ा हो नहीं रह सकता। जो एक वक्त चाय न मिलने से बदहवास हो जाय, एक वक्त सिगार न मिले तो पागल हो जाय, वह जीवन-संग्राम का क्या मुकाबला कर सकता है। इस परिस्थिति में भी कभी-कभी रत्न निकल आते हैं। लेकिन वह अपवाद हैं।

प्राचीन प्रथा की तरफ आंखें उठाइए। कुलपति है, वह ज्ञान की मूर्ति, विद्या का भंडार, जमीन का सर्द-गर्म चखे हुए और संसार के प्रलोभनों से ऊंचा उठा हुआ। अध्यापक भी उसी सांचे में ढले हुए, कहीं आडंबर नहीं, कहीं मिथ्याभिमान नहीं। वहां शान इसमें नहीं कि कौन कितना व्यसनी है, किसके पास कितने अच्छे कुत्ते हैं, या कौन सिनेमा ज्यादा देखता है, बल्कि इस बात में कि किसमें ज्यादा त्याग है, किसमें ज्यादा भक्ति या विद्वत्ता है, कौन ज्यादा स्वावलंबी है किसमें सेवा और

सहायता का भाव अधिक है। दोनों आदर्शों में कितना अंतर है।

स्वामी श्रद्धानंद जी ने इसी भारतीय आदर्श को जिंदा कर दिखाया। समय उनके अनुकूल न था, विरोधियों का पूछना ही क्या, चारों तरफ बाधाएं ही बाधाएं। पर जितने आदर्शवादी थे, उतने ही हिम्मत के धनी थे। किसी बात की परवाह न करते हुए गुरुकुलों की स्थापना कर दी। यद्यपि जमाने ने गुरुकुल पर भी अपना कुछ-न-कुछ असर जमाया। गुरुकुल से निकले स्नातकों को जिस दुनिया में आना पड़ा वह एक और ही दुनिया थी और उसमें सम्मानपूर्वक रहने के लिए उन्हें अपने जीवन में कुछ न कुछ रद्दो-बदल करनी पड़ी और वह आदर्श, सजीव और सुंदर, अपने प्राचीन गौरव से तेजस्वी, बनावट और मिथ्या को हिकारत नहीं दया की आंखों से देखता हुआ। प्रतिकूल परिस्थितियों से कुछ चिंतित खड़ा है—अच्छे दिनों के इंतजार में।

[लेख। 'शुद्धि-समाचार' (श्रद्धानंद बलिदान अंक), जनवरी-फरवरी, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

आत्मकथा क्या साहित्य का अंग नहीं है?

प्रयाग क 'भारत' के कभी-कभी साहित्यिक आलोचनाएं भी छपती हैं। लेखक का नाम नहीं दिया जाता, इससे अनुमान होता है कि संपादकीय विभाग द्वारा ही उनकी रचना होती हो। इन आलोचनाओं में हमेशा कोइं-न-कोई नई चौंकाने वाली बात कही जाती है, जिससे यह सिद्ध हो कि लेखक कितने मौलिक विचारों और गहरी सूझ का स्वामी है। हम उसकी यह प्रवृत्ति कई महीनों से देखते चले आते हैं। इन लेखों की खास खूबी यह है कि आदि से अंत तक पढ़ जाइए, आपको यह न मालूम होगा कि लेखक क्या कहता है। समाचार-पत्रों के संपादक कुछ डिप्लोमेटिक भाषा तो लिखते ही हैं, और डिप्लोमेटिक भाषा का मुख्य गौरव यही है कि उसके मनमाने अर्थ लगाए जा सकें। फिर भाषा का उद्देश्य यह भी तो है कि वह ‌नोभाव को छिपाये। शायद इन आलोचनाओं के लेखक महोदय इसी स्कूल के उपासक हैं।

17 दिसंबर के 'भारत' में 'हिन्दी के विकास में बाधा' नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसके पूर्वार्द्ध में तो लेखक ने साहित्य-सम्मेलन की खबर ली है। उससे हमारा प्रयोजन नहीं। साहित्य-सम्मेलन वाले देखें कि उसका क्या अर्थ है—सम्मेलन की प्रशंसा या निंदा।

उत्तरार्द्ध में आप सम्मेलन को छोड़कर साहित्य की प्रोपगंडिस्ट वृत्ति पर आ गए हैं और पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी को फटकार बताई है-पंडित बनारसीदास को इस तरह के साहित्य का आचार्य कहा है। किसी का जीवन-चरित्र लिखना, किसी का संस्मरण लिखना उनके खयाल में प्रोपेगं है, क्योंकि उक्त पंडित जी ने इसके सिवा तो कोई अपराध नहीं किया। इससे भी हमें प्रयोजन नहीं। पंडित जी अपनी सफाई दे देंगे।

हमें तो उसे लेख के केवल उस अंश के विषय में दो शब्द कहने हैं, जिसमें आलोचक महोदय ने 'हंस' के आने वाले 'आत्म-कथांक' के विषय में लिखा है।

हमने तो कभी प्रोपेगेंडा नहीं किया, हमारा बड़े-से-बड़ा दुश्मन भी हमारे ऊपर यह आक्षेप नहीं कर सकता।

आप फरमाते हैं, "पत्र-पत्रिकाओं में दो अक्षर लिख लेने वाले लेखकों के चित्रों की वृद्धि, संपादकीय विभाग के व्यक्तियों की अपने पद को बढ़ाकर मान करने की मिथ्या लिप्सा आदि इसी के भावांतर रूप हैं, और इस संबंध की अंतिम प्रगति यह है कि सहयोगी 'हंस' आत्मकथांक नाम का विशेषांक निकाल रहा है, जिसमें सब लोग अपनी-अपनी गाथाएं गायेंगे। यदि 'हंस' ने नीर-क्षीर-विवेक न रक्खा तो कुल मिलाकर हिन्दी की शक्ति क्षीण ही होगी और कोई लाभ न होगा।"

हम पूछते हैं, आपने यह कैसे समझ लिया कि 'हंस' नीर-क्षीर-विवेक न करेगा और हर ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे की आत्मकथा छापेगा? उसने अपनी गश्ती चिट्ठी में, जो उसने लेखक महानुभावों की सेवा में भेजी है, लिखा है, "आत्मकथा साहित्य का कितना उपयोगी अंग है, यह आप जानते ही हैं। शिष्ट पुरुषों की आत्मकथा से ही आने वाली संतान उपदेश ग्रहण करती है और उस समय जब वह पथभ्रष्ट-सी होकर भटकने लगती है, तब यह महान पुरुषों के अपने लिखे अनुभव ही हैं, जो उसके लिए पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं।"

हम समझते हैं कि चिट्ठी 'भारत' कार्यालय अवश्य पहुंची होगी और उसे पढ़कर भी उसने अनायास ही गेहूं के साथ घुन को पीस डाला। हम अपने आलोचक मित्र से निवेदन करते हैं कि 'हंस' को आपसे सलाह लेने की मुतलक जरूरत नहीं है वह अपना कर्त्तव्य खूब समझता है।

महान पुरुषों की आत्मकथा साहित्य की सर्वोत्तम वस्तु है, और जिन विशिष्ट पुरुषों ने संसार में कीर्ति, धन, पद और ख्याति प्राप्त कर ली है, वह ही संसार के इन पदार्थों के इच्छुकों के लिए सच्चे रहनुमा हो सकते हैं। महात्मा गांधी, स्व. लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द जी, श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी आदि महानुभावों की आत्मकथाओं ने देश का कितना उपकार किया है, इसे लिखने की आवश्यकता नहीं।

[लेख। हिन्दी साप्ताहिक 'जागरण', वर्ष 1, अंक 1, संपादक-शिवपूजन सहाय, 11 फरवरी, [illegible] में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

परितोष

'हंस' के आत्मकथांक निकलने के पहले सहयोगी 'भारत' ने 'हंस' के कार्यकर्ताओं को परामर्श दिया था कि आत्मकथांक निकालने से कोई फायदा न होगा, यह तो केवल आत्म-विज्ञापन का एक बहाना है। शब्द यह नहीं थे, पर भाव कुछ ऐसा ही था। दुर्भाग्यवश मैं आत्मकथा का बड़ा पक्षपाती हूं और उसे साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग समझता हूं। मैं जानता हूं कि उनके इस परामर्श से, जिसमें आक्षेप की गंध भी थी, मुझे क्षोभ हुआ और मैंने अपने भाव को काशी से निकलने वाली पाक्षिक पत्र 'जागरण' में एक छोटे से नोट में प्रकट किया। जागरण के संपादक महोदय को मेरा वह लेख पढ़कर आश्चर्य हुआ मगर उन्होंने उस लेख का आश्चर्य होते हुए भी छापना ही

उचित समझा। हां, अपनी आत्म-शुद्धि के लिए उस पर टिप्पणियां लगा दीं। मैंने छापे में उस लेख को फिर देखा, तो मुझे उसके लिखने का खेद हुआ। अखबारी दुनिया में इस किस्म के आक्षेप होते रहते हैं। मुझे क्षुब्ध होने की कोई ऐसी सख्त जरूरत न थी। 'भारत' को हमारा विचार नहीं पसंद आता, तो यह कोई असाधारण बात नहीं थी। किसी उद्योग को सभी पसंद नहीं करते। दो-चार पसंद करते हैं, दो-चार नापसंद करते हैं। यह तो दुनिया का दस्तूर है, लेकिन खैर भूल तो हो ही गयी, अब पछताने से क्या हो सकता था। समझा था खैर, मुझसे भूल हुई, तो भारत ही इसे क्षमा करेगा, मगर 'जागरण' के तीसरे अंक में भारत के संपादक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने मेरे उस लेख का जो उत्तर दिया है, उसे पढ़कर मेरा वह खेद मिट गया। उन्होंने रोड़े का जवाब पत्थर से नहीं, बमगोले से दिया। इससे मुझे सच्चा परितोष हुआ। मुझे मालूम हुआ, मैं ही क्षुब्ध होना नहीं जानता, इस कला में मुझसे कहीं धुरंधर कलाविद् पड़े हुए हैं। वाजपेयी जी फरमाते हैं--

"प्रेमचंद जी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेंडा वृत्ति के कारण काफी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े से बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है....प्रेमचंद के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष तो उनकी साहित्य-कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है- यही प्रोपेगेंडा है।"

यह जले हुए दिल के शब्द हैं, जो शायद बहुत दिन से भरा बैठा था और इस अवसर को पाकर भरपूर जोर से वार करना चाहता है। इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेंडा करते हैं--सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे, जो प्रोपेगेंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूं। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेंडा के आक्षेप से है, जो मान और यश, कीर्ति और धन-मोह के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो, जो प्लेटफार्म को सूली का तख्ता समझता हो, उसे अपना ढिंढोरा पीटने वाला कहना न्याय नहीं है। यों तो यहां किसी आर्डिनेंस का भय नहीं, जो आक्षेप कोई करना चाहे, कर सकता है। वाजपेयी जी ने मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से मेरे उस लेख में मेरी प्रोपेगेंडा वृत्ति देखकर संतोष लाभ किया, यह मेरे लिए भी आनंद की बात है।

एक इल्ज़ाम तो साबित हो गया। अब दूसरा इल्ज़ाम सुनिए। फर्द जुर्म काफी लंबी है -

'भारत के संबंध में इतनी बुरी संपत्ति पढ़कर हमें क्षोभ किंचित नहीं हुआ (गलत क्षोभ तो आपको इतना हुआ, जिसकी मुझे स्वप्न में भी आशा नहीं थी, कम से कम इसी विचार से कि मैं आपसे उम्र में बहुत बड़ा हूं और मेरे सठियाने में केवल आठ साल शेष हैं) क्योंकि उसमें भी हमें प्रेमचंद जी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा। उपन्यास लिखने का पुराना तरीका यह था कि एक पक्ष को परम धार्मिक वीर और वरेण्य बनाकर दूसरे को हद दरजे तक उसके विपरीत बना दिया जाय और

उन्हीं दोनों विरोधी दलों के संघर्ष से कथा का विकास होता रहे। यह बहुत पुराना ढर्रा था, जिसमें सत्य की ओर से आंखें मूंदकर उपन्यास का ढांचा खड़ा किया जाता था। ....जिसे आधुनिक विकसित साहित्य एक ज़माने से छोड़ चुका है।'

इसका अर्थ है कि मैं उसी पुरानी ढर्रे के दकियानूसी ढंग की पुरानी लकीर का फकीर बना हुआ हूं और 'भारत' के यशस्वी संपादक नये से नये ढंग के साहित्य के अप-टू-डेट ज्ञाता हैं–योरोप के प्रेस से उपन्यास-साहित्य की पुस्तकें निकलते ही उनके पास चली आती हैं और वह उनको आलोचनात्मक बुद्धि से पढ़ते हैं औरों को यह सौभाग्य कहां नसीब ! इसी बहुज्ञता और अप टू-डेट पन की तो बरकत है कि आप 'भारत' में ऐसे साहित्यिक तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं, जिन्हें हम पुरानी लकीर के फकीर समझ ही नहीं सकते–यही सोचकर चित्त को शांत कर लेते, तो क्षुब्ध होने की नौबत क्यों आती। मैं अपने मित्र को सूचित करता हूं कि सत्य और असत्य का संघर्ष रामायण और महाभारत काल से लेकर बीसवीं सदी तक बराबर चला आता है और जब तक साहित्य की सृष्टि होती रहेगी, यह संघर्ष साहित्य का मुख्य आधार बना रहेगा। मानवी हृदय नहीं बदला करता और न साहित्य-तत्त्व में परिवर्तन हो सकता है। हां, सतही आंखों से पढ़ने वालों को चाहे नये साहित्य में सघर्ष न नज़र आये क्योंकि नये साहित्य-सेवी पुरानी परिपाटी का व्यवहार करते हुए भी, नवीन आविष्कार का गौरव प्राप्त करने के लिए धोखे की टट्टी खड़ी किया करते हैं। और जो ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, उन्हें ऐसा भ्रम हो जाय, तो आश्चर्य नहीं। साहित्य का क्षेत्र है, सौंदर्य की सृष्टि, और सौंदर्य संबंधवाचक है। सुंदर की कल्पना ही बिना असुंदर के नहीं हो सकती, वैसे ही जैसे प्रकाश अंधकार के संबंध से ही व्यक्त हो सकता है। मैंने भी अपनी सभी रचनाओं में इस संघर्ष को गुप्त रखने की चेष्टा की है, जिसमें मुझे भी नवीन आविष्कार का गौरव मिले, और अगर हमारे मित्र ने मेरा कोई उपन्यास पढ़ा होता तो वह ऐसी असंगत बात न कहते। संभव है बड़े से बड़े समीक्षक ने उनसे यही शिकायत की हो पर उन्होंने स्वयं मेरी कोई रचना पढ़ने का कष्ट नहीं उठाया, यह सिद्ध है। बिना कोई चीज पढ़े, उसकी आलोचना करना, आजकल का फैशन है और मुझे इसकी शिकायत नहीं।

इसके बाद दूसरा पैराग्राफ 'भारत' संपादक की आत्म-विरुदावली से शुरू होता है, जिसमें आपने सातवें आसमान पर बैठे जमीन पर पैर घसीटने वाले क्षुद्र प्राणियों पर दया-दृष्टि डाली है। फरमाते हैं–

'साहित्य' में हम शुद्ध साहित्यिक संस्कृति चाहते हैं, लाग-लपेट कुछ भी नहीं। चाहे वह साहित्य का कोई लेख हो, पुस्तक हो, अथवा संस्था हो–हम उसकी परख अपनी इसी मूल भावना की कसौटी पर करते हैं। यदि हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के विपक्ष में हैं, तो इसलिए, कि वह वास्तव में साहित्य-सम्मेलन नहीं है....

कितनी शुद्ध साहित्य-सुधा-वृष्टि है। अहंकार का एक महान कुटिल रूप है, अल्पमत की गौरवमयी श्रेणी में रहना, चाहे उसकी संख्या एक ही तक परिमित हो। सभी बड़े-बड़े विचार-प्रवर्त्तकों ने अपनी अकेली आवाज से संसार पर विजय पायी है और यदि हमारे योग्य 'भारत' संपादक उस गौरव के उम्मीदवार हैं तो हमें शिकायत

की कोई गुंजाइश नहीं। हम सभी चाहते हैं कि कोई ऐसी बात कहे, जो कोई दूसरा न कह सके, कोई ऐसा काम कर दिखावें जो दूसरा न कर सके। कभी यह इच्छा सच्ची होती है कभी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित। हम इसे वाजपेयी जी के बलवान व्यक्तित्व और उज्ज्वल प्रतिभा का प्रमाण समझते हैं। उनकी नजर में हिन्दी का कोई लेखक नहीं जंचता, मैं इन बातों नहीं से चौंकता। आप इससे भी कोई बड़ी अनोखी, नयी, अभूतपूर्व बात कहिए, मैं जरा भी न चौंकूगा, मिनकूंगा ही नहीं। इतने महान आविष्कार की उपेक्षा कौन कर सकता है, हिन्दी में ऐसा कोई लेखक नहीं, जिसकी आत्मकथा लिखने योग्य हो। यहां तक सभी आत्म-विज्ञापन के उपासक हैं। केवल एक अपवाद हैं, और वह भारत के सुयोग्य सपांदक पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी, एम० ए०। आश्चर्य यही है कि उन्होंने 'भारत' का संपादक होना क्यों स्वीकार कर लिया, क्योंकि संपादकत्व में आत्म-विज्ञापन कूट-कूटकर भरा होता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष के लिए तो कोई गुफा ही ज्यादा उपयुक्त स्थान होती। यहां कैसे भूल पड़े। बात यह है कि आपकी अंतर आत्मा चाहे स्वीकार करे या न करे, लेकिन 'हम चु मा दीगरे नेस्त' आपके लेखों, टिप्पणियों के एक-एक शब्द से टपका पड़ता है और चूंकि आप अपने लेखों को गलतियों से ऊपर समझते हैं, उन्हें साहित्य के रत्न मानते हैं, इसलिए जब मैंने उन पर अपना विरोधी मत प्रकट किया, जो आपको असह्य हो गया। अहंकार ने हम और आप जैसे व्यक्तियों से कहीं महान पुरुषों को हास्यास्पद बनाया है। कोई चौंकाने वाली बात नहीं।

इसके आगे आप सप्तम आकाश से भी ऊपर उड गए हैं और साहित्य के उद्देश्य और क्षेत्र की पवित्रता पर ज्ञान से भरी बातें कही हैं। हम उसका एक-एक शब्द स्वीकार करते हैं। बेशक, साहित्य सात्विक जीवन है। बेशक, वह कठिन तपस्या और महान यज्ञ है। लेकिन जब कोई सूत्रों में बातें करे, जिसको समझने के लिए किसी दार्शनिक के पास जाना पड़े तो फिर उसका क्या जवाब ? बात भी तो समझ में आए। उदाहरणार्थ इन वाक्यों को लीजिए--

'जहां व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतंत्र विषय नहीं रह जाते, उच्च साहित्य की वह भावभूमि है। वहां अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नहीं छापे जाते। वहां वाणी मौन रहती है, गाथा गाने में सुख नहीं मानती। उस उच्च स्वर से जितने क्रियाकलाप होते हैं, आत्म-प्रेरणा से होते हैं।'

जहां वाणी मौन रहती है, वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं, गूंगापन है। साहित्य का काम भावों का अंत:करण में अनुभव करना ही नहीं, उनको व्यक्त करना है। यह मनोभाव तभी साहित्य कहलाते हैं जब वह व्यक्त हो जाते हैं, वाणी में प्रकट होते हैं। तुलसीदास ने रामायण द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त किया है अन्यथा आज उनका कोई नाम भी न जानता। यही शाब्दिक गोरख धंधे 'भारत' के साहित्यिक लेखों की विशेषताएं हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं होता। अगर वाणी मौन रहने में सुख मानती, तो आज संसार में साहित्य शब्द का अस्तित्व भी न होता।

इन वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ जो हम समझ सके हैं, वह यह मालूम होता है कि साहित्यकारों को आत्म-विज्ञापन नहीं करना चाहिए, यह सभी के लिए निंद्य

है और साहित्यिक प्राणियों के लिए और भी अधिक। इसके मानने में किसी को आपसे मतभेद नहीं हो सकता लेकिन क्या आत्मकथा और आत्म-विज्ञापन समान हैं? थोड़े-बहुत अच्छे या बुरे अनुभव सभी प्राणियों के जीवन में हुआ करते हैं। जो लोग साहित्य के रूखे क्षेत्र में आकर अपना तन-मन घुलाते हैं, वह केवल आत्म-विज्ञापन के भूखे नहीं होते। आप अपने दार्शनिक गांभीर्य के कारण, उन्हें जितना चाहें पतित समझ लें, पर साहित्य-क्षेत्र में जो कोई भी आता है, वह अपनी आत्मा की प्रेरणा से ही आता है। यह दूसरी बात है कि परम पद को प्राप्त कर सके या न कर सके। स्कूल में सभी लड़के तो गांधी और गोखले नहीं हो जाते, न सभी 'भारत' संपादक हो जाते हैं, पर यह कहना कि वह केवल विद्याभ्यास का स्वांग रचने आते हैं , ऐसी बात है, जिसका जवाब खामोशी है। फिर हमने यह दावा तो नहीं किया कि 'हंस' का 'आत्मकथांक' अमर साहित्य बनेगा, हम अगर ऐसी हिमाकत करते भी- क्योंकि हम प्रोपेगेंडिस्ट हैं- तो 'भारत' संपादक जैसे मनस्वी पुरुष को हमारे दावे की उपेक्षा करनी चाहिए थी। लेकिन साहित्य के कूड़े-करकट से ही अमर साहित्य की सृष्टि होती है। कोई अमर साहित्य के लिखने का इरादा करके अमर साहित्य की रचना नहीं कर सकता। जिस पर ईश्वर की कृपा होती है वही इस पद को पाता है। हम तो कहते हैं कि एक मामूली मजदूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बातें मिल जायेंगी, जो अमर साहित्य का विषय बन सकती है। केवल देखने वाली आंख और लिखने वाला कलम चाहिए। आगे चलकर आपने इससे भी ज्यादा मार्के की बातें कही हैं-

'हमारे देश में आत्मकथा लिखने की परिपाटी नहीं रही। यहां की दार्शनिक संस्कृति में उसका विधान नहीं हैं। यहां के संत हिमालय की कंदराओं में गलकर विश्वशक्ति की समृद्धि करते थे और करते हैं। प्राचीन भारत अपना इतिवृत्ति और अपनी आत्मकथा नष्ट कर आज चिर जीवन का रहस्य बतलाता है और जिन्होंने गाथाएं लिखीं वह बिला गए। इस युग के महापुरुष महात्मा गांधी ने जो आत्मकथा लिखी है, उकसी मूल भावना है, प्रायश्चित, अर्थात् वह केवल नकारात्मक योजना है परंतु प्रेमचंद जी कैसी आत्मकथाएं लिखा रहे हैं, यह बतलाने की जरूरत नहीं है।''

फिर वही शून्य शब्दाडंबर, वही रहस्य भरी बातें, जो सुनने में गूढ़, पर वास्तव में निरर्थक हैं। भारत की दार्शनिक संस्कृति में समाचार-पत्रों का विधान भी तो नहीं है। फिर आप क्यों 'भारत' का संपादन करते हैं? प्राचीनकाल में बहुत-सी ऐसी बातें थीं, जो अब नहीं हैं और बहुत-सी बातें ऐसी नहीं थीं, जो अब हैं। तब कोई अंग्रेजी का एम० ए० भी नहीं होता था। मैं आपसे पूछता हूं, कि आप अपने नाम के सामने वाजपेयी और एम० ए० की उपाधियां क्यों लगाते हैं? केवल आत्म-विज्ञापन के लिए या इसमें और कोई रहस्य है? भारत के संत हिमालय में गल गए मगर अमर साहित्य की सृष्टि भी कर गए, नहीं तो आज आप उपनिषद्, वेद, रामायण और महाभारत के दर्शन करते? कालिदास और माघ और भास और बाण ने साहित्य लिखा या नहीं? या वह भी गल गये और उनके नाम से आत्म-विज्ञापन के इच्छुकजनों ने पुस्तकें लिख डालीं? प्राचीन भारत ने अपनी आत्मकथा नहीं नष्ट की, कभी नहीं, उनकी

आत्मकथा आज भी पूर्ण सूर्य की भाँति चमक रही है। हां, केवल उनका रूप यह नहीं था। उन्होंने अपनी आत्मकथा मंत्रों और श्लोकों और आत्मानुभावों के रूप में लिखी। हम आज गद्य-लेख में और डाइरेक्टली लिख रहे हैं। साहित्य में कल्पना भी होती है और आत्म-अनुभव भी। जहां जितना आत्मानुभव अधिक होता है, वह साहित्य उतना ही चिरस्थायी होता है। आत्मकथा का आशय है, कि केवल आत्मानुभव लिखे जावें, उसमें कल्पना का लेश भी न हो। बड़े-बड़े लोगों के अनुभव बड़े-बड़े होते हैं। लेकिन जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं, जब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है। सुई की जगह तलवार नहीं काम दे सकती।

आगे चलकर सहयोगी ने फिर एक अत्यंत विवादास्पद बात होर्ता है। सुनिए–

'साहित्य को केवल वाणी-विलास मानने वाले आदमी उनके उपयोगितावाद की दुहाई दे सकते हैं, जैसे श्रीयुत प्रेमचंद जी ने सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी वगैरह का नाम लेकर दी हैं, परंतु हम तो उसे बहुत ही साधारण कोटि की धारणा मानते हैं। लौकिक उपकार ही साहित्य की कसौटी नहीं है और न वह साहित्यकार के विकास में सहायक बन सकती है। नीति के दोहे लिखने के दिन गए। इस समय हिन्दी के रचनाकारों को अपने संस्कार और अपनी साधना की आवश्यकता है। दूसरों की भलाई का बीड़ा वे आगे कभी उठावेंगे। फिर इस साधारण परोपकारी दृष्टि से भी आत्मकथा लिखने के योग्य हिन्दी में कितने आदमी हैं। कितने ऐसे महच्चरित हैं जितनी जीवनी हिन्दी जनता की पथ-नियामक बन सकती है।'

इन वाक्यों का क्या जवाब दिया जाय? जब कोई कहे जाय कि संसार में सब अंधे ही अंधे बसते हैं, तो उसका जवाब ही क्या हो सकता है। एक आदमी अपने जीवन के तत्त्व आपके सामने रखता है, अपनी आत्मा के संशय और संघर्ष लिखता है, आपसे अपनी बीती कहकर अपने चित्त को शांत करना चाहता है, आपसे अपील करके अपने उद्योगों के औचित्य पर राय लेना चाहता है और आप कहते हैं यह वाणि-विलास है। वाणि-विलास आत्मकथा लिखना नहीं, लतीफे कहना है, नायिका का शृंगार- वर्णन करना है। अपने हृदय-पट को, अपनी ठोकरों को, अपनी हारों को प्रकट करना अगर वाणि-विलास है, तो फिर साहित्य वाणि-विलास ही है और इसके सिवाय कुछ नहीं है।

अब रही साहित्य की उपयोगिता की बात। साहित्य का मूलाधार सत्य, सुंदर और शिव है। साहित्य की सामग्री मनुष्य का जीवन है। कभी-कभी चर और अचर जीवन भी। पर उसका उद्देश्य भी तो कुछ होगा। क्यों संसार के महान पुरुषों ने साहित्य की रचना की? बिना किसी उद्देश्य के? हम उन्हें इतना मिथ्यावादी नहीं समझते। केवल अपनी आत्मा की शांति के लिए? इसके लिए लिखने की जरूरत न थी। साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार है वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हंसी उड़वाता है। उपयोगिता, मानसिक, दार्शनिक, व्यवहारिक या केवल विनोदात्मक हो सकती है। मुख्य करके भावों की संस्कृति ही उसका गौरव है। जिस वाणी, पुस्तक या लेख में उपयोगिता का तत्त्व नहीं है, वह साहित्य नहीं, कुछ भी

नहीं। 'गीतांजलि' को तो साहित्य कहिएगा? टॉल्स्टॉय ने तो साहित्य लिखा? तुलसी और सूर ने भी तो साहित्य रचा? क्या उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है? अब रह गई, यह बात कि हिन्दी में ऐसे लिखने वाले कितने हैं, जिनकी जीवनी हिन्दी जनता की पथ-नियामक बन सकती है। आपका ख्याल है, एक भी नहीं, मेरा ख्याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं, जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है। अंतर यही है, कि मेहतर में साहित्यिक बुद्धि नहीं, लेखक में विवेचन शक्ति होती है। साहित्यकार के विकास के और क्या साधन हैं? या तो अपने अनुभव या दूसरों के अनुभव। किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है, जिसमें बड़े से बड़े महच्चरितों के लिए भी कुछ न कुछ विचार की सामग्री न हो। महच्चरित इसी तरह बनते हैं। घूरे पर से भी फूल को चुन लेना निषिद्ध नहीं कहा जा सकता। एक महात्मा से किसी ने पूछा था—आप इतने बुद्धिमान कैसे हुए? उसने जवाब दिया -मूर्खों की सोहबत से।

यहां तक तो ऊपर की बातें थीं। अब तत्त्व की बात सुनिए। श्रीयुत् वाजपेयी जी फरमाते हैं—

'परंतु जब 'हंस' की ओर से लिखा गया कि आत्मकथांक तो निकलेगी ही तब मैंने उपयुक्त टिप्पणी लिखी थी, जिस पर बिगड़कर प्रेमचंद जी लिखते हैं, 'हंस' को मेरी सम्मति की जरूरत नहीं है। प्रेमचंद जी यदि साहित्यिक शिष्टाचार का पालन नहीं कर सकते ....तो ऐसा न करने से उनकी असहिष्णुता जो असत्य और असभ्य रूप धारण करती है, उससे दूसरों को नहीं, उनको और उनके पत्र को ही क्षति उठानी पड़ेगी—ऐसी आशंका है।'

आश्चर्य है 'जागरण' के अनुद्वेगशील संपादक महोदय को इन पंक्तियों पर कोई टिप्पणी जमाने की जरा भी जरूरत न मालूम हुई। आप मुझे एक राय देते हैं, मैं कहता हूं, मुझे आपकी राय की जरूरत नहीं, मेरी जो इच्छा होगी, करूंगा। मैं आपकी राय का पाबंद नहीं हूं। आपने आत्मकथांक निकालने का विरोध किया। आप ही के जैसे बुद्धि और विवेक रखने वाले बहुत से भाइयों ने आत्मकथांक निकालने का समर्थन किया। अगर अशिष्टता न हो, तो मैं 'जागरण' के संपादक को भी समर्थकों में ही रख सकता हूं। मैं मानता हूं, इतनी रुखाई से मुझे वह वाक्य न लिखना चाहिए था। मुझे उसका खेद था और बहुत कुछ परितोष हो जाने पर, अब भी है। लेकिन यह कहना कि हम आपकी बात नहीं मानते, कठोर होते हुए भी उतना कठोर नहीं है, जितना यह कहना कि तुम असत्य हो और असभ्य हो और इसका खमियाजा तुम्हें उठाना पड़ेगा ! लेकिन जब अंहकार को चोट लगती है, तो आदमी संयत रहने का प्रयास करते पर भी बौखला ही जाता है। अंत में हम श्रीयुत् नन्ददुलारे जी वाजपेयी से नम्रता के साथ निवेदन करते हैं कि मेरी तो अच्छी-बुरी तरह कट गई, धन तो हाथ न लगा, हालांकि कोशिश बहुत की और अब इस फिक्र में हूं कोई गांठ का पूरा रईस फंस जाय तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूं, लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है, बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ देखना है। आदर्श बहुत अच्छी चीज है, लेकिन संसार में बड़े-से-बड़े आदर्शवादियों को भी कुछ न कुछ झुकना

ही पड़ता है। यह न समझिए कि जो कुछ आप समझते हैं वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी हैं। मतभेद होना स्वाभाविक है, लेकिन जिनसे मतभेद हो, उन्हें नीच न समझिए। जिसे आप नीचा समझेंगे, वह आपकी पूजा न करेगा। अब गुस्सा थूक दीजिए। आपने बिगड़कर मन को शांत कर लिया, मैंने आपके बिगड़ने का आनंद उठाकर मन को शांत कर लिया। आइए, हाथ मिला लें।

[लेख। 'हंस', मार्च, 1932 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियां, मीनार और गुंबद बनते हैं, लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनंत है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून हैं जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनंद है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनंद ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न-द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लंबे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में। लेकिन साहित्य का आनंद, इस आनंद से ऊंचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुंदर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनंद सुंदर और सत्य से मिलता है। उसी आनंद को दर्शाना, वही आनंद, उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनंद में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है, पर सुंदर से जो आनंद प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गए हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनंद है? अगर ऐसा न होगा, तो वह रसों में गिना क्यों जाता है। हां, है। वीभत्स में सुंदर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले मांस का लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुंदर है, क्योंकि उसकी वृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनंद को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हम एक रस में सुंदर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोंपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अंधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोंपड़ी में जितनी आसानी से सुंदर मूर्तिमान दिखाई देता है उतना महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहां मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ अकृत्रिम रूप में है, वही आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडंबर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या संबंध है। अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह श्रृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना

की गणना साहित्य में की जा सकती है जो शृंगार-विहीन और असुंदर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से संबंध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्‌भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुंदर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों को झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, यह भाव रहें, जो इस अद्‌भुत रस की रचना को सुंदर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का संबंध है दूसरा प्रयोजन का संबंध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का संबंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का संबंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का संबंध केवल आनंद का संबंध है। सत्य जहां आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं पर साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का संबंध विचार से है, प्रयोजन का संबंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक दृश्य घटना या कांड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढंके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की। विह्वलता एक प्रकार का आत्म समर्पण है। यहां हम पृथक्ता का अनुभव नहीं करते। यहां ऊंच नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्र शवरी के झूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं? इसीलिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महान् पुरुष है। यहां तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गए हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का ज्ञान है। मानव-जीवन में भी यह सभी प्रवृत्तियां होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर इनके उपरांत कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियां होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इसी मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियां में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध, या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियां हैं। यदि हम इनको वे बेरोक-टोक चलने दें, तो निःसंदेह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायंगी, इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किंतु नटखट लड़कों से डांटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है, बल्कि उस प्रकृति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्‌वृत्तियां हैं उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियां स्वाभाविक रूप से शांत हो

जायं। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भांति जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डांट-फटकार से संभव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहां ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहां साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है, कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रंथों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएं रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएं, तौरेह, कुरान, इंजील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रहमात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएं धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिए, तो उस धर्म का अस्तित्त्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानव-जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक संदेश पहुंचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदिकाल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिनके सुख-दुःख, हंसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं, लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मावन-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा ''र साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे, पर आज रंक भी उनके दुःख ''' उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उनके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बंधु-बांधवों से अ ने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिए कि हम उनके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं, उनका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहां मिलते हैं, जिनके अंतःकरण में हम ्तनी स्वाधीनता से ि चर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका भी कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है, पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुरानी नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं, पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव हृदय में तब्दीलियां नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदिकवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनंत तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है, महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रंथ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है और न राजाओं की लड़ाइयां ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन में विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देशकाल का प्रतिबिंब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी संदेह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव के बुरे हैं, वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल लेना होगा। जो सुंदर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायं पर असुंदर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें पर यह अंसभव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कत्लेआम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्लेआम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई संदेह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्लेआम को बंद करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शांत होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहां तक कि खुद नादिरशाह के मुंहलगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस भी नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुंचा और यह शेर पढ़ा--

कसे न मांद कि दीगर ब तेगे नाज़ कुशी।
मगर कि ज़िंदा कुनी खल्क रा व बाज़ कुशी।

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिंदा न छोड़ा।

अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है, पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कत्लेआम तुरंत बंद करा दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाये और उससे पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आंखों में आंसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंग्लैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देव तुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके। हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अंतर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिए। आप वहां संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी कांडों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसी सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जा रही है अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयां। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के कांटे पर तौली जा रही है। यहां तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी संदेह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नयी सभ्यता का जीवन डेढ़ सौ साल से अधिक नहीं पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है। पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु मिल रही है, जिसे वहां स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है, कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह रास्ता ठीक नहीं है, पर वह इतनी दूर आ चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कंपनियों में हिस्से लेकर, और ऊंची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने का उस समय कृतकार्य समझता है जब वह इस मायाबंधन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें [illegible]ग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान संपत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। [illegible]स और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊंचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के सांचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी

उसी सांचे में ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते, पर एक धंवंतरि के होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। परंतु आंखें काले धब्बों की ओर पहुंच जाती है। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते है। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बंधनों को तोड़ने की जरूरत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं, कि मजेदार चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है, पर साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएं नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएं दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्मसंयम की आवश्यकता है, क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊंचा है। उसके लिए केवल डिग्रियां और ऊंची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्त्व का ज्ञान इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुंचेंगे तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यह है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी।

[लेख। 'हंस', अप्रैल, 1932 में प्रकाशित। 'कुछ विचार' तथा 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।]

साहित्य का आधार

साहित्य का संबंध बुद्धि से उतना नहीं जितना भावों से है। बुद्धि के लिए दर्शन है विज्ञान है, नीति है। भावों के लिए कविता है, उपन्यास है, गद्यकाव्य है।

आलोचना भी साहित्य का एक अंग मानी जाती है, इसलिए कि वह साहित्य

को अपनी सीमा के अंदर रखने की व्यवस्था करती है। साहित्य में जब कोई ऐसी वस्तु सम्मिलित हो जाती है, जो उसके रस प्रवाह में बाधक होती है, तो वहीं साहित्य में दोष का प्रवेश हो जाता है। उसी तरह जैसे संगीत में कोई बेसुरी ध्वनि उसे दूषित कर देती है। बुद्धि और मनोभाव का भेद काल्पनिक ही समझना चाहिए। आत्मा में विचार, तुलना, निर्णय का अंश, बुद्धि और प्रेम, भक्ति, आनंद, कृतज्ञता आदि का अंश भाव है। ईर्ष्या, दंभ, द्वेष, मत्सर आदि मनोविकार हैं। साहित्य का इतना ही प्रयोजन है कि वह भावों को तीव्र और आनंदवर्द्धक बनाने के लिए इनकी सहायता लेता है, उसी तरह, जैसे कोई कारीगर श्वेत को और श्वेत बनाने के लिए श्याम की सहायता लेता है। हमारे सत्य भावों का प्रकाश ही आनंद है। असत्य भावों में तो दु:ख का ही अनुभव होता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति को असत्य भावों में भी आनंद का अनुभव हो। हिंसा करके, या किसी के धन का अपहरण करके या अपने स्वार्थ के लिए किसी का अहित करके भी कुछ लोगों को आनंद प्राप्त होता है, लेकिन यह मन की स्वाभाविक वृत्ति नहीं है। चोर को प्रकाश से अंधेरा कहीं अधिक प्रिय है। इससे प्रकाश की श्रेष्ठता में कोई बाधा नहीं पड़ती। हमारा जैसा मानसिक संगठन है, उसमें असत्य भावों के प्रति घृणामय दया ही का उदय होता है। जिन भावों द्वारा हम अपने को दूसरों में मिला सकते हैं, वही सत्य भाव हैं, प्रेम हमें अन्य वस्तुओं से मिलाता है, अहंकार पृथक् करता है। जिसमें अहंकार की मात्रा अधिक है वह दूसरों से कैसे मिलेगा? अतएव प्रेम सत्य भाव हैं, अहंकार असत्य भाव है। प्रकृति से मेल रखने में ही जीवन है। जिसके प्रेम की परिधि जितनी ही विस्तृत है, उसका जीवन उतना ही महान् है।

जब साहित्य की सृष्टि भावोत्कर्ष द्वारा होती है, तो यह अनिवार्य है कि इसका कोई आधार हो। हमारे अंत:करण का सामंजस्य जब तक बाहर के पदार्थों या वस्तुओं या प्राणियों से न होगा, जागृति हो ही नहीं सकती। भक्ति करने के लिए कोई प्रत्यक्ष वस्तु चाहिए। दया करने के लिए भी किसी पात्र की आवश्यकता है। धैर्य और साहस के लिए भी किसी सहार की जरूरत है। तात्पर्य यह है कि हमारे भावों को जगाने के लिए उनका बाहर की वस्तुओं से सामंजस्य होना चाहिए। अगर बाह्य प्रकृति का हमारे ऊपर कोई असर न पड़े, अगर हम किसी को पुत्र-शोक में विलाप करते देखकर आंसू की चार बूंदें नहीं गिरा सकते, अगर हम किसी आनंदोत्सव में मिलकर आनंदित नहीं हो सकते, तो यह समझना चाहिए कि निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। उस दशा के लिए साहित्य का कोई मूल्य नहीं। साहित्यकार तो वही हो सकता है जो दुनिया के सुख-दु:ख से सुखी या दु:खी हो सके और दूसरों में सुख या दु:ख पैदा कर सके। स्वयं दु:ख अनुभव कर लेना काफी नहीं है। कलाकार में उसे प्रकट करने का सामर्थ्य होना चाहिए। लेकिन परिस्थितियां मनुष्य को भिन्न दिशाओं में डालती हैं। मनुष्य मात्र में भावों की समानता होते हुए भी परिस्थितियों में भेद होता ही है। हमें तो मिठास से काम है, चाहे वह अब ऊख में मिले या खजूर में या चुकंदर में। अगर हम किसानों में रहते हैं या हमें उनके साथ रहने के अवसर मिले हैं, तो स्वभावत: हम उनके सुख दु:ख को अपना सुख-दु:ख समझने लगते हैं और उससे इसी मात्रा में प्रभावित

होते हैं जितनी हमारे भावों में गहराई है। इसी तरह अन्य परिस्थितियों को भी समझना चाहिए। अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि अमुक प्राणी किसानों का या मजदूरों का या किसी आंदोलन का प्रोपेगेंडा करता है, तो यह अन्याय है। साहित्य और प्रोपेगेंडा में क्या अंतर है, इसे यहां प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है। प्रोपेगेंडा में अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवाह नहीं करती। साहित्य, शीतल, मंद समीर है, जो सभी को शीतल और आनंदित करती है। प्रोपेगेंडा आंधी है, जो आंखों में धूल झोंकती है, हरे-भरे वृक्षों को उखाड़ उखाड़ फेंकती है और झोंपड़े तथा महल दोनों को ही हिला देती है। वह रस-विहीन होने के कारण आनंद की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौंदर्य और रस भर सके, तो वह प्रोपेगेंडा की चीज न होकर सद्साहित्य की वस्तु बन जाती है। 'अंकिल टॉम्स केबिन' दास प्रथा के विरुद्ध प्रोपेगेंडा है, लेकिन कैसा प्रोपेगेंडा है? जिसमें एक-एक शब्द में रस भरा हुआ है। इसलिए वह प्रोपेगेंडा की चीज नहीं रहा। बर्नार्ड शॉ के ड्रामे, वेल्स के उपन्यास, गाल्सवर्दी के ड्रामे और उपन्यास, डिकेंस, मेरी कारेली, रोमां रोलां, चेस्टरटन, टॉल्स्टॉय, चेस्टरटन, डास्टावेस्की, मैक्सिम गोर्की, सिंक्लेयर कहां तक गिनाएं। इन सभी की रचनाओं में प्रोपेगेंडा और साहित्य का सम्मिश्रण है। जितना शुष्क विषय-प्रतिपादन है वह प्रोंपेगेंडा है, जितनी सौंदर्य की अनुभूति है, वह सच्चा साहित्य है। हम इसलिए किसी कलाकार से जवाब तलब नहीं कर सकते कि वह अमुक प्रसंग से ही क्यों अनुराग रखता है। यह उसकी रुचि या परिस्थितियों से पैदा हुई परवशता है। हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक कसौटी है : वह हमें सत्य और सुंदर के समीप ले जाता है या नहीं? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नहीं ले जाता ता प्रोपेगेंडा या उससे भी निकृष्ट है।

हम अक्सर किसी लेखक की आलोचना करते समय अपनी रुचि से पराभूत हो जाते हैं। ओह, इस लेखक की रचनाएं कौड़ी काम की नहीं, यह तो प्रोपेगेंडिस्ट है, यह जो कुछ लिखता है, किसी उद्देश्य से लिखता है, इसके यहां विचारों का दारिद्र्य है। इसकी रचनाओं में स्वानुभूत दर्शन नहीं इत्यादि। हमें किसी लेखक के विषय में अपनी राय रखने का अधिकार है, इसी तरह औरों को भी है, लेकिन सद्साहित्य की परख वही है जिसका हम उल्लेख कर आये हैं। इसके सिवा कोई दूसरी कसौटी हो ही नहीं सकती। लेखक का एक-एक शब्द दर्शन में डूबा हो, एक-एक वाक्य में विचार भरे हों, लेकिन उसे हम उस वक्त तक एक सद्साहित्य नहीं कह सकते, जब तक उसमें रस का स्रोत न बहता हो, उसमें भावों का उत्कर्ष न हो, वह हमें सत्य की ओर न ले जाता हो, अर्थात्....बाह्य प्रकृति से हमारा मेल न करता हो। केवल विचार और दर्शन का आधार लेकर वह दर्शन का शुष्क ग्रंथ हो सकता है, सरस साहित्य नहीं हो सकता। जिस तरह किसी आंदोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपेगेंडा है, उसी तरह कसी तात्विक विचार या अनुभूत दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपेगेंडा है। साहित्य जहां रसों से पृथक् हुआ, वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और प्रोपेगेंडा के क्षेत्र में जा पहुंचता है। आस्कर वाइल्ड या शा आदि की रचनाएं जहां तक विचार-प्रधान हों,

वहां तक रसहीन हैं। हम रामायण को इसलिए सद्साहित्य नहीं समझते कि उसमें विचार या दर्शन भरा हुआ है, बल्कि इसलिए कि उसका एक-एक अक्षर सौंदर्य के रस में डूबा हुआ है, इसलिए कि उसमें त्याग और प्रेम और बंधुत्व और मैत्री और साहस आदि मनोभावों की पूर्णता का रूप दिखाने वाले चरित्र हैं। हमारी आत्मा अपने अंदर जिस अपूर्णता का अनुभव करती है। उसकी पूर्णता को पाकर वह मानो अपने को पा जाती है और यही उसके आनंद की चरम सीमा है।

इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि बहुधा एक लेखक की कलम से जो चीज प्रोपेगेंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक की कलम से सद्साहित्य बन जाती है। बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर मुनहसर है। हम जो कुछ लिखते हैं, यदि उसमें रहते भी हैं तो, हमारा शुष्क विचार भी अपने अंदर आत्म-प्रकाश का संदेश रखता है और पाठक को उसमें आनंद की प्राप्ति होती है। वह श्रद्धा जो हममें हैं, मानो अपना कुछ अंश हमारे लेखों में भी डाल देती है। एक ऐसा लेखक जा विश्व-बंधुत्व की दुहाई देता हो, पर तुच्छ स्वार्थ के लिए लड़ने पर कमर कस लेता हो, कभी अपने ऊंचे आदर्श की सत्यता से हमें प्रभावित नहीं कर सकता। उसकी रचना में तो विश्व-बंधुत्व की गंध आते ही हम ऊब जाते हैं, हमें उसमें कृत्रिमता की गंध आती है और पाठक सब कुछ क्षमा कर सकता है, लेखक में बनावट या दिखावा या प्रशंसा की लालसा को क्षमा नहीं कर सकता। हां, अगर उसे लेखक में कुछ श्रद्धा है, तो वह उसके दर्शन, विचार, उपदेश, शिक्षा सभी असाहित्यिक प्रसंगों में सौंदर्य का आभास पाता है। अतएव बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर निर्भर है। लेकिन हम लेखक से परिचित हों या न हों, अगर वह सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है, तो हम उसकी रचना में आनंद प्राप्त करने से अपने को रोक नहीं सकते। साहित्य का आधार भावों का सौंदर्य है, इससे परे जो कुछ है वह साहित्य नहीं कहा जा सकता।

[लेख। 'जागरण', 12 अक्टूबर, 1932 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।]

शांतिनिकेतन में

अभी हाल में भाई जैनेन्द्रकुमार, भाई माखनलाल चतुर्वेदी तथा पं॰ बनारसीदास जी ने शांतिनिकेतन की यात्रा की। निमंत्रण तो हमें मिला था, पर खेद है, हम उसमें सम्मिलित न हो सके। जैनेन्द्रजी ने वहां से लौटकर शांतिनिकेतन के विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, उन्हें हम धन्यवाद के साथ सहयोगी 'अर्जुन' से नकल करते हैं–

आजकल राजनैतिक गर्मागर्मी के काल में डॉ॰ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काम के सांस्कृतिक पहलू का महत्त्व हम लोग शायद ठीक-ठीक आकलन नहीं कर सकते, रवीन्द्र बाबू यों ही अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के व्यक्ति नहीं हो गए हैं। उनका एक संदेश है। उस संदेश को सुनने की प्रवृत्ति और मन:स्थिति गुलाम भारत में आज न हो, फिर भी वह संदेश अत्यंत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। हम बड़ी जल्दी अपने को सांप्रदायिकता और पंथों में जकड लेते हैं। यह 'परे रह' की प्रवृत्ति जीवन के लिए

घातक है। राष्ट्रीयता बड़ी आसानी से एक पंथ-सी बन सकती है। इसके विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति को जागरूक रहना आवश्यक है। सांप्रदायिकता विशद चीज है, पर राष्ट्रीयता पर आकर आदमी के उत्कर्ष की परिधि नहीं आ जाती—इस बात की चेतावनी महात्मा गांधी के बाद रवीन्द्र के कार्य और रचनाओं द्वारा व्यक्ति को सबसे अधिक मिलती है।

हम सब व्यक्तियों को एक ही सांचे से देखने की इच्छा करने की गलती न करें। निस्संदेह आज के युग में जिस कर्मण्यता की आवश्यकता है, प्रकट में वह रवीन्द्र बाबू के आस-पास में देखने में नहीं आयेगी, किंतु रवीन्द्र एक अपने ही भाव को अपने व्यक्तित्व में और अपनी संस्था में केन्द्रित मूर्तिमान करके रह रहे हैं और वह भाव भी अपनी कीमत रखता है।

शांतिनिकेतन भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्कृति और विचारधाराओं के सम्मेलन का केन्द्र हो रहा है। वहां उनको सुंदर समन्वय प्राप्त होता है। जर्मनी, जापान, तिब्बत सुमात्रा, चीन, लंका, गुजरात, पंजाब, यू० पी०, डेनमार्क आदि सुदूरवर्ती प्रांतों और भूखंडों से लोग आकर, वहां मिलते हैं, और एक होते हैं। शांतिनिकेतन से उस कलाभिरुचि का निर्माण हो रहा है, जिसमें प्रांतीयता की बाधा कम-से-कम रह जाती है और उसमें महिमता का सादगी के साथ समन्वय हो रहा है। वह कलाभिरुचि कम-से-कम बंगाल के जीवन में तो क्रमश: गहरी उतरती जा रही है।

रवीन्द्र की प्रतिभा ने बहुतों को साधना-सचेष्ट किया है। शांतिनिकेतन आचार्य श्री विधुशेखर भट्टाचार्य पुराने ज्ञानारूढ़ ब्राह्मणत्व की याद दिलाते हैं। जितने साधारण ढंग से वह रहते हैं, जैसी उन्मुक्त हंसी वह हंसते हैं, उतने ही गंभीर तत्त्वों के वह पंडित हैं। जीवन के पिछले तेंतीस वर्षों से वह भारत के पुरातत्व के उद्धार में लगे हैं।

श्री नन्दलाल बोस अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के कलाकार हैं। वह पिछले उन्नीस वर्षों से वहां रहकर कला का भंडार भर रहे हैं। वह इतने सादा ढंग से रहते हैं कि बताने पर भी विश्वास करना कठिन होता है कि यही महाशय नन्दलाल बोस हैं। उसी प्रकार श्री क्षितिमोहन सेन चालीस से ऊपर वर्षों से संत बानियों का संग्रह करने में लगे हुए हैं। कोई कष्ट नहीं है, जो उन्होंने नहीं उठाया। उनके पास इस तरह संतबानी का अपूर्व संग्रह है। इसी प्रकार अन्य अनेक साभक सस्ता नाम पाने की इच्छा से विमुख होकर विद्या के कोष को बढ़ाने में लगे हुए हैं। इन सबको अनुप्राणित करके एक जगह जुटाकर रखने वाली शक्ति कवीन्द्र की प्रतिभा है। इसके साथ ही श्री निकेतन भी है। वहां ग्राम-संगठन और ग्राम-सुधार का कार्य वैज्ञानिक ढंग पर होता है। डॉक्टर सहाय इस ओर विशेष मनोयोगपूर्वक काम करते हैं। इस कार्य का राष्ट्र के विधायक राजनैतिक कार्यक्रम की दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है।

हां, कवीन्द्र से काफी देर तक बातचीत हुई। वह हिन्दी स्पष्ट नहीं बोल पाते। उन्होंने अंग्रेजी में ही बातें कीं, परंतु हम लोग हिन्दी में ही बोलते रहे। बात अधिकतर हिन्दी भाषा और उसके साहित्य को लेकर ही होती रही। उस समय वह खूब खुश थे। एक ऊनी कुर्ता और किनारों पर चुनी हुई एक महीन धोती और पैरों में चप्पल पहने थे। हल्की-सी एक चादर गले में पड़ी थी। उनकी शारीरिक अवस्था ठीक है,

पर बुढ़ापा तो आ ही गया है। इसके लक्षण शरीर पर छिपते नहीं हैं।

ज्यादातर संस्थाओं में दो तरह के वातावरण होते हैं, या तो भाषामय, जहां भाषा की शिक्षा होती है, और जीवन के स्तर की लहरें अधिक देखने में आती हैं। वहां एक ओर सूखी (Academic) विद्या की पख होती है, दूसरी ओर रंग-बिरंगे फैशन के रूप में दीख पड़ते हैं। दूसरा गुरुकुलीय, जहां जीवन से अलग होकर तपस्यारत विद्या की रुखाई हवा में व्याप्त होती है। इन दोनों ही प्रकारों से भिन्न होकर वहां कुटुंब का-सा वातावरण है।

इससे हमारी वृत्ति में एकांगिता नहीं आती। एक प्रकार की पूर्णता रहती है। तमाम शांतिनिकेतन को देखकर ऐसा भाव होता है कि सादगी के साथ-साथ बड़े सुदर ढंग से सुरुचि की रक्षा की गई है। अलंकार और शृंगार कहीं नहीं है, पर कला सब जगह है।

[लेख। 'हंस', जनवरी, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

साहित्य की प्रगति

साहित्य की सैंकड़ों परिभाषाएं की गई हैं और उनमें से हम अपना मतलब निकालने के लिए एक ले लेंगे। परिभाषा है तो पंडितों की वस्तु, मगर जब घर बनाना है तो नींव डालनी ही पड़ेगी। हवा में मकान बना सकते तो क्या बात थी, लेकिन अभी विज्ञान वह विद्या नहीं जान पाया है। साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि सत्य कि खोज की जाय। सत्य क्या है और असत्य क्या है, इसका निर्णय हम आज तक नहीं कर सके। एक के लिए जो सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य। एक श्रद्धालु हिन्दू के लिए चौबीसों अवतार महान सत्य हैं--संसार की कोई भी वस्तु धन, धरती, पुत्र, पत्नी उसकी नजरों में इतनी सत्य नहीं हैं। उस सत्य की रक्षा के लिए वह अपनी ही नहीं, अपने पुत्रों की आहुति भी दे देगा। इसी प्रकार दया एक के लिए सत्य है, पर दूसरा उसे संसार के सब दुःखों का मूल समझता है और इसलिए असत्य कहता है। इसी सत्य और असत्य का संग्राम साहित्य है। दर्शन और विज्ञान का उद्देश्य भी यही है, लेकिन वह बुद्धि के रास्ते से वहां पहुंचा चाहता है। बेचारा साहित्य भी वही यात्रा कर रहा है लेकिन गंभीर विचार से, मौन न रहकर, केवल थकन मिटाने के लिए अपनी खंजरी बजाकर गाता भी जाता है। यह रास्ता तो काटना ही पड़ेगा, तो क्यों न हंस-खेलकर काटो। इसी 'दया' सत्य पर बड़े-बड़े धर्मों की बुनियाद पड़ी, यह मानो मानव जाति की ओर से इंद्र को ललकार थी, उनका सिंहासन छीनने के लिए, लेकिन आज उसका मजाक उड़ाया जा रहा है।

यह सत्य और असत्य की यात्रा उसी वक्त से शुरू हुई जब से मनुष्य में आत्मा का विकास हुआ। इसके पहले तो उसकी सारी शक्तियां प्रकृति से अपने भोजन के लिए लड़ने में ही खर्च हो जाती थीं। जब ये चिंता लगी हो कि आज बच्चे खायेंगे क्या या आज रात की सर्दी काटने के लिए आग जैसे बने, तो सत्य और असत्य के राग कौन गाता। उस वक्त सबसे बड़ा सत्य वह भूख और ठंड थी। साहित्य और दर्शन सभ्य जीवन के लक्षण हैं, ज़ब हममें इतना सामर्थ्य आ जाय कि पेट के सिवा कुछ और भी सोच सकें। रोटी-दाल से निश्चिंत होने के बाद ही खीर और पकौड़ी

की सूझती है। आदि में मनुष्य में पशु-प्रकृति की ही प्रधानता थी। केवल पशुबल ही सबसे बड़ा अधिकार था। मगर जब मनुष्य आये दिन के कलह और संघर्ष से तंग आ गया तो तरह-तरह के नियम बने और मतों की सृष्टि हुई। नये-नये सत्यों का आविष्कार हुआ, जो प्रकृत सत्य न थे, वरन् मानव सत्य थे। मनुष्य ने अपने को नीति के बंधनों से जकड़ना शुरू कर दिया। जातियां बनीं, उपजातियां बनीं और जायदाद के आधार पर समाज का संगठन हो गया। पहले दस-पांच भेड़-बकरियां और थोड़ा-सा नाज ही संपत्ति थी। फिर स्थावर संपत्ति का आविर्भाव हुआ और चूंकि मनुष्य ने इस संपत्ति के लिए बड़ी-बड़ी कुर्बानियां की थीं, बड़े-बड़े कष्ट उठाये थे, वह उसकी नजरों से सबसे बहुमूल्य वस्तु थी। उसकी रक्षा के लिए वह अपनी और अपने पुत्रों के प्राणों की बाजी लगा सकता था। विवाह-प्रथा को ऐसा रूप दिया गया कि संपत्ति घर से बाहर न जाने पावे। और उस धुधंले अतीत से आज तक का मानव-इतिहास केवल संपत्ति-रक्षा का इतिहास है। तब समाज में दो बड़े-बड़े भेद हो गए। जो संसार के इस संग्राम में परास्त हो गए, उन्होंने ईश्वर-भजन का आश्रय लिया और संसार को माया कहकर उससे विरक्त हो गए और नये-नये बंधन बनने लगे, यहां तक कि हमारे क्षेत्र संकुचित होते-होते रूढ़ियों का एक कारागार-सा बन गया। धर्म के नाम पर हजारों तरह के पाखंड समाज में घुस आये, जिनमें उलझकर मानव समाज की गति रुक गयी। अति सब चीज की दु:खकर होती है। यह प्रकृति का नियम है। वही संस्थाएं जिनका निर्माण समाज में कल्याण के निमित्त किया गया था अंत में समाज के पांव की बेड़ियां बन गईं। वही दूध, जो एक मात्रा में अमृत है उस मात्रा से बढ़कर विष हो जाता है। मानव-समाज में शांति का स्थापन करने के लिए जो-जो योजनाएं सोच निकाली गईं वह सभी कालांतर में या तो जीर्ण हो जाने के कारण अपना काम न कर सकीं या कठोर हो जाने के कारण कष्ट देने लगीं। जो पहले कुलपति था वह राजा बने। फिर इतना शक्तिशाली बन बैठा कि अपने को भगवान का कारकुन समझने लगा, जिससे बाजपुर्स (सवाल-जवाब) करने का किसी मनुष्य को अधिकार न था। उसकी अधिकार-तृष्णा बढ़ने लगी। उसकी इस तृष्णा पर समाज का रक्त बहने लगा। अंत में आदम जाति में इन दशाओं के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया। मनुष्य की आत्मा इन निरर्थक ही नहीं, घातक बंधनों का मकड़ी के जाले की भांति तोड़-फोड़ करके निर्मल, स्वच्छ, मुक्त आकाश और वायु में विचरण करने के लिए आतुर हो उठी। बीच-बीच में कितनी ही बार ऐसे विद्रोह उठे। हमारे जितने मत हैं, वह सब इसी विद्रोह के स्मारक हैं, किंतु उन विद्रोहों में कलह की जो मुख्य वस्तु थी, वह ज्यों की त्यों बनी रही। संपत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ या तो किसी को सूझी ही नहीं। जो इन सारे दुर्व्यवस्थाओं का मूल था वह इतने सौम्य वेश में धर्म और विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था, कि किसी को उसकी ओर संदेह करने की भी प्रेरणा न हुई। हालांकि उसी के इशारे और सहयोग से समाज पर नित नये बंधन लगाए जा रहे हैं। यह बड़े-बड़े न्यायालय और यह साम्राज्यवाद और ये बड़े-बड़े व्यापार के केंद्र उसी के रचे हुए खिलौने हैं। ये भिन्न-भिन्न मत उसके खिलौनों

के सिवा और क्या हैं। यह जात-पांत, यह ऊंच-नीच का भेद उसी की छोड़ी हुई फुलझड़ियां हैं। यह चकले, जो मानव-समाज के कोढ़ हैं, उनके क्रूर विनोद हैं। यह हमारी असंख्य विधवाएं, यह हमारे लाखों मजूर जो पशुओं की भांति जीवन काट रहे हैं, उसी भानमती के छू-मंतर की विभूतियां हैं, उसने Puritanism का कुछ ऐसा निषेधात्मक रूप ग्रहण कर लिया है, कि जो उससे अणु मात्र भी विमुख हो जाय उसकी खैरियत नहीं। उसका कानून मार्शल-ला से कहीं कठोर, कहीं जान-लेवा है। उसकी अपील के लिए कहीं कोई Tribunal नहीं है। सारांश यह कि उसने जीवन को इतना संकीर्ण, इतना उलझनदार, इतना अन्यायपूर्ण, इतना स्वार्थमय, इतना कृत्रिम बना दिया है कि मानवता उससे भयभीत हो उठी है और उसको उखाड़ फेंकने के लिए, उसके पंजों से निकल जाने के लिए वह अपना पूरा जोर लगा रही है। इन रूढ़ियों ने, इन बंधनों ने, इन असत्य बाधाओं ने, ब्राह्मण की व्यापक चेतना में जो दर्बे-से बना दिये हैं, जिनमें बंद होकर वह अपनी स्वच्छंदता खो बैठे हैं, आज हमारी आत्मा उन दर्बों को तोड़कर उस व्यापक चेतना से सामंजस्य प्राप्त करने के लिए उतारू हो गयी है। संभव है, रस्सी को जोर से खींचकर इसके टूटने के साथ ही वह अपने ही जोर में गिर पड़े। संभव है पिंजरे में बंद पक्षी की भांति पिंजरे से निकलकर वह शिकारी चिड़ियों का ग्रास बन जाय, पर उसे गिरना मंजूर है, ग्रास बन जाना मंजूर है, उन दर्बों में रहना मंजूर नहीं। संसार को जी भरकर भोगने की अबाध लालसा जिसे सदियों की Puritanism ने खूंख्वार बना दिया है, सर्व-भक्षी बन जाना चाहती है। निषेधों की उसे बिल्कुल परवाह नहीं है। वह पाप को पुण्य, असत्य को सत्य और अपूर्ण के पूर्ण बना देना ठान बैठी है उसने Puritanism का सदियों तक व्यवहार करके देख लिया है और अब बिना उसे जमीन में दफन किये उसे चैन नहीं। झूठ बोलना पाप है । क्यों पाप है? अगर उस झूठ से समाज का अहित होता है तो वह बेशक पाप है अगर उससे समाज का कल्याण होता है, तो वह पुण्य है। निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व को ही वह स्वीकार नहीं करती। चोरी को तुम पाप कहते हो? तुम चाहते हो कि संसार की सारी संपत्ति बटोरकर उस पर एकाधिपत्य जमा लो। कोई उसे छूए तो उसके लिए जेल है, फांसी है। हममें और तुम्हें इसके सिवा और क्या अंतर है तुम सफल चोर हो और हम चोर-कला में तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकते। इस Puritanism ने हमारी आत्मा को कितना शुष्क काठ का-सा कठोर बना दिया है कि उसमें रस का लोप हो गया। कविता कितनी ही सुंदर और भावमयी हो, वह उसका आनंद नहीं उठा सकती। इससे वासनाओं का उद्दीपन होता है। चित्रकला से तो उसे दुश्मनी है। भला मनुष्य की क्या मजाल है कि वह परमात्मा के काम में दखल दे। सृष्टि परमात्मा का काम है। मनुष्य अगर उसकी नकल करता है, तो उसे सूली पर चढ़ा दो, फांसी पर लटका दो। इतिहास में ऐसे धर्मात्माओं की कमी नहीं है जिन्होंने पुस्तकालय जला दिए, चित्रालयों को भूमिस्थ कर दिया, संगीत के उपासकों को निर्वासित कर दिया। तीर्थ स्थानों में जो पिशाच-लीलाएं होती हैं वह इसी Puritanism का प्रसाद हैं। आज भारत में जो पांच करोड़ अछूत, नौ करोड़ मुसलमान और शायद एक करोड़ ईसाई हैं और जिस अनैक्य

के कारण राष्ट्र के विकास में बाधाएं खड़ी हो गयी हैं, उसका जिम्मेदार इस Puritanism के सिवा और कौन है? और जगहों में तो प्युरिटेनिज्म से ज्यादा हानि नहीं होती। मत शराब पियो, मत मांस खाओ। इसके बगैर समाज की कोई हानि नहीं। दरिद्र देश में पैसे का दुरुपयोग किसी तरह भी क्षम्य नहीं। लेकिन इससे पैदा होने वाली अहम्मन्यता तो और भी जघन्य है। त्याग और संयम स्तुत्य हैं, उसी हालत में, जब वह अहंकार को न अंकुरित होने दे, लेकिन दुर्भाग्य से इन दोनों में कारण और कार्य सा निबंध पाया जाता है। जो जितना ही नीतिवान है, वह उतना ही अहंकारी भी है। इसलिए समाज आचारवानों को संदेह की आंखों से देखता है। एक शराबी या ऐयाश आदमी अगर उदार हो, सहानुभूति रखता हो, क्षमाशील हो, सेवा-भाव रखता हो तो समाज के लिए वह एक पक्के आचारवादी किंतु अनुदार, घमंडी, संकीर्ण हृदय पुरुष से कहीं ज्यादा उपयोगी है। प्युरिटन मनोवृत्ति जैसे इस ताक में रहती है कि किसका पांव फिसले और वह तालियां बजाये। प्युरिटनिज्म और अनुदारता दा पर्याय-से हो गए हैं और जहां सेक्स का प्रश्न आ जाता है, वहां तो वह नंगी तलवार बारूद का ढेर है। यहां वह किसी तरह की नर्मी नहीं कर सकता। उसे अपने नियमा की रक्षा के लिए किसीर का जीवन नष्ट कर देने में एक प्रकार का गौरव युक्त आनंद प्राप्त होता है। भोग उसकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप है। चोरी करके हम समाज में रह सकते हैं, धोखा देकर, झूठी गवाही देकर, निर्बलों को कुचलकर, मित्रों से विश्वासघात करके, अपने स्त्री को डंडों से पीटकर हम समाज में रह सकते हैं, उसी शान और अकड़ के साथ, लेकिन भोग अक्षम्य अपराध है। उसके लिए कोई प्रायश्चित नहीं। पुरुषों के लिए तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ भी हो जाय, किंतु स्त्रियों के लिए क्षमा का द्वार बंद हैं और उन पर अलीगढ़ वाला बारह लीवर का ताला पड़ा हुआ है। इसी का यह प्रसाद है कि हमारी बहनें और बेटियां आये दिन तीर्थ-स्थानों में लाकर छोड़ दी जाती हैं और इस तरह उन्हें कुत्सित जीवन बिताने के लिए मजबूर किया जाता है। हम केवल अपराधी को दंड देकर संतुष्ट नहीं होते, उसके कुटुंब का, उसकी संतान का और संतानों की भी संतान का बहिष्कार कर देते हैं। हम स्त्री या पुरुष किसी के लिए भी व्यभिचार के समर्थक नहीं, लेकिन यह कहां का न्याय है कि जिस अपराध के लिए पुरुष को दंड देने में हम असमर्थ हों, उसी अपराध के लिए कुमारियों या विधवाओं को कलंकित किया जाय? सौभाग्यवतियों को हमने इसलिए छोड़ दिया है कि परिस्थितियां उनके अनुकूल हैं और समाज उन्हें दंड देने में असमर्थ है। जो पुरुष स्वयं बड़े धड़ल्ले से व्यभिचार करता है, वह भी अपनी स्त्री को पिंजरे में बंद रखना चाहता है और यदि वह मानव स्वभाव से प्रेरित होकर पिंजरे से निकलने की इच्छा करे, तो उसकी गरदन पर छुरी फेरने से भी नहीं हिचकता। यह सामाजिक विषमता असह्य हो उठी है और वह बड़ी तेजी से विद्रोह का रूप धारण कर रही है।

इन सामाजिक दशाओं का हमने इसलिए संक्षिप्त वर्णन किया है कि जैसा हमने आरंभ में कहा है—साहित्य जीवन की आलोचना है, इस उद्देश्य से कि उससे सत्य और सुंदर की खोज की जाय। बाह्य जगत हमारे मन के अंदर प्रवेश करके एक दूसरा

जगत बन जाता है, जिस पर हमारे सुख-दुख, भय-विस्मय, रुचि या अरुचि का गहरा रंग चढ़ा होता है। एक ही तत्त्व भिन्न-भिन्न हृदयों में भिन्न भाव उत्पपन्न करता है। एक आदमी अपने लड़के को इसलिए पीट रहा है कि लड़का खेलाड़ी मन लगाकर नहीं पढ़ता। इस पर तरह-तरह की आलोचनाएं होती हैं। बाप का धर्म है कि लड़के को कुराह चलते देखे, तो उसे ताड़ना दे। यह सनातन रीति है। दूसरा कहता है—नहीं, लड़का केवल इसलिए खेलाड़ी हो गया है कि उसे प्रेम से पढ़ाया नहीं जाता। यह बाप का दोष है। तीसरा आदमी एक कदम और आगे जाता है और कहता है—खेलना लड़कों का स्वाभाविक धर्म है, यही उनकी शिक्षा है। बाप को कोई अधिकार नहीं है कि वह लड़के के प्राकृतिक विकास में बाधक हो। एक चौथा आदमी बाप की इस ताड़ना में पुत्र-स्नेह का नहीं—स्वार्थ, लोभ, दंभ का रंग झलकता हुआ देखता है। बाह्य जगत और मनुष्य में यही अंतर है। साहित्य की रचना करने वाले तो वही होते हैं जो जगत-गति से विशेष-रूप से प्रभावित होते हैं, जिनके मन में संसार को कुछ अधिक सुंदर, कुछ अधिक उत्कृष्ट देखने की महत्त्वाकांक्षा होती है। वे असुंदर को देखकर जितने दु:खी होते हैं, उतना ही सुंदर को देखकर प्रसन्न होते हैं। और वे अपने हर्ष या शोक का एक भाग देना चाहते हैं। भाव को अपना बनाकर सबका बना देना, यही साहित्य है। डा॰ रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौंदर्य और साहित्य' नामक निबंध में लिखा है—

'सौंदर्य-बोध जितना विकसित होता जाता है, उतना स्वतंत्रता के स्थान पर सुसंगति, आघात के स्थान पर आकर्षण, आधिपत्य के स्थान पर सामंजस्य हमें आनंद देता है।'

हम उसमें इतना और मिला देंगे—अनुदारता की जगह उदारता, भेद की जगह मेल, घृणा की जगह प्रेम।

नवीन साहित्य की रुचि में बिल्कुल यही विकास नजर आ रहा है। वह अब आदर्श चरित्रों की कल्पना नहीं करता। उसके चरित्र अब उस श्रेणी से लिये जाते हैं जिन्हें कोई प्युरिटन छूना भी पसंद न करेगा। मैक्सिम गोर्की, अनातोल फ्रांस, रोमांरोलां, एच॰ जी॰ वेल्स आदि योरोप के, स्वर्गीय रतननाथ सरशार, शरद्चन्द्र आदि भारत के—ये सभी हमारे आनंद के क्षेत्र को फैला रहे हैं, उसे मानसरोवर और कैलाश की चोटियों से उतारकर हमारे गली-कूचों में खड़ा कर रहे हैं। वह किसी शराबी को, किसी जुआरी को, किसी विषयी को देखकर घृणा से मुंह नहीं फेर लेते। उनकी मानवता पतितों में वह खूबियां, उसे कहीं बड़ी मात्रा में देखती हैं, जो धर्म ध्वजाधारियों में और पवित्रता के पुजारियों में नहीं मिलती। बुरे आदमी को भला समझकर, उससे प्रेम और आदर का व्यवहार करके उसको अच्छा बना देने की जितनी संभावना है, उतनी उससे घृणा करके, उसका बहिष्कार करके नहीं। मनुष्य में जो कुछ सुंदर है, विशाल है आदरणीय है, आनंदप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उन्हें आश्रय मिलना चाहिए, जो निराश्रय हैं, जो पतित हैं, जो अनादृत हैं। माता उस बालक से अधिक-से-अधिक स्नेह करती है, जो दुर्बल है, बुद्धिहीन है, सरल है। सपूत बेटे पर वह गर्व करती है। उसका हृदय दु:खी होता है, कपूतों के लिए। कपूत ही में वह अपने मातृ-वात्सल्य को टिका पाती है। बीस-पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर

कभी वह साहित्य में लायी जाती थी, तो कवल अपमानित किये जाने के लिए। रचयिता की प्युरिटन-मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दंड दिये विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की वस्तु नहीं, आदर और प्रेम की वस्तु बन गई है। गऊ को हत्या के लिए बेचने वाला अगर दोषी है तो खरीदने वाला कम दोषी नहीं है। खरीदने वाले का अगर समाज में आदर है तो बेचने वाले का क्यों अनादर हो? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है। उसमें भी भक्ति और श्रद्धा है, सहृदयता है। उसका तो जीवन ही पर सुख के लिए अर्पित हो गया है। वह समाज के गद्य की सूक्ति है। उसक शोभा इसी में है कि वह गद्य में घुल-मिलकर संपूर्ण गद्य को सजीव और चमत्कृत कर दे। सूक्तियों को चुनकर अलग कर देने से उनका सूक्तिपन ज्यों का त्यों रहता है, समाज शुष्क हो जाता है। अगर कोई ईश्वर है, तो ये देवदासियां हिसाब के दिन उससे पूछेंगी हमने सदा पर-सुख चेष्टा की, सदैव दूसरों के जख्म पर मरहम रक्खा, जख्मी भी किया लेकिन प्राण लेने के लिए नहीं, बल्कि अपना प्रेम Inject करने के लिए। क्या उसका यही पुरस्कार था?—और हमें विश्वास है, ईश्वर उन्हें कोई जवाब न दे सकेगा। प्राचीनकाल को अप्सराएं तो देवताओं और ऋषि-मुनियों की मंजूरे नजर थीं। हम उनकी कलजुगी बेटियों का किस मुंह से अनादर कर सकते हैं।

ईश्वर के जिक्र बड़े मौके से आ गया। साहित्य की नवीन प्रगति उनसे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासकों ने भू-मंडल पर जो अनर्थ किए हैं और कर रहे हैं। उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खड़ा होना चाहिए था। आदमी के रहने के लिए शहरों में स्थान नहीं है, मगर ईश्वर और उनके मित्रों और कर्मचारियों के लिए बड़े-बड़े मंदिर चाहिए। आदमी भूखों मर रहे हैं,—मगर ईश्वर अच्छे से अच्छा खायगा, अच्छे से अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा। अपनी सृष्टि की खबर जब उसने छोड़ दिया, तो साहित्य भी, जो ईश्वर के दरबार में प्रजा का वकील है साफ साफ कह देगा- आपकी यह स्वार्थपरता आपकी शान के खिलाफ है। लेकिन ईश्वर की लीला कुछ ऐसी विचित्र है, कि हम मुंह से जितने ही अनीश्वरवादी बनते हैं, आत्मा से उतने ही ईश्वरवादी बन जाते हैं। अब तक मुंह से ईश्वरवादी थी, आत्मा से पक्के नास्तिक। अब परिस्थिति बदल रही है और सच्चा ईश्वरवाद ऊषा की लालिमा से उदित हो रहा है। घृणा को ईश्वरवाद से क्या प्रयोजन। जहां मेल है, सामंजस्य है, वहीं ईश्वर है। नकली ईश्वरवाद से आत्मवाद प्रस्फुटित हो रहा है।

लेकिन इसके साथ युवकों को भोगपन और युवतियों का तितलीपन भी नवीन प्रगति का एक लक्षण है। जिसके हम समर्थक नहीं। प्रणय केवल मनोविनाद की वस्तु नहीं। वह इससे कहीं पवित्र और महान है। वह आत्म समर्पण है, स्त्री के लिए भी और पुरुष के लिए भी। वर्तमान योरोपीय साहित्य बड़े वेग से अबाध प्रेम की ओर जा रहा है। वैवाहिक मैत्री और वैवाहिक परीक्षा की समस्याएं साहित्य में हल की जा रही हैं। यह पेटभरों की स्वाद लिप्सा है। संसार का सारा धन खींचकर वे अब निश्चिंत हो गए हैं और निश्चिंत आदमी कामुकता की ओर न जाये, तो क्या करे! बौद्धिक विकास के लिए रसिकता परमावश्यक है। रस की उपेक्षा केवल दुर्बल और रक्तहीन प्राणी ही कर सकता है। जो स्वस्थ है, बलवान है, उसका रसिक होना अनिवार्य

है, लेकिन रसिकता और कामुकता में जो अंतर है, उसे योरोप का साहित्य भूलता जा रहा है। सदियों के बंधन और निग्रह के बाद अब जो उसे यह वस्तु मिली है तो वह सर्वभक्षी हो जाना चाहता है। इस क्षुधातुरता की दशा में उसे खाद्य और अखाद्य कुछ नहीं सूझता। स्त्री और पुरुष दोनों ही वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से भाग रहे हैं। अगर वह प्युरिटनिज्म सीमा का अतिक्रमण कर गया था, तो यह रसिकता भी सीमा के बाहर निकली जा रही है। अब तक पुरुष इस क्षेत्र में विजय-कामना किया करता था। अब स्त्री भी योरोपीय साहित्य में उसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन कर रही है। उसे शीतप्रधान देश के लिए सदैव उत्तेजना की जरूरत है। वहां जमे हुए घी को पिघलाने के लिए थोड़ी-सी गर्मी चाहिए ही। यहां तो घी यों ही पिघला रहता है, उसके लिए आंच दिखाने की जरूरत नहीं। रसिकता भोजन-रूपी जीवन के लिए चटनी के समान है, जो उसके स्वाद और रुचि को बढ़ा देती है। केवल चटनी खाकर तो कोई जीवित नहीं रह सकता।

विषय बहुत बड़ा है। एक छोटे-से भाषण से उसकी काफी व्याख्या नहीं की जा सकती। समाज की वर्तमान संगठन दूषित है। दु:ख, दरिद्रता, अन्याय, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकार, जिनके कारण संसार नरक के समान हो रहा है, इनका कारण दूषित समाज-संगठन है। सोशियोलोजी के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा हुआ है।

[लेख। 'हंस', मार्च, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग, भाग-3 में संकलित। हिन्दू विश्वविद्यालय की बिहारी एसोसिएशन के वार्षिकोत्सव पर पढ़ा गया।]

दु:खी जीवन

हिन्दू दर्शन दु:खवाद है, बौद्ध दर्शन दु:खवाद है और ईसाई दर्शन भी दु:खवाद है। मनुष्य सुख की खोज में आदिकाल से रहा है और इसी की प्राप्ति उसके जीवन का सदैव मुख्य उद्देश्य रही है। दु:ख से वह इतना घबड़ाता है कि इस जीवन में ही नहीं, आने वाले जीवन के लिए ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि वहां भी सुख का उपभोग कर सके। जन्नत और स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण, सब उसी आकांक्षा की रचनाएं हैं। सुख की प्राप्ति के लिए ही हमने जीवन को निरस्सार और संसार को अनित्य कहकर अपने मन को शांत करने की चेष्टा की। जब जीवन में कोई सार ही नहीं है और संसार अनित्य ही है, तो फिर क्यों न इनसे मुंह मोड़कर बैठें? लेकिन हम क्यों दुखी होते हैं, वह कौन-सी मनोवृत्ति है जो हमें दु:ख की ओर ले जाती है, इस पर हमने विचार नहीं किया। आज हम इसी प्रश्न की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि इस अंधकार में कहीं प्रकाश भी मिल सकता है या नहीं।

दु:ख के दो कारण हैं-एक तो वे रूढ़ियां जिनमें हमने अपने को और समाज को जकड़ रखा है और दूसरे वे व्यक्तिगत मनोवृत्तियां हैं जो हमारे मन को संकुचित रखती हैं और उसमें बाहर की वायु और प्रकाश नहीं आने देतीं। रूढ़ियों से तो हम

इस समय बहस नहीं करना चाहते, क्योंकि उनका सुधार हमारे बस की बात नहीं, वह समष्टि की जागृति पर निर्भर है, लेकिन व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का संस्कार हमारे बस की बात है और हम अपना विचार यहीं तक परिमित रक्खेंगे।

अक्सर ऐसे लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं जो असमय के कारण अपना स्वास्थ्य खो बैठे हैं, या जिन पर लक्ष्मी की अकृपा है। लेकिन वास्तव में सुख के लिए न धन अनिवार्य है न स्वास्थ्य। कितने ही धनी आदमी दुखी हैं, कितने ही रोगी सुखी हैं। सुखी जीवन के लिए मन का स्वस्थ होना अत्यंत आवश्यक है। लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिए नीरोग शरीर लाजिमी चीज है। सभी तो ऋषि नहीं होते। बलवान् और स्वस्थ्य मन, बलवान और स्वस्थ देह में ही रह सकता है। साधना और तप इस विषय में अपवाद उपस्थित कर सकते हैं, लेकिन साधारणत: स्वस्थ देह और स्वस्थ मन में कारण और कार्य का संबंध है। यद्यपि वर्तमान रहन-सहन ने इसे दुस्तर बना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर बुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आंख न बंद कर ले, तो वह अपनी देह को नीरोग रख सकता है देह तो एक मशीन है। इसे जिस तरह कोयले-पानी की जरूरत है उसी तरह इससे काम लेने की जरूरत है। अगर हम इस मशीन से काम न लें तो बहुत थोड़े दिनों में इसके पुर्जों में मोर्चा लग जाएगा। मजदूरों के लिए यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो केवल उन लोगों के लिए है जो गद्दी पर या कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं। उन्हें कोई-न-कोई कसरत जरूर ही करनी चाहिए। क्रिकेट और टेनिस के लिए हमारे पास साधन नहीं हैं तो क्या, हम अपने घर में सौ-पचास डंड-बैठक भी नहीं लगा सकते? अगर हम स्वास्थ्य के लिए एक घंटा भी समय नहीं दे सकते तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम सुख को ठोकरों से मारकर अपने द्वार से भगाते हैं।

भोजन का प्रश्न भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्या चीज किस तरह और कितनी खाई जाय, इस विषय में मूर्खों से अधिक शिक्षित लोग गलती करते हैं। अधिकतर तो ऐसे आदमी मिलेंगे जो इस विषय में कुछ जानते ही नहीं। जिंदगी का सबसे बड़ा काम है भोजन। इसी धुरी पर संसार का सारा चक्र चलता है और इसी के विषय में हम कुछ नहीं जानते। बच्चों में शील और विनय का तथा बड़ों का संयम का पहला पाठ भोजन से आरंभ होता है। यह हास्यापद-सी बात है पर वास्तव में आत्मोन्नति का पहला मंत्र भोजन में पथ्यापथ्य का विचार है।

दु:ख का एक बड़ा कारण है अपने आपमें डूबे रहना, हमेशा अपने ही विषय में सोचते रहना। हम यों करते तो यों होते, वकालत पास करके अपनी मिट्टी खराब की, इससे कहीं अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली। लड़के नहीं हैं तो यह फ्रिक मारे डालती है कि लड़के कब होंगे। लड़के हैं तो रो रहे हैं कि ये क्यों हुए, ये कच्चे-बच्चे न होते तो कितना आराम से जिंदगी कटती। कितने ही ऐसे हैं जो अपने वैवाहिक जीवन से असंतुष्ट हैं। कोई मां-बाप को कोसता है जिन्होंने उसके गले में जबरदस्ती जुआ डाल दिया—कोई मामा या फूफा को जिन्होंने विवाह पक्का किया। अब उनकी सूरत भी उसे पसंद नहीं। बीवी से आये दिन ठनी रहती है—वह सलीका नहीं रखती,

मैली है, फूहड़ है, मुर्दा है, या मुहर्रमी है। जब देखो मुंह लटकाये बैठी रहती है। यह नहीं कि पति महोदय दिन भर के बाद घर में आये हैं, तो लपककर उनके गले से लिपट जाये। इस श्रेणी में अधिकतर लेखक-समाज और नवशिक्षित युवक हैं। वे दूसरों की बीबियों को देखकर अपनी किस्मत ठोंकते हैं—वह कितनी सुघड़ है, कितनी हंसमुख, कितनी सुरुचि रखने वाली। दिन-रात बेचारे इसी डाह में जला करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो चाते हैं कि सारी दुनिया उनकी प्रशंसा करती रहे। खुद जब मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं। वह खुद किसी के प्रशंसक नहीं बनते, किसी से प्रेम नहीं करते। लेकिन इच्छुक हैं कि दुनिया उनके आगे नतमस्तक खड़ी रहे, उनका गुणगान करती हरे। दुनिया उनकी कद्र नहीं करती, इस फिक्र में घुले जाते हैं, इससे उनके स्वभाव और व्यवहार में कटुता आ जाती है। और ऐसे लोग तो घर-घर मिलेंगे तो निन्यानबे के फेर में पड़कर जीवन को भार बना लेते है। संचय, संचय लगातार संचय। इसी में उनके प्राण बसते हैं, ऐसा आदमी केवल उन्हीं से प्रसन्न रहता है, जो संचय में उसके सहायक होते हं। औ़र किसी से उसे सरोकार नहीं। बीवी से हंसने-बोलने का उसके पास समय नहीं, लड़कों को प्यार करने और दुलरान्ने का उसे बिल्कुल अवकाश नहीं। घर में किसी से धेली का नुकसान भी हो गया तो उसके सिर हो जाता है। बीवी ने अगर एक आने की जगह पांच पैसे की तरकारी मंगवा ली तो पति को रात-भर झींकने का मसाला मिल गया—तुम घर लुटा दोगी, तुम्हें क्या खबर पैसे कैसे आते हैं, आज मर जाऊं तो भीख मांगती फिरो। ऐसी ऐसी दिल जलाने वाली बातें करके आप रोता है और दूसरों को रुलाता है। लड़के से कोई चिमनी टूट गई, तो कुछ न पूछो, बेचारे निरपराध बालक की शामत आ गई। मारते-मारते उसकी खाल उधेड़ डाली। माना लड़के से नुकसान हुआ, तुम गरीब हो और तुम्हारे लिए दो-चार आने का नुकसान भी कठिन है। लेकिन लड़के को पीटकर तुमने क्या पाया? चिमनी तो जुड़ नहीं गई। हां। स्नेह का बंधन जरूर टूटने को हो गया। यह सब अपने आप में डूबे रहने वालों का हाल है। उनके लिए केवल यही औषध कि अपने विषय में इतनी चिंता न करें, दूसरों में भी दिलचस्पी लेना सीखें—चिड़िया पालना, फूल-पौधे लगाना, गान-बजाना, गपशप करना, किसी आंदोलन में भाग लेना। गरज मन को अपनी ओर से हटाकर बाहर की ओर ले जाना ही ऐसे चिंताशील प्रकृति वालों के लिए दुःख-निवारक हो सकता है।

उदासीन प्रकृति वाले भी अक्सर दुखी रहते हैं। संसार में उनके लिए कोई सारवस्तु नहीं। यह मरज अधिकतर उच्चकोटि के विद्वानों को होता है। उन्होंने संसार के तत्त्व को पहचान लिया है और जीवन में अब ऐसी कोई वस्तु नहीं मिलती जिसके लिए वे जिएं। संसार रसातल की ओर जा रहा है, लोगों से प्रेम उठ गया, सहानुभूति का कहीं नाम नहीं, साहित्य का डोंगा डूब गया, जिससे प्रेम करो वही बेवफाई करता है, संसार में विश्वास किस पर किया जाय? यह चीज तो उठ गई। अब लखन से भाई और हनुमान से सेवक कहां? यह उदासीनता अधिकतर उन्ही लोगों में होती है जो संपन्न हैं, जिन्हें जीविका के लिए कोई काम नहीं करना पड़ता। मजे से खाते हैं और सोते हैं। क्रियाशीलता का उनमें भावा होता है। वे दुनिया में केवल रोने के लिए आए हैं, किसी का उनकी जात से उपकार

नहीं होता। हर एक चीज में ऐब निकालना, हर चीज से असंतुष्ट रहना, यही उनका उद्यम है। ऐसे लोगों का इलाज यही है कि तुरंत किसी काम में लग जाएं। और कुछ न हो सके तो ताश खेलना ही शुरू कर दें। कोई भी व्यसन उनके रोने से अच्छा है। संसार कब रसातल की ओर नहीं जा रहा था? जब कौरवों ने द्रौपदी को भरी सभा में नंगी करना चाहा और पांडव बैठे हुए टुकर-टुकर देखते रहे, क्या तब संसार रसातल को नहीं जा रहा था? किस युग में भाई ने भाई का गला नहीं काटा, मित्रों ने विश्वासघात नहीं किया, व्यभिचार नहीं हुआ, शराब के दौर नहीं चले, लड़ाईयां नहीं हुईं, अधर्म नहीं हुआ? मगर पृथ्वी आज भी वहीं है जहां दस हजार बरस पहले थी। न रसातल गई न पाताल। और इसी तरह अनंत काल तक रहेगी। संदेह जीवन का तत्त्व है। स्वस्थ मन में सदैव संदेह उठते हैं और संसार में जो कुछ उन्नति है उसमें संदेह का बहुत हाथ है। लेकिन संदेह क्रियाशील होना चाहिए, जो नित्य नये आविष्कार करता है, जो साहित्य और दर्शन की दृष्टि करता है। संसार अनित्य है तो आपको इसकी क्या चिंता है? विश्वास मानिए, आपके जीवन में प्रलय न होगा। और अगर प्रलय भी हो जाय तो आपके चिंता करने की वजह? जो सबकी गति होगी वही आपकी भी होगी। घर से बाहर निकलकर देखिए—मैदान में कितनी मनोहर हरियाली है, वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गाना हो रहा है, नदी में चांद कैसा थिरक रहा है। क्या इन दृश्यों से आपको जरा भी आनंद नहीं आता? किसी झोपड़ी में जाकर देखिए। माता फाके कर रही है पर कितने प्रेम से बालक को अपने सूखे स्तन से चिमटाए हुए है। पत्नी अपने बीमार पति को सिरहाने बैठी मोती बरसा रही है और ईश्वर से मनाती है कि पति की जगह वह खुद बीमार हो जाय। विश्वास कीजिए आप सेवा और त्याग तथा विश्वास के ऐसे-ऐसे कृत्य देखेंगे कि आपकी आंखें खुल जायेंगी। हो सके तो उनकी कुछ मदद कीजिए प्रेम करना सीखिए। उस उदासीनता की, उस मानसिक व्यभिचार की, यही दवा है।

आजकल दु:ख की एक नयी टकसाल खुल गई है और वह है जीवन संग्राम। जीवन-संग्राम। जिधर, देखिए, यही आवाज सुनाई देती है। इस संग्राम में आप किसी की सहानुभूति की, क्षमा की, प्रोत्साहन की, आशा नहीं कर सकते। सभी अपने अपने नख और दंत निकाले शिकार की ताक में बैठे हैं। उनकी क्षुधा प्रशांत महासागर से भी गहरी है, किसी तरह शांत नहीं होती। काश, यह दिन चौबीस घंटों का नहीं अड़तालीस घंटों का होता। इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली। फिर यह बारह बजे रात से पहले नहीं बंद हो सकती—एक मिनट के लिए भी नहीं। नाश्ता खड़े खड़े कीजिए, खाना दौड़ते-दौड़ते खाइए, मित्रों से मिलने का समय नहीं, फालतू बातें सुनने की फुरसत नहीं। मतलब की बात कहिए साहब, चटपट। समय का एक एक मिनट अशर्फी है मोती है, उसे व्यर्थ नहीं खो सकते। यह संग्राम की मनोवृत्ति पश्चिम से आई है, और बड़े वेग से भारत में फैल रही है। बड़े बड़े शहरों पर तो उसका अधिकार हो चुका है अब छोटे छोटे शहरों और कस्बों में भी उसकी अमलदारी होती जाती है। मंदी, तेजी, बाजार के उतार चढ़ाव, हिस्सों का घटना बढ़ना यही आधार है। नींद में भी यही मंदी तेजी का स्वप्न देखते हैं। पुस्तकें पढ़ने की किसे फुरसत सिनमा देखने लगे। उपन्यास कौन पढ़े, छोटी कहानियों से मनोरंजन कर लेते हैं। [illegible]

यह खब्त भी है कि हम किसी क्षेत्र में किसी से पीछे न रहें। साहित्य और दर्शन और राजनीति, हर विषय में नयी बातें भी हमसे बचने न पायें। सुरुचि और सर्वज्ञता के प्रदर्शन के लिए नयी से नयी पुस्तकें तो मेज पर होनी ही चाहिए। किसी तरह उनका खुलासा मिल जाय तो क्या कहना, दस मिनट में किताब का लुब्बे-लुबाब मालूम हो जाय। आलोचना पढ़कर भी तो काम चल सकता है। इसीलिए लोग आलोचनाएं बड़े शौक से पढ़ते हैं। अब हम उन ग्रंथें पर अपनी राय देने के अधिकारी हैं। सभ्य समाज में कोई हमें मूर्ख नहीं कह सकता। इस भाग-दौड़ के जीवन में आनंद के लिए कहां स्थान हो सकता है? जीवन में सफलता अवश्य आनंद का एक अंग है। और बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग, लेकिन हमें उस तेज घोड़े को अपनी रानों के नीचे रखना चाहिए। यह नहीं कि वह हमें जिधर चाहे, लिए दौड़ता फिरे। जीवन को संग्राम समझना- यह समझना कि यह केवल पहलवानों का अखाड़ा है और हम केवल अपने प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़ने के लिए ही संसार में आये हैं, उन्माद है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी इच्छा तो बलवान हो जाती है लेकिन विचार और विवेक का सर्वनाश हो जाता है। इसका इलाज यह है कि हम संतोष और शांति का मूल्य समझें। जीवन का आनंद खोकर जो सफलता मिले वह वैसी ही है जैसे अपनी आंखों के सामने कोई तमाशा। सफलता का उद्देश्य है आनंद। अगर सफलता से दुःख बढ़े, अशांति बढ़े, तो वह वास्तविक सफलता नहीं।

भविष्य की चिंता दुःख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है। कल कहीं चल बसे तो क्या होगा? घर का कुछ भी इंतजाम न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आंखें बंद कीं और उधर सारी गृहस्थी तीन तेरह हुई। लड़का उड़ाऊ है पैसे की कद्र नहीं करता, न जमाने का रुख देखता है। इस चिंता में अक्सर रातों को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। ऐसी मनोवृत्ति नयी नयी शंकाओं की सृष्टि करने में निपुण होती है। दो-चार दिन खांसी आई तो तुरंत तपेदिक की शंका होने लगी दो-चार दिन का हल्का ज्वर आ गया तो शंका हुई जीर्ण ज्वर है। अगर जवानी में आंखें बहक गई हैं तो अब पाप की भावना हृदय को दबाए हुए है। यही शंका लगी हुइ है कि उस अपराध के दंडस्वरूप न जाने क्या क्या आफत आने वाली है। लड़का बीमार हुआ और मान-मनौती होने लगी। बस, वही दंड है। किसी बड़े मुकदमे में हारे और वही शंका सिर पर सवार हुई। बस, यह सब उसी का फल है। इतना बोझ लेकर वैतरणी कैसे पार होगी। नरक की भीषण कल्पना खाना-पीना हराम किये देती है। इसका इलाज यही है कि आदमी हर विषय पर ठंडे मन से विचार करे, यहां तक कि उस पर उसके सारे पहलू रोशन हो जाएं। तुम क्यों समझते हो कि तुम्हारे लड़के तुमसे ज्यादा नालायक होंगे? इसी तरह तुम्हारे बाप ने भी तो तुम्हें नालायक समझा था। पर तुम तो लायक हो गये और आज गृहस्थी की देखभाल मजे से कर रहे हो। तुम्हारे बाद इसी तरह तुम्हारा लड़का भी घर बार संभाल लेगा। मुमकिन है वह तुमसे ज्यादा चतुर निकले। और पाप तो केवल पंडों का ढकोसला है। हमारे समुदाय में कोई शराबी नहीं, तुमने पी ली तो पाप किया। क्यों पाप किया? करोड़ों

आदमी रोज पीते हैं, खुले खजाने पीते हैं। वे इसे पाप नहीं समझते, बल्कि उनकी निगाह में जो शराब न पीये वही पापी है। हमारे कुल में मांस खाना वर्जित है, हमने खा लिया तो पाप नहीं किया? पाप वही है जिससे अपना और दूसरों का अहित होता है। अगर शराब पीने से तुम्हारे सिर में दर्द होने लगता है या तुम बहककर गालियां बकने लगते हो, तो बेशक शराब पीना तुम्हारे लिए पाप है। अगर तुम शराब के पीछे बाल-बच्चों को खाने-पीने का कष्ट देते हो, बेशक शराब पीना तुम्हारे लिए पाप है। उसे तुरंत छोड़ दो। इसी तरह मांस खाने से अगर तुम्हारे पेट में दर्द होने लगे तो वह तुम्हारे लिए वर्जित है। मांस ही क्यों दूध पीने से तुम्हारी पाचन-क्रिया बिगड़ जाय तो दूध भी तुम्हारे लिए वर्जित है। धर्म-अधर्म के मिथ्या विचारों में पड़कर, दैवी-दंड की कल्पनाएं करके, क्यों अपने को दुःखी करते हो? बाबा वाक्य की गुलामी—केवल इसलिए कि बाबा वाक्य है—चाहे कट्टर-पंथियों में तुम्हारा सम्मान बढ़ा दे, पर है मूर्खता। स्वयं विचार करो कि वास्तव में दुष्कर्म क्या है? अपने कारोबार में कांइयांपन, नौकरों से कटु व्यवहार, बाल-बच्चों पर अत्याचार, अपने सहवर्गियों से ईर्ष्या और द्वेष, प्रतिद्वन्द्वियों पर मिथ्या आरोप, बुरी नीयत, दगा-फरेब, यह सब वास्तव में दुष्कर्म हैं। जिनकी कानून में भी सजा नहीं, लेकिन जिससे मानव-समाज का सर्वनाश हो रहा है। मन में पाप की कल्पना का बैठ जाना हमारे आत्म-सम्मान को मिटा देता है और जब आत्म-सम्मान चला गया तो समझ लो कि बहुत कुछ चला गया। पापाक्रांत मन सदैव ईर्ष्या से जला करता है, सदैव दूसरों के लिए ऐब देखता रहता है, सदैव धर्म का ढोंग रचा करता है। जब तक वह दूसरों के पाप का पर्दा न खोल दे और अपनी धर्मपरायणता प्रमाणित न कर दे, उसको शांति नहीं।

हमारे दो-एक मित्र ऐसे हैं जिन्हें हमेशा यह फिक्र सताया करती है कि लोग उनसे जलते हैं, उनके लेखों की कोई प्रशंसा नहीं करता, उनकी पुस्तकों की बुरी आलोचनाएं होती हैं। अवश्य ही कुछ लोगों ने एक गुट बनाकर उनका अनादर करना ही अपना ध्येय बना लिया है। ऐसे आदमी सदैव दूसरों से ऐसे सशंक रहते हैं मानो वे खुफिया पुलिस हों। बस, जिसने उनकी प्रशंसा न की उसे अपना दुश्मन समझ लिया। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे अपने को उससे बड़ा आदमी समझते हैं जितने वे हैं। संसार को क्या गरज पड़ी है कि उनके पीछे हाथ धोकर पड़ जाय। हम अपनी रचना को अमूल्य समझें, इसका हमें अधिकार है, लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लड़कों को ही अपना बैरी समझने लगता है। वह कदाचित् आशा करता है कि उसके लड़के अपने लड़कों से ज्यादा उसका ख्याल रखें। यह अस्वाभाविक है किसी को यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को, चाहे वह उसका लड़का ही क्यों न हो, उसे स्वाभाविक मार्ग से हटाकर अपने राह पर लगाए।

[लेख। 'हंस', वैशाख, 1990 विक्रमी-संवत् (अप्रैल, 1933) में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

नोबल पुरस्कार-प्राप्तकर्त्ता जॉन गाल्सवर्दी

जॉन गाल्सवर्दी का जन्म ता० 14 अगस्त, सन् 1860 में हुआ था। इनके पिता एक नामी वकील थे और उनकी इच्छा थी कि गाल्सवर्दी भी उनकी तरह नामी वकील बने। गाल्सवर्दी का बचपन बड़े सुख से व्यतीत हुआ और अनुकूल परिस्थिति के कारण स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय की शिक्षा का उन्हें भली-भाँति लाभ प्राप्त हुआ था। सन् 1889 में गाल्सवर्दी ने वकालत की परीक्षा पास की और आगामी वर्ष ही उन्हें वकालत के काम में जुट जाना चाहिए था। पर ऐसा न करके उन्होंने अगले दो वर्ष जगत्-भर का प्रवास करने में व्यतीत किये। इस प्रवासकाल में ही उन्हें जोसेफ कॉनराड से मैत्री का अवसर मिला। आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्य में कॉनराड एक खास स्थान रखता है। सामुद्रिक सैर की हौंस रखने वाले, समुद से अनेक योजन दूर रहने वाले इस पोलिश महापुरुष ने अपनी मातृभूमि को छोड़कर जहाज़ पर खलासी का-सा साधारण काम करना स्वीकार किया था। अंग्रेज़ी और फ्रेंच, दोनों भाषाओं का उसे भली-भाँति ज्ञान था, परंतु दोनों में से किस भाषा में लिखना आरंभ करना चाहिए, यह उसकी समझ में ही न आता था। एक दिन रुपये को फेंककर निश्चय किया और अंग्रेज़ी भाषा के सौभाग्य से अंग्रेज़ी में लिखना निश्चित किया। अंग्रेज़ी के लेखक-समुदाय में कॉनराड एक श्रेष्ठ लेखक माना जाता है और जे० सी० स्क्वायर सरीखे चतुमुर्ख साहित्य-समीक्षक ने भी उसके विषय में कहा है, कि "कालांतर में वर्त्तमान सभी प्रसिद्ध लेखक जब विस्मृत से हो जायेंगे, तब भी कॉनराड की कृतियां लोगों को आज की-सी नवीन प्रतीत होंगी।" कॉनराड और गाल्सवर्दी में साहित्यिक साधर्म्य लेशमात्र भी नहीं है, पर उनकी व्यक्तिगत मैत्री इतनी गाढ़ी थी, कि सन् 1924 में कॉनराड की मृत्यु-पर्यंत वह अखंड रही।

गाल्सवर्दी ने अपना साहित्य कार्य बहुत विलंब से अर्थात्- जीवन के 28वें वर्ष से आरंभ किया। उसके व्यावहारिक जीवन की सहचरी ने ही उसके साहित्यिक जीवन में स्फूर्ति का काम किया। ऐसा कहा जाता है कि साहित्यिकों को सहसा सांसारिक सुख का लाभ नहीं होता। गाल्सवर्दी इसके लिए अपवाद था। गाल्सवर्दी की पत्नी बड़ी सुशीला थी और उसकी बुद्धि, समीक्षण शक्ति पर उसे बड़ा गर्व था। 'फॉरसाइट सागा' का समर्पण इस प्रेमी दंपती के प्रेम का प्रत्यक्ष प्रतीक है।

अपनी प्रारम्भिक कृतियां गाल्सवर्दी ने John Sinjohn नाम से लिखी थीं। इस समय वे सब अप्राप्य हैं और किसी को उनका स्मरण भी नहीं रह गया। प्रथित-यश होने पर गाल्सवर्दी ने स्वत: उनका प्रचार रोककर 'मेरे पहले पाप' शीर्षक से उनका उल्लेख किया है। अपनी साहित्यिक कीर्ति को अकलंकित रखने की यह जवाबदारी क्या कम स्पृहणीय है?

सन् 1895 से 1905 ई० के दस वर्षों के काल में गाल्सवर्दी ने एक कहानी-संग्रह, चार बड़ी कहानियां और दो तीन उपन्यास प्रकाशित करवाये। उनमें Island Pharisees नामक उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। इसमें काव्यमय वातावरण, व्याजोक्ति, कार्य-कारणभाव की

मीमांसा और मनोभावों को विश्लेषण आदि गाल्सवर्दी के उत्तरकालीन विशेषता के चिह्न देखने को मिलते हैं, पर गाल्सवर्दी का सच्चा और कलामय कीर्ति-स्तंभ तो सन् 1906 में ही प्रस्थापित हुआ। इस वर्ष उसका प्रथम नाटक 'The Silver Box' और उसकी कीर्ति को दिगंतव्यापिनी बनाने वाला उपन्यास Forsyte Saga का प्रथम खंड Man of Property प्रकट हुआ। ये दोनों कृतियां आज 26 वर्षों के पश्चात् देखने पर भी, ज्यों की त्यों तेजोमयी प्रतीत होती हैं। बाद में गाल्सवर्दी ने 'सिल्वर बॉक्स' से भी अच्छे नाटक तो अवश्य लिखे, पर समीक्षकों का खयाल है, कि Man of Property से अधिक सुंदर उपन्यास नहीं लिखा गया। इस उपन्यास में पात्रों के जीवन-वृत्तांत को आगे बढ़ाकर, उस समय के आंग्ल जीवन का इतिहास ही लिख डाला है- यह कहना चाहिए। इस उपन्यास के दूसरे खंड को Forsyte Saga तथा Modern Comedy नाम दिया गया है।

इन चालीस वर्षों में होने वाली इंग्लैंड की अनेक उथल-पुथलों, आचार-विचारों की अनेक क्रांतियों आदि का सूत्रबद्ध प्रतिबिम्ब, चलचित्रों की तरह इन उपन्यासों में दृष्टि पड़ जाता है। नाटककार के रूप में गाल्सवर्दी चाहे कितना ही प्रसिद्ध क्यों न हो जाय, पर उसकी कीर्ति को Forsyte Saga ने ही बढ़ाया है। उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त भी गाल्सवर्दी ने पांच-छः उपन्यास लिखे हैं और उसमें Dark Flower Patricion तथा Saint's Progress विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गाल्सवर्दी की कहानियों का बृहत् संग्रह भी प्रकाशित हुआ है, जिसमें उसकी सभी कहानियों का संग्रह हो गया है। उसका नाम है—'Caravan'। कविता और प्रबंध लेखक के रूप में गाल्सवर्दी की प्रसिद्धि नहीं है, पर इस क्षेत्र में भी उसने अपनी कलम को थोड़ा बहुत चलाया है।

नाटक और उपन्यास जैसे साहित्य के दोनों अंगों पर सुंदर से सुंदर लिखने वाला सव्यसाची लेखक मुश्किल से ही आपको मिलेगा, पर गाल्सवर्दी ने दोनों पर बड़ा ही उत्तम रूप में लिखा है। उसका सा संभाषण लेखन पटु दूसरा नहीं है। आधुनिक अंग्रेजी नाटककारों में नोएल कॉवर्ड्स ही एक ऐसा नाटककार है, जो संभाषण लिखने में गाल्सवर्दी का मुकाबला कर सके। गाल्सवर्दी के भाषा प्रवाह में बड़ा संयम और तोल होता है। उसने अभी तक उपन्यास और कहानियों के अलावा 25 नाटक भी लिखे हैं।

उसको अभी अभी गतवर्ष का नोबल पुरस्कार मिला था। उसके साहित्य का इतना अधिक प्रचार है कि उस पर इस छोटे से परिचय में लिखना असंभव है। खेद है कि अभी-अभी फरवरी में ही वह महापुरुष स्वर्गवासी हो गया।

[लेख। साप्ताहिक 'जागरण' 3 अप्रैल 1933 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड 2 में संकलित।]

मेरी रसीली पुस्तकें

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अभिनंदनोत्सव में आचार्य द्विवेदी जी ने एक 'आत्म निवेदन' पढ़ा था। वह दैनिक 'आज' के कई अंकों में लगातार छपा था। मई के 'सरस्वती' में भी वह प्रकाशित हुआ है। उसके एक अंश में आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी एक अप्रकाशित 'रसीली पुस्तक' की चर्चा की है। उसके संबंध में इलाहाबाद

'भारत' के ता॰ 11 जून के अंक में श्री पं॰ कृष्णकांत मालवीय ने एक लेख लिखा है। उस लेख में द्विवेदी जी के प्रति उचित आदर-भाव दिखाते हुए उन्होंने द्विवेदी जी से कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे हैं। आशा की जाती है कि आचार्य द्विवेदी जी उन प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करेंगे।

द्विवेदी जी ने आज से तीस चालीस साल पहले, 'तत्कालीन मित्रों' और सलाहकारों के 'चकमे' में आकर, 'रुपये के लोभ' से, एक ऐसी 'पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली'—"जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं, तो बरसाती नाला बह रहा था।" उनके मित्रों ने ऐसी ही पुस्तक लिखने की सलाह दी थी, यथा—"अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों, जिसका नाम ही सुनकर और विज्ञापन मात्र ही पढ़कर खरीददार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गंदगी पर मक्खियों के झुंड के झुंड टूटते हैं।" यही सलाह मानकर उन्होंने जो पद्यबद्ध पुस्तक लिखी थी, आत्म-निवेदन में 'अपने बुड्ढे मुंह के भीतर धसी हुई जुबान से उसका उल्लेख करते' उन्हें 'बड़ी लज्जा मालूम हुई', पर 'पापों का प्रायश्चित करने के लिए' उन्होंने 'शुद्ध हृदय' से उसका नाम बताया—'सोहाग रात।'

'सोहाग रात' सभ्य मानव-समाज में बहुत शुभ मानी जाती है। इसके लिए अच्छी सायत देखी जाती है। [illegible] प्रकार की मंगलमय विधियां संपन्न की जाती हैं। मनुष्य के जीवन में 'सोहाग रात' का बड़ा भारी महत्त्व है। प्राचीन समाज शास्त्र में भी इसकी विशेष महत्ता बताई गई है। वास्तव में यह है भी वैसी ही। जब से समाज ने इसका महत्त्व भुला दिया तब से समाज निर्बल और निस्तेज हो गया, नाना प्रकार की बुराइयां पैदा हो गईं। लोगों का यह अनुमान है कि जब से समाज में बाल विवाह की कुप्रथा जड़ पकड़ गई, तब से 'सोहाग रात' का महत्त्व लुप्त हो गया। जब तक समाज में पूर्ण वयस्क वर कन्या का गठजोड़ होता रहा, तब तक यह बड़ी शुभ रस्म मानी जाती रही। आज भी जहां कहीं समाज में उपयुक्त वय का विवाह प्रचलित है वहां इसका आदर मान अवश्य है। संसार की प्राय: सभी सभ्य जातियों में 'सोहाग रात' की शुभ रीति पाई जाती है। [illegible] समाज इसका महत्त्व भूल गया हो, तो समाज [illegible] का कर्तव्य है कि वे समाज को इसकी महिमा बतावें। जिस प्रकार जीवन के सभी संस्कारों पर पुस्तक लिखी गई है उसी प्रकार 'सोहाग रात' पर भी [illegible] पुस्तक लिखी जानी चाहिए, क्योंकि मानव जीवन में जैसे वैवाहिक संस्कार [illegible] सबसे अधिक महत्त्व है वैसे ही वैवाहिक संस्कार में 'सोहाग रात' [illegible] 'सोहाग रात' ही वैवाहिक जीवन को सुखी बना सकती है। जिसकी 'सोहाग रात' [illegible] बिगड़ गई उसका वैवाहिक जीवन शायद ही सुखमय हो।

भला ऐसी महत्त्वपूर्ण 'सोहाग रात' पर पुस्तक लिखकर द्विवेदी जी को पश्चात्ताप क्या हुआ? द्विवेदी जी ने [illegible] से प्रेरित होकर ही पहले पहल हिन्दी में अर्थशास्त्र की [illegible] पुस्तक [illegible] थी। यदि समाज [illegible] अर्थशास्त्र की आवश्यकता है तो [illegible] 'सोहाग रात' भी तो कामशास्त्र का ही एक विषय है। [illegible]

प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसी का ज्ञान न होने से समाज में आज दिन अधिकतर पशुता का प्राबल्य हो गया है। ऐसी आवश्यक वस्तु का निर्माण करके भी द्विवेदी जी ने उसे पाप-कर्म कैसे समझा?

यदि यह कहा जाय कि वह पद्यबद्ध पुस्तक अत्यंत अश्लीलतापूर्ण थी, तो इससे यह नहीं साबित होता कि 'सोहाग रात' लिखना पाप है। ब्रह्मचर्य-रक्षा पर भी कई अश्लील पुस्तकें मिलती हैं, तो इससे क्या 'ब्रह्मचर्य' विषय का महत्त्व घट गया? फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी में 'सोहाग रात' पुस्तक लिखकर कोई लेखक मालामाल हो जायगा। अगर द्विवेदी जी के कथनानुसार 'आजकल सोहाग रात का नाम बाजारू हो रहा है', तो यह वस्तुतः 'सोहाग रात' नहीं, 'कतल की रात' है। और यह किसी तरह संभव नहीं कि आज से तीस-चालीस वर्ष पहले भी द्विवेदी जी ने 'सोहाग रात' सरीखे महत्त्वपूर्ण विषय पर बाजारू ढंग की पुस्तक लिखी हो, क्योंकि उस समय भी वे हिन्दी-संसार की आवश्यकताओं से अपरिचित न थे। आरंभ ही से उसमें सत्समालोचना की प्रवृत्ति भी उस समय भी समाज की दशा से अनभिज्ञ न थे। वे उन्नीसवीं सदी के अंतिम दस वर्षों में हिन्दी के सुपरिचित लेखक और कवि बन चुके थे। तब भी उन्होंने 'सोहाग रात' पर 'रस का पनाला' बहा डाला, यह सचमुच महान आश्चर्य का विषय है।

पंडित कृष्णकान्त जी मालवीय ने 'सोहाग रात' नाम से ही एक बहुत अच्छा पुस्तक लिखी है। उसकी भूमिका स्वर्गीय पंजाब-केसरी लालाजी ने लिखी है। अपने विषय की वह उत्तम पुस्तक है। समाज ने उसे अपनाया भी है, किंतु वह 'बहता हुआ व्रण' नहीं है, इसलिए पाठक उस पर 'मक्खियों के झुंड' की तरह न टूट सके। अब तक शायद उसके दो या तीन ही सस्करण हुए हैं। किंतु समाज की वर्तमान अवस्था के अनुसार उसके दर्जनों संस्करण होने चाहिये थे। इससे स्पष्ट है कि मालवीय जी मालामाल न हो सके। आज हिन्दी का जैसा बोलबाला है, वैसा तीस चालीस वर्ष पहले न था। जब हिन्दी के अभ्युदय काल मे 'सोहाग रात' लिखकर पं० कृष्णकान्त जी 'धनाधीश' न हो सके, तब भला हिन्दी के आरंभिक युग में द्विवेदी जी कैसे यह कल्पना कर सके कि पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचकर, वे 'मोटर खरीदकर घूमने निकला करेंगे?' उस जमाने में मोटर की कल्पना भी अद्भुत ही थी। संभव है द्विवेदी जी उस समय बंबई में रहने के कारण मोटर के सुख की कल्पना करने में समर्थ हुए हों, पर उस समय हिन्दी पुस्तकों की जैसी थोड़ी खपत थी, उससे भी तो द्विवेदीजी अवश्य ही कुछ परिचित रहे होगे। ऐसी दशा में यह समझना कठिन है कि आचार्य द्विवेदी जी ने क्या सोचकर ऐसी कुछ बातें लिखीं, जिन्हें पढ़कर लोगों के मन में तरह-तरह की शंकाएं उत्पन्न हो रही हैं। पं० कृष्णकान्त जी ने अपने लेख में जितने प्रश्न किये हैं, विश्वास है कि आचार्य द्विवेदी जी निश्चय ही उनका संतोषप्रद उत्तर देंगे, जिसके लिए सभी हिन्दी-प्रेमी बड़े उत्सुक हैं।

[लेख। 'हंस, जून 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसग' भाग 3 मे सकलित।]

जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान

जीवन में घृणा का स्थान

निंदा, क्रोध और घृणा यह सभी दुर्गुण हैं, लेकिन मानव जीवन में से अगर इस दुर्गुणों को निकाल दीजिए, तो संसार नरक हो जायगा। यह निंदा ही का भय है, जो दुराचारियों पर अंकुश का काम करता है, यह क्रोध ही है, जो न्याय और सत्य की रक्षा करता है और यह घृणा ही है जो पाखंड और धूर्तता का दमन करती है। निंदा का भय न हो, क्रोध का आतंक न हो, घृणा की धाक न हो तो जीवन विश्रृंखल हो जाये और समाज नष्ट हो जाय। इनका जब हम दुरुपयोग करते हैं, तभी ये दुर्गुण हो जाते हैं, लेकिन दुरुपयोग तो अगर दया, करुणा, प्रशंसा और भक्ति का भी किया जाय, तो वह दुर्गुण हो जायेंगे। अंधी दया अपने पात्र को पुरुषार्थहीन बना देती है, अंधी करुणा कायर, अंधी प्रशंसा घमंडी और अंधी भक्ति धूर्त। प्रकृति जो कुछ करती है, जीवन की रक्षा ही के लिए करती है। आत्म रक्षा प्राणी का सबसे बड़ा धर्म है और हमारी सभी भावनाएं और मनोवृत्तियां इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। कौन नहीं जानता कि वही विष जो प्राणों का नाश कर सकता है प्राणों का संकट भी दूर कर सकता है। अवसर और अवस्था का भेद है। मनुष्य को गंदगी से, दुर्गंध से, जघन्य वस्तुओं से क्यों स्वाभाविक घृणा होती है? केवल इसीलिए कि गंदगी और दुर्गंध से बचे रहना उसकी आत्म-रक्षा के लिए प्रकृति ने उसमें दुबकने, दम साध लेने या छिप जाने की शक्ति डाल दी है। मनुष्य विकास-क्षेत्र में उन्नति करते-करते इस पद को पहुंच गया है कि उसे हानिकर वस्तुओं से आप-ही-आप घृणा हो जाती है। घृणा का ही उग्र रूप भय है और परिष्कृत रूप विवेक। यह तीन एक ही वस्तु के नाम हैं, उसमें केवल मात्रा का अंतर है।

तो घृणा स्वाभाविक मनोवृत्ति है और प्रकृति द्वारा आत्म-रक्षा के लिए सिरजी गई है। या यों कहो कि वह आत्म-रक्षा का ही एक रूप है। अगर हम उससे वंचित हो जायं, तो हमारा अस्तित्व बहुत दिन न रहे। जिस वस्तु का जीवन में इतना मूल्य है, उसे शिथिल होने देना, अपने पांव में कुल्हाड़ी मारना है। हममें अगर भय न हो तो साहस का उदय कहां से हो। बल्कि जिस तरह घृणा का उग्र रूप भय है, उसी तरह भय का प्रचंड रूप ही साहस है। जरूरत केवल इस बात की है कि घृणा का परित्याग करके उसे विवेक बना दें। इसका अर्थ यही है कि हम व्यक्तियों से घृणा न करके उनके बुरे आचरण से घृणा करें। धूर्त से हमें क्यों घृणा होती है? इसीलिए कि उसमें धूर्तता है। अगर आज वह धूर्तता का परित्याग कर दें, तो हमारी घृणा भी जाती रहेगी। एक शराबी के मुंह से शराब की दुर्गंध आने के कारण हमें उससे घृणा होती है, लेकिन थोड़ी देर के बाद जब उसका नशा उतर जाता है और उसके मुंह से दुर्गंध आना बंद हो जाती है, तो हमारी घृणा भी गायब हो जाती है। एक पाखंडी पुजारी को सरल ग्रामीणों को ठगते देखकर हमें उससे घृणा होती है, लेकिन कल उसी पुजारी को हम ग्रामीणों की सेवा करते देखें, तो हमें उससे भक्ति होगी। घृणा

का उद्देश्य ही यह है कि उससे बुराइयों का परिष्कार हो। पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अंदर जितनी ही प्रचंड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी। घृणा के शिथिल होने से ही हम बहुधा स्वयं उन्हीं बुराइयों में पड़ जाते हैं और स्वयं वैसा ही घृणित व्यवहार करने लगते हैं। जिसमें प्रचंड घृणा है, वह जान पर खेलकर भी उनसे अपनी रक्षा करेगा और तभी उनकी जड़ खोदकर फेंक देने से वह अपने प्राणों की बाजी लगा देगा। महात्मा गांधी इसीलिए अछूतपन को मिटाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं कि उन्हें अछूतपन से प्रचंड घृणा है।

साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता

जीवन में जब घृणा का इतना महत्त्व है, तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिंब है। मानव-हृदय आदि से ही सु और कु का रंगस्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि इसलिए हुई कि संसार में जो सु या सुंदर है और इसलिए कल्याणकर है उसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और कु या असुंदर और इसलिए असत्य वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है। कु और सु का संग्राम ही साहित्य का इतिहास है। प्राचीन साहित्य, धर्म और [illegible] द्रोहियों के प्रति घृणा और उनके अनुयायियों के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावना की सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून चूसने वालों, रंगे सियारों, हथकं[illegible] और जनता के अज्ञान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वालों के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज उठा रहा है और दीनों, दलितों, अन्याय के हाथ सताये हुओं के प्रति उतने ही जोर से सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। संभव है, वह भावुकता की तरंग में और कठोर सत्य की ओर से आंखें बंद करके संसार में क्रांति मचा देने का स्वप्न देख रहा हो, जिन्हें वह दरिद्रता के कारण सहानुभूति का पात्र समझ रहा है, उनकी सारी बुराइयों को दुरवस्था और दरिद्रता के सिर मढ़ रहा है। वे इतने भोले-भाले प्राणी न हों, पर वह नवयुग का स्वर्ग स्वप्न देखने में इतना मग्न है कि इस समय उसे किसी बाधा-विघ्न की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं है। लेकिन उन कलाकारों का उद्देश्य क्या यह था, कि वे किसी व्यक्ति या समाज के प्रति घृणा फैलायें? वे व्यक्तियों के शत्रु नहीं है, न वे द्वेष या ईर्ष्या के कारण साहित्य की रचना करते हैं। वे उन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के शत्रु हैं, जिनके हाथों ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं। व्यक्तियों से उन्हें उतना ही प्रेम है, जितना अपने किसी भाई से हो सकता है। जिन सूदखोर महाजनों या मजदूरों के पसीने की कमाई पर मोटे होने वाले मिल-मालिकों के प्रति वह अपनी कृतियों में जहर उगलता है, उन्हीं को संकट में देखकर वह उनकी सेवा करना अपना अहोभाग्य समझेगा। वह जानता है कि यह गरीब खुद अपनी स्वार्थान्धता के हाथों दुखी है और अपनी धनलिप्सा के शिकार होकर गरीबों को सता रहे हैं। उसे उनसे सहानुभूति होती है, पर उन परिस्थितियों के साथ वे बिल्कुल समझौता नहीं कर सकते, हो सकता है, उनमें कुछ ऐसे भी हों, जिन्हें सूदखोरों के हाथों कष्ट उठाने पड़े हों, संभव है, उन्हीं के हाथों उनका सर्वनाश हो

गया हो, लेकिन अगर वह कलाकार है, तो उसमें इतनी क्षमता अवश्य होगी कि वह व्यक्ति विशेष पर दिल का गुबार निकालने न बैठेगा। हां, यह हो सकता है, कि सूदखोरी के प्रति उसकी लेखनी ज्यादा तीव्र और पैनी हो जाये। इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने यह आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है। अव्वल तो उसे किसी ब्राह्मण के हाथों कोई कष्ट नहीं पहुंचा और मान लो किसी ब्राह्मण ने उस पर डिगरी करके उसका घर नीलाम करा लिया हो, या उसे सरे बाजार गाली दे दी हो तो इसलिए वह समस्त ब्राह्मण-समुदाय का दुश्मन क्यों हो जायगा? जीवन में आदमी को सभी तरह के अनुभव होते हैं। प्राय: सभी समुदायों में उसके मित्र हो सकते हैं और शत्रु भी, फिर वह किसी एक समुदाय को क्यों चुनकर उन्हीं के प्रति घृणा फैलायेगा? हां, चूंकि धर्म के नाम पर अपना उल्लू सीधा करने वाले, श्रद्धा की आड़ में श्रद्धालुओं का नोचने वाले, गया में मुसलमानों और चमारों तक से पिंडदान का संस्कार कराने वाले और नाना प्रकार से धर्म का पाखंड रचने वाले उस समुदाय के लोग हैं, जो दुर्भाग्यवश ब्राह्मण कहे जाते हैं, पर जो ब्राह्मणत्व से उतना ही दूर हैं, जितना नरक से स्वर्ग. इसलिए कोई भी लेखक, जो समाज में सद्व्यवहार और सद्धर्म और राष्ट्रीय ऐक्य का राज देखना चाहता है, उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कौन-सा इतना स्वाभिमानी भारतीय है, जो प्रात:काल एक आदमी को अपने को ब्राह्मण बताकर भीख मांगते देखकर लज्जा से सिर झुका लेगा। यह उस समुदाय को बदनाम करने वाले लोग हैं जिन्होंने सच्चे जीवन और सच्चे विचारों की सरिता बहाई थी, जो हिन्दू समाज के पथ प्रदर्शक थे। उनका यह पतन। लेकिन यह कौन नहीं जानता कि वह गरीब ऐसी परिस्थितियों में पला है, जहां भिक्षा मांगना लज्जा नहीं। मेरा खयाल है कि समाज में जितनी अनीति है, उनमें सबसे घृणित धार्मिक पाखंड और धूर्तता है। चोरी, बदमाशी, रिश्वत, दगा, झूठ इन दुर्गुणों का किसी समाज विशेष से संबंध नहीं। एक जमाना था, जब अधिकतर कायस्थ, पटवारी और कानूनगो होते थे यह भी बिहार और यू॰ पी॰ के पूर्वी भाग में, शायद बुंदेलखंड में भी, लेकिन अब वह बात नहीं रही। इसलिए केवल कानूनगो और पटवारी कह देने से कायस्थ का बोध नहीं होता, न बनिया कह देने से किसी विशेष समुदाय का बोध होता है। अब तो जो दौरी-दुकान करते थे, वह पटवारी हैं, जो पटवारी थे वह दौरी-दुकान करते हैं। केवल पंडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बड़ी दूर की कौड़ी लाना है कि जो इस पाखंडाचार के प्रति घृणा फैलाता है, वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है। ब्राह्मणत्व की आड़ में यह पाखंडाचार देखकर जितनी ग्लानि इन पंक्तियों के लेखक को हो सकती है, उससे कहीं ज्यादा स्वयं उन्हें होती है, जो वास्तव में ब्राह्मण हैं। लेखक को अपने पचपन साला जीवन में ऐसा कोई ब्राह्मण नहीं मिला, जिसने इस पाखंडाचार को घृणा की दृष्टि से न देखा हो। लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान् पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुंचता है। हरेक टके-पंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण

के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ के हथकंडों से जाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषीय, भावनाओं के प्रति जितनी ही घृणा फैलायी जाये, वह थोड़ी है, केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के संचालक हमारे वैसे ही भाई हैं, जैसे आलोचक महोदय के।

बस, इस विषय में कुछ और लिखने की जरूरत मैं नहीं समझता। मैंने अपनी पोजीशन बतला दी, अगर इस पर भी कोई सज्जन मुझे ब्राह्मण-द्रोही कहे जाय, तो मुझे परवाह नहीं है, मैं उसे दोष और दिल का गुबार समझ लूंगा।

इस आलोचना में आलोचक महोदय ने दो-एक और मजेदार बातें कही हैं, मसलन यह कि मैंने जो कुछ लिखा है, उसमें जो कुछ अच्छा है, वह माल मशरूका है, जो कुछ बुरा है वह मेरा है, या यह कि मैंने दूसरों की खुशामद की है कि वे मुझे उपन्यास या औपन्यासिक-सम्राट कहें (और संभव है इस तरह की मेरी कोई दरख्वास्त आलोचक महोदय की सेवा में भी पहुंची हो।) या यह कि मैं एक मित्र के आग्रह करने पर भी केवल इसलिए शान्तिनिकेतन नहीं गया कि मुझे स्वयं डा॰ रवीन्द्रनाथ ने नहीं बुलाया था और यह कि मुझे बंगाल का कोई कुत्ता भी नहीं जानता- यह सब बच्चों की-सी बातें हैं जिनका मेरे पास कोई जवाब नहीं है। हां, इतना निवेदन कर देना चाहता हूं कि आलोचक महोदय, या उनके कोई अन्य मित्र सम्राटई का मुकुट धारण करना चाहें, तो मैं बड़ी खुशी से उसे उनको भेंट कर दूंगा। इसके लिए उन्हें विशेष आंदोलन और विद्रोह करने की जरूरत नहीं। मैं दिल से तो नहीं चाहता कि अपना बहुमूल्य मुकुट उन्हें या उनके मित्रों को दे दूं लेकिन यदि मेरे पास इस तरह का कोई डेपुटेशन आवेगा, तो अनिच्छा से ही सही, पर ज्यादा हिचड़ पिचड़ न करूंगा, क्योंकि मैं समय की रफ्तार पहचानता हूं और जानता हूं कि इस डिक्टेटरशिप के जमाने में मुकुट कोई लुभावनी वस्तु नहीं है।

[लेख। 'हंस', दिसंबर, 1933 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित। इसके दो उपशीर्षक भी हैं। पहला : 'जीवन में घृणा से स्थान'। और दूसरा : 'साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता'।]

कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

बहनो और भाइयो,

किसी कौम के जीवन और उसकी तरक्की में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं, और उसकी तशरीह करना आप-जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरों वाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी खुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हां या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारों में ही अपने दिल का हाल और स्वभाव जाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी को ही हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज

का खयाल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहां के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार-विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यस्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा संबंध हमारी आत्मा से हैं। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शक्ल-सूरत, हमारे रंग-रूप ही की भांति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा का विकास होता है, हमारी भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव प्रकट करने लगे, वही लोग फिलॉसफी लिखते और शायरी करते हैं, और जब जमाना बदल जाता है और हम उग जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रंग-रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमजबान हैं, उनमें एक अपमान, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल-मिलाप के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालने वाला रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं, लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखरने वाली शक्तियों की परवाह नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएं भी होती हैं। अगर गौर से देखिये, तो बीस-पचीस कोस के अंदर ही भाषाओं में कुछ-न-कुछ फर्क हो जाता है। कानपुर और झांसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अंतर है, लेकिन नदी की उत्तर तरफ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ की भाषा में साफ-साफ फर्क नजर आता है। सिर्फ प्रयाग में कम-से-कम दस तरह की भाषाएं बोली जाती हैं। लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएं किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिन्दी ही में ब्रजभाषा बुंदेलखंडी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएं हैं, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियां अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रांतीय भाषाएं हिन्दी की मातहत हो गयी हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है; लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गयी है, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाय, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्तान का पढ़ा-बेपढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेजी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें। लेकिन

एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती। हमें रंज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने कौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिए, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब के सब ऐसी जबान की जरूरत को मानते हैं, लेकिन अभी तक उनका ध्यान खास तौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ अंग्रेजी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी कौमियत का मीनार खड़ा किया जा रहा है। और अगर हमने कौमियत की सबसे बड़ी शर्तें, यानी कौमी जबान की तरफ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी कौम को जिंदा रखने के लिए अंग्रेजी की मरकजी हुकूमत का कायम रहना लाजिम होगा वरना कोई मिलाने वाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जायेंगे और प्रांतीयता जोर पकड़कर राष्ट्र का गला घोंट देगी, और जिस बिखरी हुई दशा में हम अंग्रेजों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जायेंगे।

इस लापरवाही का खास सबब है–अंग्रेजी जबान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ्तरी जबान अंग्रेजी है और भारत की जनता पर शासन करने में अंग्रेजों का हाथ बंटाने के लिए हमारा अंग्रेजी जानना जरूरी है। इल्म और हुनर और खयालात में जो इनकलाब होते रहते हैं, उनसे वाकिफ होने के लिए भी अंग्रेजी जबान सीखना लाजिमी हो गया है। जाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियां अंग्रेजी के हाथ में हैं और कोई भी उस खजाने को नाचीज नहीं समझ सकता। दुनिया की तहजीबी या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के लिए अंग्रेजी ही हमारे लिए एक दरवाजा है और उसकी तरफ से हम आंख नहीं बंद कर सकते। लेकिन हम दौलत और अख्तियार की दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में कौमी भाषा की जरूरत बिल्कुल भूल गये और उस जरूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अंग्रेजी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रांतीय भाषा से सारी जरूरत पूरी हो जाती थीं। कौमी भाषा का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अंग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं। लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलो पर बैठ गया है। उसके बगैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज अनाथ हो जायेगा। पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था, आज अंग्रेजीदां और गैर अंग्रेजीदां का भेद है। अंग्रेजीदां आर्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत, कुछ अख्तियार है, रोब है, सम्मान है। गैर-अंग्रेजीदां अनार्य है और उसका काम केवल आर्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात-चौगुना। अगर सौ दो सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी

जबान है, हमारा काम तो चलता है, लेकिन इधर तो हजार-दो हजार साल में भी उसके जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखे को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहां तक कि इनमें एक दीवार खिंच गयी है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमंड और दबदबे का असर होना ही चाहिए। हम अंग्रेजी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अंग भूलकर हाकिम जाति का अंग समझने लगते हैं, कुछ वही गरूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतों में कसदन, और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाता है, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गयी है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है। जो हमारा अंग्रेजी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अंग्रेजियत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमें बेहद उदारता आ गयी है, छूत छात से सोलहों आना नफरत हो गयी है, वह अंग्रेजी साहब की मेज का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा, लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हां, जब कभी अंग्रेजी साहबों से उसे ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फरियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अंग्रेजी स्वामी उसे नौकरियां देता जाय, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का भी कभी ख्याल न आयगा। मुश्किल तो यही है कि वहां भी गुंजाइश नहीं है। ठोकरों पर-ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका जोर लेकर अंग्रेज साहब का मुकाबला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुंच सके। कांग्रेस को थोड़ा बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा में अपील करने से मिला। हिन्दुस्तान में इस वक्त करीब चौबीस-पचीस करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं। यह क्या दुख की बात नहीं कि वे जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ की भाषा है, और जो थोड़ी सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी कौमी सभाओं में सारी कार्रवाई होती है, अंग्रेजी में भाषाण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अंग्रेजी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहां तक कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट भी, जो जनता के खासुलखास झंडे बरदार हैं, सभी कार्रवाई अंग्रेजी में करते हैं। जब हमारी कौमी संस्थाओं की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और यूनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें? मगर सौ वर्ष तक अंग्रेजी पढ़ने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अंग्रेजी में आदर हो। हम अंग्रेजी भाषा की खैरातखाने के इतने आदी हो गये हैं कि अब हमें हाथ-पांव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गयी है, जैसी अक्सर भिखमंगों की होती है जो

इतने आरामतलब हो जाते हैं कि मजदूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता कौमी भाषा बनाने में लगी हुई है। उसका अंग्रेजी न जानना, कौम की भाषा के लिए अनुकूल जलवायु दे रहा है। इधर सिनेमा के प्रचार ने भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज्यादातर फिल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं। सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओं को अंग्रेजी में बोलते और लिखते देखती है, तो कौमी भाषा से उसे जो हमदर्दी है, उसमें जोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा खयाल होने लगता है कि कौमी भाषा कोई जरूरी चीज नहीं है। जब उसके नेता, जिनके कदमों के निशान पर वह चलती है, और जो जनता की रुचि बनाते हैं, कौमी भाषा को हकीर समझें--सिवाय इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से तारीफ कर दिया करें--तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह कौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जायगी, उसे बेवकूफ समझना है। और जनता को आप जो चाहें इल्जाम दे लें, वह बेवकूफ नहीं है। अपनी समझदारी का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरें, लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज्यादा समझदार है। कौमी भाषा के प्रचार का एक बड़ा जरिया हमारे अखबार हैं, लेकिन अखबारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने में ही खर्च हो जाती है, और चूंकि शिक्षित समाज ऐसे अखबार खरीदने और पढ़ने में अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता और आमदनी कम होने के सबब से वे पत्र को मनोरंजन नहीं बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अंग्रेजी में बोलें, हमें कोई ऐतराज नहीं। लेकिन अपने ही भाइयों के खयालात तक पहुंचने के लिए हमें अंग्रेजी से अनुवाद करना पड़े, यह हालात भारत जैसे गुलाम देश के सिवा और कहीं नजर नहीं आ सकती। और जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश संसार में हैं, जिन्होंने हुक्मरां जाति की भाषा को अपना लिया लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनों अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नयी भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती, हालांकि लक्षण सब वही हैं।

सवाल यह होता है कि जिस कौमी भाषा पर इतना जोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी कोई खास सूरत नहीं बना सके हैं, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अंग्रेजी के पुजारी थे और हैं, मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा से-ज्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबे वाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ हिन्दुस्तानी करती है, क्योंकि मेरे ख्याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक जबान हैं। क्रिया और कर्त्ता, फेल और फाइल, जब एक है, तो उनके एक होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी जबान है, जिसमें फारसी-अरबी के लफ्ज ज्यादा हों, उसी तरह हिन्दी

वह हिन्दुस्तानी है, जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हों। लेकिन जिस तरह अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेजी हैं, उसी भांति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो सकती। साधारण बातचीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यावहार करते ही हैं। थोड़ी-सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का संबंध है। मैं यहां एक उर्दू पत्र से दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ कर देना चाहता हूं–

'एक जमाना था, जब देहातों में चरखा और चक्की के बगैर कोई घर खाली न था। चक्की-चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरखे पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं, इससे उनकी तंदुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मजबूत और जफाकश होते थे। मगर अब तो अंग्रेजी तहजीब और मुआशरत ने सिर्फ शहरों में ही नहीं देहातों में भी कायापलट दी है। हाथ की चक्की के बजाय अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गांवों में चक्की न रही, तो चक्की पर गीत कौन गाये? जो बहुत गरीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते हैं। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।'

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूं, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझने वाले आदमी को जरा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का तीसरा पैरा देता हूं–

'उसकी वफा का जज़्बा सिर्फ जिंदा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी खुद को कुरबान कर देती थी। अगर मौत का जालिम हाथ उसके रफीक हयात को छीन लेता था तो वह बाकी जिंदगी उसके गम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख्स का खयाल भी उसके वफापरस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें 'वह सिर्फ जिंदा आदमियों के साथ वफा न करती थी, और 'वफापरस्त' की जगह 'प्रेमी' 'रफीक हयात' की जगह 'जीवन सखी' का व्यवहार करें, तो वह साफ हिन्दुस्तानी बन जायेगी और फिर उसके समझने किसी को दिक्कत न होगी। अब मैं एक हिन्दी पत्र से एक पैरा नकल करता

'मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये-नये आविष्कारों से बेकारी बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही सही कमी को और भी पूरा कर देता है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए काफी था, लेकिन इसके उधर संसार में हर दसवें साल की जनगणना देखने से मालूम हो रहा है कि जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। पूंजीवादी कुछ लोगों को धनी बनाकर उसके लिए सुख और विलास की नयी-नयी सामग्री जुटा सकता है।'

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमें प्रयोग, आविष्कार, समस्या यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदां लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाकी सभी भाषाओं के बोलने वालों की समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम कौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ अपने शब्दों को कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह भी ज्यादा नहीं। एक दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिए–

'अपने साथ रहने वाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज-रोज का संबंध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुत: न्यायकर्त्ता, जेल के अधिकारी और पुलिस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्त्ता तो सदा खूंख्वार बना रहता है, क्योंकि वह कानून का पागल है। अभियोग लगाने वाला, पुलिस को खबर देने वाला, पुलिस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द गिर्द मंडराया करते हैं और किसी प्रकार अपने पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? मामलों-मुकदमों की रिपोर्ट पढ़िये पर्दे के अंदर नजर डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा।'

यहां अगर हम 'समाज विरोधी' की जगह 'समाज को नुकसान पहुंचाने वाले' 'अभियोग' की जगह 'जुर्म' 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर' 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा' 'दुर्नीत' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक बुद्धि' की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बंद' लिखें, तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कर सकते हैं।

इन उदाहरणों या मिसालों से जाहिर है कि हिन्दी-कोष में उर्दू के और उर्दू कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूं कि थोड़े दिन पहले फारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फारसी के शब्द जितना रिवाज पा गए हैं उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, उसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लिया और उन्होंने हजारों संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी से बोले जा सकें। ब्रजभाषा और अवधी में इसकी बहुत सी मिसालें मिलती हैं, जिन्हें यहां लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता। इसलिए कौमी भाषा में उसका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व-साधारण नहीं समझते ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गए हैं कि उनको समझने में जनता को कोई दिक्कत नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब बेपढ़े भी समझते हैं। 'गुप्तचर' की जगह 'मुखबिर', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई' ज्यादा सरल शब्द है। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी कौमी जबान चाहते हैं, जिसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नहीं चाहता कि उसकी बात ज्यादा-से ज्यादा लोग समझें, ज्यादा

से-ज्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक संबंध हो। हिन्दी में एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूंकि हिन्दुस्तान की सभी सूबे वाली भाषाएं संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं इसलिए हिन्दी में हमें अधिक-से अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिए, ताकि अन्य प्रांतों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूं कि ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलने वाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलने वाले आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज्यादा फारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आंखें नहीं बंद कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धुन में तोड़-मरोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा में और लिखने की भाषा में कुछ-न कुछ अंतर होता है, लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती हैं। लिखित भाषा की खूबी यही है कि वह बोलचाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोलचाल की भाषा भी अक्सर ओर परिस्थिति अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में [जो भाषा बोली जाती है, वह बाजार की भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए, लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फारसी शब्दों में शीन काफ की बड़ी कैद है, लेकिन कौमी भाषा में यह कैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह 'क' ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे महत्त्व की चीज है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी, चाहे वे किसी प्रांत के रहने वाले हों, समझें, बोलें और लिखें।] ऐसी भाषा पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में है। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुंजाइश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता, बल्कि उसे बना संवारकर रखना चाहता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावंत राग-रागिनियां गाते समय केवल संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुनने वालों में कितने अनाड़ी बैठे हैं, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमें राष्ट्रभाषा का प्रचार करना है, तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खासतौर से ध्यान रखना होगा। उसे वक्त ऐसी भाषा कानों और आंखों को खटकेगी, जरूर, कहीं गंगामदार का जोड़ नजर आयगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड़ देंगे, पंडितजी भी खिलखिलाएंगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोड़ेंगे और चारों तरफ से शोर

मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुंद छुरी से उसे जिबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिए यह साजिश की गई है, हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गई है। लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मजबूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मजदूरों की भी बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्रभाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्रभाषा तो बाजारों और गलियों में बनती है, लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज जरूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, उधर अपनी अपनी जबानों के दरवाजों पर संगीनें लिए खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आंख न उठा सके। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिना तकल्लुफ स्थान देते हैं, लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अंदर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की तरह फारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। जरा-जरा से मुज़क्कर और मुअन्नज के भेद पर तूफान मच जाया करता है। उर्दू जबान सिरात का पुल बनकर रह गई है, जिससे जरा इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुंचे। जहां राष्ट्रभाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहां सबसे बड़ी दिक्कत इस लिंग भेद के कारण पैदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पंडितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फंदों में कुछ को नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा को होगा कि वह जहां तक हो सके, निरर्थक, कैदों से आजाद हो। आंख क्यों स्त्रीलिंग है और कान क्यों पुल्लिंग है, इसका कोई संतोष के लायक जवाब नहीं दिया जा सकता।

मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जो संख्या जनता की भाषा का वायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, फिर चाहे समाजवाद या समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आयें। संभव है, इस वक्त आपको राष्ट्रभाषा की जरूरत न मालूम होती हो और अंग्रेजी से आपका काम मजे से चल सकता हो, लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को मजबूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें कौमी भाषा का स्थान सबसे ऊंचा नहीं, किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अंग्रेजी को अपनी कौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपकी आजादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह भीतर की आत्मा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आजादी के शहीद बन जाने की हविस है। यहां जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा नहीं। लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान के एक कौम देखना चाहते हैं—इसलिए नहीं कि वह कौम कमजोर कौमों को दबाकर, भांति-भांति के मायाजाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाए और अपनी ताकत पर घमंड करे, बल्कि इसीलिए कि वह आपस में हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाए कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें—उनका यह फर्ज है कि कौमी

भाषा के विकास और विचार में वे हर तरह मदद करें। और यहां सब हमारे हाथ में है। विद्यालयों में हम कौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए कौमी भाषा में बोलना और लिखना लाजिमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अंग्रेजी या बंगला, एक-दो कॉलम कौमी भाषा के लिए अलग करा सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर कौमि भाषा का व्यावहार कर सकते हैं। आपस में कौमी भाषा में बातचीत कर सकते हैं। जब तक मुल्की दिमाग अंग्रेजी की गुलामी में खुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी में राष्ट्र न बन सकेगा। यह भी जाहिर है कि प्रांत या एक भाषा के बोलने वाले कौमी भाषा नहीं बना सकते। कौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रांतों के दिमागदार लोग उसमें सहयोग देंगे। संभव है कि दस-पांच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाय कोई पश्चिम, लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शांत हो जायगा और जहां केवल धूल और अंधकार और गुबार था, वहां हरा-भरा साफ-सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके कलम में दो मुर्दों को जिलाने और सोतों को जगाने की ताकत है, वे सब वहां विचरते हुए नजर आएंगे। तब हमें टैगोर, मुंशी, देसाई और जोशी की कृतियों से आनंद और लाभ उठाने के लिए मराठी और बंगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। कौमी भाषा के साथ कौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी संपन्न और सरसब्ज भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रांतीय न होकर कौमी हो जायगा। इस अंग्रेजी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वेलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मनहूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत् और मुंशी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। डॉक्टर टैगोर भी अंग्रेजी न न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते। मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नहीं समझी और उस पर जोर नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओं का है कि वह कौमी भाषा के प्रचार के के लिए इनाम और तमगे दें उसके लिए विद्यालय खोलें पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगेंडा करें। राष्ट्र के रूप के संगठित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिंदा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुंचने की शाही सड़क कौन-सी है मगर दूसरी कौमों के साथ कौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनना है, उसे एक कौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हकीकत को मानते हैं, लेकिन सिर्फ खयाल में। उस पर अमल करने का हममें साहस नहीं है। यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इंडिया संस्था का होना जरूरी है जो इसके महत्त्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

भाषा और लिपि का संबंध इतना करीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएं हैं, उनको एक लिपि में लिखने मे कोई बाधा नहीं है, थोड़ा सा प्रांतीय संकोच चाहे हो। पहले भी स्व० बाबू शारदाचरण मित्र ने एक लिपि विस्तार परिषद बनाई थी और कुछ दिनों तक एक पत्र निकालकर वह आंदोलन चलाते रहे, लेकिन उससे कोई खास फायदा न

हुआ केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का अंतर कम नहीं होता और हिन्दी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रांतीय भाषाओं को हम प्रांतीय लिपियों में लिखते जाएं, कोई एतराज नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से खास मोह है बल्कि इसलिए कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि हिन्दी से बिल्कुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। अगर उर्दूदां आदमी को मालूम हो जाए कि केवल हिन्दी अक्षर सीखकर वह डॉ॰ टैगोर या महात्मा गांधी के विचारों को पढ़ सकता है, तो वह हिन्दी सीख लेगा। यू॰ पी॰ के प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता है। जहां तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदां का एतराज न होगा। स्कूलों मे हफ्ते में एक घंटा दे देने से हिन्दी वालों को उर्दू और उर्दू वालों को हिन्दी लिपि सिखाई जा सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू के स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमें गति का एक ऐसा गुण है कि उर्दू जानने वाले उसे छोड़ नहीं सकते और जिन लोगों का इतिहास और संस्कृति और गौरव उर्दू लिपि में सुरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा भी नहीं की जा सकती। उर्दूदां लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते हैं, इसका लाजिम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जाएंगे और राष्ट्रभाषा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जाएगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरी पीछे रह जायेगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्र-लिपियां हैं और हमें अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे।

[भाषण लेख। राष्ट्रभाषा सम्मेलन, बंबई में 27 अक्तूबर, 1934 को स्वागताध्यक्ष पद से दिया गया। 'हंस' नवंबर, 1934 में प्रकाशित एवं 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'कुछ विचार' में संकलित।]

बातचीत करने की कला

बातचीत करना उतना आसान नहीं है, जितना हम समझते हैं। यों मामूली सवाल-जवाब तो सभी कर लेते हैं, अपना दु:ख सभी रो लेते हैं, उसी तरह, जैसे सभी थोड़ा-बहुत गाकर अपना मन प्रसन्न कर लेते हैं, लेकिन जिस तरह गाने की कला कुछ और है और उसे सीखने की जरूरत है, उसी तरह बातचीत करने की भी एक कला है, जो कुछ लोगों में तो ईश्वरदत्त होती है और कुछ लोगों को अभ्यास से आती है और जो आज अज्ञात कारणों से लुप्त होती जा रही है। आज दो चार हजार सुशिक्षित आदमियों में एक-दो ही ऐसे निकलेंगे, जो अपने संभाषण से किसी समाज

या मंडली का मनोरंजन कर सकते हों, अपनी लियाकत का सिक्का जमा सकते हों या अपने पक्ष का समर्थन कर सकते हों। और विचित्र बात यह है कि पढ़े-लिखे और विद्वान् लोग इस कला से जितने शून्य देखे जाते हैं, उतने अशिक्षित और ग्रामीण लोग नहीं।

किसी गाड़ी में दो पढ़े-लिखे सज्जन हजार-दो हजार मील की यात्रा साथ करेंगे, पर एक-दूसरे से सलाम-कलाम भी न करेंगे। एक अपना अखबार पढ़ता रहेगा, दूसरा अपने उपन्यास में डूबा रहेगा। इससे उल्टे दो ग्रामीण ज्योंही गाड़ी में बैठे कि उनमें चिलमबाजी शुरू हो जाती है, फिर खेती बारी का जिक्र छिड़ जाता है, फिर मामले-मुकदमे की चर्चा होने लगती है, जमींदार ने कैसे उसे बेदखल किया या साहूकार ने कैसे सूद दर सूद लगाकर पचास के दो सौ पचास रुपये कर लिये और उसकी सारी जायदाद नीलाम करा ली। जब तक यात्रा समाप्त न होगी, उनकी जबान बंद न होगी। संभव है, वे गाना शुरू कर दें। चलते-चलते उनमें एक सद्भाव पैदा हो जाता है। यहां हमारे बाबू साहब अपनी जगह पर बैठे अपने मुसाफिर भाई को गहरी आलोचना की आंखों से देखकर रह जाते हैं। आप एक ग्रामीण के साथ लंबी-से लंबी यात्रा हंसते हुए कर सकते हैं, लेकिन बाबू साहब के साथ आप छोटी यात्रा करके ऊब भी जाते हैं। उस ग्रामीण के जीवन में कुछ रस है, कुछ उत्साह है। कुछ आशावादिता है, कुछ बालकों का-सा कुतूहल है, कुछ अपनी विपत्ति पर हंसने की सामर्थ्य है, लेकिन मिस्टर या बाबू साहब अपने आप में सिमटकर मानो सारी दुनिया से रूठ गए हैं। ऐसा क्यों होता है, समझ में नहीं आता।

लेकिन ग्रामीणों में भी यह कला तनज्जुल पर है। पुराने जमाने में नाई संभाषण-कला में जन्म ही से निपुण होता था, उसी तरह जैसे धोबी जन्म ही से कविता की कला में सिद्ध होता है। अलिफलैला में नाइयों द्वारा कही गई कई कहानियां हैं और यह विशेषता कुछ ईरानी या अरबी हज्जामों ही में न थी हमारे यहां भी नाई पक्का बातूनी होता था, बड़ा हाजिरजवाब, जिसका दिमाग लोकोक्तियों और चुटकुलों की खान होता था। गांवों में नाऊ ठाकुरों की हजारों कथाएं आज भी प्रचलित हैं, लेकिन नाइयों में भी अब उस कला का लोप होता जा रहा है। अब तो वह मुहर्रमी सूरत लिए आता है, चुपचाप बाल बनाता है, और पैसे लेकर चला जाता है।

नाइयों में तो इस कला के मिटने का कारण देहातों की बदहाली और साधारण जनता की गरीबी हो सकती है। जिनके पास पैसे हैं, वे अब अपने हाथों अपनी दाढ़ी साफ कर लेते हैं, कहीं छठे महीने उन्हें बाल कटवाने के लिए नाई की जरूरत पड़ती है। और देहातों में किसान आप ही दाने को मुहताज है, नाई का पेट कहां से भरे। जब किसान के बखारों में अनाज और गायें-भैंसों के थनों में दूध भरा होता था, तब नाई ठाकुर मूंछों पर ताव देते थे और भरा हुआ पेट उबलते हुए झरने की तरह किलोलें करता था, आनंद बढ़ाने वाली भावनाएं मन में उठती थीं और चुटकलों के रूप में निकलती थीं। जहां किसान बाकी और ब्याज के भंवर में डूबता उतराता हो और उसके बच्चे भूख से बिलबिलाते हों, वहां हंसने हंसाने की किसे सूझती है।

शिक्षित लोगों में जो रूखापन और उदासीनता आ गई है, उसका कारण शायद आजकल की शिक्षा प्रणाली है। पहले साहित्य ही मुख्य पाठ्य विषय था। हम बड़े-बड़े कवियों की सूक्तियां याद कर लिया करते थे। सुभाषितों का एक खजाना हमारे दिमाग में जमा हो जाता था और कंठस्थ होने के कारण अवसर पड़ने पर हम संभाषण में उसका व्यवहार करते थे। अब बाल्यवस्था में जो किस्से-कहानियां या अन्य पाठ पढ़ाये जाते हैं, उनमें सुभाषितों का नाम भी नहीं होता। और जब ऊंची कक्षाओं में क्लासिक पढ़ने का समय आता है, तो उसके लिए पाठ्यक्रम में इतना कम समय होता है कि केवल उसका अर्थ समझ लेना ही काफी समझा जाता है। रटंत की किसे फुरसत है। अच्छे संभाषण के लिए अच्छी स्मरण-शक्ति का होना आवश्यक है, और यह शक्ति आजकल उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती है। बड़े-बड़े विद्वानों से कहिए कि शेक्सपियर की दो-चार सूक्तियां सुनाइए, तो वे केवल मुस्कराकर रह जायंगे। गरीब को कुछ याद हो तब तो सुनाये। एक कारण यह भी है कि हमने जनता में मिलना-जुलना तर्क कर दिया है, जहां भावनाएं अपने मौलिक और प्राकृतिक रूप में निवास करती हैं। जब तक आपको हजार पांच सौ शेर और कवित्त या दोहे, सौ दो सौ चुटकुले, दो चार सौ सुभाषित और सूक्तियां याद न हों, आप मनोरंजक संभाषण नहीं कर सकते। किसी का व्याख्यान सुनने जाइए, अगर वह केवल फिलॉसफी बघार रहा है, या बड़ी ओजस्विनी भाषा में परिस्थितियों पर अपना मत प्रकट कर रहा है, तो आप बहुत जल्द ऊब जाएंगे, लेकिन अगर वह बीच-बीच में अपने कथनों को विनोद-भरे चुटकुलों और सुभाषितों से अलंकृत करता जाता है, तो आप अंत तक मुग्ध बैठे रहेंगे। एक लतीफे से सारे संभाषण में जान-सी पड़ जाती है। सैकड़ों दलीलें एक तरफ और एक [illegible] सुभाषित एक तरफ। वह प्रतिद्वंद्वी को निरुत्तर कर देता है, उसके जवाब में उसकी जबान नहीं खुलती। उसका पक्ष कितना ही प्रबल हो, पर सुभाषितों में कुछ ऐसा जादू होता है कि मानो वह एक फूंक से दलीलों को उड़ा देता है। मौलाना मुहम्मद अली मरहूम जिन दिनों अंग्रेजी 'कामरेड' नाम का साप्ताहिक-पत्र लिखा करते थे तो उनके लेखों का हरेक पैराग्राफ गालिब के शेरों से अलंकृत होता था और इससे राजनीति के रूखे विषय में भी रस आ जाता था। उनके इस तरह के लेख लोकप्रिय होते थे और बड़ी रुचि से पढ़े जाते थे। मौलाना मुहम्मदअली को गालिब का पूरा 'दीवान' कंठ था और शेरों को वह कुछ इस तरह चिपका दिया करते थे कि मालूम होता था गालिब ने वह शेर इसी अवसर के लिए कहा हो। स्व० अकबर की व्यंगोक्तियां भी दंदांशकन हैं, इतनी सजीव और चुलबुली कि अगर हम अपनी बातचीत में मौके पर उनका व्यवहार कर सकें, तो सुनने वालों को फड़का दें। कबीर और तुलसी, रहीम, गिरधर आदि की रचनाएं सुभाषितों से भरी पड़ी हैं, मगर अंग्रेजी स्कूलों में हिन्दी साहित्य एक गौण विषय है, और जिन लोगों ने इन महाकवियों को केवल स्कूलों में पढ़ा है, वे शायद ही उनकी सूक्तियों को याद रख सकते हों। लतीफों की कोई अच्छी पुस्तक हिन्दी में हमारी नजर से नहीं गुजरी। बीरबल, अकबर और खुसरो के नाम से जो लतीफे प्रचलित हैं उनमें अधिकांश

गंदे और कुरुचिपूर्ण हैं। अगर कोई सज्जन लतीफों को संग्रह कर सकें, तो साहित्य का उपकार करें। समाज में वार्ता-कुशल व्यक्ति का कितना सम्मान और प्रभाव होता है, यह लिखने की जरूरत नहीं। ऐसा आदमी किसी मंडली में पहुंच जाता है, तो तुरंत सबका ध्यान अपनी ओर खींच लेता है और मंडली पर मानो उसका आधिपत्य हो जाता है। हां, मौका देखकर ही जबान खोलना चाहिए और उसी विषय में बोलने का साहस करना चाहिए जिसका हमें कुछ अनुभव या ज्ञान है। मौन की बड़ी प्रशंसा की गई है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम मौका आने पर भी मुंह बंद किए बैठे रहें। हां, अगर हमारे पास कहने को कुछ नहीं है, तो मौन रहना ही उचित है। मौन से कम-से-कम हमारी मूर्खता का परदा तो ढका रहता है। हम तो कहते हैं, हमारे थोथेपन के लिए बड़ी हद तक हमारी अयोग्यता ही जिम्मेदार है। अगर हमारे स्टॉक में लोकोक्तियों और लतीफों का अभाव न हो, तो हम थोथे बैठे ही नहीं रह सकते। जिसे नाचना आता है, वह अवसर पड़ने पर बिना नाचे रह ही नहीं सकता। अगर उसे नाचने का अवसर न मिले, तो वह मन में बहुत दु:खी होगा और भाव-भंगियों से अपना असंतोष प्रकट करेगा। जो अच्छे वक्ता हैं, वे किसी सम्मेलन में चुप नहीं बैठ सकते। उनकी जीभ खुजलाने लगती है। और वे बार-बार स्लिप लिख-लिखकर सभापति से बोलने की अनुमति लेकर ही रहते हैं। जिन गरीबों को बोलने की शक्ति या अभ्यास नहीं है, वे तो बार-बार कहने पर भी मंच पर नहीं आते, मनाते रहते हैं कि यह बला मेरे सिर न आ जाय।

लगभग एक महीना हुआ हमारी मुलाकात एक ऐसे सज्जन से हुई, जिनकी वाचालता देखकर हम दंग रह गए। लतीफों और सुभाषितों का एक सोता था, जो उबलता चला आता था। ऐसा कोई विषय न था जिस पर उनकी अपनी एक स्वतंत्र राय न हो और जिसका समर्थन वह कायल कर देने वाले ढंग से न कर सकें। कई बार यह जानते हुए भी कि उनका कथन भ्रममूलक है, उनकी वाचालता से लाजवाब हो गये। अपने पक्ष में एक मार्मिक लतीफा कहकर वह कहकहा मारते थे और इसके साथ मैदान मार लेते थे। वह जानते थे, इस फैसले के खिलाफ मैं कुछ नहीं कह सकता। उन्होंने कितने लतीफे कहे, इस वक्त सब तो याद नहीं आते, लेकिन दो-चार याद हैं, उन्हें मैं पाठकों के मनोरंजन के लिए यहां देता हूं और उनसे अनुरोध करता हूं कि वह अपने दिमाग को ऐसे लतीफों से जितना सशस्त्र कर सकें, कर लें। इससे वे अपने ही दु:खों पर नहीं, दूसरे के दु:खों पर भी प्रहार कर सकेंगे और अपने श्रद्धालुओं का दायरा फैला सकेंगे-

(1) दक्षिणी अफ्रीका में एक बार सरकारी कर्मचारी जन-गणना के सिलसिले में एक झोंपड़ी के सामने पहुंचा, जहां कई बच्चे खेल रहे थे। उसने आवाज दी, तो उसके जवाब में एक हबशिन बाहर निकल आई। कागजों की खानापूरी करने के लिए कर्मचारी ने पूछा—तुम्हारा शौहर क्या काम करता है?

हबशिन ने जवाब दिया--वह क्या करेगा। उसे मरे तो बीस साल हो चुके हैं।

'तो यह बच्चे किसके हैं?'

'मेरे हैं।'

'लेकिन तुम तो कहती हो कि तुम्हारे शौहर को मरे बीस साल हो गए?'

'हां, वह मर गया है, लेकिन मैं तो अभी जिंदा हूं।'

(2) एक तेली ने अपने बैल के गले में घंटी बांध रक्खी थी। एक सज्जन ने पूछा—'क्यों साहजी, बैल की गर्दन में घंटी क्यों बांध रक्खी है?'

तेली ने जवाब दिया—'इसलिए कि बैल चलता रहता है, तो घंटी बजती रहती है। मैं कोई दूसरा काम भी करता रहता हूं, तो मुझे मालूम रहता है कि बैल चल रहा है, खड़ा नहीं हो गया।'

'लेकिन अगर बैल खड़ा होकर सिर हिलाता रहे?'

'महाशय, मेरा बैल इतना समझदार नहीं है?'

(3) एक हिसाबदां ने दरिया की गहराई का अनुपात निकालकर घर वालों से कहा—पानी थोड़ा है, कोई डर नहीं, हम इसे पार कर लेंगे, लेकिन जब घर के सब लोग मध्य धारा में पहुंचते ही उसकी आंखों के सामने डूब गये, तो वह फिर किनारे पर पहुंचे और फिर अनुपात निकाला। वही जवाब निकाला जो पहले था, तो बोले- अरे ज्यों का त्यों, कुवां डूबा क्यों?

(4) एक अफीमची पिनक में राह में पड़ा हुआ था। एक फक्कड़ ने उसके सिर की पगड़ी उतार ली और उसकी जगह थोड़ी सी रुई रख दी। अफीमची जब पिनक से जागा, तो पगड़ी संभालने के लिए सिर की तरफ हाथ बढ़ाया। पगड़ी की जगह रुई उसके हाथ आयी तो बोला—कम्बख्त, धुनकी गयी, काती गयी, बुनी गयी पगड़ी बनी। इतना सब कुछ हो चुकने के बाद फिर रुई की रुई।

(5) एक बार मि० हर्बर्ट स्पेंसर कहीं सैर करने जा रहे थे। आप इंग्लैंड के बहुत बड़े फिलॉसफर हो गुजरे हैं। रास्ते में आपको एक सौ साल की बुढ़िया नजर पड़ी। हर्बर्ट स्पेंसर को मजाक की सूझी, बोले -मैडम, दुनिया में तुम्हारा कोई प्रेमी भी है? बुढ़िया ने छूटते ही जवाब दिया—बेटा, मेरे प्रेमी तो सब स्वर्ग सिधारे, बस एक तुम जीते बचे हो। फिलॉसफर साहब ऐसे झेंपे कि भागते ही बना।

(6) तुर्की के प्रसिद्ध प्रधानमंत्री असमत पाशा जब लोजान की कांफ्रेंस में सेवरी की संधि को बदलवाने के लिए आये, तो आपका सामना लार्ड कर्जन से हुआ। लार्ड कर्जन की अकड़ तो मशहूर है। आपने इस घमंड में कि वह दुनिया के सबसे शक्ति-संपन्न साम्राज्य के प्रतिनिधि हैं, तुर्की प्रतिनिधियों पर रोब जमाने के लिए राष्ट्रवादी तुर्कों पर खूब हमले किये। लार्ड कर्जन का यह ढंग देखकर असमत पाशा ने ऐसा मुंह बना लिया, मानो लार्ड कर्जन बोल ही नहीं रहे हैं। जब लार्ड कर्जन डेढ़-दो घंटे तक डींगें मार कर बैठ गये, तो गाजी असमत पाशा चौंककर उठ खड़े हुए और कान पर हाथ रखकर बोले—क्या आप तुर्की के विषय में कुछ कह रहे हैं। मैंने तो कुछ सुना ही नहीं। दूसरे विचारों में डूबा हुआ था। लार्ड कर्जन पर घड़ों पानी पड़ गया।

[लेख। 'हंस', दिसम्बर, 1934 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएं

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपकी सौ जबानों से धन्यवाद देना चाहता हूं, क्योंकि आपने मुझे वह चीज दी है, जिसके मैं बिल्कुल अयोग्य हूं। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूं। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरंत स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाये मुंड़िया हिलाये' की जो आदत होती है वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहां वह काम करने खड़ा हूं, जिसकी मुझमें लियाकत नहीं है, लेकिन इस तरह की गंदुमनुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूं। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप शनाप बकूं, उसकी खूब तारीफ कीजिए, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिए, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिए- जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ ।

आपकी सभा ने पंद्रह-सोलह साल से मुख्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूं, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुंह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बुलंदी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूं कि आप भारत के दिमाग हैं, तो वह मुबालगा न होगा। किसी अन्य प्रांत में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे संदेह है। जिन दिमागों ने अंग्रेजी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेजी आचार-विचार में भारत में अग्रगण्य थे और हैं वे लोग राष्ट्रभाषा के उत्थान पर कमर बांध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमागों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था वे आज राष्ट्रभाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नजर आते हैं और जहां से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहां से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेजी लिखने और बोलने में अंग्रेजों को भी मात कर दिया, यहां तक कि आज जहां कहीं देखिये अंग्रेजी पत्रों के संपादक इसी प्रांत के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दी वालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्री दल के नेताओं के भाषण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गई है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मंजी हुई भाषा और सफाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है जब राष्ट्रभाषा प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुंचा है, और आज भी यह प्रांत अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक,

सबसे व्यापक, सबसे, कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह अपने नंगे रूप में नहीं नजर आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेजी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूंग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व के हम तोड़ सकें, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदखाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ-सुथरा होगा। भोजन भी वहां शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दंड की याद दिलाने वाली चीज यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते, हंसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ता, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आजाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अंग्रेजी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसका रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणीमात्र में होती है। अंग्रेजी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुंड की तरह उस द्वार के अंदर घुसकर जमीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये, उस गुलशन की हवा नसीब नहीं। मजा यह है कि इस झुंड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल जरा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गए, और उसमें उड़ने की शक्ति नहीं रही, वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफस है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने गरीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से विदा होते जा रहे हैं। प्रतिभा का और बुद्धि-बल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आए हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है जितना विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ से ठोकरें खा रहा है? स्वामियों की ओर से इसलिए कि वह समझते हैं -मेरी चौखट के सिवा इनके लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय संबंध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोलचाल, उनकी भेषभूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेजी भाषा के गुलाम हो गए। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता। लेकिन अब तो इतने दिनों के तजुरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिए कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते,

फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं? अभी गत वर्ष एक इंटरयूनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-संबंधी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी की जगह पर मातृ-भाषा क्यों न रखी जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों? इसलिए कि अंग्रेजी माध्यम के बगैर अंग्रेजी में हमारे बच्चे कच्चे रह जायंगे और अच्छी अंग्रेजी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे। मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं लिखा, जिनका इंग्लैंड में उतना ही मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेजी लेखक का होता है। याद नहीं, पंडित मदनमोहन मालवीय जी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेजी में बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उससे गलती तो नहीं हो गई। हम आंखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेजी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं, लेकिन बड़े-से-बड़े भारतीय-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज से ज्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेजी योग्यता पर वहां के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में गलतियां करते हैं। और यह नतीजा है कि कम-से कम बारह साल तक आंखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का अंग्रेजी माध्यम जरूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान, चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं, लेकिन अंग्रेजी माध्यम के बगैर हमारी नाव डूब जायगी। हमारी मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम जहां तक व्यापार में उनका संबंध है उन्होंने कौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूं, लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिए कि जिस दिन आप अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायंगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़, समुद्र और राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बांधे रहती है, और उसका शीराजा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गई थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपका एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेजी रात विदा हो जाय--और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है--तो फिर आपका यह राष्ट्र कहां जायगा? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रांत एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी कौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेजी राज का अमर रहना चाहिए। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिए उद्योग करना चाहते हैं, तो हमें राष्ट्रभाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्रभाषा

के बख्तर से हम अपने राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिए, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप कानूनी बाल की खाल निकालने वाले वकील नहीं बना रहे हैं, आप शासन मिल के मजदूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बंधुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो, लेकिन आपने आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए कदम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूंगा। इसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, या उर्दू कहिए, चीज एक है। नाम स हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो खुदा है, और राष्ट्रभाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में ऐसे लोगों की काफी तादात निकल आए तो, जो ईश्वर को 'गॉड' कहते हैं, तो राष्ट्रभाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहां मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी सभी जातियां मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रांतीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायापलट करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असंभव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी तो शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियंत्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें, पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर ही हो सकता है। बोलचाल पर किसी प्रकार का नियंत्रण रखना मुश्किल होगा। मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग है। प्रयाग में विद्वानों और पंड़ितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जाने वाला शब्द है. उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा सुंदरी को कोठरी में बंद करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइए, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी खास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा

आदर्श तो यह होना चाहिए, कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें। अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह गलत है, कि फारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पंडितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है। इससे कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है, ये मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिए। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज के दो नाम देकर ख्वामख्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना कह सकता हूं, कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टैंडर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दु-मुसलमानों से है, जो कौमियत के मतवाले हैं। कट्टरपंथियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का कैंप आज अलीगढ़ है। वहां उर्दू और फारसी के प्रोफेसर और अन्य विषयों के प्रोफेसरों से मेरा बातचीत हुई, उससे मुझे महसूस हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेजार हैं, जितने पंडिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आंदोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी माने लेता हूं कि मुसलमानों का गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है—हालांकि उस गिरोह का जोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है—और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूंस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफहम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखने वालों के लिए यहां भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज करने का हक है क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और अब भी मैं जितना उर्दू लिखता हूं, उतनी हिन्दी भी लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूं, आप इसे हिन्दी की गर्दनजदनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम-से-कम पांच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिसमें कई तो चोटी के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर, जहांगीर और औरंगजेब तक हिन्दी की कविता का शौक रखते थे और औरंगजेब ने ही आमों का नाम 'रसना-विलास' और 'सुधा-रस' रखा था? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालंधरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआजमाई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हजारों शब्द, हजारों क्रियाएं अरबी और फारसी से आई हैं और ससुराल में आकर

घर की देवी हो गई हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइंसाफी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहां उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीखी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा खराब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएं हैं? हिन्दुओं को 'खराब' भी अच्छा लगता है और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे? हमारी कौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और खराब दोनों के लिए स्थान है, वहां तक जहां तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मजा यह कि 'हिन्दी' मुलसमानों का दिया हुआ नाम है और अभी पचास साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नजर नहीं आता कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इंग्लैंड वाले इंगलिश बोलते हैं, फ्रांस वाले फ्रेंच जर्मनी वाले जर्मन, फारस वाले फारसी, तुर्की वाले तुर्की, अरब वाले अरबी, फिर हिन्द वाले क्यों न हिन्दी बोलें? उर्दू तो न काफिये में आती है न रदीफ में, न बहर में न वजन में। हां, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाए, तो बेशक यहां की कौमी भाषा उर्दू होगी। कौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का कोश एक नहीं हो जाता? हमें दोनों भाषाओं में एक आम लुगत (कोष) की जरूरत है, जिसमें आमफहम शब्द जमा कर दिए जाएं। हिन्दी में तो मेरे मित्र पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह जरूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुगत उर्दू में भी होना चाहिए। शायद वह भी कौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुस्लिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दों से भी परहेज करते हैं, हालांकि हिन्दी में आमफहम फारसी के शब्द आजादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा कहां तक हमारी जरूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियां, यात्रा-वृत्तांत, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्रभाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं, लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनंत शाखाएं भी तो हैं जिनको आप राष्ट्रभाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों में यहां तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्रभाषा सर्वांगपूर्ण नहीं हैं, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रभाषा को उसी तरह सर्वांगपूर्ण बनावें; जैसी अन्य राष्ट्रों की संपन्न भाषाएं हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने सार्थक रूप में भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं है। जो राष्ट्रभाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर-मगजन करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं,

तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भांति आकर मजा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत थोड़ा है और आमफहम शब्दों की संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यवहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएं नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्रभाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फिलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको संतुष्ट होना चाहिए। इसके साथ ही हमें राष्ट्रभाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिए। वही संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायंगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा-विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्रभाषा की जरूरत के कायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायं और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आंदोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की? हमारे विद्वान् लोग तो अंग्रेजी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएं सीखकर भी वे जनता की तरफ से आंखें बंद किए बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन-शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अंग्रेजी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बांध ही लें, तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊंची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अंग्रेजीदां ही नहीं रहते। हजार में 999 आदमी अंग्रेजी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग विदेशी भाषा में सोचें और लिखें, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है? जब तक आपके पास राष्ट्रभाषा नहीं, आपका कोई राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का संबंध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज शासकों को आप राष्ट्र की हांक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ मुजरिमाना गफलत दिखाई है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहां फुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पांति में होता। मेरे विचार में जब तक

राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज प्राप्त कर सके। गैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुजारिश करूंगा कि हजरत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आएंगे और निकल जाएंगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे, लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें लेकिन आपकी आवाज में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयां मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जाय, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम तो तुच्छ न समझिए। यही बुनियाद है, आपका अच्छे से अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी से बड़ी निर्माण योग्यता जब तक यहां खर्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्रभाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैंकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिल्कुल जरूरत नहीं। 'उसमानिया विश्वविद्यालय' काम की चीज है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूं। कम-से-कम अंग्रेज की गुलामी के कारखाने हैं जो लड़कों को स्वार्थ का, जरूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाजारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़ चले जा रहे हैं? अंग्रेजी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदार है। शिष्टता के लिए हमें अंग्रेजों के सामने हाथ फैलाने की जरूरत से ज्यादा हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम जरूरत से ज्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुंच गई है। पश्चिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीजें तो उसमें से छांटी नहीं। छांटा क्या, लोफरपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइए। कितना नम्र, कितना मेहमानवाज, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पश्चिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफर, गुंडा, अक्खड़, हया से खाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अंग्रेजों की गुलामी करने की जरूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहिए जहां ऊंची-से-ऊंची शिक्षा राष्ट्रभाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज्यादा नहीं तो एक ऐसा विद्यालय किसी केंद्र स्थान में होना ही चाहिए। मगर हम आज भी वही भेड़चाल चले जा रहे हैं, वही स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्रभाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गए, पर वहां कोई प्रबंध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आए। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबंध हुआ है, मगर

जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालांकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गंदापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलाई जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की जरूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे? अगर हमारे नेता और विद्वान् जो राष्ट्रभाषा के महत्त्व से बेखबर नहीं हो सकते, राष्ट्रभाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहां तो अंग्रेजियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर आमादा कर सकें कि वे अपने पत्रों के एक-दो कालम नियमित रूप से राष्ट्रभाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्रभाषा पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान ले लेगी, जब हमारे विद्वान् राष्ट्रभाषा में अपनी रचनाएं करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्रभाषा के उत्तम ग्रंथ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मंडल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव स्थान मिलेगा, जब हम मंगनी के सुंदर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही नहीं, संसार साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अंधकार में विलीन हो जायगा, इसका फैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, हमारी संपूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रांतीय साहित्यों की भांति ही अभी संपन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह संपन्न कहा जा सके। बंगला साहित्य से तो हमने उसके प्राय: सारे रत्न ले लिए हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलुगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके, पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस खजाने पर हाथ बढ़ाएंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें शृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएं देखनी हैं, तो तुलसी, सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिए, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और शृंगार में इतना अधिक है कि उस एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अंदर उन कवियों को रहना पड़ा। उस जमाने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यह हाल है। यही उस जमाने का रंग था। हमारे

रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक्शा है भी, तो यह कि संसार चंद-रोजा है, अनित्य है, और यह दुनिया दु:ख का भंडार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हां, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है उर्दू की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गई है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्मव्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उस पर भी अपना रंग जमाया है और वह प्राय: निराशावाद का रुदन है। यद्यपि कवि उस रुदन से दु:खी नहीं होता, बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े-से-बड़े दु:ख और बाधा का स्वागत करता है। और चूंकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह जाहिर है कि अनुभूतियां सबके पास नहीं होतीं और थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दु:ख विकास चाहते हैं, तो 'महादेवी', 'प्रसाद', 'पंत', 'सुभद्रा', 'लली', 'द्विज', 'मिलिन्द', 'नवीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएं पढ़िए। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएं पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दु:ख के स्वर्ग में पहुंच जाएंगे। काव्यों का आनंद लेना चाहें तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठी जी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफीना भी त्रिपाठी जी ने खोदकर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइए और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगाई हुई पुष्पवाटिकाओं की सैर कीजिए। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नजर से गुजरा, वह 'ताज' का रचा हुआ। 'अनारकली' है। हास्यरस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएं पढ़िए। राष्ट्रभाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी० पी० श्रीवास्तव के हंसने वाले नाटकों की सैर कीजिए। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊंचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रंग में कमाल कर गए हैं। उमर खैयाम का मजा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', 'जैनेन्द्र', 'भारतीय', 'अज्ञेय' विशेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्जा रुसवा, सज्जाद हुसैन, नजीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निजामी हैं, जिनकी कलम में दिल को हिला देने की ताकत है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीजें कम आई हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नयी पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह,

नये दृष्टिकोण, नये संदेश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक्की पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रों, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका, लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाजिम है। वह राष्ट्र-लिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है, लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पश्चिम का अंतर है। मुसलमानों को अपनी फारसी लिपि उतनी ही प्यारी है जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बंगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि अरबी और फारसी लिपि में वही अंतर है, जो नागरी और बंगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयां हैं, तो खूबियां भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती कायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है। हमें अपनी राष्ट्रभाषा और राष्ट्र लिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला कदम यह है कि हम नागरी लिपि का संगठन करें। बंगला, गुजराती, तमिल आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्र का प्रचार इतना ज्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक कौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो संभव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलमानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायं? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अंतर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हो। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू॰ पी॰ में यह आंदोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और खत लिख सकें। अगर वह आंदोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र चेतना को इनता सजीव कर दें कि वह राष्ट्रहित के लिए छोटे छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूं आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान बना देता है। समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत

होती है जो खाने-पीने, धन बटोरने और जिंदगी के अन्य धंधों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं—कभी अंधविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने-जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नजर आयेंगी। बहुत संभव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिए। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एकाएक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिए कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पंथ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श-जीवन पर ही निर्भर होती। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊंचे-से-ऊंचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे।

[भाषण/लेख। 'हंस', जनवरी, 1935 में प्रकाशित। ('दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के चतुर्थ उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर 29 दिसंबर, 1934 को दिया गया, दीक्षांत भाषण) 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'कुछ विचार' में संकलित।]

दक्षिण भारत में हमारी हिन्दी प्रचार यात्रा

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की कृपा से हमें अबकी वहां के हिन्दी के उपासकों से मिलने और उनके प्रचार की सफलता को अपनी आंखों से देखने का अवसर मिला। सभा ने इस वर्ष हमें पदवी-दान के अवसर पर दीक्षांत भाषण करने का नेवता दिया और हम 27 दिसंबर को बम्बई के चलकर 28 की शाम को मद्रास जा पहुचे। हमारे साथ हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय के मालिक श्री नाथूराम जी प्रेमी और बम्बई हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रमुख कार्यकर्त्ता श्री आर० संकरन् थे। तीसरे दरजे का सफर था, मगर रास्ते में कोई खास तकलीफ नहीं हुई। प्रेमी जी अपने साथ मगदल के लड्डू और पूरियां रख लाये थे। बीमारी के बाद से खाने-पीने के विषय में वे बहुत सतर्क रहते हैं, रास्ते में हमने खूब लड्डू खाए। पूरियां इधर बहुत कम स्टेशनों पर मिलती हैं। एक-दो स्टेशनों पर मिलती भी हैं, तो बहुत खराब। एक स्टेशन पर हमने पहली बार इदली खाई। यह चावल और उड़द की दाल के मैदे से बनती है। दोनों मैदों को समान मात्रा में मिलाकर गूंध लेते हैं, और इस गूंधे हुए आटे को रात भर यों ही पड़ा रहने देते हैं। इससे उसमें कुछ खट्टापन आ जाता है। दूसरे दिन इसके मोटे-मोटे टिक्कड़ बनाकर भाप कर पकाते हैं। इस प्रांत में इदली खाने का बहुत रिवाज है। होटलों में देखिए तो हर एक आदमी इदली और दाल और चटनी खाता हुआ नजर आएगा। मिठाई से यहां किसी को प्रेम नहीं है। हां, अब उत्तर भारत के संसर्ग से मिठाई का कुछ प्रचार हो चला है।

मद्रास पहुंचकर हम रामनाथ जी गोयनका के मेहमान हुए। सौभाग्य से श्री काका कालेलकर जी भी वहां ठहरे हुए थे। उनके दर्शनों का आनंद मिला। आप सेवा की मूर्ति हैं। हिन्दी-प्रचार में आप तो जो निर्माणात्मक कार्य कर रहे हैं, वह बहुत ही आशाजनक है। जब तक किसी बात की उपयोगिता न दिखाई दे, हमारा प्रेम उसके प्रति स्थायी नहीं हो सकता। हिन्दी-ज्ञान को कैसे उपयोगी बनाया जाय-यही प्रश्न आपके सामने हैं। बड़े-बड़े व्यापार तो अंग्रेजों के हाथ में हैं। वहां हिन्दी की दाल नहीं गल सकती। मगर छोटे-छोटे व्यापारों में, जो भारतीयों के हाथों में है, हिन्दी का व्यवहार करने से कुछ सुविधा हो सकती है। इसी हेतु से आप परिस्थितियों का अध्ययन कर रहे हैं। हमारी शुभेच्छाएं आपके साथ हैं। गोयनका जी उन लक्ष्मी पुत्रों में हैं, जो धन कमाना ही नहीं जानते, उसका सदुपयोग करना भी जानते हैं। आपकी जात से कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं को सहायता मिलती रहती है, और हिन्दी-प्रचार के तो आप एक स्तंभ हैं। अभिमान तो आपको छू भी नहीं गया। आप बड़े ही हंसमुख, निष्कपट, उद्योगी युवक हैं और सभी के कोषाध्यक्ष हैं। आपके घर में हम लोग पांच दिन रहे, बिल्कुल इस तरह, जैसे अपने ही घर में हो।

पदवी-दान का जलसा गोखले हॉल में हुआ था। मेरा ख्याल था कि बहुत बड़ा जमघट होगा, लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियों के कारण बहुत से हिन्दी-प्रेमी बाहर चले गए हैं। यहां के रेलवे विभाग ने सस्ते टिकट जारी करके और भी कितने लोगों को मद्रास से बाहर पहुंचा दिया था, मगर तमाशाइयों की तादाद चाहे कम हो, वहां जितने लोग थे, प्राय: सभी हिन्दी-प्रचार से संबंध रखते थे और हिन्दी प्रचारकों के इस मिशनरी दल को देखकर मन में आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो कई-कई सौ मील तय करके आये थे और उसमें देवियों की भी खासी तादाद थी। इस आंदोलन की बुनियाद केवल सांस्कृतिक नहीं, उससे कहीं अधिक राजनैतिक हैं, जो संपूर्ण देश को एक राष्ट्रभाषा के सूत्र में बंधा देखना चाहता है। इसलिए, इसे प्रांत के प्रतिष्ठित नेताओं का सहयोग भी प्राप्त है और त्याग-भावना से भरे कार्यकर्त्ताओं का भी। श्री राजगोपालाचार्य, जिस सभा के डाइरेक्टर और श्री के० नागेश्वर राव जिसके वाइस-प्रेसीडेंट हों और केवल नाम के लिए नहीं, बल्कि उसके हरेक काम में दिलचस्पी रखते हों, उस सभा का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है, तो क्या आश्चर्य है। 1930 में प्राथमिक, माध्यम और राष्ट्रभाषा तीनों परीक्षाओं में बैठने वालों की तादाद एक हजार सात सौ थी, 1933 में नौ हजार साठ हो गई, मगर 1934 में यह संख्या घटकर चार हजार छ: सौ इकतालीस हो गई। इससे शंका होती है, कहीं हिन्दी का शौक घट तो नहीं रहा है। अगर ऐसा है, तो यह खेद की बात होगी। हमारा कर्त्तव्य है कि इस अवनति के कारणों को खोजें और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें।

मद्रास में देखने के लायक केवल दो चीजें हैं। एक तो समुद्र का तट जो सात मील तक चला गया है, दूसरा अधार जो थियोसोफिकल सोसाइटी का केंद्र है। इतना रमणीक जल-तट भारतवर्ष में है और कहीं नहीं। मीलों तक समुद्र के किनारे ठंडी-ठंडी हवा का आनंद उठाते चले जाइये। अधार मद्रास से आठ मील पर समुद्र के

किनारे एक कालोनी के रूप में है। उसका क्षेत्रफल दो मील से कम न होगा। बहुत ही साफ-सुथरी, फूल-पत्तों से सजी हुई जगह है। पुस्तकालय है, प्रकाशन-विभाग है, मंदिर है, भोजनालय है, कर्मचारियों और अन्य थियोसोफिस्ट सज्जनों के निवास स्थान हैं। बीच में एक विशाल वट-वृक्ष है, जो अपनी बूढ़ी गोद में लगभग दो हजार दर्शकों को शरण दे सकता है। कहते हैं स्व॰ मिसेज एनीबेसेन्ट कभी-कभी वृक्ष के नीचे बैठकर धर्म के पिपासुओं को अपना उपदेशामृत पिलाया करती थीं। यह तपोभूमि दर्शनीय है। इन दिनों इस संस्था का वार्षिकोत्सव हो रहा है। दूर देशों से प्रतिनिधि आये हुए हैं।

मुझे दो बैठकों में प्रांत के प्रमुख प्रचारकों से बातचीत करने का सुअवसर मिला। तीन सज्जन तो उत्तर भारत के हैं, जिन्होंने दक्षिण ही को अपना घर बना लिया है। सभी महानुभावों के दिलों में हिन्दी-प्रचार की लगन मालूम होती थी। सभी में उत्साह दीख पड़ा। सभी इसी काम को पेशा समझ कर नहीं, दिलचस्पी के साथ कर रहे हैं। उन्हें साहित्य से भी प्रेम है और साहित्यिक-विषय की चर्चा सुनने के लिए बड़े उत्सुक पाये गये। महाशय देवदत्त जी विद्यार्थी ने जो केरल प्रांत के संचालक हैं और बिहार प्रांत के निवासी हैं, गद्य-काव्य के दो संग्रह सभी प्रकाशित कराए हैं, और एक ड्रामा भी लिख रहे हैं। इन संग्रहों को पढ़ने से विदित होता है कि आपकी अनुभूतियां कितनी कोमल और आपकी भावनाएं कितनी मार्मिक हैं। उसके साथ ही भाषा पर भी आपका पूरा अधिकार है।

एक रात को हमें प्रचारकों का अभिनय-कौशल देखने का अवसर मिला। दो साल हुए कुछ लोगों ने एक नाटक परिषद बना ली थी और प्रचार के लिए साल में दो एक नाटक खेल लिया करते थे। मतभेद के कारण इस वर्ष परिषद ने कोई नाटक नहीं खेला। मेरा उन सज्जनों से अनुरोध है कि वे अपने महान् उद्देश्य को ध्यान में रखकर वैयक्तिक मतभेदों को भूल जायं और प्रचार के इस अंग को शिथिल न होने दें। मैंने दुर्गादास नाटक के जो दो-तीन दृश्य देखे और उनसे इस नतीजे पर पहुंचा कि थोड़े से संयम के साथ यहां के अभिनेता बहुत सफल हो सकते हैं। एक सीन में चाणक्य का पार्ट दिखाया गया था। मुझे वह पार्ट बहुत पसंद आया। चाणक्य के शब्दों में दर्द था, चोट थी, और विद्रोह था-वह विद्रोह जो ईश्वर की सत्ता से भी इनकार करता है, जिसे संसार छल, कपट, अन्याय और अत्याचार का रंगस्थल सा नजर आता है।

मद्रास में दो अजायबघर हैं। एक पशु-पक्षियों का और दूसरा जल जीवों का। जू तो बहुत साधारण है, पर मछली भवन बड़ा ही सुंदर है। मछलियों का ऐसा विभिन्न, विचित्र और अदभुत संग्रह भारतवर्ष में दूसरा नहीं है। शीशे के पानी से भरे केसों में रंग-बिरंगी मछलियों की क्रीड़ा, बड़ा ही मनाहर दृश्य है।

सभा ने दो मकान किराये पर ले रखे हैं। एक में तो उसका दफ्तर, पुस्तकालय, परीक्षा-विभाग आदि हैं, दूसरे में प्रेस है। दोनों का किराया तीन सौ पचास रुपये देना पड़ता है। मंत्री जी ऐसे मकान की तलाश में हैं, जहां दोनों ही काम हो सकें। ऐसा मकान मिल जाय, तो शायद किराये में कुछ किफायत हो और काम ज्यादा व्यवस्थित

रूप से चलने लगे। ऐसी उपयोगी संस्था के पास अपना भवन न हो और उसे साढ़े तीन हजार रुपये सालाना किराये के रूप में देना पड़े, यह हिन्दी-प्रेमियों के लिए गर्व की बात नहीं। इसका कारण यही मालूम होता है, कि अभी तक हमने हिन्दी-प्रचार का महत्त्व नहीं समझ पाया। इसकी जिम्मेदारी दक्षिण से कहीं ज्यादा उत्तर भारत पर है।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा के समान है। अध्यापक भी प्राय: दक्षिण के लोग हैं। छात्रों को पुस्तकें पढ़ने के सिवा हिन्दी को व्यवहार में लाने के लिए शायद बहुत कम मौके मिलते होंगे। इसका परिणाम यह हो सकता है कि उनका भाषा ज्ञान केवल किताबी ज्ञान होकर रह जाय। इसके कुछ उदाहरण भी मिले। हमें ऐसे कितने ही सज्जन मिले, जो किताबें तो समझ लेते हैं, लेकिन हिन्दी बोल नहीं सकते, और न हिन्दी भाषण आसानी से समझ पाते हैं। अगर अध्यापकगण क्लासों में छात्रों से हिन्दुस्तानी ही में बोलें और इसका ख्याल रखें कि छात्र भी आपस में कम-से कम क्लास में हिन्दुस्तानी का व्यवहार करें, तो उन्हें शुद्ध बोलने का अभ्यास हो जायगा और वह हास्यजनक भूलें न करेंगे, जिनकी एक विनोदी-प्रचारक महोदय ने कुछ मिसालें देकर हमें खूब हंसाया था। दूसरा निवेदन जो मैं प्रचारक महोदयों से करूंगा, वह यह है कि वे हिन्दी की पत्रों पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहें, जिससे उनका भाषा ज्ञान बढ़ता जाय। जिन्हें साहित्य रचना का कुछ शौक है उन्हें कभी कभी पत्रों में कुछ लिखते रहना चाहिए। दक्षिण के साहित्य में ऐसी कितनी ही चीजें होंगी, जिन्हें हिन्दी में लाकर वे उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करेंगे।

मद्रास से हमने पांचवें दिन मैसूर को प्रस्थान किया। यहां से छोटी लाइन जाती है। गाड़ी में बड़ी ठेलम ठेल थी, लेकिन किसी तरह बैठ गए। मैसूर के मुख्य प्रचारक श्री हिरण्यमय जी हमारे पथ प्रदर्शक थे। बंगलोर के श्री जम्बूनाथ जी भी उसी डब्बे में थे। मेरे सामने केरल प्रांत के एक सज्जन बैठे थे। उनसे साहित्य और हिन्दी प्रचार के विषय में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। हिन्दी प्रचार से उन्हें प्रेम तो था, पर उन्हें यह भय भी था कि कहीं यह आंदोलन आगे चलकर हवा में न उड़ जाय। इस तरह का संदेह कभी-कभी मन में होना स्वाभाविक ही है। हमारे आंदोलन इतने जोश से शुरू किये जाते हैं, और थोड़े ही दिनों में लोग उनकी ओर इतने उदासीन हो जाते हैं, कि हम किसी आंदोलन को सजीव देखकर भी आशंकाओं से निवृत्त नहीं हो सकते। मैंने उन सज्जन को विश्वास दिलाया कि हिन्दी प्रचार अब केवल दो एक उत्साही व्यक्तियों का खेल नहीं रहा, यह एक संस्था है, जिसने जनता के दिलों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है, और आशा है कि दिन दिन इसकी उन्नति होगी। हम सुबह को मैसूर पहुंचे। हिन्दी प्रेमियों ने हमारा स्वागत किया और हम कृष्ण-भवन में ठहरे। यहां हमें हर तरह का आराम था और होटल के स्वामी श्री शिवप्रसाद जी ने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया, उसकी कहां तक तारीफ करें। इनकी उम्र अभी अट्ठाइस-तीस साल से ज्यादा नहीं है, और इनका बाल जीवन भी बड़ा ही संकटमय था, यहां तक कि केवल बारह साल की उम्र में इन्हें घर से भागना

पड़ा और वह बंगलोर आकर एक होटल में नौकर हो गए। वहां उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया, उससे उन्होंने दो-एक मित्रों के सहयोग से यह होटल खोलने का उत्साह किया। और अब आप अपने पुरुषार्थ के फलस्वरूप स्वतंत्र हैं। आपको साहित्य और धर्म से विशेष रुचि है, पर आपके विचार बड़े उदार हैं, धार्मिक संकीर्णता का कहीं नाम भी नहीं। मानसिक और व्यापारिक उन्नति के साथ अपने दैहिक उन्नति का भी ध्यान रखा है। आप नियमित रूप से सूर्य नमस्कार और व्यायाम करते हैं। आम वैश्यों की भांति आप केवल धन संग्रह करके ही संतुष्ट नहीं हुए। बल संग्रह भी किया है। आप बलिष्ठ और स्वस्थ युवक हैं। और किसी दुर्व्यसन को अपने पास नहीं फटकने देते। बुरी से-बुरी दशाओं में पुरुषार्थी आदमी क्या कुछ कर सकता है। यह उपदेश हमारे युवक शिवप्रसाद जी के जीवन से ले सकते हैं। मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि आपने धन को अपना स्वामी नहीं बनने दिया, स्वयं उसके स्वामी हैं। आपके जीवन का उद्देश्य परोपकार है। आपका इरादा है, कि अपने जन्म-स्थान बुलंदशहर में एक अच्छी व्यायामशाला कायम करें और युवकों को अपनी देह और स्वास्थ्य को बलवान करने का अवसर दें। कितना पवित्र उद्देश्य है।

कृष्ण-भवन से मिला हुआ ही एक दूसरा होटल है - आनन्द भवन। इसके स्वामी बद्रीप्रसाद जी हैं। मैसूर में उत्तर भारतीयों का यह पहला ही होटल है। और बड़े सुव्यवस्थित रूप से चल रहा है। बद्रीप्रसाद जी बड़े प्रसन्न-चित्त, सेवा-तत्पर, साहित्य रसिक व्यक्ति हैं, और हिन्दी-साहित्य की प्रगति से खूब परिचित हैं। आप भी बुलन्दशहर के निवासी हैं और सपरिवार यहीं रहते हैं। हमें मैसूर मुख्य दर्शनीय स्थानों की सैर कराने का जिम्मा आपने लिया था, और इसके लिए हम आपके आभारी हैं।

मैसूर में यों तो देखने की बहुत-सी चीजें हैं, लेकिन हमारे पास समय न था इसलिए हमें उन्हीं स्थानों को देखकर संतुष्ट होना पड़ा, जो मैसूर से मिले हुए हैं और जिन्हें हम कम-से-कम समय में देख सकते हैं। मैसूर बड़ा ही साफ सुथरा सुन्दर उद्यानों से सजा हुआ, रमणीक स्थान है। जिधर जाइये उधर पार्क, यहां तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलों की लाइन नजर आती है। सड़कें चौड़ी हैं, गर्द गुबार से पाक, चौरस्ते पर बेलों और पौधों से सजे हुए स्क्वायर बने हैं। बिजली शक्ति की तो यहां इतनी इफरात है, कि देहातों में भी बिजली की रोशनी है। और है भी बेहद सस्ती। देहातों में तो केवल दो आना यूनिट है। दूसरे शहरों में केवल म्युनिसिपैलिटी के अन्दर रोशनी होती है। उसके बाहर अंधेरा। यहा हरेक पक्की सड़क पर बिजली की रोशनी है, और चामुंडा पहाड़ी से नगर को देखिये, तो मालूम होता है, बिजली प्रकाश का जाल बिछा हुआ है। यह पहाड़ी शहर से मिली हुई है और अक्सर शाम सबेरे शहर के लोग उस पर हवा खाने जाते हैं। कोई एक हजार फीट ऊंची होगी। चढ़ाई के लिए मोटर चलने लायक सड़क बनी हुई है। जिस पर बिजली की रोशनी है। चोटी पर चामुंडादेवी का मन्दिर है। उससे जरा और ऊंचाई पर महाराजा के निवास के लिए एक सुन्दर बंगला बना हुआ है। चामुंडा देवी मैसूर राजा की कुल-देवी है और महाराज अक्सर यहां पूजन के लिए आते हैं।

मैसूर नगर से दस-बारह मील पर मैसूर की पुरानी राजधानी सेरिंगापट्टम है।

वहां तक पक्की सड़क चली गयी है। सेरिंगापट्टम पहले बहुत गुल्जार बस्ती थी, लेकिन अब लोग इसे छोड़-छोड़कर दूसरी जगहों में आबाद होते जाते हैं। पुराना किला तो मिस्मार हो गया। चारदीवारी कहीं-कहीं बाकी है। यहां की सबसे दर्शनीय वस्तु सुलतान हैदरअली और टीपू की मजार है। एक रमणीक उद्यान के मध्य में मजार की शानदार इमारत है, जो काले पत्थर की है। अन्दर बड़ी खूबसूरत पच्चीकारी है और दरवाजे पर हाथी दांत का काम है, जो मैसूर की खास कला है। किले के बाहर सुलतान टीपू का महल है, जिसका नाम दरिया दौलत बाग है। टीपू सुलतान गर्मियों में यहां आकर विश्राम किया करते थे। इसी की बाहरी दीवारों पर उस जमाने की प्राय: सभी ऐतिहासिक और राजनैतिक घटनाओं के चित्र बने हुए हैं, जो बहुत कुछ उन चित्रों से मिलते हैं, जो आज भी शहर के चित्रकार दीवारों पर बनाया करते हैं, लेकिन अंदर नक्काशी बहुत ही बारीक है। जिस स्थान पर सुलतान अपनी प्रजा को दर्शन दिया करते थे, वह दरबार किसी तरह भी दिल्ली के दरबार आम से कम विशाल नहीं है।

सेरिंगापट्टम से हम कृष्णराज सागर देखने आये। यह एक बहुत बड़ा सागर है, जो कावेरी नदी को बांध से रोककर बनाया गया है। बांध कोई दो मील लंबा और जमीन से कोई एक सौ पचास फीट ऊंचा होगा। चौड़ा इतना है, कि उस पर मोटरें बड़ी आसानी से आ जा सकती हैं। इस बांध को बनने में मैसूर सरकार का करीब दो करोड़ से ऊपर खर्च हो गया है। इस सागर से नहर निकाली गयी है, जो लगभग पचास मील तक की भूमि की सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है, कि अब यहां धान और ऊख की पैदावार कसरत से होने लगी है। ऊख की खपत के लिए सरकार ने एक शक्कर मिल भी बनवाया है। इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पांच करोड़ खर्च हो गये हैं। भारत में इससे बड़ा दूसरा बांध नहीं है। बांध के नीचे एक रमणीक स्थान है, जिसे वृंदावन कहते हैं। यहां फौवारों की विचित्र लीला देखने में आती है। एक नाले से दरिया का पानी लाकर एक ढालू नहर में बड़े वेग से पवाहित किया गया है। दोनों तरफ फौवारों की छटा है, जिनके पास रंग बिरंगे शीशों में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते हुए पानी पर जब इस रंगीन प्रकाश का प्रतिबिंब पड़ता है, तो ऐसा मालूम होता है कि फौवारों से रंगीन पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इंद्रधनुष का-सा दृश्य आंखों को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक है, मगर यह कोई उल्लेखनीय बात नहीं। राजभवन तो उन रियासतों में भी आंखों को मुग्ध कर देते हैं, जहां प्रजा नरक के कष्ट भोग रही है। हमारे राजाओं में निन्यानवे फीसदी तो वही हैं, जो अपनी रियासत की आमदनी का बड़ा भाग अपने ही भोग विलास पर उड़ा देते हैं। उनकी प्रजा मानो है ही इसलिए कि कमा-कमाकर राजा साहब को उड़ाने के लिए दे और मुंह से बोले नहीं वर्ना उसकी जबान काट ली जायेगी। मैसूर तो सम्पन्न राज्य है और उसके राजभवन को रियासत की शान के अनुसार होना ही चाहिए। एक-एक हाल की सजावट देखते रहिए। दरबार हाल तो इस ठाट का है कि शायद ही किसी राज्य में हो। यहां

दशहरे के उत्सव पर महाराजा साहब सिंहासन पर बिराजते हैं और दरबारी और कर्मचारी अपने रुतबे के अनुसार कुर्सियों पर बैठते हैं। इत्र-पान से उनका स्वागत किया जाता है, मगर इस इंद्रपुरी का इंद्र अतुल विभूति का स्वामी होते हुए भी, त्याग का उपासक है। अन्य रियासतों की भांति यहां का दरबार इंद्र का अखाड़ा नहीं, कि संन्यासी का आश्रम है। महाराज को राज्य से बाईस लाख रुपये सालाना मिलते हैं, पर यह उनके भोग-विलास में न खर्च कर प्रजा-हित के कामों में ही खर्च किये जाते हैं। यही कारण है, कि यहां की प्रजा अपने राजा को पूजती है और उस पर गर्व करती है। महाराज संगीत और व्यायाम के प्रेमी हैं और साहित्य से भी आपकी रुचि है।

मैसूर का चिड़ियाघर देखकर बंबई और मद्रास के चिड़ियाघर वैसे ही लगते हैं जैसे महल के सामने झोंपड़ा। जितने विचित्र पशु-पक्षी और जल-जीव यहां हैं शायद कलकत्ते के चिड़ियाघर के सिवा और कहीं नहीं हैं। पशुओं के लिए नैसर्गिक दशाओं की व्यवस्था ऐसी शायद ही कहीं हो। हमने जितने जीव देखे, सभी हृष्ट-पुष्ट, साफ सुथरे और प्रसन्न दिखायी दिये थे।

मैसूर में सरकार की ओर से रेशम का कारखाना भी खुला हुआ है, चंदन के तेल का भी। चंदन पर इस रियासत की मनोपोली या इजारा है। उसका व्यापार सरकार के हाथों में है। कला-कौशल का विभाग भी है, जहां लकड़ी, बेंत, हाथी-दांत, धन कुम्हारी आदि की शिक्षा दी जाती है। वहां की बनी हुई चीजों का प्रदर्शन होता है और बिक्री भी होती है, पर चीजों की कीमत बहुत ज्यादा है। यहां सबसे अच्छी बात जो हमें मालूम हुई वह यह है कि रियासत के कर्मचारियों का या पुलिस का यहां बिल्कुल आतंक नहीं है और रिश्वत की चर्चा यहां बहुत ही कम है। राज्य की सुव्यवस्था का इससे बढ़कर हमारे विचार में दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता।

मैसूर में हिन्दी-प्रचार के कार्यकर्ताओं और संचालकों में मैंने शुद्ध एकात्मक भाव देखा। सभी में हिन्दी के प्रति मिशनरी उत्साह और अनुराग है। पं० हिरण्यमय जी चुपचाप काम करने वाले व्यक्ति हैं, जो शायद स्वप्न में भी प्रचार ही का स्वप्न देखते हों। श्री टी० कृष्ण मूर्ति और श्री के० श्रीनिवास मूर्ति, दोनों ही सज्जन यहां की प्रचार-सभा के मंत्री हैं और केवल पदाधिकारी मंत्री नहीं, बल्कि सभा में जीवन का मंत्र डालने वाले मंत्री। दोनों ही शिक्षा विभाग में अध्यापक हैं, लेकिन हिन्दी-प्रचार को अपना व्यसन बना चुके हैं। एक तीसरे उत्साही युवक मि० जे० पी० वर्मा हैं। यह इंटर यूनीवर्सिटी बोर्ड में हैं और यहां शायद साल-भर ही उनका रहना होगा, लेकिन हिन्दी प्रचार में इस जोश से सहयोग दे रहे हैं, जो संक्रामक है। अपने उत्साह के सामने बाधाओं को कुछ समझते ही नहीं। इन्हें यहां उत्तर भारत के रहने वालों को संगठित करने के लिए एक 'हिन्दुस्तानी' हितैषी मंडल खोलने की धुन है। कोई सुने या न सुने, आप अपना कथन किये जाते हैं। आखिर मेरे हाथों उस मंडल को स्थापित करा के ही छोड़ा, बुनियाद की रस्म तो मैंने कर दी, उस पर इमारत खड़ी करना मैसूर के उन सज्जनों का काम है, जो व्यापार में धन कमाना ही नहीं चाहते, अपने भाइयों की सेवा में उसका एक अंश अर्पण करना भी चाहते हैं। और जिम्मेदारी भी सबसे ज्यादा उन्हीं लोगों पर आती है, जो संसार की प्रगति को देखते और समझते हैं।

मैसूर में इंदिरा बहन से मिलकर चित्त प्रसन्न हुआ है। इस देवी से मैं काशी, प्रयाग और दिल्ली में मिल चुका था। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में दो साल तक इन्होंने हिन्दी का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और आजकल यहां प्रचार कर रही हैं। आप प्रचार-सभा के मंत्री श्री कृष्णमूर्ति जी की सहधर्मिणी हैं। हिन्दी-प्रेम इन्हें प्रयाग खींच ले गया। पति ने भी सहर्ष अनुमति दी। अपनी छोटी-सी बच्ची को घर पर छोड़कर, वह प्रयाग चली गयीं। जिस आंदोलन में ऐसे साधक हों, वह क्यों न सफल हो। एक दूसरी देवी श्रीमती लक्ष्मी अम्मां हैं। इस वृद्धावस्था में इन्होंने विशारद पास किया और अब उर्दू पढ़ रही हैं। उनका उत्साह अदम्य है और युवकों को भी लज्जित करता है। जहां-जहां मैं गया वह मेरे स्वागत के लिए मौजूद थीं। हम उनकी कुटिया में उस श्रद्धा से गये जैसे मंदिर में जाते हैं और वहां हमने दस-पांच मिनट तक इस तरह गुजारे, मानो अपनी बहुत दिनों की बिछुड़ी हुई बहन से मिल रहे हों और बहन उतने ही समय में अपने स्नेह और मेहमानदारी के सारे अरमान पूरे कर लेना चाहती हो। प्रो० सूस्त्री के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में फारसी के अध्यापक हैं और उर्दू के अच्छे जानकार हैं। आपको हिन्दोस्तानी से प्रेम है और संस्कृत के तो आप पंडित हैं। आप इन दिनों भगवद् गीता का फारसी में अनुवाद कर रहे हैं। हिन्दू-मुसलिम समस्या पर आपने जो सोने के-से विचार प्रकट किये, काश वह हमारे लीडरों में भी होते तो भारत आज स्वर्ग हो जाता। आप साधुओं का-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सांप्रदायिक मनोवृत्ति से आपको घृणा है। आपके चरणों में बैठकर हमने जो आत्मिक शांति लाभ की, वह दिव्य दर्शन से होती है। हिन्दी में एक और उपासक प्रो० नांजुन डैया के सत्संग का भी सुअवसर हमें मिला। आप मैसूर-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं और इन दिनों अस्वस्थ हैं आपने जिस उदारता से हमारा स्वागत किया, वह हमारे जीवन की बड़ी मधुर अनुभूति है। आप इन दिनों उर्दू का अध्ययन कर रहे हैं और हमारी कई उर्दू रचनाएं आपकी नजरों से गुजर चुकी हैं। आपका विशुद्ध साहित्य-प्रेम और साहित्य के एक तुच्छ सेवक के प्रति आपका उमड़ता हुआ सम्मान देखकर हम कृतार्थ हो गये। आपसे हमें यही शिकायत है कि आपने हाथी दांत की नक्काशी से सजा हुआ एक सिगरेट बक्स भेंट करके हमें यह पाठ पढ़ाया कि सिगरेट पीना भी कोई सद्व्यसन है और तब से सिगरेट के प्रति हमारा अनुराग बढ़ गया है, क्योंकि बक्स को हम खाली नहीं देख सकते--दावात में स्याही नहीं तो वह कुल्हिया है–और जब सिगरेटों से भरा हुआ डब्बा सामने हो, तो लोभ को रोकना जरा कारे दारद।

यों हमें तो यहां दो जलसों में हिन्दी के विषय में अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला, लेकिन विशेष आनंद का अवसर वह था, जब हम विश्वविद्यालय भवन में हिन्दी के सैनिकों से मिले। पचास मित्रों से कम न थे और यह सभी युवक हैं, जो खुद विश्वविद्यालय में पढ़ रहे हैं। पर हिन्दी से इतना प्रेम रखते हैं कि कुछ-न कुछ समय निकालकर हिन्दी-प्रचार की भेंट करते हैं। यह राष्ट्रभाषा के उत्साही सैनिक हैं और उसके प्रचार का संपूर्ण श्रेय इनको है। कई मित्रों ने हिन्दी में अपनी रची हुई चीजें पढ़ीं और हम लोगों में घंटे भर तक काफी के साथ साहित्यिक समस्याओं

पर खूब गपशप हुई।

मैसूर की राजभाषा कनाड़ी है और बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ के लगभग है, मगर यह संख्या, मद्रास, बंबई, हैदराबाद रियासत और मैसूर में फैली हुई है और इससे इस भाषा के विकास में बाधा पड़ रही है। कनाड़ी का प्राचीन साहित्य ऊंचे दरजे का है और नये साहित्य में भी अच्छी उन्नति हो रही है। बंगलोर में कनाड़ी-साहित्य-परिषद का अपना भवन है, पुस्तकालय है और उसके द्वारा कनाड़ी-साहित्य के अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। मैसूर में मुझे कई कनाड़ी-साहित्य-सेवियों की सेवा में हाजिर होने का अवसर मिला। कई अन्य प्रांतीय भाषाओं की तरह कनाड़ी को भी यह शंका होने लगी है कि हिन्दी-प्रचार के उद्देश्य के विषय में कुछ भ्रम अभी तक बाकी है। हिन्दोस्तानी प्रचार का उद्देश्य यह हर्गिज नहीं है कि वह प्रांतीय भाषाओं का स्थान छीन ले। वह तो अंग्रेजी भाषा का वह स्थान लेना चाहती है, जो उसने भारतवर्ष में प्राप्त कर लिया है। राष्ट्रभाषा और प्रांतीय भाषाओं में कुछ वही संबंध रहेगा, जो प्रांतीय कौंसिलों और भारतीय एसेम्बली में है। एसेम्बली प्रांतीय कौंसिलों के किसी काम में बाधा नहीं डालती। हां, कुछ ऐसे विषय हैं, जिनका संबंध पूर्ण भारत से है और एसेम्बली उन्हीं के विषय में व्यवस्था करती है। जो लेखक या पत्रकार अपनी पुस्तक या पत्र का सारे भारतवर्ष में प्रचार चाहेगा, उसके लिए अंग्रेजी माध्यम की जगह हिन्दी माध्यम का साधन उपस्थित कर देना ही हमारा ध्येय है। आखिर कोई ऐसा दिन तो आयेगा ही, चाहे वह दूर भविष्य में ही क्यों न आये, कि भारत अपनी संस्कृति और अपने साहित्य के साथ अन्य राष्ट्रों के पहलू में बैठे। अगर हम भारत को एक देश न मानकर महाद्वीप मान लें, जिसमें बहुत से देश हैं, तब भी तो हमें एक प्रधान भाषा की जरूरत पड़ेगी ही-जिसमें अंतर्देशीय व्यवहार किया जा सके। हां, अगर इन देशों में कोई संबंध ही न रहे, तो दूसरी बात है। तब तो एक प्रांत भी अपनी पृथक् सत्ता न कायम रख सकेगा। हमारा ख्याल है कि हिन्दुस्तानी का प्रचार साहित्य-सेवियों के लिए यश और कीर्ति का एक महान् क्षेत्र खोल देता है और प्रांतीय भाषाओं को उससे बदगुमान होने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। अभी तक हमने जो कुछ किया है, वह प्रांतीय दृष्टि से ही किया है। हम परिभाषिक शब्दों का कोष बनाते हैं। तो अलग-अलग साधारण कोष बनाते हैं, तो भी अलग-अलग। अगर हमारे पास कोई अंतरप्रांतीय या राष्ट्र-भाषा-परिषद ऐसी होती, जहां प्रतिवर्ष प्रत्येक भाषा के महारथी एकत्र होकर, दो-चार दिन या दो-चार हफ्ते बैठकर राष्ट्रभाषा संबंधी समस्याओं पर विचार किया करते, तो शायद दस-बीस साल में हमारी एक संपन्न राष्ट्रभाषा बन जाती। पृथक्-पृथक् काम करने से समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा हैं। दर्शन, विज्ञान, शास्त्र के हजारों ही शब्द हैं, जो सभी प्रांतीय भाषाओं में एक हो सकते थे। अलग-अलग माथापच्ची करने की जरूरत ही न पड़ती।

पांच दिन मैसूर की मेहमानी खाकर हमने बंगलोर का प्रस्थान किया।

मैसूर से बंगलोर कोई चार घंटे का सफर है। बीच का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही रमणीक है। कहीं हरे-भरे खेत हैं, कहीं आम, नारियल और सुपारी के बाग और कहीं हरियाली से ढकी हुई ऊंची-ऊंची पहाड़ियां। आकाश में कुछ बादल थे और

उस मंद प्रकाश में वह पर्वत। शोभा स्वप्निल हो गयी थी। बीच-बीच घाटियों की गोद में विश्राम करते हुए ग्राम नजर आ जाते थे, जिनकी कलई से पुती हुई दीवारें, गांव वालों की सफाई और सुरुचि का पता दे रही थीं। यहां की मिट्टी लाल है, जिससे खेतों की छटा और भी सुहावनी हो जाती है। खेतों में जो किसान काम करते नजर आते थे, उनका पहिरावा कुरता और जांघिया था। धोती के मुकाबले में जांघिया किफायत की चीज है। वहां धान के खेत भी बहुत मिले, जिनमें नहर से सिंचाई हो रही थी। अब यहां गन्ना भी पैदा होने लगा है और राज्य की ओर एक शक्कर की मिल भी है।

शाम को हम बंगलोर पहुंच गये। स्टेशन पर हिन्दी-प्रचार-सभा के अध्यक्ष श्री निट्टूर. श्रीनिवास राव, श्री जम्बुनाथन जी आदि सज्जन मौजूद थे। हम अध्यक्ष जी के मेहमान हुए।

बंगलोर समुद्र की सतह से तीन हजार फीट की ऊंचाई पर है और मैसूर से कुछ ठंडा है। बंगलोर शहर के दो भाग हैं। शहर जो मैसूर राज्य के अधीन है और छावनी पर अंग्रेजी सरकार का राज्य है। आबादी तीन लाख के ऊपर है। शहर में तो कोई खास बात नहीं, प्रयाग या लखनऊ जैसा ही है, लेकिन छावनी की सड़कों की सफाई और बंगलों की सजावट देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। बंगलोर में और प्राय: दक्षिण में ये आंगन के घर होते हैं। घर में हैसियत के अनुसार दो-तीन-चार कोठरियां होती हैं। मकान के सामने एक छोटा-सा बाग और चारदीवारी भी बनायी जाती है। हर एक घर बंगले जैसा मालूम होता है।

पहले दिन प्रात:काल हम लाल बाग की सैर करने गये। इसका रक्बा एक सौ एकड़ है। बाग की बनावट और सफाई और सुंदरता साफ-सुथरी रविशें, फूलों की क्यारियां, शीश मंडप मन को मुग्ध कर लेती है। खास बात यह है कि यह पार्क-सुलतान हैदरअली की सुरुचि और वनस्पति-प्रेम की यादगार है। यहां पौधों और बीजों की बिक्री होती है और विचित्र प्रकार की वनस्पतियों को विदेशों से मांगकर उपजाया जाता है। बंगलोर की सबसे दर्शनीय वस्तु यही पार्क है।

बंगलोर से तीन मील पर विज्ञान का वह प्रसिद्ध विद्यालय है, जिसे श्री जमशेद जी नौशेरवां जी ताता ने स्थापित किया था। बंगलोर आकर इस विज्ञान-मंदिर के दर्शन न करना दुर्भाग्य की बात होती है। रविवार के दिन हम कोई तीन बजे वहां पहुंचे। विद्यालय बंद थे, पर डॉ० सर सी० वी० रमन ने बड़ी खुशी से हमारा स्वागत किया और हमें विद्यालय के रासायनिक विभाग, पुस्तकालय और लेबोरेटरी की सैर करायी। मैं दो-चार वैज्ञानिकों से पहले भी मिल चुका हूं। यह बड़ा समन्वय बड़ा ही आकर्षक, गूढ़, शुष्क और अपनी धुन में मस्त होता है। प्रकृति की अनंत रहस्यमयी रचनाओं में संदेह विचरते रहने के कारण कदाचित् मनुष्य उसके लिए मामूली पशु-मात्र रह जाता है, लेकिन वैज्ञानिकों के इस प्रिंस को देखकर मैं चकित हो गया। ऐसा प्रसन्नचित्त व्यक्ति, जिसका पोर-पोर बालकों के सरल उछाह से उबला पड़ता हो, मैंने दूसरा नहीं देखा। वह विज्ञान के आशिक हैं। और वह इश्क उनकी आंखों में, उनके कपोलों पर, एक-एक अंग में रमा हुआ है। वह इस तरह से दौड़-दौड़कर एक-एक चीज हमें दिखा रहे थे, मानो कोई बालक अपने किसी सखा को अपने खिलौने और कनकौवे

और नये कपड़े दिखाने के लिए अधीर हो रहा हो और चाहता हो कि एक ही सांस में सारी विभूतियां दिखा दूं, जिसमें कुछ बाकी न रह जाय। मैं अगर कहूं कि इसी इंस्टीट्यूट में उनके प्राण बसते हैं, तो गलत न होगा। इसकी एक-एक रविश, एक-एक फूल, एक-एक पौधे, यहां तक कि उसके मनोरम प्राकृतिक दृश्य पर भी उन्हें गर्व है, मानो वह प्राकृतिक छटा भी उनकी अपनी रचना हो। इस विद्यालय से देश को अब तक क्या लाभ पहुंचा है, यह तो कोई वैज्ञानिक ही जानता होगा, हम तो सर रमन के व्यक्तित्व की छाप हृदय पर लेकर आये। विद्युत-विभाग और अन्य विभाग बंद थे, वह हम न देख सके। सर रमन ने हमें एक मजे का तमाशा दिखाया, जो हमारे लिए तो खेल था, पर बुद्धिमानों के लिए तात्विक छान-बीन की चीज है। तबले के चर्मभाग पर चुटकी भर बालू बिखेर दो और तबले पर एक थाप मारो। बालू कभी सीधी रेखा का रूप धारण कर लेती है, कभी वृत्त का। तबले की अलग-अलग ध्वनि भिन्न-भिन्न आकार में प्रकट होती है। सर रमन जिस जिंदादिली और जोश से तबले पर बालू बिखेरते और थाप लगाते थे, वह देखकर कौन ऐसा मुर्दादिल होगा, जो गद्गद न हो उठता।

चार बजे हम डॉक्टर साहब से बिदा हुए और यह सोचते हुए निकले कि काश बड़े लोग अपने बड़प्पन को अपनी कब्र न बनाकर ज्योति बना सकते, तो उससे कितना प्रकाश फैलता।

उसी दिन हमने चीनी के बर्तनों का कारखाना देखा, जो इंस्टीट्यूट से मिला हुआ है। क्रिया बिल्कुल कुम्हारों की-सी है। एक खास तरह की मिट्टी यहां निकलती है, जिसमें दो-एक चीजें मिला देने से लुग्दी तैयार हो जाती है। लुग्दी को भिन्न भिन्न सांचों में डालकर बाहर निकालते हैं, फिर सुखाते हैं, रंगते हैं, और भट्टी में पकाते हैं। शो-रूम में यहां के बने हुए खिलौनों और मूर्तियों और फूलवानों आदि का अच्छा संग्रह है, जिससे मालूम होता है कि इस काम में यहां कितनी उन्नति हुई है। नल, खपरे, मार्बल, तार की चिड़ियां सब कुछ यहां तैयार होती हैं। मैसूर राज्य-में बिजली का व्यवहार बड़ी कसरत से होता है, उसके लिए चीनी का जितना सामान दरकार होता है, वह इसी कारखाने में तैयार होता है।

बंगलोर में भी मैसूर की भांति हिन्दी का अच्छा प्रचार हो रहा है। यहां के नेशनल हाईस्कूल में तो हिन्दी लाजिमी कर दी गयी है। कुछ उद्योग-धंधे भी सिखाये जाते हैं। यहां एक जलसा हुआ, जिसके सभापति प्रो॰ ए॰ आर॰ वाडिया थे। प्रो॰ वाडिया मैसूर हिन्दी-प्रचार-सभा के प्रेसिडेंट हैं। मैसूर में उनके दर्शन न हो सके थे। वह सौभाग्य यहां मिला। आपको हिन्दी और उर्दू से विशेष रुचि है मगर बोलते हैं अंग्रेजी में और बहुत अच्छा बोलते हैं। स्कूल हेडमास्टर श्री सम्पतराव गिरि, एम॰ ए॰ भी हिन्दी के उपासक हैं और आपने तुलसीकृत रामायण का कनाड़ी गद्य में अनुवाद किया है। इस स्कूल के साथ एक व्यायामशाला भी है, जिसे गत वर्ष महात्मा जी ने खोला था।

बंगलोर में महिलाओं की कई संचालित संस्थाएं हैं और प्राय: उन सभी में हिन्दी पढ़ायी जाती है। सिलाई, बुनाई, कताई, बेंत का काम, संगीत, कसीदे काढ़ना प्राय: सभी संस्थाओं में जारी है। अध्यापन और संचालन-कार्य देवियों ही के हाथों

में हैं। कहीं-कहीं लड़कियों के लिए व्यायामशालाएं भी हैं। स्त्रियों की यह जागृति राष्ट्र के आशाप्रद भविष्यत् की सूचक है। यहां का कोमल जलवायु संगीत के लिए बहुत अनुकूल जान पड़ता है। सभी महिला-समाजों में संगीत का प्रचार है। वीणा यहां का प्यारा बाजा है। काश, ये देवियां महीने में दो दिन आस-पास के देहातों को भेंट कर दिया करें, तो गांव वाली स्त्रियों को भी उनकी जागृति का कुछ प्रकाश मिले। यों तो सभी संस्थाएं तरक्की कर रही हैं, पर मल्लेश्वरम् महिला-समाज की उन्नति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहां 1930 में हिन्दी क्लास खोला गया। पहले साल केवल चार देवियां परीक्षा में बैठीं और गतवर्ष यह संख्या बढ़कर पैंतालिस तक पहुंच गई। इसी संस्था की दो देवियां प्रयाग महिला विद्यापीठ में पढ़ रही हैं। अब तक तीन सौ देवियां इस समाज से हिन्दी का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर चुकी हैं। यहां एक वाग्वर्धिनी सभा भी है, जिसमें देवियां सामाजिक विषयों पर मुबाहसे करती हैं। इतना ही नहीं, यहां से 'समाज भारती' नाम का एक हिन्दी त्रैमासिक पत्र भी निकलता है, जिसमें देवियां भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख लिखती हैं। समय-समय पर यहां विद्वानों और राष्ट्र नेताओं के भाषण भी होते हैं। एक बार महात्मा जी भी यहां अपना अमृत उपदेश कर चुके हैं। इस कीर्ति पर कौन-सी संस्था गर्व न करेगी।

कनाड़ी भाषा और साहित्य-परिषद भी बंगलोर में ही है। हमने बड़ी श्रद्धा से इस साहित्य-मंदिर की परिक्रमा की। अच्छा खासा परिषद का अपना भवन है, जिसमें एक हॉल है, एक पुस्तकालय, वाचनालय और दफ्तर। कनाड़ी भाषा के कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-परिषद द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। आजकल परिषद में मैसूर राज्य के प्रोत्साहन से एक बृहद् कनाड़ी-अंग्रेजी कोष बन रहा है। जिसके एडिटर और कोष-मंडल के अध्यक्ष एक वयोवृद्ध सज्जन प्रो॰ वेंकट नारायणप्पा हैं। आप जिस उत्साह और तन्मयता से यह कार्य-संपादन कर रहे हैं, वह जवानों को लज्जित करता है। आप पहले मैसूर विश्वविद्यालय में कैमिस्ट्री के अध्यापक थे। अब पेंशन पाते हैं। कनाड़ी साहित्य बहुत पुराना है और इसका काव्य साहित्य तो बड़े ऊंचे दरजे का है। नया साहित्य भी बड़े वेग से बढ़ रहा है। परिषद के कुशल उपसभापति श्री गुंडप्पा जी के दर्शनों का सौभाग्य भी हमें हुआ। आप साहित्य के एक यशस्वी लेखक और कवि हैं और प्राचीन साहित्य के गहरे विद्वान। कनाड़ी साहित्य कितना धनी है, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन्नीसवीं सदी के अंत तक इसमें लगभग बारह सौ कवि हो गए थे, जिनमें पच्चीस महिलाएं थीं और पच्चीस राजे-रईस। एक विद्वान ने तीन जिल्दों में उनके जीवन-चरित्र लिखकर कनाड़ी साहित्य के इतिहास की अच्छी सामग्री जुटा दी है। अगर कनाड़ी साहित्य की कुछ चीजें हिन्दी-साहित्य में आ सकें, तो आदान-प्रदान से दोनों ही भाषाओं को लाभ हो। कुमार व्यास की अमर कृति 'भारत' शायद कनाड़ी साहित्य का सबसे उत्तम ग्रंथ है। कनाड़ी विद्वानों का कहना है कि ऐसे कवि भारतवर्ष में दो-चार ही हुए हैं। अब इस प्रांत में हिन्दी का प्रचार हो रहा है, तो शायद भविष्यत् में कोई कनाड़ी विद्वान अपने साहित्य-रत्नों को हिन्दी में भेंट करें। 'हंस' में गुजराती, मराठी, उर्दू, अंग्रेजी पत्रों के संग्रहणीय और विचारपूर्ण लेखों पर

टिप्पणियां दी जाती हैं, अगर कोई हिन्दी जानने वाले कनाड़ी विद्वान कनाड़ी के सामयिक साहित्य पर टिप्पणियां लिखकर 'हंस' में भेजने की कृपा करें, तो 'हंस' उपकार मानकर उसे सहर्ष स्वीकार करेगा, बल्कि अपना गौरव समझेगा।

बंगलोर में मि० के० बी० ऐयर का व्यायाम मंदिर भी देखने की चीज है। मालूम नहीं ऐयर महोदय ने इसका नाम हर्क्यूलीस व्यायाम मंदिर क्यों रखा है। हमारे हनुमान जी तो हर्क्यूलीस से कुछ कम न थे। हर्क्यूलीस ने अगर पहाड़ के दो टुकड़े कर दिए थे, तो हनुमान जी सूर्य को साफ निगल गए थे और धौलागिरि पर्वत को एक हाथ पर उठाकर कोई ढाई हजार मील दौड़ते चले आये थे। इस मंदिर में युवकों को हर एक तरह का व्यायाम सिखाया जाता है। ऐयर स्वयं बड़े ही सुगठित शरीर के स्वामी हैं, और आपके कई शिष्य अच्छे-खासे पहलवान हैं। आपने सूर्य नमस्कार के आधार पर अपनी एक व्यायाम-विधि निकाली है और इस विषय का बहुत सा साहित्य भी प्रकाशित कर चुके हैं, हम उनसे मिल तो न सके, क्योंकि उस दिन वह कहीं बाहर गये हुए थे। लेकिन उनके सचित्र बुकलेट जो हमने पढ़े, उससे मालूम हुआ कि आपने नवीन और प्राचीन विधियों का मिश्रण करके एक वैज्ञानिक अभ्यास-क्रम निकाला है, जिससे थोड़े समय में ही आश्चर्यजनक फल प्राप्त हो सकता है। और यह पहलवान अपनी बाल्यावस्था में बहुत ही दुबला-पतला था। ऐसे मंदिरों की प्रत्येक नगर में जरूरत है और हमारा ख्याल है कि जनता उनका बड़े हर्ष से स्वागत करेगी।

मैसूर राज्य में हिन्दी अभी तक अख्तियारी मजमून है। हिन्दी प्रेमियों की ओर से यह आंदोलन हो रहा है कि हिन्दी को लाजिमी बना दिया जाय। अगर यह उद्योग सफल हो जाय, तो हिन्दी-प्रचार दुगनी गति से बढ़ने लगे। इसी विषय पर कुछ विचार विनिमय करने के लिए मैं मैसूर राज्य के दीवान सर मिर्जा इस्माइल की खिदमत में हाजिर हुआ। दीवान साहब बड़े ही विद्या-प्रेमी और उदार व्यक्ति हैं। हमारी बातचीत हिन्दुस्तानी में हुई। उर्दू साहित्य का उन्हें अच्छा परिचय है, और बेतकल्लुफ उर्दू बोलते हैं। हिन्दुस्तानी में एक राष्ट्रभाषा की जरूरत को वह भी स्वीकार करते हैं और इस आंदोलन से उन्हें सहानुभूति है, लेकिन एक सांस्कृतिक विषय में वह सरकारी तौर पर कोई कार्यवाई करने के पक्ष में नहीं हैं। जब तक यह मांग इतनी बलवान नहीं हो जाती कि कार्यकारिणी समिति इसे बहुमत से स्वीकार कर ले, तब तक राज्य इसमें दखल देना मुनासिब नहीं समझता। सब-कुछ राष्ट्रभाषा के प्रेमियों और प्रचारकों के धैर्य, उत्साह और सेवा पर मुनस्सर है। जब तक हम हिन्दुस्तानी को सर्वसम्मति से राष्ट्रभाषा स्वीकार न करा लें, तब तक राज्य उसे कैसे स्वीकार करेगा। दीवान साहब हमारे साथ बड़े मेहरबानी से पेश आये। गोरे अधिकारियों ने हमें यह सिखाया है कि अधिकार और सज्जनता में मेल नहीं होता। दीवान साहब इसके अपवाद हैं। आपसे मिलकर फिर-फिर मिलने की इच्छा होती है।

हमने चौथे दिन बंगलोर से पूना को प्रस्थान किया। श्रीनिवासराव जी ने हमारा जो सत्कार किया, उसके लिए हम उनके एहसानमंद हैं। आप हैं तो एक हड्डी के व्यक्ति, मगर आपके पोर-पोर में सजीवता भरी हुई है। आप वकील हैं, प्रकाशक

हैं, लेखक हैं और हिन्दी-प्रचार के स्तंभ हैं। आपने कनाड़ी भाषा में Book of knowledge के ढंग की एक माला मासिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित करना आरंभ किया है और शायद उसके चार नंबर निकल चुके हैं। इसमें अनेक ब्लाक हैं, और साहित्य, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, कला-कौशल, जीव शास्त्र, वनस्पति आदि अनेक विषयों पर बालकोपयोगी निबंध हैं। और चेष्टा की गई है कि उसकी भाषा सरल, सजीव और रोचक रहे। हिन्दी में अभी तक ऐसी कोई माला नहीं निकली है। श्रीनिवासराव इसका एक हिन्दी एडिशन निकालने का प्रबंध कर रहे हैं। ब्लाक उनके पास हैं ही, केवल निबंधों का सरल हिन्दी में अनुवाद करना है। हमें आशा है कि हिन्दी में इस माला का आदर होगा। बच्चों के लिए हिन्दी में किस्से-कहानियां तो बहुत निकली हैं, लेकिन ज्ञान बढ़ाने वाली पुस्तकों का अभाव है। इस संग्रह से यह कमी पूरी हो जाएगी।

[संस्मरण/लेख। 'हंस', फरवरी, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग-3 में संकलित।]

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक अंग है। श्रीमती खलीदा अदीब खानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। संभव है प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो, परंतु बौद्धों के पतन के उपरांत उसकी राष्ट्रीयता का भी अंत हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड-खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासनकाल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रांतों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परंतु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत देर से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षो से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरंभ अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अंगों और तत्त्वों में कोई ऐसा पारस्परिक संबंध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंग्रेजी राज्य उठ जाय तो इन तत्त्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत संभव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर ऐसा नया संगठन उत्पन्न हो जाय जिसका एक-दूसरे के साथ कोई संबंध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंग्रेजों के यहां

आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तंभ है, इसलिए यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरंभ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जबकि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक मंडल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के काबिल हो जायगी।

परंतु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आजकल भिन्न-भिन्न प्रांतों में जो भाषाएं प्रचलित हैं, उसमें तो राष्ट्रीय भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उसके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परंतु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इसमें से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उसमें खींचातानी हो रही है। यहां तक कि इस मतभेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शांत चित्त और शांत मस्तिष्क से विचार करने के आयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुंचना और उसकी सिद्धि करना असंभव समझकर हिम्मत न हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी-न-किसी प्रकार की मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतंत्र उन्नति और विकास में मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते। उन्होंने यह मान लिया है कि आरंभ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनों में मेल और एकता होना असंभव ही है। प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। उर्दू का फारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक संबंध है। और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का संबंध है। उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते। फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुंचावें?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने-आपको अपने जन्म-स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विलास के संबंध में कोई आपत्ति न हो। बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू और कन्नड़ी आदि प्रांतीय भाषाओं के संबंध में हमें किसी प्रकार की चिंता नहीं है। उन्हें अधिकार है कि वह अपने अंदर चाहे जितनी संस्कृत, अरबी, या लैटिन आदि भरती चलें। उन भाषाओं के लेखक

आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं, परंतु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है। यहां तक दोनों ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं। परंतु वे अपने व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसीलिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरंभ हो गया। और दोनों का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी जबान कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक-दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्वसामान्य बोधगम्यता हो–जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह फारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मानदंड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं या नहीं। और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या परिभाषिक शब्द जन-साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहां से निकला है और कहां से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तानी की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिन्दुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं है, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिन्दुस्तान न कहकर केवल हिन्द कहें तो इसकी भाषा को हिन्दी कह सकते हैं। लेकिन यहां की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिन्दुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार संभव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहां की भाषा को हिन्दी ही कहते थे और खुसरो ने खालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रंथ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जन-साधारण की आवश्यकता के शब्द उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहां हुई थी। जो हो, परंतु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उनके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है लेकिन फिर भी लिखी नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिक उसे ~~ट बाहर कर देते हैं। वास्तव में उर्दू और हिन्दी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएं जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिल्कुल ठीक है कि किसी देश में भी

लिखने और बोलने की भाषाएं एक नहीं हुआ करतीं। जो अंग्रेजी हम किताबों और अखबारों में पढ़ते हैं, वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा में बातचीत नहीं करते जिस भाषा में ग्रंथ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं और जन-साधारण भी भाषा तो बिल्कुल अलग ही होती है। इंग्लैंड के हर एक पढ़े-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जाने वाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परंतु आज क्या परिस्थिति है? हमारी हिन्दी वाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हें 'मनुष्य' से तो प्रेम है परंतु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख्वास्त' जन-साधारण में भली-भांति प्रचलित है परंतु फिर भी उसके यहां इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना पत्र' ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिल्कुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफा' को वह किसी तरह मंजूर ही नहीं कर सकते और इसके स्थान पर 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज' चाहे कितना सुबोध क्यों न हो, परंतु उन्हें 'वायुयान' की सर ही पसंद है। उर्दू वाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'खुदा' को तो मानते हैं, परंतु 'ईश्वर' का नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते हैं, परंतु 'अपराध' कभी नहीं कर सकते। 'खिदमत' तो उन्हें बहुत पसंद है, परंतु 'सेवा' उन्हें एक आंख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिए हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुकाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिनमें दोनों एक-दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें और वह भी सिर्फ मेहमान की हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। गारसन डि टासी के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, जहां एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अंग्रेजी भाषा के भी अनेक रंग हैं। कहीं लैटिन भाषा और यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लोसैक्सन शब्दों की। परंतु हैं दोनों ही अंग्रेजी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न भाषाएं नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमंत्रण ग्रहण करें, जो कोई नयी भाषा नहीं हैं, बल्कि उर्दू और हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त प्रांत के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अंतर ही नहीं होता। इसमें शिक्षा विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियों में बचपन से ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली-भांति परिचित हो जाएंगे और उन्हीं का

प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गई हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़ने वाले लड़कों के पास फारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़ने वाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भंडार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहां उर्दू और हिन्दी का विभेद आरंभ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुंच जाती है, अपन विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाए शब्द मिल जाते हैं, लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि आदि। इसी तरह उर्दू का झंडा लेकर चलने वाले कहते हैं कि फारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएं, जैसे फारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या संबंधी भंडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली में गंभीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जायं? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जाएं, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक है कि जहां तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन-पर-दिन राष्ट्रीय भाषा के और भी अधिक समीप पहुंचते जाएं, और संभव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणित हो जाय। हिन्दुस्तान के हर एक सूबे से मुसलमानों की थोड़ी बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्त-प्रांत के सिवा और और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मद्रास का तमिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहां तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिल्कुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहां तक अपनी भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता,

जो फिर संयुक्त-प्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं?

हमारे सूबे के देहातों में रहने वाले मुसलमान प्राय: देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती जबान से बोलते हैं। बोलचाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोलचाल की उर्दू में साधारण हिन्दुओं को ही। बोलचाल की हिन्दी और उर्दू प्राय: एक-सी ही हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार-पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पंडितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हजार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्तमान कोषों में दो हजार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषों में दो हजार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाए जा सकते और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अंग्रेजी के असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते? उर्दू और हिन्दी भाषाओं में न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्राय: साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएं या तो प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बंगाल की तो लिपियां भी देवनागरी से मिलती जुलती हैं। यद्यपि दक्षिण भारत की भाषाओं की लिपियां बिल्कुल भिन्न हैं, परंतु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फारसी के शब्द भी सभी प्रांतीय भाषाओं में कुछ-न-कुछ मिलते हैं। परंतु उसमें संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती, जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रांतों के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी में सहज में समझ सकते हैं परंतु फारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त-प्रांत और पंजाब के नगरों और कस्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं, लेकिन उर्दू बोलने वाले मुसलमान उसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इस प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष में बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिंधी भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिंधी भाषा की केवल लिपि अरबी है, परंतु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिए गए हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत, अरबी और

फारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में किस्से-कहानियां और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परंतु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमें नहीं लिखे जा सकते। वहां तो विवश होकर फारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या संबंधी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भंडारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रांतीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान-संबंधी पारिभाषिक शब्द बनाए गए हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रांतीय सभाएं और संस्थाएं आपस में मिलकर परामर्श करें और एक-दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे के पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अंग्रेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अंग्रेजी में ही प्रचलित नहीं हैं बल्कि प्राय: सभी उन्नत भाषाओं में उससे मिलते-जुलते पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलंबन किया है और मिस्र में भी थोड़े-बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैंकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने-देने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रांत ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिए तो फिर भारतवर्ष को कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-संबंध भाषा न बन सकेगी। बंगला, मराठी, गुजराती और कन्नड़ी आदि भाषाएं संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती हैं। उर्दू भी अरबी और फारसी की सहायता कैसे अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएं पूरी कर सकती है। परंतु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आईने अकबरी' ने हिन्दू दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएं पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आई हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परंपरा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न

होगी। परंतु सरलता और कोमलता का मानदंड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अंग्रेजी टोपी बेजोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणत: सभी जगह दिखाई देती हैं। स्त्रियों के लिए लंबे-लंबे सिर के बाल सौंदर्य का एक विशेष स्तंभ हैं, परंतु आजकल तराशे हुए बाल प्राय: पसंद किए जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरलता नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरलता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिए। जबकि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडेरशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें जिसमें हर एक प्रांतीय भाषा की प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आने वाली समस्याओं की मीमांसा करें? जब हमारे जीवन का प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्राय: हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रांत में प्रचलित हो सके। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इस सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्यक्रम तैयार करें। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुंजाइश नहीं है।

[उर्दू लेख। 'जमाना', अप्रैल, 1935 में प्रकाशित। 'मजामीन ए प्रेमचन्द' में संकलित। प्रथम प्रकाशन उर्दू में। हिन्दी रूप इसी शीर्षक से 'हंस', अप्रैल, 1937 में प्रकाशित हुआ। 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'कुछ विचार' में संकलित।]

हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी

पं० माखनलाल चतुर्वेदी के निमंत्रण पर प्रेमचंद सपत्नीक बंबई से विदा होने के पश्चात् 5 अप्रैल को खंडवा पहुंचे और 9 अप्रैल को सागर के लिए प्रस्थान किया। खंडवा में वे चतुर्वेदी जी के यहां ठहरे तथा आस-पास के दर्शनीय स्थलों को देखने के बाद 7 अप्रैल की संध्या को स्थानीय तुलसी-उत्सव कमेटी तथा ललित-साहित्य मंडल की ओर से मारिस मेमोरियल लाइब्रेरी में उनका अभिनंदन किया गया। सभा की अध्यक्षता की पं० माखलनाल चतुर्वेदी ने तथा अभिनंदन-पत्र पढ़ा शिवशरण पांडेय ने। इस सभा में प्रेमचंद ने जो भाषण दिया, उसे 'धर्मवीर' ने 13 अप्रैल, 1935 के अंक में प्रकाशित किया तथा इसे पूर्ण विवरण के साथ डॉ० श्रीकांत जोशी ने 'वीणा' (अप्रैल, 1988) में 'कथा-पुरुष' प्रेमचंद की खंडवा-यात्रा' शीर्षक लेख में संकलित करके पुन: प्रकाशित कराया। इस गोष्ठी का विवरण तथा भाषण 'हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी' एवं 'दिल से निकले और दिलों पर असर करे वही साहित्य है'

शीर्षक से छपा था। यहां इसी से प्रेमचंद का भाषण प्रस्तुत है–

भाषण

विधाता के घर में जिस समय वाणी बंट रही थी, उस समय मैं सो रहा था। इसलिए मैं उतनी अच्छी तरह बोल नहीं सकता। बोलना मेरे काबू के बाहर की बात है। हां, लिख ज़रूर लेता हूं। यदि बोलने की कला मुझमें होती तो शायद मैं और अधिक आज आपको खुश कर सकता, परंतु अफसोस तो यही है कि न तो मुझे बोलने की कला का अभ्यास है और न कला का स्वांग भरना ही आता है।

आपने मुझे आज जो इज़्ज़त बख़्शी है और जो कृपा दिखाई है, उसके योग्य तो मैं नहीं था, लेकिन कृपा जो मुफ्त ही मिल रही है तो क्यों न लूं?

साहित्य क्या है?

साहित्य क्या है? इस विषय पर थोड़ा कह लूं। मुख्तलिफ लोगों की मुख्तलिफ राय है। कोई विशेषज्ञ कहते हैं कि साहित्य जीवन की आलोचना है, साहित्य बड़े मस्तिष्क की उपज है, साहित्य हृदय की उमंगों और भावों का दिग्दर्शन है। लेकिन मेरी राय में "जो दिल से निकले और दिलों पर असर करे, वास्तव में तो वही साहित्य है।"

साहित्य उपन्यास नहीं है, न इतिहास साहित्य है। (प्रतीत होता है यह उक्ति ठीक तरह नहीं ली गई, संभवत: प्रेमचंद जी ने कहा होगा–'साहित्य' इतिहास नहीं है और न इतिहास साहित्य है।–सं०) भूगोल भी साहित्य नहीं है, क्योंकि वे सब एक निश्चित बात को निश्चित काल तक बताते हैं। भगवान् तिलक का 'गीता-रहस्य' साहित्य है। वह हमारे भावों को जाग्रत करके जीवन-शक्ति प्रदान करने में समर्थ है। साहित्य वह भी है, जिसमें हमारे भावों को जगाने की शक्ति हो।

साहित्य की सृष्टि क्यों होती है?

साहित्य आनदंदायिनी वस्तु है, लेकिन आनंद क्या है? अपनी वस्तु का खुद आनंद भोगने के बाद उसी से पढ़ने वालों को सुख पहुंचाना। यही साहित्य का आनंद है। आनंद दो तरह का होता है: एक आनंद ऊंचा और दूसरा नीचा। मंगल की भावना का प्रचार ऊंचे दर्जे का आनंद है। एक हिलोर उठती है जिसे लेखक खुद भोगता है, फिर अपने परिचितों को उस आनंद का परिचय कराता है। नीचे दर्जे का साहित्य इसके ठीक प्रतिकूल होता है।

साहित्य और जीवन का संबंध

आजकल साहित्य को दो भागों में बांट रखा है। एक तो आदर्श जीवन का चित्रण और दूसरे यथार्थ का चित्रण। इसी का नाम Idealism और Realism है। आधुनिकता यथार्थ जीवन की प्रेरक है। जीवन की नकल कर देना साहित्य नहीं, पर साहित्य वह है जो यथार्थ जीवन को सुंदर ढंग से लिख दे। इसके सिवा जीवन को स्वयं

सुंदर बनाना चाहिए। रियलिज्म जीवन के अंधकारमय पहलुओं का उज्ज्वल कर देता है। अच्छी कला, अच्छा साहित्य वह है जिसे सर्वसाधारण बिना तकलीफ के समझ जाएं–कुछ लोग ऐसा कहते हैं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि साहित्य वह है, जिसे समझने में कुछ दिमाग खर्च करना पड़े। परंतु महात्मा टॉल्स्टॉय (Tolstoy) का कहना है कि कला विश्वव्यापी है, लेकिन इसके लिए रुचि का होना आवश्यक है। यदि हमें संगीत का ज्ञान नहीं है तो हम उसे समझ भी नहीं सकते। यदि नृत्य में हम रुचि नहीं रखते तो हम उसे दाद नहीं दे सकते।

साहित्य में जब रसिकों और जन-साधारण दोनों के लिए स्थान है तो कोई कारण नहीं दिखता कि उसकी महत्ता को नीचे गिराया जाय। जहां रसिकों के लिए रामायण है, वहां जन-साधारण के लिए आल्हा भी तो है।

लोगों को शिकायत है कि हमारा साहित्य उन्नति नहीं कर रहा है। इसका कारण जनता ही है। जनमत और लोकमत साहित्य की उन्नति के आधार हैं। यदि जनता की रुचि अच्छी समालोचक (क्रिटिक) होती है, तो उसका साहित्य निरंतर तरक्की करता जाता है, किन्तु जनता ही जब उस ओर उदासीन हो बैठती है तो उसके साहित्य का आगे बढ़ना स्वभावत: ही बंद हो जाता है। लेखक यदि यह चाहता है कि उसकी चीज़ की आलोचना हो तो उसे निष्पक्ष आलोचना मिलनी चाहिए, पर मुश्किल तो यह है कि आपका एप्रिसिएशन (मूल्यांकन) क्रियाशील नहीं होता।

हिन्दी-भाषा अब राष्ट्र-भाषा होने जा रही है। अपनी मंज़िल पांच-दस मील चल भी चुकी है। यह ठीक है कि उसे अभी बहुत दूर चलना है। हमारी इच्छा तो यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवहारों के अंदर हिन्दी का प्रयोग हो। मद्रास में तो हिन्दी का खूब प्रचार हो रहा है।

हम हिन्दी का रूप बनाकर चाहें कि उसका प्रचार हो तो नहीं हो सकता, पर महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू आदि कुछ कर जायें तो वह चल सकता है। हम यह प्रयत्न करेंगे कि महात्माजी राष्ट्र-भाषा को कोई बोर्ड बनावें, जिसमें एक केन्द्र से एक केंद्र-स्थल तक सब एक हो जायें। अत: मैं आप लोगों से भी कहूंगा, चूंकि आपका भी इससे संबंध है, बोर्ड बनाने में आप लोग भी अपनी-अपनी राय दें।

मुझे इतने छोटे-से नगर में साहित्यिक रुचि के लोगों की इतनी तादाद देखकर बड़ा हर्ष हो रहा है।

[भाषण/लेख। 7 अप्रैल, 1935 को पं॰ माखनलाल चतुर्वेदी की अध्यक्षता में 'तुलसी उत्सव कमेटी' तथा 'ललित साहित्य मंडल' खंडवा द्वारा आयोजित अभिनंदन समारोह में दिया गया भाषण। 'धर्मवीर' 13 अप्रैल, 1935 में प्रकाशित। 'वीणा', अप्रैल, 1988 में पुनर्प्रकाशित। 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

फिल्म और साहित्य

हमने गत मास के 'लेखक' में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक से एक छोटा लेख लिखा था, जिसको पढ़कर हमारे मित्र श्री नरोत्तमप्रसाद जी नागर, संपादक 'रंगभूमि'

ने एक प्रतिवाद लिख भेजने की कृपा की है। हम अपने लेख को 'लेखक' से यहां नकल कर रहे हैं, ताकि पाठकों को मालूम हो जाय कि हमारे और नरोत्तमप्रसाद जी के विचारों में क्या अंतर है। पाठक स्वयं अपना निर्णय कर लेंगे। नागर जी का मैं कृतज्ञ हूं कि उन्होंने उस लेख को पढ़ा और उस पर कुछ लिखने की ज़रूरत समझी। वह खुद सिनेमा में सुधार के समर्थक हैं और बरसों से यह आंदोलन कर रहे हैं, इसलिए इस विषय में उन्हें सम्मति देने का पूरा अधिकार है। हम उसके प्रतिवाद को भी ज्यों-का-त्यों छापते हैं।

'लेखक' में प्रकाशित हमारा लेख

अक्सर लोगों का खयाल है कि जब से सिनेमा 'सवाक्' हो गया है, वह साहित्य का अंग हो गया, और साहित्य-सेवियों के लिए कार्य का एक नया क्षेत्र खुल गया है। साहित्य भावों को जगाता है, सिनेमा भी भावों को जगाता है, इसलिए वह भी साहित्य है। लेकिन प्रश्न होता है—कैसे भावों को? साहित्य वह है जो ऊंचे और पवित्र भावों को जगाये, जो सुंदरम् को हमारे सामने लाये। अगर कोई पुस्तक हमारी पशु-भावनाओं को प्रबल करती है, तो हम उसे साहित्य में स्थान न देंगे। पारसी स्टेज के ड्रामों को हमने साहित्य का गौरव नहीं दिया। इसीलिए कि 'सुंदरम्' का जो साहित्यिक आदर्श अव्यक्त रूप से हमारे मन में है, उसका वहां कहीं पता न था। होली और कजली और बारहमासे की हजारों पुस्तकें आए-दिन छपा करती हैं, हम उन्हें साहित्य नहीं कहते। वह बिकती बहुत हैं, मनोरंजन भी करती हैं, पर साहित्य नहीं हैं। साहित्य में भावों की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता, सुंदरता की जो साधना होती है, वह हमें वहां नहीं मिलती। हमारा खयाल है कि हमारे चित्रपटों में भी वह बात नहीं मिलती। उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। सुरुचि या सुंदरता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। वह तो जनता को वही चीज देंगे जो वह मांगती है। व्यापार व्यापार है। वहां अपने नफे के सिवा और किसी बात का ध्यान करना ही वर्जित है। व्यापार में भावुकता आई और व्यापार नष्ट हुआ। वहां तो जनता की रुचि पर निगाह रखनी पड़ती है और चाहे संसार का संचालन देवताओं ही के हाथों में क्यों न हो, मनुष्य पर निम्न मनोवृत्तियों का राज्य होता है। अगर आप एक साथ दो तमाशों की व्यवस्था करें- एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो, दूसरा किसी वेश्या का नग्न नृत्य, तो आप देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कुर्सियों को अपना भाषण सुना रहे हैं और वेश्या के पंडाल में तिल रखने को जगह नहीं। मुंह पर राम-राम मन में छुरी वाली कहावत जितनी ही लोकप्रिय है, उतनी ही सत्य भी है। वही भोला-भाला ईमानदार ग्वाला, जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झिझक के दूध में पानी मिला देता है। वही बाबूजी, जो अभी किसी कवि की एक सूक्ति पर सिर धुन रहे थे, अवसर पाते ही एक विधवा से रिश्वत के दो रुपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब में दाखिल कर लेते हैं। उपन्यासों में भी ज्यादा प्रचार, डाके और हत्या से भरी हुई पुस्तकों का होता है। अगर पुस्तकों में कोई ऐसा स्थल है जहां लेखक ने संयम की लगाम ढीली कर दी हो तो उस स्थल को लोग बड़े शौक से पढ़ेंगे,

उस पर लाल निशान बनाएंगे, उस पर मित्रों से बहस-मुबाहसे करेंगे। सिनेमा में भी वही तमाशे खूब चलते हैं जिनसे निम्न-भावनाओं की विशेष तृप्ति हो। वही सज्जन, जो सिनेमा की कुरुचि की शिकायत करते फिरते हैं, ऐसे तमाशों में सबसे पहले बैठे नज़र आते हैं। साधु तो गली-गली भींख मांगते हैं, पर वेश्याओं को भीख मांगते किसी ने देखा होगा। इसका आशय यही नहीं कि भिखमंगे साधु वेश्याओं से ऊंचे हैं—लेकिन जनता की दृष्टि में वे श्रद्धा के पात्र हैं। इसीलिए हर एक सिनेमा प्रोड्यूसर, चाहे वह समाज का कितना बड़ा हितैषी क्यों न हो, तमाशे में नीची मनोवृत्तियों के लिए काफी मसाला रखता है, नहीं तो उसका तमाशा ही न चले। बंबई के एक प्रोड्यूसर ने ऊंचे भावों से भरा हुआ एक खेल तैयार किया, मगर बहुत हाय-हाय करने पर भी जनता उसकी ओर आकर्षित न हुई। 'पास' के अंधाधुंध वितरण से रुपये तो नहीं मिलते। आमन्त्रित सज्जनों और देवियों ने तमाशा देखकर मानो प्रोड्यूसर पर एहसान किया और बखान करके मानो उसे मोल ले लिया। उसने दूसरा तमाशा जो तैयार किया, वह वही बाज़ारू ढंग का था और वह खूब चला। पहले तमाशे से जो घाटा हुथा, वह इस दूसरे तमाशे से पूरा हो गया। जिस शौक से लोग, शराब और ताड़ी पीते हैं, उसके आधे शौक से दूध नहीं पीते। 'साहित्य' दूध होने का दावेदार है सिनेमा ताड़ी या शराब की भूख को शांत करता है। जब तक साहित्य अपने स्थान से उतरकर और अपना चोला बदलकर शराब न बन जाय, उसका वहां निर्वाह नहीं। साहित्य के समाने आदर्श हैं, संयम है, मर्यादा है। सिनेमा के लिए इनमें से किसी वस्तु की जरूरत नहीं। सेंसर बोर्ड के नियंत्रण के सिवा उस पर कोई नियंत्रण नहीं। जिसे साहित्य की 'सनक' है, वह कभी कुरुचि की ओर जाना स्वीकार न करेगा मर्यादा की भावना उसका हाथ पकड़े रहती है, अत: हमारे साहित्यकारों के लिए जो सिनेमा में हैं, वहां केवल इतना ही काम है कि वह डाइरेटक्र साहब के लिखे हुए गुजराती, मराठी या अंग्रेज़ी कथोपकथन को हिन्दी में लिख दें। डाइरेक्टर जानता है कि सिनेमा के लिए जिस 'रचना-कला' की ज़रूरत है वह लेखकों में मुश्किल से मिलेगी, इसलिए वह लेखकों से केवल उतना ही काम लेता है जितना वह बिना किसी हानि के ले सकता है। अमेरिका और अन्य देशों में भी साहित्य और सिनेमा में सामंजस्य नहीं हो सका और न शायद हो ही सकता है। साहित्य जन-रुचि का पथ-प्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं। सिनेमा जन-रुचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ मांगे वही देता है। साहित्य हमारी सुंदर भावना को स्पर्श करके हमें आनंद प्रदान करता है। सिनेमा हमारी कुत्सित भावनाओं को स्पर्श करके हमें मतवाला बनाता है और इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज़ की माग है, वह बाज़ार में आयेगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह ज़माना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जायगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीज़ों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।

हिन्दी के कई साहित्यकारों ने सिनेमा पर निशाने लगाए, लेकिन शायद ही किसी ने मछली बेध पाई हो। फिर गले में जयमाल कैसे पड़ती? आज भी पंडित नारायणप्रसाद

'बेताब', मुंशी गौरीशंकरलाल अख़्तर, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, मि॰ जमनाप्रसाद काश्यप, मि॰ चंद्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव, डॉ॰ धनीराम प्रेम, सेठ गोविन्ददास, पं॰ द्वारकाप्रसाद मिश्र आदि सिनेमा की उपासना करने में लगे हुए हैं। देखा चाहिए, सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की कायापलट कर देते हैं।

श्री नरोत्तमप्रसाद जी की चिट्ठी

श्रद्धेय प्रेमचंद जी,

'लेखक' में आपका लेख 'फिल्म और साहित्य' पढ़ा। इस चीज़ को लेकर 'रंगभूमि' में अच्छी-खासी कंट्रावर्सी चल चुकी है। रंगभूमि के वे अंक आपको भेजे भी गए थे। पता नहीं, आपने उन्हें देखा कि नहीं। अस्तु।

आपने सिनेमा के संबंध में जो कुछ लिखा है, वह ठीक है। साहित्य को जो स्थान दिया है, उसे भी किसी का मतभेद नहीं हो सकता। निश्चय ही सिनेमा ताड़ी और साहित्य दूध है पर इस चीज को जेनेरलाइज़ करना ठीक न होगा—सिनेमा के लिए भी और साहित्य के लिए भी। साहित्य भी इस ताड़ीपन से अछूता नहीं है। सिनेमा को मात करने वाले उदाहरण भी उसमें मिल जायेंगे--एक नहीं अनेक—और ऐसे व्यक्तियों के, जिनके साहित्यिक संसार ने रिकग्नाइज़ किया है। और तो और, पाठ्य कोर्स तक में जिनकी पुस्तकें हैं। अपने समर्थन में महात्मा गांधी के वे वाक्य उद्धृत करने होंगे क्या, जो कि उन्होंने इंदौर साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से कहे हैं? लेकिन प्रत्यक्षे किम् प्रमाणम्। यही बात सिनेमा के साथ है। सिनेमा के साथ तो एक और भी गड़बड़ है। वह यह कि वह बदनाम है। आपके ही शब्दों में, "भिखमंगे साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए भी श्रद्धा के पात्र हैं। श्रद्धा के पात्र है इसलिए टालरेबुल है या उतने विरोध के पात्र नहीं हैं, जितनी कि वेश्याएं।" इसी तर्क-शैली को लेकर आप सिद्ध करते हैं कि सिनेमा ताड़ी है और साहित्य दूध। ताड़ी ताड़ी है और दूध दूध। आपने इन दोनों के दामयान एक वैल मार्क्ड एंड वैल डिफाइंड लाइन आफ डिफरेंस खींच दी है।

मेरा आपसे यहां सैद्धान्तिक मतभेद है। मेरा खयाल है कि यह विचाराधारा ही गलत है, जो इस तरह की तर्क-शैली है को लेकर चलती है। कभी जमाना था, जब इस तर्क-शैली का जोर था, सराहना थी, पर अब नहीं है। इस चीज़ी को हमें उखाड़ फेंकना ही होगा।

एक जगह आप कहते हैं—"साहित्य का काम जनता के पीछे चलना नहीं, उसका पथ-प्रदर्शक बनना है।" आगे चलकर साधुओं और वेश्याओं की मिसाल देते हैं। साधु वेश्याओं से अच्छे न होते हुए भी जनता की श्रद्धा के पात्र हैं। यहां आप जनता की इस श्रद्धा को अपने समर्थन में आगे क्यों रखते हैं?

आपने जो साहित्य के उद्देश्य गिनाए हैं, उन्हें पूरा करने में सिनेमा साहित्य से कहीं आगे जाने की क्षमता रखता है। यूटिलिटी के दृष्टिकोण से सिनेमा साहित्य से कहीं अधिक ग्राह्य है, लेकिन यह सब होते हुए भी सिनेमा की उपयोगिता कुपात्रों के हाथों में पड़कर दुरुपयोगिता में परिणत हो रही है। इसमें दोष सिनेमा का नहीं,

उनका है जिनके हाथ में इसकी बागडोर है। इनसे भी अधिक उनका है जो इस चीज़ को बर्दाश्त करते हैं। बर्दाश्त करना भी बुरा नहीं होता, यदि इसके साथ मजबूरी की शर्त न लगी होती।

गले में जयमाल पड़ने वाली बात भी बड़े मज़े की है–"कितने ही साहित्यिकों ने निशाने लगाए पर शायद ही कोई मछली बेध पाया है। जयमाल गले में कैसे पड़ती?" बहुत खूब। जिस चीज़ के लिए साहित्यिकों ने सिनेमा पर निशाने लगाए, वह चीज़ क्या उन्हें नहीं मिली–अपवाद को छोड़कर? आप या कोई साहित्यिक यह बताने की कृपा करेंगे कि सिनेमा में प्रवेश करने वाले साहित्यिकों में से ऐसा कौन है, जिसके सिनेमा-प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रंग में रंगना रहा हो? क्या किसी भी साहित्यिक ने सिंसीयरली इस ओर कुछ काम किया है? फिर जयमाल गले में कैसे पड़ती? माना कि साहित्य-संसार में जयमाल और सम्राट् की उपाधियां टके सेर बिकती हैं; लेकिन सभी जगह तो इन चीज़ों का यही भाव नहीं है। पहले सिनेमा-जगत् को कुछ दीजिए; या यों ही गले में जयमाल पड़ जाये? या सिर्फ साहित्यिक होना ही गले में जयमाल पड़ने की क्वालीफिकेशन है?

आप बंबई में रह चुके हैं। सिनेमा-जगत् की आपने झांकी भी ली है। आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हमारे साहित्यिक भी, अपनी फिल्मों में निकृष्ट रुचि का समावेश करने में किसी से पीछे नहीं रहे हैं--या, कहें कि आगे ही बढ़ गये हैं। औरों को छोड़ दीजिए, वे साहित्यिक भी, जो कि एक तरह से कंपनी में सर्वेसर्वा हैं, अपनी फिल्म में दो सौ लड़कियों का नाम रखने से बाज़ न आये, जो कि बज़िद थे, कि तालाब से पानी भरने वाले सीन में हीरोइन अंडरवियर न पहने, हीरो आये, उससे छेड़खानी करे और उसका घड़ा छीनकर उस पर डाल दे। बदन पर अंडरवियर नहीं, वस्त्र भींगे, बदन से चिपके, और नग्नता का प्रदर्शन हो। यह सूझ उन्हीं साहित्यिकों में से एक की है जिनके कि आपने नाम गिनाए हैं।....लेकिन मुझे यह कहना चाहिए कि इसमें साहित्यिक का दोष ज़रा भी नहीं है।....और ऐसी ब्लैक-सीप मैंटेलिटी साहित्यिक क्या और सिनेमा क्या, सभी जगह मिल जायेगी।

आपने अपने लेख में होली, कजली और बारहमासे की पुस्तकों का ज़िक्र किया है। इन चीज़ों को साहित्य नहीं कहा जाता या साहित्यिक इन्हें रिकग्नाइज़ नहीं करते, यह ठीक है। लेकिन उनका अस्तित्व है और जिस प्रेरणा या उमंग को लेकर अन्य कलाओं का सृजन होता है, उन्हीं को लेकर ये होली, कजली और बारहमासे भी आये हैं। लेकिन आपका उन्हें अपने से अलग रखना भी स्वाभाविक है–यूटिलिटी के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से। इसी तरह क्या आपने कभी यह जानने का कष्ट किया है कि सिनेमा-जगत् में क्लासेज़ एंड मॉसेज़–दोनों की ही ओर से कौन-कौन सी कंपनियों, कौन कौन से डाइरेक्टरों और कौन-कौन से फिल्मों को रिकग्नाइज़ किया जाता है? भारत की मानी हुई या सर्वश्रेष्ठ कंपनियां कौन-सी हैं, यह पूछने पर आपको उत्तर मिलेगा–प्रभात, न्यू थिएटर्स और रणजीत। डाइरेक्टरों की गणना में शांताराम, देवकी बोस और चंदूलाल शाह के नाम सुनाई देंगे। तब फिर आपका, या किसी भी व्यक्ति का, जो भी फिल्म या कंपनी सामने आ जाये, उसी से सिनेमा पर एक स्लैशिंग फतवा

देना कहां तक संगत है, यह आप ही सोचें। यह तो वही बात हुई कि कोई आदमी किसी लाइब्रेरी में जाता है। जिस पुस्तक पर हाथ पड़ता है, उसे उठा लेता है। और फिर उसी के आधार पर फतवा दे देता है कि हिन्दी में कुछ नहीं है, निरा कूड़ा भरा है। क्या आप इस चीज़ को ठीक समझते हैं?

अब दो-एक शब्द आपके मादक या मतवालावाद पर भी। पहली बात तो यह कि केवल यूटिलिटेरियन एंड्स की दृष्टि से लिखा गया साहित्य ही साहित्य है, ऐसा कहना ठीक नहीं। ऐसी रचना करने के लिए साहित्यिक से अधिक प्रोपेगेंडिस्ट होने की ज़रूरत है। इतना ही नहीं, इन एंड्स को पूरा करने के लिए अन्य साधन मौजूद हैं, जो साहित्य से कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। तब फिर, साहित्य के स्थान पर उन साधनों को प्रिफरेंस क्यों न दिया जाये? इसे भी छोड़िए। यूटिलिटेरियन एंड्स को अपनाने में कोई हर्ज़ नहीं। उन्हें अपनाना चाहिए ही। लेकिन क्या सचमुच में सेक्स-अपील उतना बड़ा हौआ है, जितना कि उसे बना दिया गया है? क्या सेक्स-अपील से अपने आपको, अपनी रचनाओं को, पाक रखा जा सकता है? पाक रखना क्या स्वाभाविक और सजीव होगा? अपवाद के लिए गुंजाइश छोड़कर मैं आपसे पूछना चाहूंगा कि आप किसी भी ऐसी रचना का नाम बतायें, जिसमें सेक्स-अपील न हो। सेक्स अपील बुरी चीज नहीं है, वह तो होनी ही चाहिए। लोहा तो हमें उस मनोवृत्ति से लेना है, जो सेक्स अपील और सेक्स-परवर्शन में कोई भेद नहीं समझती।

अब सिनेमा-सुधार की समस्या पर भी। यह समझना कि जिनके हाथ में सिनेमा की बागडोर है, वे इनीशिएटिव लें भारी भूल होगी। यह काम प्रेस और प्लेटफॉर्म का है, इससे भी बढ़कर उन नवयुवकों का है, जो सिनेमा में दिलचस्पी रखते हैं। चूंकि मैं प्रेस से संबंधित हूं और फिलहाल एक सिनेमा-पत्रिका का संपादन कर रहा हूं इसलिए मैंने इस दिशा में कदम उठाने का प्रयत्न किया। लेखकों तथा अन्य साहित्यिकों को एप्रोच किया। कुछ ने कहा कि सिनेमा सुधार की जिम्मेदारी पत्रकों पर नहीं। अपने लेख पर दिए गए 'लेखक' के संपादक का नोट ही देखिए। कुछ ने इसे असंभव-सा बताकर छोड़ दिया। सिनेमा सुधार की आवश्यकता को तो सब महसूस करते हैं, सिनेमा का विरोध भी जी खोलकर करते हैं, पर क्रियात्मक सहयोग का नाम सुनते ही अलग हो जाते हैं। सिर्फ इसलिए कि सिनेमा बदनाम है और यह चीज हमारे रोम-रोम में धंसी हुई है कि 'बद अच्छा बदनाम बुरा'। क्या यह विडंबना नहीं है? इस चीज़ को दूर करने में क्या आप हमारी सहायता न करेंगे?

यह सब होते हुए सिनेमा-सुधार के काम को आगे बढ़ना चाहते हैं। नवयुवक लेखकों के सिनेमा ग्रुप की योजना के लिए ज़मीन तैयार हो चुकी है, हम विस्तृत योजना भी शीघ्र प्रकाशित कर रहे हैं। इसके लिए जरूरत होगी एक निष्पक्ष सिनेमा-पत्र की। जब तक नहीं निकलता तब तक काफी दूर तक 'रंगभूमि' हमारा साथ दे सकती है। मेरा तो यह निश्चित मत है और मैं सगर्व कह सकता हूं कि इस लिहाज से 'रंगभूमि' भारतीय सिनेमा-पत्रों में सबसे आगे है। मैं आपसे अनुरोध करूंगा कि आप 'रंगभूमि' की आलोचनाएं ज़रूर पढ़ा करें। पढ़ने पर आपको भी मेरे-जैसा मत स्थिर करने में ज़रा भी देर न लगेगी, इसका मुझे पूर्ण निश्चय है।

आशा है कि आप भी सिनेमा-ग्रुप को अपना आवश्यक सहयोग देकर कृतार्थ करेंगे।

आपका

नरोत्तमप्रसाद नागर

नागर जी ने हमारे सिनेमा-संबंधी विचारों को ठीक माना है, केवल हमारा जेनरेलाइज़ करना अर्थात् सभी को एक लाठी से हांकना उन्हें अनुचित जान पड़ता है। क्या वेश्याओं में शरीफ औरतें नहीं हैं? लेकिन इससे वेश्यावृत्ति पर जो दाग है वह नहीं मिटता। ऐसी वेश्याएं अपवाद हैं, नियम नहीं।

साधुओं और वेश्याओं में मौलिक अंतर है। साधु कोई इसलिए नहीं होता कि वह मौज उड़ायेगा और व्यभिचार करेगा, हांलाकि कुछ ऐसे साधु निकल ही आते हैं, जो परले सिरे के लुच्चे कहे जा सकते हैं। साधु हम ज्ञान-प्राप्ति या मोक्ष या जन-सेवा के ही विचार से होते हैं। इस गई-गुज़री दशा में भी ऐसे साधु मौजूद हैं, जिन्हें हम महात्मा कह सकते हैं। वेश्याओं के मूल में दुर्वासना, अर्थ-लोलुपता, कामुकता और कपट होता है। इससे शायद नागर जी को भी इंकार न हो।

सिनेमा की क्षमता से मुझे इंकार नहीं। अच्छे विचारों और आदर्शों के प्रचार में सिनेमा से बढ़कर कोई दूसरी शक्ति नहीं है, मगर जैसा नागर जी खुद स्वीकार करते हैं, वह कुपात्रों के हाथ में है और वह लोग भी इस ज़िम्मेदारी से बरी नहीं हो सकते, जो उसे बर्दाश्त करते हैं, अर्थात् जनता। मुझे इसके स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। यही तो मैं कहना चाहता हूं। सिनेमा जिनके हाथ में है, उन्हें आप कुपात्र कहें, मैं तो उन्हें उसी तरह व्यापारी समझता हूं, जैसे कोई दूसरा व्यापारी। और व्यापारी का काम जन-रुचि का पथ-प्रदर्शन करना नहीं, धन कमाना है। वह वही चीज़ जनता के सामने रखता है, जिसमें उसे अधिक से अधिक धन मिले। एक फिल्म बनाने में पचास हज़ार से एक लाख तक बल्कि इससे भी ज़्यादा खर्च हो जाते हैं। व्यापारी इतना बड़ा खतरा नहीं ले सकता। गरीब का दिवाला निकल जायगा। साहित्यकार का मुख्य उद्देश्य धन कमाना नहीं होता, नाम चाहे हो। हमारे ख्याल में साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन का बल और स्वास्थ्य प्रदान करना है। अन्य सभी उद्देश्य इसके नीचे आ जाते हैं। हज़ारों साहित्यकार केवल इसी भावना से अपना जीवन तक साहित्य पर कुर्बान कर देते हैं। उन्हें धेला भी इससे नहीं मिलता। मगर ऐसा शायद ही कोई प्रोड्यूसर अवतरित हुआ हो, और शायद ही हो, जिसने इस ऊंची भावना से फिल्म बनाई हो।

आप फरमाते हैं, सिनेमा में जाने वाले साहित्यिकों में ऐसा कौन था, जिसका मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रंग में रंगना रहा हो? हम ज़ोरों से कह सकते हैं, कोई भी नहीं। वहां का जलवायु ही ऐसा है कि बड़ा अदर्शवादी भी जाय, तो नमक की खान में बनकर रह जायगा। वही लोग, जो साहित्य में आदर्श की सृष्टि करते हैं सिनेमा में दो सौ वेश्याओं का नंगा नाच करवाते हैं। क्यों? इसलिए कि ऐसे धंधे में पड़ गए हैं, जहां बिना नंगा नाच नचाये धन से भेंट नहीं होती। मैं आदर्शों को लेकर गया था, लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमा वालों के पास बने-बनाये नुस्खे

हैं, और आप उन नुस्खों के बाहर नहीं जा सकते। वहां प्रोड्यूसर यह देखता है कि जनता किस बात पर तालियां बजाती है। वही बात वह अपनी फिल्म के दायरे के बाहर समझता है। और फिर सारा भेद तो एसोसिएशन का है। वेश्या के मुख से वैराग्य या निर्गुण सुनकर कोई तर नहीं जाता। रही उपाधियों के टके सेर की बात। हमारे खयाल में सिनेमा में वह इससे कहीं सस्ती है जहां अच्छे वेतन पर लोग इसीलिए नौकर रखे जाते हैं, जो अपने ऐक्टरों और ऐक्ट्रेसों की तारीफ में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलायें।

मैं यह नहीं कहता कि होली या कजली त्याज्य हैं और जो लोग होली या कजली गाते हैं वह नीच हैं और जिन भावों से प्रेरित होकर होली और कजली का सृजन होता है वह मूल रूप से साहित्य की प्रेरित भावनाओं से अलग हैं। फिर भी वे साहित्य नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं को भी साहित्य नहीं कहा जाता। कभी-कभी उसमें ऐसी चीज़ें निकल जाती हैं जिन्हें हम साहित्य कह सकते हैं। इसी तरह होली और कजली में भी कभी-कभी अच्छी चीज़ें निकल जाती हैं, और वह साहित्य का अंग बन जाती हैं, मगर आमतौर पर ये चीज़ें अस्थाई होती हैं और साहित्य में जिस परिष्कार, मौलिकता, शैली, प्रतिभा एवं नैसर्गिक गंभीरता की ज़रूरत होती है, वह उसमें नहीं पाई जाती। देहातों में दीवारों पर औरतें जो चित्र बनाती हैं, अगर उसे चित्रकला कहा जाय तो शायद संसार में एक भी ऐसा प्राणी न निकले जो चित्रकार न हो। साहित्य भी एक कला है और उसकी मर्यादाएं हैं। यह मानते हुए भी कि श्रेष्ठ कला वही है जो आसानी से समझी और चखी जा सके, जो सुबोध और जनप्रिय हो, उसमें ऊपर लिखे हुए गुणों का होना लाज़मी है। आपने सिनेमा-जगत् में जिन अपवादों के नाम लिए हैं, उनकी मैं भी इज़्ज़त करता हूं और उन्हें बहुत गनीमत समझता हूं, मगर वे अपवाद हैं जो नियम को सिद्ध नहीं करते। और हम तो कहते हैं, इन अपवादों को भी व्यापारिकता के सामने सिर झुकाना पड़ा है। सिनेमा में इंटरटेनमेंट वैल्यू साहित्य में इसी अंग से बिल्कुल अलग है। साहित्य में यह काम शब्दों, सूक्तियों या विनोदों से लिया जाता है। सिनेमा में वही काम मारपीट, धर-पकड़, मुंह चिढ़ाने और जिस्म को मटकाने से लिया जाता है।

रही उपयोगिता की बात। इस विषय में मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएं उपयोगिता के सामने घुटने टेकती हैं। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रोपेगेंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा, वर्ना उपनिषद् और बाइबिल दृष्टांतों से न भरे होते।

सेक्स-अपील को हम हौआ नहीं समझते, दुनिया उसी धुरी पर कायम है, लेकिन शराबखाने में बैठकर तो कोई दूध नहीं पीता। सेक्स-अपील की निंदा तब होती है, जब वह विकृत रूप धारण कर लेती है। सुई कपड़े में चुभती है, तो हमारा तन ढंकती है, लेकिन देह में चुभे तो उसे ज़ख्मी कर देगी। साहित्य में भी जब यह अपील सीमा से आगे हो जाती है, तो उसे दूषित कर देती है। इसी कारण हिन्दी प्राचीन कविता का बहुत

बड़ा भाग साहित्य का कलंक बन गया है। सिनेमा में वह अपील और भी भयंकर हो गई है, जो संयम और निग्रह का उपहास है। हमें विश्वास नहीं आता कि आप आजकल के मुक्त प्रेम के अनुयायी हैं। उसे प्रेम कहना तो प्रेम शब्द का कलंकित ही करना है—उसे तो छिछोरापन ही कहना चाहिए।

अंत में हमारा यही निवेदन है कि हम भी सिनेमा को इसके परिष्कृत रूप में देखने के इच्छुक हैं, और आप इस विषय में जो सराहनीय उद्योग कर रहे हैं, उसको गनीमत समझते हैं। मगर शराब की तरह यह भी यूरोप का प्रसाद और हजार कोशिश करने पर भी भारत-जैसे देश में उसका व्यवहार बढ़ता ही जा रहा है। यहां तक कि शायद कुछ दिनों में वह यूरोप की तरह हमारे भोजन में शामिल हो जाय। इसका सुधार तभी होगा जब हमारे हाथ में अधिकार होगा, और सिनेमा-जैसी प्रभावशाली सद्‌विचार और सद्‌व्यवहार की मशीन कला-मर्मज्ञों के हाथ में होगी, धन कमाने के लिए नहीं, जनता को आदमी बनाने के लिए, जैसा योरप में हो रहा है। तब तक तो यह नाच तमाशे की श्रेणी से ऊपर न उठ सकेगा।

[लेख। 'हंस', जून, 1935 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रथम संस्करण) में संकलित, परन्तु बाद के संस्करणों में इसे हटा दिया गया। अब 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित

हल्दी की गांठ वाला पंसारी

एक आदमी को हल्दी की कहीं एक गांठ मिल गयी तो उसने समझा अब मैं पंसारी हो गया। 'सरस्वती' के संपादक ठाकुर श्रीनाथसिंह भी कुछ उसी दिमाग के आदमी हैं। आपने जिंदगी में ले-देकर एक उपन्यास लिखा 'उलझन' और अब उन्हें यह वहम हो गया कि लोग उनके इस उपन्यास के आधार पर कहानियां, नाटक, ड्रामे लिखने लगे हैं, चुनांचे मैंने भी इसी उपन्यास के आधार पर, थोड़ा-सा परिवर्तन करके 'जीवन का शाप' नाम की कहानी लिख डाली। मुझे कुछ दिनों से श्रीनाथसिंह की ऊल-जलूल बातें सुन-सुनकर यह भय होने लगा है कि उन्हें खफकान या मालीखूलिया हो गई है। और अगस्त की 'सरस्वती' में आपका 'प्रेमचंद जी की रचना-चातुरी का एक नमूना' नामक लेख पढ़कर मेरा वह भय विश्वास बन गया। मैं उनसे नम्रता से अर्ज करूंगा कि वह जल्दी किसी होशियार चिकित्सक से परामर्श करें वर्ना शायद रोग और भी भयंकर रूप धारण कर ले। मालीखूलिया के लक्षण यही हैं कि उसका रोगी समझता है, लोग उसका माल-असबाब ढोये लिए जाते हैं और वह अंधे कुएं की भांति बतासे भूंकने लगता है। श्रीनाथसिंह में एक विशेष लक्षण और है और वह यह है कि आप उन सिद्धांतों और आदर्शों को भी, जो चिरकाल से साहित्य के आधार बन चुके हैं, अपनी चीज या मिल्कियत समझ बैठते हैं और बावेला मचाने लगते हैं। प्रेम की विजयिनी शक्ति कोई नयी आविष्कार नहीं है। वह उतनी ही चिरंतन है जितना साहित्य। लेकिन हमारे ठाकुर साहब समझ रहे हैं कि यह उनके दिमाग की उपज है और अबकी साहित्य सम्मेलन में आप भी पंडित रामचन्द्र शुक्ल के उसका उल्लेख करते समय ललकार उठे, 'यह मेरे लेख की चोरी है।' इसे भले

आदमी को इतना भी नहीं सूझता कि माननीय शुक्ल जी इस सिद्धांत से उतने ही परिचित हैं जितना किसी भी साहित्यकार को होना चाहिए और वह उनका अपमान कर रहा है। मगर यहां तो यह नीति है—बदनाम अगर होंगे तो क्या नाम न होगा।

'सरस्वती' में यह लेख लिखने का मंशा यह मालूम होता है कि 'सरस्वती' के भोले-भाले पाठकों के सामने 'उलझन' की भरपेट प्रशंसा की जाय और यह दिखाया जाय यह रचना इतने ऊंचे दर्जे की है कि प्रेमचंद जी ने भी इसे पढ़ा और पढ़ा ही नहीं इससे इतना प्रभावित हुए कि उसके आधार पर कहानी लिख डाली। मैं उन्हीं लेखकों की रचनाएं पढ़ता हूं जिनकी प्रतिभा का मैं कायल हूं, जो अपनी रचनाएं मुझे भेंट करते हैं और उन पर मेरी सम्मत्ति मांगते हैं। ठाकुर साहब ने अपनी रचना मुझे भेंट नहीं की और उनकी प्रतिभा का मैं भी कायल नहीं रहा। मैं उन्हें कलाकार समझता ही नहीं। वह इस मानी में कुशल संपादक हैं कि लेखकों से 'सरस्वती' के अच्छे गेट-अप के आधार पर अंग्रेजी में लेख लेकर उनका अनुवाद कर डालते हैं। बस, इसके सिवा मैंने उन्हें और कुछ नहीं समझा। उनकी रचनाओं में मैंने केवल वह बाल-कविता सुनी है दो भाइयों वाली, जो अब पेटेंट, हो चुकी है, और जिसे आप बडी शान से हरेक सम्मेलन में सुनाया करते हैं और जो किसी अंग्रेजी कविता का अनुवाद या छाया है। हरेक ऐरे गैरे नत्थूखैरे की रचना पढ़ने के लिए मेरे पास समय नहीं है।

'जीवन का शाप' और 'उलझन' में आपने जो सादृश्य दिखाया है उसे पढ़कर हंसी आती है। अगर दोनों में यही बात है कि दोनों के हीरो गरीब, विद्वान्, मेहनती और संतोषी हैं और उनकी पत्नियां कटु भाषिणी हैं और दोनों उपनायक धनी व्यापारी हैं और उनकी महिलाएं पति से असंतुष्ट हैं, तो मैं कहूंगा कि ठाकुर साहब ने मेरे 'सेवासदन' से प्लाट भी उड़ाया है, चरित्र भी और समस्या भी। वहां भी नायिका अपने पति की दरिद्रता से असतुष्ट है और पंडित पद्मसिंह शर्मा के घर बहुत आती-जाती है। लेकिन मैंने 'उलझन' पढ़ा होता तब भी यह आक्षेप न [illegible] सकता, क्योंकि ऐसे पसंग आये दिन के जीवन की बातें हैं, रोज देखने में आता हैं और उन पर किसी लेखक की मोहर नहीं है। मगर हमारे ठाकुर साहब बेचारे इस मालीखूलिया से मजबूर हैं। क्या करें। पार्क का दृश्य 'सेवासदन' में भी है, 'उलझन' में भी, नायिका को 'सेवासदन' में भी बेंच पर बैठाया गया है, 'उलझन' में भी। इसलिए मैं यदि कहूं कि 'उलझन' 'सेवासदन' की भद्दी नकल है तो कुछ न्यायसंगत हो सकता है, क्योंकि ठाकुर साहब ने सेवासदन पढ़ा भी है और उसकी प्रशंसा भी कर चुके हैं, यद्यपि अब वह उनकी निंदा कर सकते हैं।

मगर 'जीवन का शाप' में जो समस्या पेश की गई है वह हमारे ठाकुर साहब की पकड़ में न आई। 'उलझन' में विवाह की बे[illegible]ता की समस्या होगी, जसी सेवासदन में है, जिसकी वह नकल है, लेकिन 'जीवन का शाप' में बिल्कुल नयी समस्या है, जिसे ठाकुर साहब समझ तक नहीं सके, उसका आविष्कार क्या करते? 'जीवन का शाप' में पत्नियों ने अपने पतियों को त्याग नहीं दिया है बल्कि साविक दस्तूर अपने पतियों के साथ हैं। कटुभाषिणी अपने दरिद्र और विद्वान् पति के पास आ जाती

है और विलासिनी अपने धनवान पति के पास। समस्या जो है वह कटुभाषिणी के इन शब्दों में है–

"चुपके से जाकर शीरीं बानू (धनवान की पत्नी) से कहो कि जाकर आराम से अपने घर में बैठे। सुख कभी संपूर्ण नहीं मिलता। विधि इतना घोर पक्षपात नहीं कर सकती। गुलाब में कांटे होते ही हैं। अगर सुख भोगना है तो उसे उसके दोषों के साथ भोगना पड़ेगा। अभी विज्ञान ने ऐसा कोई उपाय नहीं निकाला कि वह हम सुख में कांटों को अलग कर सकें। मुफ्त का माल उड़ाने वालों को ऐयाशी के सिवा और क्या सूझेगी। धन अगर सारी दुनिया का विलास न मोल लेना चाहे तो वह धन ही कैसा? शीरीं के लिए भी क्या वह द्वार नहीं खुले हैं जो शापूर जी (धनवान पति) के लिए खुले हैं। उससे कहो शापूर जी के घर में रहे, उनके धन को भोगे और भूल जाय कि वह शापूर की स्त्री है, उसी तरह जैसे शापूर भूल गया है कि वह शीरीं का पति है। जलना और कुढ़ना छोड़कर आनंद लूटे।....यही धन का प्रसाद है। ऐयाश मर्द की स्त्री अगर ऐयाश न हो तो यह उसकी कायरता है, लतखोरपन है।

"कावस जी ने चकित होकर कहा–लेकिन तुम भी तो धन की उपासक हो?"

"गुलशन ने लज्जित होकर कहा–यही तो जीवन का शाप है।"

इस उद्धरण से पाठक समझ जाएंगे कि यहां तक किस वस्तु को जीवन का शाप कहा गया है। जीवन का शाप जरूरत से ज्यादा धन है जो सदैव ऐयाशी की ओर ले जाता है।

गुलशन को अपने दरिद्र पति पर भी विश्वास नहीं है। वह कहती है आज तुम्हें कहीं से धन मिल जाय तो तुम भी शापूर बन जाओगे, निश्चय।

कावस जी शंका करते हैं–तो शायद तुम भी अपने बचाएँ हुए मार्ग पर चलोगी?

गुलशन जवाब देती है–शायद नहीं, अवश्य।

मैंने अपनी एक बड़ी पुस्तक 'कायाकल्प' और दर्जनों गल्पों में धन को जीवन का शाप सिद्ध किया है, जो वास्तव में है। धन और विलास जुड़वां हैं, अलग नहीं रहते। जीवन का सुख धन में नहीं, संतोष और निग्रह में है। यह कोई नया आविष्कार नहीं। हमारा साहित्य इस प्रसंग से भरा पड़ा है, मगर जीवन में ऐसे कितने ही सत्य हैं जो हमेशा सत्य रहते हैं और बार-बार दोहराने से उनकी सत्यता में कमी नहीं पड़ती। मैंने उसका एक नये रूप में उपयोग किया है और यही मेरा ध्येय है।

अंत में मैं अपने मित्र ठाकुर साहब से कहूंगा कि इस तरह की बेसिर-पैर की बातों से अपने पत्र के पन्ने भरकर वह अपने ही को हास्यास्पद नहीं बनाते, बल्कि हिन्दी के सभी लेखकों को लज्जित करते हैं, क्योंकि एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है। अन्य भाषाओं के लोग जब देखते होंगे कि हिन्दी में ऐसे-ऐसे संपादक भी हैं, जिन्हें साहित्य की मोटी-मोटी बातें भी नहीं मालूम, तो उनकी नजर में हिन्दी साहित्य का स्थान अवश्य गिर जायेगा। जिस व्यक्ति ने तीन सौ से ऊपर कहानियां और लगभग पच्चीस उपन्यास और सैकड़ों लेख लिख डाले, वह अपने अंदर कुछ रखता है और जब वह दिन आयेगा कि उसका मस्तिष्क निकम्मा हो जाये और उसे ठाकुर साहब जैसे टुटपुंजियों की रचनाओं का आधार लेना पड़े तो वह लिखना बंद

कर देगा। 'उलझन' में विवाह की समस्या जिस तरह ठाकुर साहब ने इस लेख में हल की हुई दिखायी है। अर्थात् पत्नियों का अदल बदल यह पश्चिम के निकृष्टतम आदर्शों की साफ नकल है। उन्होंने उसके गुण-दोष पर विचार नहीं किया। शायद इसकी उनमें योग्यता ही नहीं है वह मुझ पर पश्चिम की गुलामी का आक्षेप करते हैं, मगर मैंने आदर्श को कभी हाथ से नहीं जाने दिया यह समझना कि Modernism जो कुछ कहता है वह वेद वाक्य है, अपनी अल्पज्ञता का परिचय देता है। जीवन पत्नियों के अदल-बदल से सुखी नहीं होगा। आज जो स्त्री आपको देवी जंचती है, बहुत संभव है कि कल वह आपकी नजरों से गिर जाय। आज जो पुरुष देवता-सा लगता है कल को राक्षस बन सकता है। यह वैवाहिक समस्या संतोष और व्रत के आधार पर ही हल हो सकती है। ठाकुर साहब को विदित होना चाहिए कि ख्याति साधना और सतत परिश्रम तथा ईश्वरदत्त प्रतिभा, इन तीनों के समन्वय से मिलती है इस तरह दूसरों की कीर्ति को मिटाने से नहीं। कीचड़ फेंकने से नहीं, झूठे इंटरव्यू छापने से नहीं, भरी सभा में चीख पुकार मचाने से नहीं। अगर उनमें यह तीनों बातें नहीं हैं तो व्यर्थ साहित्य के पीछे क्या लटठ लिये पड़े हैं। कैनवैसिंग में इससे कहीं ज्यादा पैसे मिल सकते हैं।

[लेख। 'भारत', 11 अगस्त, 1935 में प्रकाशित। 'विविध प्रसंग' भाग 3 में संकलित।]

कौमी इत्तिहाद (ऐक्य) क्योंकर हो सकता है?

इब्तदा (आरंभ) में इस ख्याल से गो न तसल्ली हुई थी कि जैसे-तैसे अवाम पर तालीम का बेदारकुन (जागृतिपूर्ण) असर होगा। आपस की यह जाहिलाना मुनाफरत (घृणा) और फिरकावाराना कुदूरत (मनोमालिन्य) दूर हो जायेगी, लेकिन गुजश्ता (व्यतीत) पच्चीस साल में तालीम ने इफ्लास (कंगाली) की मुनासबत (निस्बत) ही से तरक्की की है, तोलबा (छात्र) की तादाद में अंदाजा करो तो कई गुनी नजर आती है। एक की जगह सूबए मुत्तहदा (संयुक्त प्रांत) में पांच-पांच युनिवर्सिटियां हैं, जहां बमुश्किल हजार बारह सौ गजुएट इम्तिहान में शरीक होते थे, अब उनकी तादाद बदर्जहा (कई गुना) ज्यादा बढ़ गई है लेकिन इसी रफ्तार से मुनाफरत (घृणा) भी बढ़ती चली जाती है। जहां सिर्फ गौ हत्या और कुर्बानी ही हंगामे और शर (उपद्रव) का बाइस हुआ करती थी, वहां अब आरती और नमाज और बाजे और अजान और शंख और, जुलूस, गर्ज बेशुमार ऐसे असबाब (कारण) निकल आये हैं, जिन पर आये दिन हंगामे होते रहते हैं और जिस जमाने और ख्वाब देखकर कौमपरस्तों को तसल्ली हुई थी, वह ज़माना दूर होते होते अब शायद उफुक (क्षितिज) के उस पार भी कहीं नज़र नहीं आता, यहां तक कि जो फिरकापरस्ती नौकरियों और मेम्बरियों की भाग तक महदूद (सीमित) था, अवाम में सरायत (असर) करती जाती है। और 'हिन्दुओं से कोई चीज़ मत खरीदो', 'मुसलमानों की दुकान पर मत जाओ' वगैरा तहरीकों ने गोया आतिशगीर (विस्फोटक) माद्दे (पदार्थ) को ऐसा जमा कर दिया है कि जरा-सी चिनगारी आलमगीर (विश्वव्यापी) तबाही का बाइस हो सकती है। कभी-

कभी नौजवानों का रंग देखकर उम्मीद ज़रा देर के लिए लहलहा उठती है, अलीगढ़ या कभी किसी दूसरी अंजुमन से कौम परवाना जज़्बात की कमज़ोर-सी आवाज सुनकर भी खून में ज़रा हरारत पैदा हो जाती है, और कौमियत का सुरूर दिल पर तारी होने (छाने) लगता है कि यंकायक एक दूसरी तरफ से मुखालफाना जज़्बात की घन गरज की सदा (आवाज) कानों में आकर नशा हिरन कर देती है। और अब तो यह कैफियत हो गयी है कि हिन्दू मुसलमानों के मुहल्ले में रहते हुए कांपता है और मुसलमान हिन्दुओं के मुहल्ले में रहते हुए।

मगर क्या इस सियासी सरसाम (सन्निपात) से पहले भी यही हालत थी? किसी पुरानी बस्ती को देखिए, हिन्दुओं और मुसलमानों की दीवारें मिली हुई हैं। अगर इस किस्म के खतरे पैदा होते तो हमसायगी (पड़ोसीपन) का ख्याल ही क्यों पैदा होता। गांव-गांव में मकतब (मदरसे) होते थे, बिलउमूम (अक्सर) मौलवी साहब लड़कों को पढ़ाया करते थे। सैयद सालार के मजार पर और अज़ादारी (शोक, मातम) के मौकों पर हिन्दू-मुसलमान शरीक होते थे और होली की तकरीब (उत्सव) में मुसलमान-हिन्दुओं के शादी-ब्याह में भी इस भाईचारे का निबाह किया जाता था। शादी और गमी में दोनों एक-दूसरे के शरीके-हाल (संगी-साथी) रहते थे और आज कोई हिन्दू चिराग जलने के बाद मुसलमानों के मुहल्ले से सही-सलामत निकल जाय तो देवताओं को धन्यवाद देता है और शायद मुसलमान भी हिन्दुओं के साये से डरता है, और अगर कभी खरीद-व-फरोख्त या आम इंसानी ताल्लुकात कायाम भी है तो बदर्जा मजबूरी या रकाबत (डाह) के जुनून में। हिन्दू दुकानदार मुसलमान पर्चाफरोश से रेशमी कपड़े इसलिए खरीदता है कि हिन्दू कारीगर उसे मयस्सर नहीं आते और मुस्लिम खरीदकर हिन्दू बिसाती की दुकान पर इसलिए जाता है कि कोई मुसलमान बिसाती नजर नहीं आता, वरना दिलों में इस दर्जा नफरत पैदा हो गयी है कि अगर एक कौम दूसरे से बेनियाज (निःस्पृह) रह सकती तो अपने माबूद (ईश्वर) का शुक्रिया अदा करती।

पुरानी तारीख में मजलिसी ताल्लुकात का जिक्र बहुत कम मिलता है। मुसलमान फर्माखाओं (राजाओं) के जमाने में हिन्दुओं के साथ कहीं कहीं ज़्यादतियां (अनीतियां, अत्याचार) की गयी होंगी। हिन्दुओं ने भी अपनी हस्ती कायम रखने के लिए मुसलमानों से लड़ाइयां लड़ी होंगी, मगर अब यह अम्र (विषय, समस्या) शहादत का मुहताज नहीं है कि हिन्दू-मुसलमान फर्माखाओं की लड़ाइयां सलीबी (धार्मिक) या हलाकी नहीं होती थीं, बल्कि महज मुल्कगीरी की हवस या जाती बदगुमानी या हुकुमरानी शोरीदासरी (पागलपन) उनकी मुहर्रिक (उत्तेजक) हुआ करती थी। हां, अदबीयात में हिन्दुओं की कसरत और हिन्दी फने-शेर (काव्य-कला) में मुसलमानों की तब्अ आज़माइयां (काव्य-रचनाशक्ति) देखकर यह गुमान होता है कि इनमें मजलिसी ताल्लुकात भी थे। सतही नहीं बल्कि काफी गहरे थे, क्योंकि अदबी इर्तिबात (साहित्यिक मेल-मिलाप) बिला दोस्ताना ताल्लुकात के मुमकिन नहीं, और अगर मान भी लें कि पहले ही बाहमी (पारस्परिक) मुनाफरत (घृणा) मौजूद थी और हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के जानी दुश्मन थे, तो वह जिहालत और सियासी जुमूद (खिन्नता) और

बेखबरी का ज़माना था, वरना सल्तनत ही क्यों जाती और ताजिरों (व्यापारियों) की एक छोटी-सी जमात अपनी हिम्मत और तदबीर से एक बर्रे-आज़म (महाद्वीप) पर तसल्लुत (अधिकार) क्यों कर पा लेती? यह दौर तो बेदारी (जागृति) और रोशनी का है। आज एक बच्चा भी जितनी तारीख (इतिहास) जानता है, और कौमों के उरूज-व-ज़वाल (उत्थान एवं पतन) पर जिस बेदार-मग्ज़ी (सचेत मस्तिष्क) से मुहाकमा (फैसला) कर सकता है, उतना एक सदी कब्ल (पूर्व) बड़े-बड़े उलमा (विद्वान्) के लिए नामुमकिन-कयास (असम्भव विचार) था। जब लोग पंद्रह सौ साल पहले की दुनिया में बसते थे और हालांकि आज भी हमारी वह कदामत (पुरानापन) और जुमूदपरस्ती (मलिनता, गत्यावरोध) कायम है, और आज भी हम मजलिसी सियासी मामलात में कदीम (पुरातन) रवायतों से इल्हाम हासिल करते हैं, लेकिन फिर भी मुकाबलतन (मुकाबले में) हमने दौर-ए-जदीद (आधुनिक काल) की ज़ेहनियत बहुत-कुछ हासिल कर ली है। अब हमें मालूम है कि कौम अपने ऐबों और खूबियों के साथ क्या चीज़ है, वह क्योंकर बनती है, क्योंकर मुन्तज़िम (व्यवस्थित) होती है और किन-किन हालात में मुन्तिशर (तितर-बितर) होती है, इसके अर्कान (खंभे, सदस्य) क्या हैं, मुहर्रिक असबाब (गति देने वाले कारण) क्या हैं! ज़रूरीयात-ए-रोज़गार से हम काफी बाखबर हैं, चुनांचे इस दौर में भी जब इम्तिशार (परामर्श, सलाह-मशवरा) और इफ्तिराक (फूट, वैमनस्य) के असबाब (कारण) ही रोज़-बरोज़ गालिब आते-जात हैं तो कुदरती तौर पर हमें अपना मुस्तकिल तारीक (अंधकारमय) और मायूसकुन (निराशाजनक) नज़र आने लगता है और ऐसा गुमान होता है कि शायद हम दुनिया से मिट जाने के लिए ही हैं, शायद अज़ल तक (अनादि काल तक) हमारा गुलाम रहना ही मशीयत-ए-इलाही (ईश्वरेच्छा) है, शायद उस ज़माने में जब हब्शी कौमें भी आज़ाद हैं और आज़ादी की वकत करती हैं और खून से उनकी हिफाज़त करने को आमादा रहती हैं, हमें आज़ादी के दर्शन न होंगे। इक्तिसादी (आर्थिक) कशमकश के साथ जब दिल पर मायूसी ही गालिब आ जाये तो कौम में ज़िंदगी कहां से आये, रूह कहां से आये? ताकत और तकवियत (शक्ति) तो उम्मीद से आती हैं, हिम्मत तो बढ़ती है पौधे की हरी-हरी पत्तियां देखकर, जो पौधा रोज़-बरोज़ खुश्क और मुर्दा होता जाता हो उससे क्या तवक्को (आशा) की जाये?

इस फरेब से हम अपने दिल को धोके में नहीं डाल सकते कि यह जो कुछ हो रहा है ज़हला (मूर्खों) की कमनज़री और तअस्सुब (धार्मिक पक्षपात) और मज़हबी जुनून के मातहत हो रहा है। काश ऐसा होता तो इस्लाह (सुधार) की उम्मीद कायम रहती। ज़हला (मूर्ख) हमेशा जाहिल नहीं रह सकते और एक ऐसे ज़माने का ख्वाब देखा जा सकता था जब ज़हला ज़हला न होंगे, लेकिन रोना तो यही है कि यह उन हस्तियों की इनायतें हैं जो खुदा के फज़ल से इल्म और फज़ीलत (प्रतिष्ठा) और अक्ल (बुद्धि) के अलम-बरदार (झंडा उठाने वाले) हैं, उनमें कौम का दर्द भी है, अपनी कौम को फिर उसी उरूज (ऊंचाई, बुलंदी) पर देखने की काबिले-नाज़ तमन्ना भी है, और यह कैसे कहा जाये कि वह गुमराह हैं या किसी तीसरी ताकत के इमा और तहरीक (संकेत) के ज़ेरे-असर हैं या रुसूख और विकार (प्रतिष्ठा,

गंभीरता) और मंसब (पद, अधिकार) की धुन में अम्दन (इरादे के साथ) कौम का गला घोंट रहे हैं। हमें यह तस्लीम करना चाहिए कि वह जो कदम रखते हैं, पूरी जिम्मेदारी के साथ ज़मीर की तहरीक से। किसी को किसी की नीयत पर शुबहा करने का हक नहीं है। हां, हम यह तहकीक (जांच-पड़ताल) करने की कोशिश कर सकते हैं कि जिन दिमागों में इत्तिहाद (एकता), मसावात (समानता) और आकिबत (भविष्य) की स्प्रिट पैदा होनी चाहिए थी, उनमें मुनाफरत (घृणा) और तअस्सुब (धार्मिक कट्टरता) और बरादरकुशी (भाई को मार डालने) के जज़्बात क्यों मुश्तेइल (प्रज्वलित) हो रहे हैं?

इसमें कोई शक नहीं कि दोनों फिरकों में किसी हद तक बदगुमानी हमेशा रही है। हिन्दू कभी यह न भूल सका कि मुसलमानों ने उस पर फतह पाया है न मुसलमान ही यह भूल सके कि वह फातेह (विजेता) हैं और हिन्दू मफ्तूह (विजित)। फातेह (विजेता) मफ्तूह (विजित) को हमेशा जलील और हकीर (तुच्छ) समझता है और उसकी मुआशरत (सभ्यता) के हर एक पहलू में उसे ऐब-ही-ऐब नजर आते हैं। हिन्दुओं ने फलसफे (दर्शन) और अमलीयात (जन्म-मंत्र आदि) में कितना ही कमाल क्यों न हासिल किया हो, वह एक हमलावर कौम से अपनी हिफाजत नहीं कर सकते। जब उनका फलसफा और अमल और तहजीबी इत्तिहाद उन्हें मुसलमानों से नहीं बचा सकता तो कुदरतन हिन्दुओं के साथ उना फलसफा और उनके रूहानी इंकिशाफात (आत्मिक गवेषणाएं) भी जिल्लत की निगाहों से देखे जाने लगे। कहीं कहीं एक शाह दारा शिकोह पैदा हो गया हो लेकिन मुसलमानों ने इस मुर्तद (विधर्मी समझा और मुस्लिम उलमाओं ने यह फरेब कायम रखा कि हिन्दू बुतपरस्त (मूर्तिपूजक और बातिल-परवर (असत्य-पालक) और तौहीद (अद्वैतवाद) से नाआश्ना (अनभिज्ञ हैं, और इस लिहाज से मुर्तद (विधर्मी) और मुल्हिद (नास्तिक, विधर्मी) सब कुछ हैं। आज अंग्रेज भी कायम हैं, मगर इस कौम की बेदारमग्जी (समयानुसार कार्य करने को) देखिए कि हिन्दू और मुसलमान अपने मजाहिब (धर्मों) के मुतअल्लिक जो कुछ नहीं जानते, वह यह लोग जानते हैं। हिन्दू फलसफा और योग और उपनिषद पर जितनी आलिमाना तसानीफ (व्याख्या) उन्होंने की है, उतनी हिन्दुओं ने नहीं की आलीहाजा (इसलिए) मुस्लिम तारीख (इतिहास) और फलसफे पर यही योरोपियनों ने जितने फाजिलाना (विद्वत्तापूर्ण) अंदाज से बहस की है, यह भी किसी मुसलमान ने की हो। 'तुमद्दुन-ए-अरब' एक फ्रांसीसी का एक तर्जुमा है और मैक्समूलर अभी तक हिन्दुस्तान में पैदा नहीं हो सका। चुनांचे वह फातेह और मफ्तूह की बदगुमानी बराबर कायम रही और वह एक लाज़मी बात थी, मगर होना यह चाहिए था कि फातेह भी मफ्तूह हो गया तो इसे मुफ्तूहों (पराजितों) से हमदर्दी हो और वह बदगुमानी के बजाये इत्तिहाद और इत्तिफाक (एकता और मैत्री) रूनुमा (मुंह दिखाने के लिए) न हो और दोनों मुत्तहिद (संगठित) होकर हुक्मरां ताकत (शक्ति-संपन्न-शासक) से आजादी के लिए मुकाबला (प्रतियोगिता) करें। यह एक नफ्सियाती हकीकत (मनोवैज्ञानिक सत्यता) है, लेकिन हिन्दुस्तान में वह नफ्सियाती हकीकत बातिल (असत्य) होती जाती है और आज दोनों महकूम (गुलाम) और मज़्लूम (जिन पर

जुल्म हो) और मफ्लूज जमाअतें (लकवे से मारे वर्ग) पहले से भी ज़्यादा शिद्दत के साथ नफरत बदगुमानी का शिकार हो रही हैं। अगर मज़हब फिलवाके (सचमुच) जंगो-जदल (रक्तपात) ही सिखाता है तो वह दुनिया के बरकत (कल्याण) का बाइस नहीं हो सकता। अगर खालिक (स्रष्टा) का यह मंशा होता कि हिन्दुस्तान में सिर्फ हिन्दू या मुसलमान रहें तो वह इनमें से एक को फना (नष्ट) कर देता। उसके लिए यह तो कोई बहुत मुश्किल बात न थी, मगर जब एक हजार साल तक दोनों मौजूद हैं तो खालिक की मंशा किसी एक को फना करना नहीं, दोनों को ज़िंदा रखना है। एक-दूसरे को मिटाने की कोशिश करना खालिक की मंशा के खिलाफ है। इसलिए मज़हब से यह फेल (बुरा कर्म) बहुत दूर है, और जो लोग मुनाफरत (मिथ्याचार) फैलाते हैं, वे हुकूमत-इलाही (ईश्वरीय सत्ता) से इंहिराफ (अवज्ञा) करते हैं। हकीकत यह है जो शख्स सच्चा और दीनदार है वह गैरमजाहिब (दूसरे धर्मों के) पैरुओं (अनुयायियों) से तो क्या, हर एक जीहयात (प्राणी) से मुहब्बत रखता है। वह हर एक से उसी वहदत (एक ईश्वर) का जलवा देखता है और उसी तबा (आदत, स्वभाव) रोशन मुनाफरत की तारीकी (अंधकार) को अपने अंदर दाखिल नहीं होने देती। जहां तक मैंने गौर किया है वह लीडर जो खास हुकूक (अधिकारों) और खास रियाअतों और तहफ्फुज़ात (सुरक्षाओं) के कद्रदां हैं, वह मज़हब के जेरे-असर यह अमल अख्तियार नहीं करते, बल्कि जाती और शख्सी एतबार से सरबर आवर्दगी (पतिष्ठा और सम्मान) की हवस तो हर शख्स में होती है और जब वह देखता है कि इत्तिहाद के हामियों में कही पुर्सिश (आदर) नही है और इसके बरअक्स (विपरीत) इफ्तिराक (वैमनस्य, फूट) के मुरीदों की खूब पीठ ठोंकी जाती है और उन्हें मंसब और ओहदे अता होते हैं और बरगुज़ीदों (नेक आदमियों) के तबके में इसकी कद्र व मंजिलत (आदर-सत्कार) कहीं ज्यादा हो जाती है तो एक जाहपरस्त (प्रतिष्ठा-लोलुप) और उरूजपसंद (उन्नति का इच्छुक) तबीयत के लिए तवाजुन (संतुलन) रखना मुश्किल हो जाता है। मेरे लिए यह बावर (विश्वास) करना मुहाल है कि खां अब्दुल गफ्फार खां या शेख मुफ्ती किफायतुल्लाह या हकीम अजमल खां मरहूम की-सी बर्गजीदा (नेक) हस्तियां फिरकापरस्त मुल्लाओं के मुकाबले म कम मुसलमान हैं, या भाई परमानंद जी, डॉक्टर मुंजे, महात्मा गांधी और सी॰ राजगोपालाचारी के मुकाबले में ज़्यादा हिन्दू हैं। मजहब का यहां मुत्लक (बिल्कुल) सवाल नहीं है। मज़हब आपस में बैर रखना नहीं सिखाता है। यह महज़ हिर्सऔर खुदगरजी का सवाल है और जितनी जल्द हम यह हकीकत समझ लेंगे उतनी ही जल्द हम इन नकली रहनुमाओं से परहेज करेंगे और जिस वक्त भी ऐसा माहौल पैदा होगा, उस वक्त अपनी कौम को अपनी जात (निजी स्वार्थों) पर कुर्बान करने वालों के लिए जिंदा रहना दुशवार हो जायेगा।

मुझे अपने बचपन का एक वाकिआ याद है जिसे आज भी याद करता हूं। यही जी चाहता है कि काश वह जहालत (मूर्खता, जड़ता) का गुज़रा हुआ ज़माना पलट आता। होली का दिन था। हिन्दू हलकारों की एक मुनज़्ज़म (संघटित) जमाअत रंग-पिचकारियों और अबीर और गुलाल से मुसल्लह (सज्जित) होकर मुसलमान तहसीलदार

पर हमला करने चली। मैं भी अपने वालिद मरहूम के साथ उस जमाअत के साथ था। तहसीलदार साहब बड़े दीनदार बुजुर्ग थे, रोज़े-नमाज़ के पाबंद। उन्हें जैसे ही इन हमलावरों की खबर मिली, उन्होंने अपना दीवानखाना तो खुला छोड़ दिया और महल के कमरे में रूपोश होकर दरवाज़ा बंद कर लिया। हमलावरों ने दरयाफ्त किया तो मालूम हुआ कि तहसीलदार साहब बगल के कमरे में छुपे हुए हैं। अब इधर से बार-बार गुज़ारिश हो रही है कि हुज़ूर बाहर तशरीफ लायें, हम सिर्फ सलाम करने हाज़िर हुए हैं कोई हुजूर के ऊपर एक कतरा भी रंग न डालेगा। मगर हुजूर हैं कि खबर भी नहीं होने देते। कसमें खाई जा रही हैं, मगर तहसीलदार साहब को एतबार ही नहीं आता। आखिर मुहल्ले वालों ने एक नयी तरकीब सोची। दीवानखाने और उस कमरे के बीच एक पर्दे की दीवार थी जो छत से दो-ढाई हाथ नीचे ही खत्म हो गयी थी। लोगों ने एकदम कुलह मंगवाया और उसमें रंग भरकर जो छोड़ा, तो तहसीलदार साहब सर से पांव तक रंग से शराबोर हो गये और आखिर एक अंदाज़-ए-मुहब्बत के साथ दरवाज़ा खोलकर हंसते हुए बाहर निकल आये। फिर तो उनके जिस्म का कोई अज्जी (हिस्सा) न बचा, लोगों ने दाढ़ी भी रंगी, रुखसार (कपोल) भी रंगे और उसके बाद इतर और पानी भी पेश किया। तहसीलदार साहब ऐसे खुश थे कि उनका मुतवस्सिम (सुस्मित) चेहरा आज पैंतालीस साल के बाद भी मेरी नज़र के सामने ही है, और जब मैं किसी फरिश्ते का ख्याल करता हूं तो वही नूरानी सूरत सामने आ जाती है और आज यह लग्वियत (अनर्थता, शरारत) फैली हुई है कि रंग खेलना कुफ्र से बिद्अत (इस्लाम धर्म में नयी बात) है और कहीं-कहीं होली के ज़माने में रंग छींटा पड़ जाने पर खून के दरिया बह जाते हैं। इस बेदारी (जागरण) के ज़माने से तो वह बेखबरी का ज़माना ही गनीमत था, जबकि लोगों में रवादारी (सहदयता) थी, पासदारी (सहायता, पृष्ठ-पोषण) थी शादी व गम में शरीक होने की तौफीक (उमंग) थी। अगर मज़हब हमें इतना तंग नज़र बना देता है तो मैं ऐसे मज़हब को दूर से सलाम करूंगा, तो क्या तहज़ीबी इख़्तिलाफात (सांस्कृतिक मतभेद) इस बरादरकुशी (भाई को मारने) के बाइस हैं? बेशक हर एक कौम अपनी तहज़ीब की आहनीं (लोहमय) कल्चर की हिफाज़त करना चाहती है और उसका यह मुतालबा (मांग, तकाज़ा) हक-बजानिब (सच्चाई की ओर) है। अपनी जुबान की रस्मुलखत (लिपि), अदब की, मुआशरत (सभ्यता) की, रुसूम (परंपराओं, रस्मों) व आदाब (तहज़ीब, शिष्टाचार) की मुहब्बत हर एक बाखबर इंसान में होती है और होनी चाहिए, लेकिन इसकी भी हद है। सच्ची आज़ादी वही है जो दूसरों की आज़ादी की भी कद्र करे। अगर एक जमाअत को अपनी मस्जिद में अजान देने का हक है, दूसरी जमाअत को अपने गिरजे में घंटी बजाने का, तो तीसरी जमाअत को अपने मंदिर में नाकूस (शंख) बजाने का हक क्यों न हो? बाज़ हिन्दू रियासतों में मुस्लिम कल्चर की तौहीन की जाती है, बाज़ मुसलमान रियासतों में हिन्दू कल्चर की, दोनों का ही तर्ज़-अमल इंसाफ के बईद (विरुद्ध) है। हर एक जमाअत के लिए आज़ादी का एक ही मेयार (मापदंड) होना चाहिए, मगर यहां आये-दिन मस्जिदों के सामने से निकलती हुई बारातों और जुलूसों पर हमले होते हैं। मुझे यकीन है कि अगर हिन्दुओं की बारातों के एवज़ कोई सरकारी जुलूस बैंड बजाता हुआ निकले तो मस्जिद के नमाजी

खामोशी से नमाज़ पढ़ने में मसरूफ रहेंगे। लेकिन हिन्दू बाजा, हालांकि इसको बजाने वाले मुसलमान होते हैं, नमाज़ में मुखिल (बाधक) हो जाता है और दीनदारी (धार्मिकता) का जोश उबल पड़ता है। मैं तस्लीम करता हूं कि दुनिया के हिम्मत वालों की है और यहां वही गालिब (विजेता, शक्तिशाली) आता है जो अपना ढोल खूब ज़ोर से पीट सकता है। ताकतवर हुकूमत करते हैं, कमज़ोर महकूम (प्रजा, दास) होते हैं। यह उसूल कानूने कुदरत हैं। इंसाफ और मसावात (समानता) वगैरा उसूल शायरों और अख़्लाकियात (नैतिकता) के मुसन्निफों (लेखकों) तक ही महदूद (सीमित) हैं। जर्मनी और इटली में आजकल यही ज़ेहनियत यहूदियों को मिटाये डाल रही है और यह एक मुसल्लम सबूत (सर्वमान्य तथ्य, प्रामाणिक सत्य) हो गया है कि यूरोप की ताकतवर कौमें ही खुदा के घर से दुनिया पर हुकूमत करने के लिए नाज़िल हुई हैं, लेकिन यहां तो हुकूमत कोई तीसरी ताकत ही कर रही है और एक जमाअत अगर दूसरी पर गालिब भी आ जावे तो भी उसे अपनी फतेह (जीत) का समरा (नतीजा) नहीं मिल सकता, और इसका नतीजा भी इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि गुलामी की मुद्दत और दराज़ (लंबी) हो जाये। कहा जाता है कि हिन्दुओं के छूतछात के बाइस दोनों फिरके आपस में मुत्तहिद (संयुक्त, सहमत) नहीं हो सकते, क्योंकि जब तक ये दोनों हमनिवाला और हमप्याला न हों, बाहम (परस्पर) खुलूस (निष्कपटता) कहां और एतबार कहां? मगर इस ख़्याल में सदाकत (सत्यता) का एक जुज़ (भाग) मानते हुए भी हम इसके कायल नहीं। पंजाब में छूतछात का नाम नहीं, लिबास भी करीब-करीब दोनों जमाअतों का यकसां हैं, जुबान भी एक, रस्मुलखत भी एक, फिर भी जितनी कशाकशी पंजाब में है, उतनी किसी और सूबे में नहीं है। और क्या मुसलमान-मुसलमान नहीं लड़ते या ईसाई-ईसाई नहीं लड़ते या हिन्दू-हिन्दू नहीं लड़ते? हम-मज़हब होना बाहमी जंग व जिहाद (आपसी उपद्रव तथा युद्ध) को नहीं मिटा सकता। यह खुलूस और रवादारी तो सच्ची बेदारी (जागृति) ही से पैदा हो सकती है जो मज़हबी, मुआशरती और तहज़ीबी मेयारों और तख़ैय्युलात (कल्पनाओं, भ्रमजालों) को मुनासिब और बेज़रर (हानि रहित) हुदूद के अंदर रख सकती है। जब तक हममें यह ज़ेहनीयत न ज़ोरदार होगी कि मज़हब सभी मिनाजानिब (तरफ से) खुदा हैं, और सब ही मज़ाहिब (धर्मों) को ज़िंदा रहने का यकसां हक है। सब-के-सब ज़रूरतों और हालात के ज़ेरे-असर पैदा हुए हैं और जब तक इनकी ज़रूरत रहेगी वह ज़िंदा रहेंगे। कोई मज़हब, कोई मुआशरत (सभ्यता), कोई इबादत (पूजा) किसी दूसरे पर फजीलत (श्रेष्ठता, प्रधानता) नहीं रखती। जब तक इसे न समझा जायगा, उस वक्त तक मुल्क में सुकून न होगा और यह मनाकशे (कशमकश) रोज-बरोज़ ज़ोर पकड़ते जायेंगे और मुल्क जहन्नुम से बदतर होता जायेगा। मैं एक हिन्दू की हैसियत से कह सकता हूं कि हिन्दू किसी किस्म की एआनत (सहायता), हिफाजत (बचाव, देख-रेख) अलेहदगी नहीं चाहता। वह हर एक मैदान में आज़ादी से मुसलमानों के दोश-ब-दोश (कंधे-से-कंधा मिलाकर) चलने को तैयार है। वह कौम को मुत्तहिद (मेल-मिलाप) और मजबूत बनाने के लिए बसाऔकात इस हद तक दब जाता है कि इस पर बुज़दिली और पसहिम्मती का इलज़ाम आयद किया जा सकता है और वह किसी के हकूक छीनना नहीं चाहता। मुलाज़मत में, नियाबन

(प्रतिनिधित्व में) वह अपने हक से एक जौ भी ज़्यादा नहीं मांगता। वह मुश्तरका नियाबत (साझे के प्रतिनिधित्व) का हामी है, मगर इसलिए नहीं कि वह अक्सरियत (बहुमत) पाकर मुसलमानों को सताये और दबाये, बल्कि इसलिए कि इश्तिराक अमल (समानता के व्यवहार) से कौम मज़बूत होती है। मगर यह इससे बर्दाश्त नहीं होता कि एक जमाअत तारीखी (ऐतिहासिक), नस्ली, मआशरी (आर्थिक) या किसी बिना पर भी दूसरी जमाअत से तफव्वुक (प्रधानता, तर्जीह) और तरहुम (अहमीयत) की तालिब (इच्छुक, लालायित, याचक) हो। मसावात (समानता) और कामिल मसावात (पूर्ण समानता) के सिवा दोनों जमाअतों में खुलूस और यकजिहती (मित्रता, सहमति) पैदा होने की कोई सूरत नहीं। मुझे याद नहीं आता कि किसी इस्लामी मज़हबी जुलूस पर किसी हिन्दू जमाअत ने हमला किया हो या किसी मुसलमान लड़की या औरत की किसी हिन्दू के हाथों इस्मतदरी (बलात्कार, सतीत्व-हरण) हुई हो या मुलाज़मत में मुसलमानो के हिस्सों पर किसी हिन्दू लीडर ने एतराज़ किया हो, मगर इसके बरअक्स (प्रतिकूल) मुसलमानों की जानिब से इस किस्म की वारदातें और एतराज़ात बराबर होते रहते हैं। हिन्दू अगर एतराज़ करता हो तो अंग्रेज़ों के तनासुब (अनुपात) और हिस्से पर, मुसलमानों की जानिब से अंग्रेज़ों पर कभी कोई एतराज़ नहीं होता। इनकी निगाह हिन्दुओं के हुकूक पर रहती है। हिन्दुओं का यह हुक्म खालिस और मस्लेहत (परामर्श, भेद, हित) या तदबीर (प्रयत्न, उपाय) पर मबनी (निर्भर) है, ऐसा कहना गलत होगा। हिन्दू फिरकों में कितनी ही ऐसी जातें हैं जो मज़हबन जंग-व-जदल से दूर रहने के बाइस (कारण) अब इस कदर पस्तहिम्मत हो गयी हैं कि उनमें अपनी हिफाज़त करने की ताकत नहीं रही। और कोई भी मुनज़िम जमाअत (संगठित समूह) चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान हो या ईसाई हो या महज़ मुफ्सिदों (उपद्रवियों) का गिरोह हो, उन्हें बड़ी आसानी से पामाल (पददलित) और ज़लील कर सकता है। हिन्दू फिरके में एक बड़े हिस्से और फिरके की यह बेबसी और कमज़ोरी, जिसके लिए हिन्दू धर्म की सख्तियां और कैद ज़िम्मेदार हैं, इस किस्म की बेहुरमती (अपमान) बर्दाश्त करने पर मजबूर है और शायद इसकी कमज़ोरी ही दूसरी जमाअतों को इस पर हमला करने को तहरीक (प्रवृत्त) करती हो, और अगर आपस में कौमी इत्तिहाद होता है तो हर दो फिरकों के सरबरावर्द (मुखियों) व असहाब (साहिबान) का फर्ज़ है कि इन शर्मनाक वारदातों के इंसिदाद (बंद करने) की कोशिश करें। जब तक हम हर एक मामले को- चाहे वह सियासी हो या मआशरती (आर्थिक) या तमद्दुनी कौमी नुक्तए-नज़र से देखने की आदत न डालेंगे और फिरकेवाराना जज़्बात ही हमारे ऊपर गालिब रहेंगे, उस वक्त तक इत्तिहाद (एकता) अम्र (कार्य) मुहाल (असंभव) है। जब तक किसी गरीब हिन्दू औरत की बेहुरमती (बेइज़्ज़ती) को मुसलमान लीडर गैरजानिबदारी (निष्पक्षता) की नज़र से न देखेंगे जिससे वह एक गरीब मुसलमान औरत की बेहुरमती को देखते हैं, उस वक्त तक कांग्रेस और जमीअतुल्मा की कोशिश-ए-इत्तिहाद कारगर न होगी। हिन्दू जमाअत सियासी वजूह (कारणों) से मूरीदे-एताब (कष्टग्रस्त) है और एक नज़र मुस्लिम असहाब इस माहौल से फायदा उठाकर इस्लामी हुकूक की हिमायत के पर्दे में ज़ाती अगराज (स्वार्थों) की शिकमपुरी (संतुष्टि करने) में दरेग नहीं कर रहे हैं। ज़ाती वकार (निजी मान-मर्यादा)

के एतबार से तो इनका यह फेल (काम, बुरा कर्म) सरासर हक बजानिब है, लेकिन कौमी एतबार से इस तर्ज़े अमल की काफी फुज़म्मत (आलोचना, फटकार) की जा सकती है, क्योंकि यह हिन्दुस्तान की मुस्तामर हुकूमत (उपनिवेशी सरकार) का ज़ामिन (ज़माने की चीज़) ही रहा है।

काश्मीर और अलवर में मुसलमानों पर बेजा सख्तियां हो रही थीं। इस्लामी रियासतें ही नहीं बल्कि यह तो हर एक रियासत का दस्तूर है। आम रिआया पर हर तरह के मज़ालिम (अत्याचार) ढाये जाते हैं। मुस्लिम लीडरों ने काबिल-ए-तारीफ हमीयत-ए कौमी (स्वाभिमान, कौम की खुद्दारी) से काम लेकर रिआया को रियासतों के मज़ालिम से बचाया। सियासी बेदारी (राजनीतिक जागरण) के मानी यही हैं कि हुर्रीयत (स्वतंत्रता) इस्तब्दाद (अत्याचार) के किलों को तोड़ दे। फिरकापरस्त हिन्दू लीडरों के सिवा और सबने मुसलमानों की इस जद्दोजेहद को एहतिराम (आदर-सम्मान) की नज़र से देखा। हां इसकी शिकायत ज़रूर रही कि इस कशमकश में हिन्दू रिआया की अकलियत (अल्पसंख्यक जमात) गेहूं के घुन की तरह पीसी गयी। वही काम अगर कम्यूनल उसूल से आम रिआया के एतबार से होता तो किसी को शिकायत का मौका न रहता, मगर यह हिन्दुस्तान की बदनसीबी है कि यहां एक मुक्तदर (अधीन) जमाअत हर एक मसले पर कम्यूनल पहलू ही से निगाह डालता है और आम रिआया के फलाह (कल्याण) से इसे कोई तअल्लुक नहीं होता। यहां भी इसकी नजर तालीमयाफ्ता तबके तक ही महदूद रहती है। नीचे तबके के इंसान किस बुरी तरह पामाल (पद-दलित) हो रहे हैं इधर इसकी भूलकर भी आंखें नहीं उठतीं। काश्तकारों और मजदूरों में भी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही शामिल हैं, लेकिन इनकी हिमायत में कोई मुस्लिम आवाज नहीं उठती। इफ्लास (कंगाली) और बेकारी और तिजारती कसाद-बाज़ारी (व्यापारिक सस्तापन) और सियासी बेउन्वानियों (राजनीतिक कुचक्रों) के हाथों दोनों ही जमाअतें यकसां परेशान हैं। मगर इन उमूर (समस्याओं पर फर्याद करने के बार (भार) गैरमुस्लिम तबक ही पर है। मुसलमानों की यह बेहिसी (चेतनाशून्यता, सुन्नता) बड़ी हद तक तारीखी असबाब (ऐतिहासिक कारणों) पर मबनी (निर्भर) है। अगर उनमें यह सियासी जूमूद (राजनीतिक मालिन्य) न आ जाता तो हिन्दुस्तान पर दूसरों का इक्तिदार (शासन, प्रभुत्व) ही क्यों होता? मंसब और बेकार का लालच और रुसूख और हुक्कामपरस्ती के जुनून का भी तारीख (इतिहास) से तअल्लुक है। आज हैदराबाद दकिन और दूसरी इस्लामी रियासतों में ज्यादातर ओहदे मुसलमानों के हाथों में ही हैं। शाही जमाने में भी दस्तूर था। वह हिन्दू जातें (जातियां) जो इस जमाने में बरसरे-इक्तिदार (प्रभुत्व में) थीं, मसलन कश्मीरी और कायस्थ असहाब, इनमें भी वही तमकनत (अभिमान, तड़क-भड़क) और अमारत (अलामतें) की बू सरायत (प्रवेश, असर) कर गई। चुनांचे एक आदमी किसी ओहदे पर पहुंच जाता था तो दर्जनों मुफ्तखोरे, काहिल, बेहिस (चेतनाशून्य) रिश्तेदारों के रिश्तेदार आकर घर लेते थे और इसके बल पर जिंदगियां पार कर देते हैं। इसी तरह अवाम में खुशामद, सहलपसंदी और मुनइमपरस्ती (धनी की गुलामी) की आदत पड़ गई और रफ्ता-रफ्ता यही उनकी जिबिल्लत (प्रकृति) हो गई। मगर अब इस ज़माने में वह इक्तिदार (प्रभुत्व, रोबदाब) व मंसब कहां? जहां मुसलमान 80 फीसदी थे वहां

अब उन्हें 33 फीसदी जगहें भी मुश्किल से मिलती हैं। अब तो तादादशुमारी होती है और उसके एतबार से नियाबत (स्थानापन्न नियुक्तियों, प्रतिनिधित्व) और मुलाज़मत (नौकरियों) में हिस्से मिलते हैं। सहलपसंदी के बाइस उनसे मुकाबले की सलाहियत (योग्यता, पात्रता) भी गायब हो गई और ज़ेहानी इंहितात (ह्रास) पैदा होने लगा। चुनांचे मुस्लिम नौजवान आज भी मुकाबले से घबराते हैं और इंतिखाब (चुनाव) के दामन से छुपकर अपनी आफियतपसंदी (आरामपसंदी) का सबूत देते हैं। मुनासिब यह था और दानिशमंदी बुद्धिमता और दूरबीनी (दूरदर्शिता) इसमें थी कि वह ज़माना न बातों न साज़ व तो बाज़माना ब-साज़ (ज़माने के साथ होने) का सुबूत देते और बदले हुए हालात रोज़गार से हम-आहंग (एक-सी राय वाले) होने की कोशिश करते, मगर वह आज भी उसदौरे-क दीम (पुराने ज़माने) के ख्वाब देख रहे हैं और अपने कैरेक्टर में इस खामी के बाइस मुल्क को तबाही की तरफ लिये जा रहे हैं। जो कुछ जेहनी इस्तेहकाम (बौद्धिक दृढ़ता) से हासिल कर सकते थे, वह उसे खुशामद और तफर्रुकात (भिन्न भिन्न, अलग-अलग रहने) की तहरीक (प्रवृत्ति) और दीगर काबिले एतिराज़ (आपत्तिजनक) तरीकों से हासिल करना चाहते हैं। कहीं यह नारे लगाये जाते हैं कि हम हिन्दुस्तान के दरबान हैं, कहीं यह कि हम फरमां खाहाने कदीम (पुराने शासकों के कुल) के नाम-लेवा हैं। कहीं कुछ और मोहमल सदाएं (निरर्थक आवाज़ें) बुलंद की जाती हैं और अपने वकार और सतूत (इज्ज़त और हुकूमत) और उलुलअज़्मी (साहसिकता) का सिक्का जमाने के लिए अवाम के मज़हबी जज़्बात को मुश्तइल (प्रज्वलित) करने से भी परहेज़ नहीं किया जाता, और अवाम तो अवाम है। भेड़ों को जिस तरफ चाहो हांक ले जाओ। ज़रा भी ख्याल नहीं कि इसका नतीजा क्या होगा। मेरी तहरीर (लेख पत्र) से यह भी गुमान हो सकता है कि मैं भी हिन्दू हूं और फितरतन हिन्दुओं की जानिबदारी (तरफदारी) कर रहा हूं। मुझे हिन्दू होने से तो इंकार नहीं है, और बहुत मुमकिन है कि हिन्दू होने के बाइस मैंने मुसलमान भाइयों के साथ कुछ बेइंसाफी की हो, लेकिन मेरा ख्याल है मैं मुतअस्सिब हिन्दू (तंगनज़र हिन्दू) नहीं हूं और जो कुछ मैंने लिखा है, वह सदाकत (सत्यता) के इज़हार के ख्याल ही से लिखा है। अब वह ज़माना आ गया है कि हम अपने ख्यालात और शिकायतें साफ-साफ लिखें और ठंडे दिल से इन पर बहस करके सूरतेहाल (मौजूदा हालत) में इस्लाह (सुधार) कर सकें। खामोशी बाज़ हालतों में तिर्याक (विषहर) है तो अक्सर हालतों में ज़हर कातिल है। हिन्दुओं की कौम परस्ती का बइंन (यकीनन) सबूत कांग्रेस है, जिसमें फिरकावाराना मामलात को हमेशा पसेपुश्त (परोक्ष में) डालने की कोशिश की है और हर एक मसले को कौमी पहलू ही से देखा है और यह इसकी सदाकत ही है जिसने बेदारमग्ज़ (समयानुसार सचेत व कार्यरत) मुसलमानों को इसमें शरीक कर दिया है। हिन्दू-सभा जैसी जमाअत को इसके मुकाबले में फरोग (उन्नति) हासिल नहीं हुआ, यह हिन्दुओं की कौम-परस्ती की दलील है, लेकिन जब फिरकावाराना रायें इस कद्र तुंद (तीव्र, कुपित, तेज) हो जाती हैं कि कांग्रेस को अपनी जान बचानी मुश्किल हो जाती है, तो तमाम हिन्दुओं की हमदर्दी उसके हाथ से जाती रहती है। और वह एक मफ्लूज़ (लकवा मारी हुई) जमाअत बनकर रह जाती है। मैं कितने ही ऐसे कौम-परवर हिन्दुओं को जानता हूं जो

फीरोज़ाबाद के हादसे बेहद से मुतास्सिर (प्रभावित) हुए हैं और हिन्दुस्तान की नजात (बंधन-मुक्ति) की तरफ से अब उसमें उन्हें पूरी मायूसी हो गई है। मैं इस्लामी अखूद (संगठन) और मुसावात (समानता) का मोतकिद (श्रद्धालु) हूं और हिन्दू तहजीब पर इस्लामी तहज़ीब का जो असर हुआ है उसे भी कदर की निगाहों से देखता हूं। मेरा एतिकाद (आस्था, विश्वास) है कि हिन्दुस्तान में दोनों तहज़ीबें पहलू-पहलू रहकर ही तरक्की कर सकती हैं और रोज़-बरोज़ इसमें हम-आहंगी (लक्ष्य एवं मत में एकरूपता) पैदा हो सकती है। कांग्रेस के असर से बहुत-सी बेमानी बंदिशें टूट चुकी हैं और आइंदा भी टूटती जायेंगी। फितरी रफ्तार कायम रहने दी जायेगी, मगर इसके साथ मेरा यह भी इमान है कि इत्तिहाद खालिस मुसावात (विशुद्ध समानता) के सिवा और किसी तरह मुमकिन नहीं। जब किसी तरफ से खास हकूक के मुतालबे (मांगे, तकाज़े) होते रहेंगे, उस वक्त तक यह कशमकश जारी रहेगी। अब तमाम उम्मीद कौम के नव जवानों से है। उन्हीं के हाथों में कौम की किश्ती है। अगर उन्होंने नई रोशनी और नई तहज़ीब और सियासियात (राजनीति की बातें) ज़रीं उसूल (उच्च सिद्धांत) की पाबंदी की और मज़हब को उसके सही मानों में समझा तब तो मुस्तकबिल (भविष्य) रोशन होगा, वरना एक दिन वह आयेगा कि वह दोनों जमाअतें लड़-लड़कर मर जायेंगी, इसलिए कि एक में भी उतनी ताकत नहीं कि दूसरी को फना करके खुदा ज़िंदा रहे।

[उर्दू लेख। 'कलीम' (उर्दू मासिक, दिल्ली), जनवरी, 1936 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

साहित्य और मनोविज्ञान

साहित्य का वर्तमान युग मनोविज्ञान का युग कहा जा सकता है। साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह अब केवल विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है।

नीतिशास्त्र और साहित्य का कार्य-क्षेत्र एक है, केवल उनके रचना-विधान में अंतर है। नीतिशास्त्र भी जीवन का विकास और परिष्कार चाहता है, साहित्य भी। नीतिशास्त्र का माध्यम तर्क और उपदेश है। वह युक्तियों और प्रमाणों से बुद्धि और विचार को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। साहित्य ने अपने लिए मनो-भावनाओं का क्षेत्र चुन लिया है। वह उन्हीं तत्त्वों की रागात्मक व्यंजना के द्वारा हमारे अंतस्तल तक पहुंचता है। उसका काम हमारी सुंदर भावनाओं को जगाकर उनमें क्रियात्मक शक्ति की प्रेरणा करना है। नीतिशास्त्र बहुत से प्रमाण देकर हमसे कहता है, ऐसा करो, नहीं तुम्हें पछताना पड़ेगा। कलाकार उसी प्रसंग को इस तरह हमारे सामने उपस्थित करता है कि उससे हमारा निजत्व हो जाता है, और वह हमारे आनंद का विषय बन जाता है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएं की गई हैं लेकिन मेरे विचार में उसकी सबसे

सुंदर परिभाषा जीवन की आलोचना है। हम जिस रोमानियत के युग से गुजरे हैं, उसे जीवन से कोई संबंध न था। साहित्यकारों में एक दल तो वैराग्य की दुहाई देता था, दूसरा शृंगार में डूबा हुआ था। पतन काल में प्राय: सभी साहित्यों का यही हाल होता है। विचारों की शिथिलता ही पतन का सबसे मनहूस लक्षण है। जब समाज का मस्तिष्क अर्थात् पढ़ा-लिखा शासक भाग, विषय-भोग में लिप्त हो जाता है तो विचारों की प्रगति रुक जाती है और अकर्मण्यता का अड्डा जमने लगता है। यों तो इतिहास के उज्ज्वल युगों में भी भोग-वृत्ति की कमी कभी नहीं रही, मगर फर्क इतना ही है कि एक दशा में तो भोग हमें कर्म के लिए उत्तेजित करता है, दूसरी दशा में वह हमें पस्तहिम्मत और विचार शून्य बना डालता है। समाज इंद्रियसुख में इतना डूब जाता है कि उसे किसी बात की चिंता नहीं रहती। उसकी दशा उस शराबी सी हो जाती है, जिसमें केवल शराब पीने की चेतना रह जाती है। उसकी आत्मा इतनी दुर्बल हो जाती है कि शराब का आनंद भी नहीं उठा सकती। वह पीता है केवल पीने के लिए, आनंद के लिए नहीं। जब शिक्षित समाज इस दशा में आ जाता है तो साहित्य पर उसका असर कैसे न पड़े। जब कुछ लोग भोग में डूबेंगे, तो बहुत लोग वैराग्य में भी डूबेंगे ही। क्रिया की प्रतिक्रिया तो होती ही है। चकले और मठ एक-दूसरे के जवाब हैं। ये मठ न होते तो चकले भी न होते। ऐसे युग मे रोमांस ही साहित्य-कला का आधार था लेकिन अब हालतें बड़ी तेजी से बदलती जा रही हैं। आज का साहित्यकार जीवन के प्रश्नों से भाग नहीं सकता। अगर सामाजिक समस्याओं से वह प्रभावित नहीं होगा, अगर वह हमारे सौंदर्य-बोध को जगा नहीं सकता, अगर वह हममें भावों और विचारों की स्फूर्ति नहीं डाल सकता, तो वह इस उच्च पद के योग्य नहीं समझा जाता। पुराने जमाने में पंथो के हाथ में समाज की बागडोर थी। हमारा मानसिक और नैतिक संस्कार धर्म के आदेशों का अनुगामी था। अब यह भार साहित्य ने अपने ऊपर ले लिया है। धर्म, भय या लोभ से काम लेता था। स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य, उसके यंत्र थे। साहित्य हमारी सौंदर्य भावना को जाग्रत करने की चेष्टा करता है। मनुष्य-मात्र में यह भावना होती है। जिसमें यह भावना प्रबल होती है, और उसके साथ ही उसे प्रकट करने का सामर्थ्य भी होता है वह साहित्य का उपासक बन जाता है। यह भावना उसमें इतनी तीव्र हो जाती है कि मनुष्य में, समाज में, प्रकृति में, जो कुछ असुंदर, असौम्य, असत्य है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है, और वह अपनी सौंदर्य-भावना से व्यक्ति और समाज में सुरुचिपूर्ण जागृति डाल देने के लिए व्याकुल हो जाता है। यों कहिए कि वह मानवता का, प्रगति का, शराफत का वकील है। जो दलित हैं, मर्दित हैं, जख्मी हैं, चाहे वे व्यक्ति हों या समाज उनकी हिमायत और वकालत उसका धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और अदालत की सत्य और न्याय-बुद्धि और उसकी सौंदर्य-भावना भी प्रभावित करके ही यह सफलता प्राप्त करता है। पर साधारण वकीलों की तरह वह अपने मुवक्किल की तरफ से जा और बेजा दावे नहीं पेश करता, कुछ बढ़ाता नहीं, कुछ घटाता नही, न गवाहों को सिखाता-पढ़ाता है। वह जानता है, इन हथकडों से वह समाज की अदालत मे

विजय नहीं पा सकता। इस अदालत में तो तभी सुनवाई होगी, जब आप सत्य से जौ-भर भी न हटें, नहीं अदालत उसके खिलाफ फैसला कर देगी और इस अदालत के सामने वह मुवक्किल का सच्चा रूप तभी दिखा सकता है, जब वह मनोविज्ञान की सहायता ले। अगर वह खुद उसी दलित-समाज का एक अंग है, तब तो उसका काम कुछ आसान हो जाता है क्योंकि वह अपने मनोभावों का विश्लेषण करके अपने समाज की वकालत कर सकता है। लेकिन अधिकतर वह अपने मुवक्किल की आंतरिक प्रेरणाओं से, उसके मनोगत भावों से अपरिचित होता है। ऐसी दशा में उसका पथ-प्रदर्शक मनोविज्ञान के सिवा कोई और नहीं हो सकता। इसलिए साहित्य के वर्तमान युग को हमने मनोविज्ञान का युग कहा है। मानव-बुद्धि की विभिन्नताओं को मानते हुए भी हमारी भावनाएं सामान्यत: एक रूप होती हैं। अंतर केवल उनके विकास में होता है। कुछ लोगों में उनका विकास में होता है। कुछ लोगों में उनका विकास इतना प्रखर होता है कि वह क्रिया के रूप में प्रकट होता है वरना अधिकतर सुषुप्तावस्था मे पड़ा रहता है। साहित्य इन भावनाओं को सुषुप्तावस्था में जाग्रतावस्था में लाने की चेष्टा करता है। पर इस सत्य को वह कभी नहीं भूल सकता कि मनुष्य में जो मानवता और सौंदर्य-भावना छिपी हुई रहती है, वहीं उसका निशाना पड़ना चाहिए। उपदेश और शिक्षा का द्वार उसके लिए बंद है। हां, उसका उद्देश्य अगर सच्चे भावावेश में डूबे हुए शब्दों से पूरा होता है, तो वह उनका व्यवहार कर सकता है।

[लेख। 'हंस', फरवरी, 1936 में प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।]

उर्दू-साहित्य की प्रगति

किसी राष्ट्र का साहित्य उसकी जागृति का मापदंड है। इस निगाह से देखिए तो पिछले दस वर्षों में उर्दू साहित्य ने जो उन्नति की है, वह बहुत ही आशाजनक है। दस साल के पहिले की पत्र-पत्रिकाओं को उठाकर देखिए तो उसमें किसी गंभीर विषय के लेखों का प्रवेश नहीं है। अधिकतर मामूली ढंग के किस्से, कुछ गद्य-काव्य और कुछ कवियों की रस्मी आलोचना ही मिलती थी। मगर आज हालत बदल गयी है। अब सभी ऊंचे दर्जे की पत्रिकाओं में इतिहास, दर्शन, तुलनात्मक आलोचना, तात्त्विक विवेचन का सामंजस्य हो गया है। उन लेखों से ज़ाहिर होता है कि उर्दू साहित्यकारों में कितनी धुन, कितनी साधनावृत्ति, कितनी जिज्ञासा-भावना प्रस्फुटित हो रही है। यह ठीक है कि उर्दू में भी ऐसे साहित्यकार उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, लेकिन यह बात तो किसी भी साहित्य के विषय में कही जा सकती है। गंभीर विचार करने वाले प्राणी हमेशा थोड़े रहे हैं और रहेंगे। हां, उर्दू में ऐसे लेखकों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ रही है। उसका स्टैंडर्ड ऊंचा होता जा रहा है। वे समुन्नत राष्ट्रों का साहित्य पढ़ने लगे हैं। संसार के प्रमुख राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों में उनकी जिज्ञासा और रुचि बढ़ने लगी है। अभी हाल में लाहौर के एक मासिक उर्दू-पत्र ने जापान-नंबर निकाला। उसमें सारे लेख जापान पर ही थे। जापान के राष्ट्रीय जीवन के हर एक पहलू पर अच्छे-अच्छे लेखों का संग्रह किया गया था। माना कि

जापान पर गाड़ियों साहित्य अंग्रेज़ी भाषा में मौजूद है, मगर इन लेखों का संग्रह करके उनके अनुवाद करवाना या उन पर स्वतंत्र लेख लिखवाना क्या साधारण बात है? इस विषय में रुचि रखने वाले प्राणियों की संख्या अगर थोड़ी हो तो न लेखक ही मिलेंगे, न पाठक ही। इस जापानी नंबर के लेखकों की नामावली से मालूम होता है कि वे लोग केवल थोड़े से पुरस्कार के लोभ से लिखने वाले प्राणी नहीं हैं, बल्कि जापान की दिन-दूनी उन्नति ने उन्हें प्रभावित किया है। इस रहस्य पर उन्होंने विचार किया है, जापानी इतिहास, साहित्य और जीवन का अध्ययन किया है। जब तक मन में किसी विषय में अनुराग न हो, लेखक उस पर कलम नहीं उठाता। उर्दू पत्रों की आर्थिक दशा हिन्दी पत्रों ही की-सी है। उसमें इनता सामर्थ्य नहीं है कि वे केवल रुपये के ज़ोर से किसी अरुचिकर विषय पर लेखकों से लेख लिखवा लें। और अगर यह संभव भी हो, तो जब तक पत्र-संचालक को यह आशा न हो कि इस विषय के पाठक उसे काफी तादाद में मिल जायेंगे, वह ऐसा अंक निकालेगा ही क्यों। हिन्दी में तो हमने आज तक किसी पत्रिका को जापान-नंबर निकालते नहीं देखा।

लाहौर के एक दूसरे पत्र ने अभी दो ही महीने हुए, 'रूस नंबर' निकाला है। हमें उस अंक को देखने का अवसर अभी नहीं मिला, इसलिए हम नहीं कह सकते कि उसे कितनी कामयाबी हुई है, लेकिन 'रूस नंबर' निकालना ही एक कल्पनाशील मस्तिष्क का प्रमाण है। आज समस्त संसार को रूस के विषय में जितनी जिज्ञासा है, उतनी और किसी राष्ट्र के विषय में नहीं है। पश्चिमी पत्रों में रूस के संबंध में जितनी आलोचनाएं निकलती हैं, किसी दूसरी राष्ट्र के संबंध में नहीं निकलती। भारत में भी वही जिज्ञासा है, या होनी चाहिए। मगर हिन्दी में अभी तक कोई ऐसा उद्योगशील पत्र-संचालक नहीं निकला, जिसने इस जिज्ञासा को शांत करने की चेष्टा की हो। यह प्रस्ताव शायद किसी के मस्तिष्क में आया ही नहीं। इससे हमारी पस्ती और अधोगति का कुछ पता चल सकता है। हम अपने तंग दायरे के बाहर कुछ सोच भी नहीं सकते। समष्टिवाद पर दो-चार छोटी-छोटी पुस्तिकाएं छपी हैं अवश्य, लेकिन जब तक रूसी जीवन के सभी अंगों का हमें कुछ ज्ञान न हो, हम समष्टिवाद का रहस्य समझ ही कैसे सकते हैं? वह ऐसी कौन-सी सामाजिक, राजनैतिक, भावनात्मक दशाएं थीं, जिन्होंने रूस में समष्टिवाद को स्थापित किया? इतने महान् परिवर्तन केवल पुस्तकों ही से नहीं हो जाते। पुस्तकें तो केवल राष्ट्र के जीवन की झांकियां हैं। मूल कारण तो राष्ट्र-जीवन की गहराइयों में होता है। वह सब हमें नहीं मालूम। हिन्दी पत्रिकाएं कभी-कभी वार्षिक अंक निकालती हैं। उसमें रंगीन तस्वीरों की भरमार होती है। संचालकों का उद्देश्य केवल इनता ही होता है कि उनके ग्राहक बढ़ें और पैसे मिलें। पाठकों को कोई नयी चीज़ देने की, ज्ञान में कुछ विस्तार करने की, जनता की संवेदनाओं को जमाने की, हमारे सामने समुन्नत राष्ट्रों का आदर्श रखने की किसी को तौफीक ही नहीं है।

और जिन पत्रों ने ये रूस और जापान के अंक निकाले हैं, उनके स्वामी लक्ष्मीपति नहीं हैं। इन अंकों को निकालने के लिए उन्हें बहुत-कुछ त्याग, बहुत कुछ दौड़ धूप करनी पड़ी होगी। मगर यह भी उतना मुश्किल नहीं जितना रूस ज्ञानवर्धक, प्रकाश

डालने वाले लेखों का संग्रह करना। जब तक रूसी जागृति से प्रभावित लेखकों की संख्या काफी न हो, उस विषय पर कलम उठाने वाले आयेंगे कहां से? और जब तक पाठकों को रूस के विषय में प्रबल जिज्ञासा न हो, उस अंक को पढ़ेगा कौन? ऐसे अंकों का निकलना लेखक और पाठक दोनों ही, अर्थात् संपूर्ण जाति की दिमागी सतह के ऊंचा हो जाने का प्रमाण है। कम-के-कम शिक्षित समाज के विषय में ऐसा कह ही सकते हैं।

इसके मुकाबले में कई हिन्दी पत्रिकाओं के मालिक लक्ष्मी के पुत्र और पति दोनों ही हैं। वह कुछ खर्च भी कर सकते हैं, और नुकसान भी उठा सकते हैं। मगर या तो ये बातें उन्हें सूझती ही नहीं, साधारण जनता की पाषाणता को देखकर उन्हें कोई नयी बात निकालने का हियाब ही नहीं पड़ता।

इस वक्त भी आप अंजुमन तरक्की ए-उर्दू के मुख-पत्र 'उर्दू' को उठाकर देखिए। यह त्रैमासिक पत्रिका है और 'हंस' के आकार के लगभग 200 पृष्ठों में छपती है। उसके लेखें में आपको 'रूसी उपन्यास', 'रूसी सोवियत साहित्य' 'ईरान के वर्तमान कवि', 'गुजरात का बाकमाल शायर मर्द शेर खबरदार', 'काज़ी नज़रूल इस्लाम' की तीन नज़्में, 'लोकोक्तियां और उसके उद्‌गम' आदि लेख मिलेंगे, जिससे आपको मालूम होगा कि उर्दू साहित्य की दृष्टि कितनी सार्वदेशिक है। उसमें अगर रूसी साहित्य पर आलोचना की गई है, तो गुजराती, बंगला, ईरान आदि के साहित्य की आलोचना भी मौजूद है। हमें तो हिन्दी में ऐसी कोई पत्रिका नहीं नजर आती।

थोड़े ही दिन हुए, लाहौर के ही एक पत्र ने अपना 'मशरिक नंबर' निकाला था। 'मशरिक' पूर्व को कहते हैं पश्चिम के संबध में तो नित्य नयी पुस्तकें और लेख छपते रहते हैं। पूर्व हमारे लिए बंद तिलिस्म है। मंचूरिया, मंगोलिया, कोरिया, तुर्किस्तान, ईरान, सीरिया आदि देशों के विषय में हमारा इल्म बहुत ही कम है। जिस पत्रिका ने यह निकाला, उसने उर्दू पाठकों की बहुत बड़ी सेवा की। पूर्व में भी कुछ-कुछ लोगों की आंखें खुलने लगी हैं, उसके जीवन और साहित्य में कुछ-कुछ नयी स्फूर्ति पड़ने लगी है। मगर हिन्दी वालों के लिए वह तिलिस्म अभी तक बंद है। उस पर हमें दावा है कि हिन्दी तो राष्ट्र-भाषा है।

और सुनिए। हिन्दी में आज तक कोई दैनिक पत्र एक आने का नहीं चल सका। 'भारत' ने बहुत ज़ोर मारा और अभी तक लड़खड़ा रहा है। मगर उर्दू में दर्जनों दैनिक एक आने के निकलते हैं और कइयों के विषय में तो हम यहां तक कह सकते हैं कि वह नफे पर चल रहे हैं। उर्दू दैनिक पत्रों के भी वार्षिक अंक निकलते हैं और बाज़-बाज़ बहुत अच्छे निकलते ह। हिन्दी में शायद ही कोई दैनिक अपना वार्षिक अंक निकालता हो। जहां तक हमें मालूम है, किसी हिन्दी दैनिक पत्र की दशा आर्थिक रूप में सफल नहीं हैं। एक या दो इसमें मुस्तसना हो सकते हैं। हमसे आज तक किसी भी हिन्दी साप्ताहिक या दैनिक पत्र ने कुछ देकर लेख लिखने का अनुरोध नहीं किया। इसके विपरीत उर्दू साप्ताहिक और दैनिक पत्रों ने बराबर अपने वार्षिक अंकों के लिए हमसे लेख लिखवाये हैं, और बराबर पेशगी मनीआर्डर या चेक भेजे हैं।

अभी थोड़े दिन हुए पानीपत में मौलाना हाली मरहूम की शताब्दी जयंती मनाई

गई थी। हिज़ हाईनेस नवाब साहब भोपाल इस सम्मेलन के सभापति थे। निज़ाम हैदराबाद और अन्य उर्दू रियासतों ने उसमें अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे। ऐसा शायद ही कोई उर्दू का लेखक या पंडित था जो उसमें सम्मिलित न हुआ हो। हिन्दी में किसी कवि या साहित्यकार का ऐसा सम्मान नहीं देखा गया।

काशी विद्यापीठ की तरह ही देहली का 'जामिया' है, मगर दोनों में कितना अंतर है। एक में जान है, दूसरा निर्जीव-सा जान पड़ता है। जामिया से अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, एक ऊंचे दर्जे की मासिक पत्रिका निकलती है, ड्रामे खेले जाते हैं, विद्वानों के भाषण कराये जाते हैं। पिछले साल उसने तुर्की की विख्यात विदुषी खालिदा अदीब खानम को तुर्की साहित्य और जीवन पर लेक्चर देने के लिए निमंत्रित किया था, जिसकी महीनों धूम रही। काशी विद्यापीठ ने जैसे वैराग्य ले लिया है।

यह जागृति और कर्त्तव्य-परायणता देखकर कौन ऐसा हिन्दुस्तानी है जिसे गर्व न होगा, और यहां हिन्दी संसार में गाली-गलौज, छिद्रांवेषण और ईर्ष्या-द्वेष का राज है। यहां अभी तक यही हो रहा है कि अमुक लेखक ने अमुक का लेख चुरा लिया, अमुक संपादक निंदनीय है। जो विद्वान हैं, जिनमें प्रतिभा और प्रकाश है, वे हिन्दी की बात नहीं पूछते। खोखले दिमाग वालों हाथों में पड़ा हुआ हिन्दी साहित्य प्रकाश और ताज़ा हवा न पाकर पीला और निर्जीव हुआ जा रहा है।

[लेख। हिन्दी साप्ताहिक 'प्रताप', 7 अप्रैल, 1936 कांग्रेस अंक, वैशाख कृष्णपक्ष 1, मंगलवार, संवत 1993 में प्रकाशित 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

हिन्दी-उर्दू की एकता

सज्जनो, आर्य समाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्य भाषा सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अंतर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है, जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है। और उनमें उर्दू और हिन्दी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूं उतनी तहजीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूं। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूंगा कि उसके तहजीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज्यादा प्रसिद्ध और रौशन है। आर्य समाज ने साबित कर दिया है कि सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन सा क्षेत्र है जिसमें उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड़ रही हो। कौमी जिंदगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरंदेशी का सबूत दिया है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति भेद-भाव और खान-पान के छूत छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा, पर वह थोड़े से अंग्रेजी पढ़े-लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुंचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अंधविश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारों अनाचारों की कब्र

उसने खोदी, हालांकि मुर्दे को उसमें दफन न कर सका और अभी तक उसका जहरीली दुर्गन्ध उड़-उड़कर समाज को दूषित कर रही है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो। उसके उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन विषयों को जन-साधारण की संपत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई लीवर वाले ताले लगे हुए थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों में हजारों मामूली लियाकत के स्त्री-पुरुष सिर्फ विद्वानों के भाषण सुनने का आनंद उठाने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को संपूर्ण बनाने का महान उद्योग किया है। संपूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वांगपूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे ख्याल में वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाय, अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक् रहने वाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ कायम रखे बल्कि और मजबूत करे, जहां पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुशकिलों का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहां कला और संयम में कोई मेल न हो, जहां की कला केवल नाचने गाने और नकल करने में ही जाहिर हो, उस शिक्षा का मैं कायल नहीं हूं। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षा संस्था हो जिसने कौम की पुकार का इतनी जवांमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाये, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाये, अगर विद्या हममें स्वाभिमान न पैदा करे, और हमें समाज के जीवनप्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानंद ने इसी भाषा में सत्यार्थ प्रकाश लिखा और उस वक्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नजर ने देख लिया कि अगर जनता में प्रकाश ले   ना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा ही अकेला साधन है, और गुरुकुलों ने हिन्दी भाषा   शिक्षा माध्यम बनाकर अपने भाषा प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।

सज्जनो, मैं यहां हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा विज्ञान की पोथियों में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिन्दुस्तान के पंद्रह-सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हां, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है, हां लिखने में वह फर्क बढ़ जाता है। मगर उस तरह का फर्क सिर्फ हिन्दी में ही नहीं, गुजराती, बंगला और मराठी वगैरह भाषाओं में भी कमोबेश वैसा ही फर्क पाया जाता है। भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है, और जहां संस्कृति में भेद होगा वहां भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं, वह देहली प्रांत की भाषा है। उसी तरह जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएं अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाती हैं और सभी

साहित्यिक भाषा रह चुकी हैं। बोली का परिमार्जित रूप ही भाषा है। सबसे ज्यादा प्रसार तो ब्रज भाषा का है क्योंकि यह आगरा प्रांत के बड़े हिस्से की ही नहीं, सारे बुंदेलखंड की बोल-चाल की भाषा है। अवधी अवध प्रांत की भाषा है। भोजपुरी प्रांत के पूर्वी जिलों में बोली जाती है, और मैथिली बिहार प्रांत के कई जिलों में। ब्रजभाषा में जो साहित्य रचा गया है, वह हिन्दी के पद्य-साहित्य का गौरव है। अवधी का प्रमुख ग्रंथ तुलसीकृत रामायण और मलिक मुहम्मद जायसी का रचा हुआ पद्मावत है। मैथिली में विद्यापति की रचनाएं ही मशहूर हैं। मगर साहित्य में आमतौर पर मैथिली का व्यवहार कम हुआ। साहित्य में अवधी और ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। हिन्दी के विकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी साहित्यिक भाषा थी और प्राय: उन सभी प्रदेशों में जहां आज हिन्दी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था। अवध में और काशी में भी कवि लोग अपने कवित्त ब्रजभाषा में ही कहते थे। यहां तक कि गया में भी ब्रजभाषा का ही प्रचार होता था।

तो यकायक ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिन्दी कैसे सबके ऊपर गालिब आयी, यहां तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य में कहीं व्यवहार नहीं है। हां, ब्रजभाषा को अभी तक थोड़े-से लोग सीने से चिपटाये हुए हैं। हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानों को है। मुसलमानों ने ही दिल्ली प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रांतों में गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुंची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुजरा। दिल्ली में बहुत दिनों तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन में वह पलती रही। गोलकुंडा, बीजापुर, गुलवर्गा आदि के दरबारों में इसी भाषा में शेर-शायरी होती रही। मुसलमान बादशाह प्राय: साहित्य प्रेमी होते थे। बाबर, हुमायूं, जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब, दाराशिकोह सभी साहित्य के मर्मज्ञ थे। सभी ने अपने-अपने रोजनामचे लिखे हैं। अकबर खुद शिक्षित न हो, मगर साहित्य का रसिक था। दक्खिन के बादशाहों में अकबर ने कविताएं कीं और कवियों को आश्रय दिया। पहले तो उनकी भाषा कुछ अजीब खिचड़ी-सी थी जिसमें हिन्दी, फारसी सब कुछ मिला होता था। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है, जो मुगलों से भी पहले खिलजी राजकाल में हुए। खुसरों की कविता का एक नमूना देखिये

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिंता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।
जब आंख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया आंसू चले भरलाय कर।।
तूं तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर।
मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा गम को दिया,
गम ने मुझे ऐसा किया जैसे पतंगा आग पर।।

खुसरो की एक दूसरी गजल देखिये–

बह गये बालम, वह गये नदियों किनार,
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदार।
भाई रे मल्लाहो हम को उतारो पार,
हाथ का देऊंगी मुंदरी गल का देऊं हार।

मुसलमानी जमाने में अवश्य ही हिन्दी के तीन रूप होंगे। एक नागरी लिपि में ठेठ हिन्दी, जिसे भाषा या नागरी कहते थे, दूसरा उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई, फारसी से मिली हुई हिन्दी और तीसरी ब्रजभाषा। लेकिन हिन्दी-भाषा मौजूदा सूरत में आते-आते सदियां गुजर गयीं। यहां तक कि सन् 1803 ई० से पहले कोई ग्रंथ नहीं मिलता। सदल मिश्रा की 'चन्द्रावती' का रचनाकाल 1803 माना जाता है और सदल मिश्र ही हिन्दी के आदि लेखक ठहरते हैं। इसके बाद लल्लूजी, सैयद इंशा अल्लाह खां वगैरह के नाम हैं। इस लिहाज से हिन्दी गद्य का जीवन सवा सौ साल से ज्यादा का नहीं है, और क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सवा सौ साल पहले जिस जबान में कोई गद्य-रचना तक न थी वह आज सारे हिन्दुस्तान की कौमी जबान बनी हुई है? और इसमें मुसलमानों का कितना सहयोग है, यह हम बता चुके हैं। हमें संदेह है कि मुसलमानों का सहारा पाये बगैर इसको आज यह दरजा हासिल होता।

जिस तरह हिन्दुओं की हिन्दी का रूप विकसित हो रहा था, उसी तरह मुसलमानों की हिन्दी का रूप भी बदलता जा रहा था। लिपि तो शुरू से ही अलग थी, जबान का रूप भी बदलने लगा। मुसलमानों की संस्कृति ईरान और अरब की है। उसका जबान पर असर पड़ने लगा। अरबी और फारसी के शब्द उसमें आ-आकर मिलने लगे, यहां तक कि आज हिन्दी और उर्दू दो अलग अलग जबानें-सी हो गयी हैं। एक तरफ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फारसी शब्द भरते जाते हैं, दूसरी ओर पंडितगण, संस्कृत और प्राकृत के शब्द ठूंस रहे हैं और दोनों भाषाएं जनता से दूर होती जा रही हैं। हिन्दुओं की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढ़ती जा रही है, लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है। मुसलमानों ने हिन्दी से कोई सरोकार रखना छोड़ दिया। तो क्या यह तै समझ लिया जाय कि उत्तर भारत में उर्दू और हिन्दी दो भाषाएं अलग अलग रहेंगी? उन्हें अपने-अपने ढंग पर, अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार बढ़ने दिया जाय, उनको मिलने की और इस तरह उन दोनों की प्रगति को रोकने की कोशिश न की जाय? या ऐसा संभव है कि दोनों भाषाओं को इतना समीप लाया जाय कि उनमें लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हां, कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी हैं जिनका ख्याल है कि दोनों भाषाओं में एकता लाई जा सकती है, और इस बढ़ते हुए फर्क को रोका जा सकता है; लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज है। ये लोग हिन्दी और उर्दू नामों का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि दो नामों का व्यवहार उनके भेद को और मजबूत करता है। यह लोग दोनों को एक नाम से पुकारते हैं और वह 'हिन्दुस्तानी' है। उनका आदर्श है कि जहां तक मुमकिन हो लिखी जाने वाली जबान और बोलचाल की जबान की सूरत एक हो, और वह थोड़े से पढ़े-लिखे आदमियों की जबान न रहकर सारी कौम की

जबान हो। जो कुछ लिखा जाय उसका फायदा जनता भी उठा सके, और हमारे यहां पढ़े-लिखों की जो एक जमाअत अलग बनती जा रही है, और जनता से उनका संबंध जो दूर होता जा रहा है, वह दूरी मिट जाय और पढ़े-बेपढ़े सब अपने का एक जान, एक दिल समझें और कौम में ताकत आवे। चूंकि उर्दू जबान अरसे से अदालती और सभ्य-समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमें हजारों फारसी और अरबी के शब्द इस तरह घुल-मिल गए है, कि बज्र देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दों को अलग करके हिन्दी में विशुद्धता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे जबान और कौम दोनों ही के साथ अन्याय समझते हैं। इसी तरह हिन्दी या संस्कृत या अंग्रेजी के जो बिगड़े हुए शब्द उर्दू में मिल गए, उनको चुन-चुनकर निकालने और उनको जगह खालिस फारसी और अरबी के शब्दों के इस्तेमाल को भी उतना ही एतराज के लायक समझते हैं। दोनों तरह से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-थलग होता जा रहा है, और उसे इसकी खबर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावों और विचारों को अदा करती है। ऐसी जबान जिसके लिखने और समझने वाले थोड़े-से पढ़े-लिखे ही हों, मसनुई बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैगाम पहुंचाने की, उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमरमर के बने हों जिसमें कलम खिलें हों, लेकिन उसका पानी बंद हो। क्या उस पानी में वह मजा, वह सेहत देने वाली ताकत, वह सफाई है जो खुली हुई धारा में होती है? कौम की जबान वह है जिसे कौम समझे, जिसमें कौम की आत्मा हो जिसमें कौम के जज्बात हों। अगर पढ़े-लिखे समाज की जबान ही कौम की जबान है तो क्यों न हम अंग्रेजी को कौम की जबान समझें क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफी से अंग्रेजी बोल सकता है और जिस रवानी के साथ अंग्रजी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता बड़े-बड़े दफ्तरों में और ऊंचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनों, बरसों जरूरत नहीं होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अंग्रेजी बोलते और समझते हैं। जो लोग इस तरह की जिंदगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बुलंदी पर पहुंच गए हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हमारी कोशिश करने पर भी वहां तक नहीं पहुंच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। Intelligentsia में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है, वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं, खादिम की सूरत में, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मंसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है, उसमें जनसमूह की आवाज की गहराई और गरिमा और गंभीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं, जनता के प्रतिनिधि नहीं।

बेशक, यह बड़ा जोरदार जवाब है कि जनता के शिक्षा इतनी कम हैं, समझने की ताकत इतनी कम कि अगर हम उसे जेहन में रखकर कुछ बोलना या लिखना

चाहें, तो हमें लिखना और बोलना बद करना पड़ेगा। यह जनता का काम है कि वह साहित्य पढ़ने और गहन विषयों को समझने की ताकत अपने में लाए। लेखक का काम तो अच्छी-से-अच्छी भाषा में ऊंचे-से ऊंचे विचारों को प्रकट करना है। अगर जनता का शब्दकोष सौ-दो सौ निहायत मामूली रोजमर्रा के काम के शब्दों के सिवा और कुछ नहीं है, तो लेखक कितनी ही सरल भाषा लिखे, जनता के लिए वह कठिन ही होगी। इस विषय में हम इतना अर्ज करेंगे कि जनता को इस मनसिक दशा में छोड़ने की जिम्मेदारी भी हमारे ही ऊपर है। हममें जिनके पास इल्म है, और फुरसत है, यह उनका फर्ज था कि अपनी तकरीरों से जनता में जागृति पैदा करते, जनता में ज्ञान के प्रचार के लिए पुस्तकें लिखते और सफरी कुतुबखाने कायम करते। हममें जिन्हें मकदरत है, वह मदरसे खोलने के लिए लाखों रुपये खैरात करते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि कौम को ऐसे मुहसिनों को धन्यवाद न देना चाहिए, मगर क्या ऐसा संस्थाएं न खुल सकती थीं और क्या उनसे कौम का कुछ कम उपकार होता जो भाषणों और पुस्तकों से जनता में साहित्य और विज्ञान का प्रचार करतीं और उनको सभ्यता की ऊंची सतह पर लातीं? आर्यसमाज ने जिस तरह कि विषयों का जनता में प्रचार किया है उन विषयों को साधारण पढ़ा-लिखा आर्यसमाजी भी खूब समझता है। अदालती मामलों का, या मुक्ति और आवागमन जैसे गंभीर विषयों को गांव के किसान भी अगर ज्यादा नहीं समझते, तो साधारण पढ़े-लिखों के बराबर तो समझ ही लेते हैं। इसी तरह अन्य विषयों की चर्चा भी जनता के सामने होती रहती तो हमें यह शिकायत न होती कि जनता हमारे विचारों को समझ नहीं सकती। मगर हमने जनता की परवाह ही कब की है? हमने केवल उसे दुधारु गाय समझा है। वह हमारे लिए अदालतों में मुकदम लाती रहे, हमारे कारखानों की बनी हुई चीजें खरीदती रहे। इनके सिवा हमने उससे कोई प्रयोजन नहीं रखा, जिसका नतीजा यह है कि आज जनता को अंग्रेजों पर जितना विश्वास है उतना अपने पढ़े-लिखे भाइयों पर नहीं।

संयुक्त-प्रांत के साबिक से पहले के गवर्नर सर विलियम मैरिस ने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी खोलते वक्त हिन्दी उर्दू के लेखकों को जो सलाह दी थी, उसे ध्यान में रखने की आज भी उतनी ही जरूरत है, जितनी उस वक्त थी, शायद और ज्यादा। आपने फरमाया कि हिन्दी के लेखकों को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिए कि उनके पाठक मुसलमान हैं। इसी तरह उर्दू के लेखकों को यह ख्याल रखना चाहिए कि उनके कारी हिन्दू हैं।

यह एक सुनहरी सलाह है और अगर हम इसे गांठ बांध लें, तो जबान का मसला बहुत कुछ तय हो जाय। मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ फरमाएं अगर मैं कहूं कि इस मुआमले में वह हिन्दू लेखकों से ज्यादा खतावार हैं। संयुक्त-प्रांत के कॉमन लैंग्वेज रीडरों को देखिए। आप सहल किस्म की उर्दू पाएंगे। हिन्दी की अदबी किताबों में भी अरबी और फारसी के सैकड़ों शब्द धड़ल्ले से लाए जाते हैं। मगर उर्दू साहित्य में फारसीयत की तरफ की ज्यादा झुकाव है। इसका सबब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है और न रखना चाहते हैं। शायद हिन्दी से थोड़ी-सी वाकफियत हासिल कर लेना भी

वह बरसरे-शान समझते हैं, हालांकि हिन्दी वह चीज हैं, जो एक हफ्ते में आ जाती है। जब दोनों भाषाओं का मेल न होगा, हिन्दुस्तानी जबान की गाड़ी जहां जाकर रुक गई है, उससे आगे न बढ़ सकेगी। और यह सारी करामता फोर्ट विलियम की है जिसने एक ही जबान के दो रूप मान लिए। इसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनों जबानों में काफी फर्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहां की जबान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिए, उसने हमारी कौमी जिंदगी के दो टुकड़े कर दिए। अपने हिन्दू दोस्तों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि जिन शब्दों ने जन-साधारण में अपनी जगह बना ली है और उन्हें लोग आपके मुंह या कलम से निकलते ही समझ जाते हैं, उनके लिए संस्कृत-कोष की मदद लेने की जरूरत नहीं। 'मौजूद' के लिए 'उपस्थित', 'इरादा', के लिए 'संकल्प', 'बनावटी' के लिए 'कृत्रिम' शब्दों को काम में लाने की कोई खास जरूरत नहीं। प्रचलित शब्दों को उनके शुद्ध रूप में लिखने का रिवाज भी भाषा को अकारण ही कठिन बना देता है। खेत को क्षेत्र, बरस का वर्ष, छेद को छिद्र, काम को कार्य, सूरज को सूर्य, जमना को यमुना लिखकर आप मुंह और जीभ के लिए ऐसी कसरत का सामान रख देते हैं जिसे नब्बे फीसदी आदमी नहीं कर सकते। इसी मुश्किल को दूर करने और भाषा को सुबोध बनाने के लिए कवियों ने ब्रजभाषा और अवधी में शब्दों के प्रचलित रूप ही रखे थे। जनता में अब भी उन शब्दों का पुराना बिगड़ा हुआ रूप चलता है, मगर हम विशुद्धता की धुन में पड़े हुए हैं।

मगर, सवाल यह है, क्या हिन्दुस्तानी में क्लासिकल भाषाओं के शब्द के लिए ही न जाएं? नहीं, यह तो हिन्दुस्तानी का गला घोंट देना होगा। आज साइंस की नयी नयी शाखें निकलती जा रही हैं और नित नये शब्द हमारे सामने आ रहे हैं, जिन्हें जनता तक पहुंचाने के लिए हमें संस्कृत या फारसी की मदद लेनी पड़ती है। किस्से कहानियों में तो आप हिन्दुस्तानी जबान का व्यवहार कर सकते हैं, वह भी जब आप गद्य-काव्य न लिख रहे हों, मगर आलोचना या तनकीद, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन और अनेक साइंस के विषयों में क्लासिकल भाषाओं से मदद लिए बगैर काम नहीं चल सकता। तो क्या संस्कृत और अरबी या फारसी से अलग-अलग शब्द बन जाएं? ऐसा हुआ तो एकरूपता कहां आई? फिर तो वही होगा जो इस वक्त हो रहा है। जरूरत तो यह है कि एक ही शब्द लिया जाय, चाहे वह संस्कृत से लिया जाय, या फारसी से, या दोनों को मिलाकर कोई नया शब्द गढ़ लिया जाय। Sex के लिए हिन्दी में कोई शब्द अभी तक नहीं बन सका। आमतौर पर 'स्त्री-पुरुष संबंध' इतना बड़ा शब्द उस भाव को जाहिर करने के लिए काम में लाया जा रहा है। उर्दू में 'जिंस', का इस्तेमाल होता है। जिंसी, जिंसियत आदि शब्द भी उसी से निकले हैं। कई लेखकों ने हिन्दी में भी जिंसी, जिंस, जिंसियत का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। लेकिन यह मसला आसान नहीं है। अगर हम इसे मान लें कि हिन्दुस्तान के लिए एक कौमी जबान की जरूरत है, जिसे सारा मुल्क समझ सके तो हमें उसके लिए तपस्या करनी पड़ेगी। हमें ऐसी सभाएं खोलनी पड़ेंगी जहां लेखक लोग कभी-कभी मिलकर साहित्य के विषयों पर या उसकी प्रवृत्तियों पर आपस में ख्यालात का तबादला कर सकें। दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस

के हेल मेल से उस दूरी को दूर करना होगा। राजनीति के पंडितों ने कौम को जिस दुर्दशा में डाल दिया है, आप और हम सभी जानते हैं। अभी तक साहित्य के सेवकों ने भी किसी-न-किसी रूप में राजनीति के पंडितों को अगुआ माना है, और उसके पीछे-पीछे चले हैं। मगर अब साहित्यकारों को अपने विचार से काम लेना पड़ेगा। सत्यं, शिवं, सुंदरम् के उसूल को यहां भी बरतना पड़ेगा। सियासियसत ने संप्रदायों को दो कैंपों में खड़ा कर दिया है। राजनीति की हस्ती ही इस पर कायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें। उसमें मेल होना उसकी मृत्यु है। इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वांग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है। साहित्य धर्म को फिर्काबंदी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को संप्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है। किसी धर्म की महानता और फजीलत इसमें है कि वह इंसान को इंसान का कितना हमदर्द बनाता है उसमें मानवता (इंसानियत) का कितना ऊंचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहां कितना अमल होता है। अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इंसानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्म वालों के लिए है और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं, सभी गैर हैं, और उन्हें जिंदा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उसे धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज़्यादा पसंद करूंगा। धर्म नाम है उस रोशनी का जो कतरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी जात को इमाओस्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्म में, मिले होने का अनुभूति या यकीन कराती है। और चूंकि हमारी तबीयतें एक-सी नहीं हैं, हमारे संस्कार एक-से नहीं हैं, हम उसी मंजिल तक पहुंचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख्तियार करते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का जहूर हुआ है। यह साहित्य-सेवियों का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जागृति पैदा करें। धर्म के आचार्यों और राजनीति के पंडितों ने हमें गलत रास्ते पर चलाया है। मगर मैं दूसरे विषय पर आ गया। हिन्दुस्तानी को व्यावहारिक रूप में देने के लिए दूसरी तदबीर यह है कि मैट्रिकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हरेक छात्र के लिए लाजमी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू में और मुसलमानों को हिन्दी में काफी महारत हो जायगी, और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और संदेह है वह दूर हो जायगा। चूंकि इस वक्त भी तालीम का सीगा, हमारे मिनिस्टरों के हाथ में है और करिकुलम में इस तबदीली से कोई जायद खर्च न होगा, इसलिए अगर दोनों भाई मिलकर यह मुतालबा पेश करें तो गवर्नमेंट को उसके स्वीकार करने में कोई इनकार न हो सकेगा। मैं यकीन दिलाना चाहता हूं कि इस तजवीज में हिन्दी या उर्दू किसी से भी पक्षपात नहीं किया गया है। साहित्यकार के नाते हमारा यह धर्म है कि हम मुल्क में ऐसी फिजा, ऐसा वातावरण लाने की चेष्टा करें जिससे हम जिंदगी के हरेक पहलू में दिन-दिन आगे बढ़ें। साहित्यकार पैदाइश से सौंदर्य का उपासक होता है। वह जीवन के हर अंग में, जिंदगी के हरेक शोबे में, हुस्न का जलवा देखना चाहता है। जहां सामंजस्य या हम-आहंगी है वही सौंदर्य है, वही सत्य है, वही हकीकत है। जिन तत्त्वों से जीवन की रक्षा होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है। वह वास्तव में हमारी आत्मा की बाहरी सूरत है। हमारी आत्मा

अगर स्वस्थ है, तो वह हुस्न की तरफ बेअख्तियार दौड़ती है। हुस्न में उनके लिए न रुकने वाली कशिश है। और क्या यह कहने की जरूरत है कि नेफाक और हसद, और संदेह और संघर्ष, यह मनोविकार हमारे जीवन के पोषक नहीं बल्कि घातक हैं, इसलिए वह सुंदर कैसे हो सकते हैं? साहित्य ने हमेशा इन विकारों के खिलाफ आवाज उठाई है। दुनिया में मानव-जाति के कल्याण के जितने आंदोलन हुए हैं, उन सभी के लिए साहित्य ने ही जमीन तैयार की है, जमीन ही नहीं तैयार की, बीज भी बोए और उसकी सिंचाई भी की। साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली चीज नहीं, उसके आगे-आगे चलने वाला 'एडवांस गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति, और कुरुचि से होता है। और लेखक अपनी कोमल भावनाओं के कारण उस विद्रोह की जबान बन जाता है। और लोगों के दिलों पर भी चोट लगती है, पर अपनी व्यथा को, अपने दर्द को दिल हिला देने के वाले शब्दों में वह जाहिर नहीं कर सकते। साहित्य का स्रष्टा उन चोटों को हमारे दिलो पर इस तरह अंकित करता है कि हम उनकी तीव्रता को सौ गुने वेग के साथ महसूस करने लगते हैं। इस तरह साहित्य की आत्मा आदर्श है उसकी देह यथार्थ चित्रण। जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएं न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिंसी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है—सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति होनी चाहिए। ऐसी ही रचनाओं से कौमें बनती हैं। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डूबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाय। जिसके नजदीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएं लिखकर कामुकता को भड़काए, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है, जो प्रेम से लबरेज हो उस प्रेम से नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, बल्कि उस प्रेम से जिसमें शक्ति है, जीवन है, आत्म-सम्मान है। अब इस तरह की नीति से हमारा काम न चलेगा।

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनने को फेर।

अब तो हमें डॉ॰ इकबाल का शंखनाद चाहिए—

ब शाखे जिंदगिये मा नमीजे तिश्ना बसस्त
तलाशे चश्मए हैवां दलीले ब तलबीस्त।[1]
ता कुजा दर तहे वाले दिगरां मी बाशी,
दर हवायें चमन आजाद परीदन् आमोज।[2]
दर जहां बालो-परे खेश कुशूदन आमोज,
कि परीदन् नतवां बा परो बाले दिगरां।[3]

---

1 मेरे जीवन की डाली के लिए तृषा की तरी ही काफी है। अमृतकुंड की खोज में भटकना आकांक्षा के अभाव का प्रमाण है।

2 दूसरों के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हवा में आजाद होकर उड़ना सीखो।

3 दुनिया में अपने डैने-पंखे को फैलाना सीखो। क्योंकि दूसरे के डैने-पंखे के सहारे उड़ना संभव नही है।

जब हिन्दुस्तानी कौमी जबान है, क्योंकि किसी-न-किसी रूप में यह पंद्रह-सोलह करोड़ आदमियों की भाषा है, तो यह भी जरूरी है कि हिन्दुस्तानी जबान में ही हमें भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएं पढ़ने को मिलें। आप जानते हैं, हिन्दुस्तान में बारह उन्नत भाषाएं हैं और उनके साहित्य हैं। उन साहित्यों में जो कुछ संग्रेह करने लायक है, वह हमें हिन्दुस्तानी जबान में ही मिलना चाहिए। किसी भाषा में भी जो-जो अमर साहित्य है, वह संपूर्ण राष्ट्र की संपत्ति है। मगर अभी तक उन साहित्यों के द्वार हमारे लिए बंद थे, क्योंकि, हिन्दुस्तान की बारह भाषाओं का ज्ञान बिरले को ही होगा। राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं कि जिनकी एक विद्या, एक तहजीब हो, एक राजनैतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो। हम और आप दिल से चाहते हैं। कि हिन्दुस्तान सच्चे मानी में एक कौम बने। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि भेद पैदा करने वाले कारणों को मिटाएं और मेल पैदा करने वाले कारणों को संगठित करें। कौम की भावना यूरोप में भी दो ढाई सौ साल से ज्यादा पुरानी नहीं। हिन्दुस्तान में तो यह भावना अंग्रेजी राज के विस्तार के साथ ही आई है। इस गुलामी का एक रोशन पहलू यही है कि उसने हममें कौमियत की भावना को जन्म दिया। इस खुदादाद मौके से फायदा उठाकर हमें कौमियत के अटूट रिश्ते में बंध जाना है। भाषा और साहित्य को भेद ही खासतौर से हमें भिन्न-भिन्न प्रांतीय जत्थों में बांटे हुए हैं। अगर हम इस अलग करने वाली बाधा को तोड़ दें तो राष्ट्रीय संस्कृति की एक धारा बहने लगेगी जो कौमियत की सबसे मजबूत भावना है। यही मकसद सामने रखकर हमने 'हंस' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालनी शुरू की है, जिसमें हरेक भाषा के नये और पुराने साहित्य की अच्छी-से-अच्छी चीजें देने की कोशिश करते हैं। इसी मकसद को पूरा करने के लिए हमने एक भारतीय साहित्य परिषद् या हिन्दुस्तान की कौमी अदबी सभा की बुनियाद डालने की तजवीज की है और परिषद् का पहला जलसा 23, 24 (23, 24 अप्रैल, 1926) को नागपुर में महात्मा गांधी की सदारत में करार पाया है। हम कोशिश कर रहे हैं कि परिषद् में सभी सूबे के साहित्यकार आएं और आपस में ख्यालात का तबादला करके हम तजवीज को ऐसी सूरत दें, जिसमें वह अपना मकसद पूरा कर सके। बाज सूबों में अभी से प्रांतीयता के जज्बात पैदा होने लगे हैं। 'सूबा सूबे वालों के लिए' की सदाएं उठने लगी हैं। 'हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए' की सदा इस प्रांतीयता की चीख-पुकार में कहीं डूब न जाय, इसका अंदेशा अभी से होने लगा है। अगर बंगाल बंगाल के लिए, पंजाब पंजाब के लिए की हवा ने जोर पकड़ा तो वह कौमियत की जो जन्नत गुलामी के पसीने और जिल्लते से बनी थी मादूम हो जायगी और हिन्दुस्तान फिर छोटे-छोटे राजों का समूह होकर रह जायगा। और फिर कयामत के पहले उसे पराधीनता की कैद से नजात न होगी। हमें अफसोस तो यह ह कि इस किस्म की सदाएं उस दिशाओं से आ रही हैं, जहां से हमें एकता की दिल बढ़ाने वाली सदाओं की उम्मीद थी। डेढ़ सौ साल की गुलामी ने कुछ कुछ हमारी आंखें खोलनी शुरू की थीं कि फिर वही प्रांतीयता की आवाजें पैदा होने लगीं और इस नयी व्यवस्था

ने उन भेदभावों के फलने-फूलने के लिए जमीन तैयार कर दी है। अगर 'प्राविंशल अटानोमी' ने यह सूरत अख्तियार की तो वह हिन्दुस्तानी कौमियत की जवान मौत नहीं, बाल मृत्यु होगी। और वह तफरीक जाकर रुकेगी कहां उसकी तो कोई इति ही नहीं। सूबा सूबे के लिए, जिला जिले के लिए, हिन्दू हिन्दू के लिए, मुसलिम मुसलिम के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सक्सेना सक्सेना के लिए, इतनी दीवारों और कोठरियों के अंदर कौमियत कै दिन सांस ले सकेगी ! हम देखते हैं कि ऐतिहासिक परंपरा प्रांतीयता की ओर है। आज जो अलग-अलग सूबे किए हुए हैं, जमाने में अलग-अलग राज थे, कुदरती हदें भी उन्हें दूसरे सूबों से अलग किए हुए हैं, और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति सब एक हैं। लेकिन एकता के ये सारे साधन रहते हुए भी वह अपनी स्वाधीनता को कायम न रख सके, इसका सबब यही तो है उन्होंने अपने को अपने किले में बंद कर लिया और बाहर की दुनिया से कोई संबंध न रखा। अगर उसी अलहदगी की रीति से वह फिर काम लेंगे तो फिर शायद तारीख अपने को दोहराए। हम तारीख से यह सबक न लेना चाहिए कि हम क्या थे, यह भी देखना चाहिए कि हम क्या हो सकते थे। अक्सर हमें तारीख को भूल जाना पड़ता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता। जिन कुपथ्य से हम बीमार हुए थे, क्या अच्छे हो जाने पर फिर वही कुपथ्य करेंगे? और चूंकि इस अलहदगी की बुनियाद भाषा है, इसलिए हमें भाषा ही के द्वार से प्रांतीयता की काया में राष्ट्रीयता के प्राण डालने पड़ेंगे। प्रांतीयता का सदुपयोग यह है कि हम उस किसान की तरह जिसे मौरूसी पट्टा मिल गया हो अपनी जमीन को खूब जोतें, उसमें खूब खाद डालें और अच्छी-से-अच्छी फसल पैदा करें। मगर उसका यह आशय हर्गिज न होना चाहिए कि हम बाहर से अच्छे बीज और अच्छी खाद लाकर उसमें न डालें। प्रांतीयता अगर अयोग्यता को कायम रखने का बहाना बन जाय तो यह उस प्रांत का दुर्भाग्य होगा और राष्ट्र का भी। इस नये खतरे का सामना करना होगा और वह मेल पैदा करने वाली और शक्तियों को संगठित करने से ही हो सकता है।

सज्जनो, साहित्यिक जागृति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है। साहित्य की सबसे अच्छी तारीफ जो की गई है, वह यह है कि अच्छे-से अच्छे दिल और दिमाग के अच्छे-से-अच्छे भावों और विचारों का संग्रह है। आपने अंग्रेजी साहित्य पढ़ा है। उन साहित्यिक चरित्रों के साथ आपने उससे कहीं ज्यादा अपनापा महसूस किया है जितना आप यहां के किसी साहब बहादुर से कर सकते हैं। आप उसकी इंसानी सूरत देखते हैं, जिसमें वही वेदनाएं हैं, वही प्रेम है, वही कमजोरियां हैं, जो हममें और आप में हैं। वहां वह हुकूमत और गुरूर का पुतला नहीं बल्कि हमारे और आपका-सा इन्सान है जिनके साथ हम दुखी होते हैं, हंसते हैं, सहानुभूति करते हैं। साहित्य बदगुमानियों को मिटाने वाली चीज है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, तो मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे को कहीं ज्यादा निकट पाएं। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती

है। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हम दोनों जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक-दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक-दूसरे के साहित्य से इतने बेखबर हैं? यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होंने हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक हर एक मुमकिन विषय पर तहकीकातें की हैं, पुस्तकें लिखी हैं, वह हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। उसके विपरीत हम एक-दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही में मग्न हैं। साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला के मार्के की तारीख पढ़ी है, यह असंभव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ा है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम से कम उत्तरी हिन्दुस्तान में हरेक शिक्षित हिन्दू-मुसलिम को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिए, अगर वह मसुलमान है तो हिन्दूओं के और हिन्दू है तो मुसलमानों के साहित्य से अपरिचित है। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाजमी है। और जब हम जिंदगी के पंद्रह साल अंग्रेजी हासिल करने में कुरबान करते हैं तो क्या महीने-दो महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते, जिस पर हमारी कौमी तरक्की [illegible] नहीं, कौमी जिंदगी का दारोमदार है?

[भाषण-लेख। आर्य-समाज के 'आर्य भाषा सम्मेलन' लाहौर में 11 अप्रैल 1936 को दिया गया भाषण। 'हंस' फरवरी 1937 में 'एक भाषण' शीर्षक से प्रकाशित। 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'कुछ विचार' में संकलित।]

राशिद-उल खैरी की सामाजिक कहानियां

साहित्यकार के लिए भावुक हृदय सुंदर लेखन शैली और मौलिक प्रतिभा आवश्यक है। इनमें से एक की भी कमी हो जाय तो साहित्यकार का स्थान गिर जाता है। शैली कितनी ही सुंदर हो लेकिन साहित्यकार के दिल में दर्द नहीं है तो उसके साहित्य में असर करने की ताकत मुमकिन नहीं। शायद शैली का सौंदर्य दर्द ही का एक रूप हो हालांकि ऐसे कुशल लिखने वाले भी देखे गये हैं जिनकी वर्ण शैली में सारी खूबियां मौजूद हैं मगर दर्द नहीं। ऐसे साहित्यकारों की शैली की गठन और वाक्य-विन्यास की प्रशंसा की जा सकती है मगर पढ़ने वाले के दिल पर उसका असर नहीं होता।

स्वर्गीय मौलाना राशिद उल-खैरी में यह तीनों गुण मौजूद थे और यही उनकी साहित्यिक सफलता का रहस्य है। उन्होंने बहुत ही दर्दमंद दिल पाया था और उसके साथ ही सच्चाई का पक्ष लेने वाला भी। वह मध्य वर्ग में पैदा हुए और उस वर्ग के रहन सहन के हर पहलू से परिचित थे। उसकी खूबियां और बुराईयां दोनों ही उनकी नजरों के सामने थीं। इसी सोसाइटी में सालिहा जैसी लाजवंती और स्वाभिमानिनी लड़कियां भी देखी थीं और काजिम जैसे नेक और सदाचारी बुजुर्ग भी। उनके दिल पर उन पात्रों का गहरा प्रभाव था मगर उन्होंने यह भी देखा कि आधुनिक समाज

में कुछ ऐसी बुराइयां घुस गयी हैं, जिनके विषाक्त वातावरण में खूबियां दिनोंदिन मिटती जा रही हैं और बुराइयां रोज-ब-रोज पांव फैलाती जाती हैं। उन्होंने व्यक्तिवादी प्रकृति न पायी थी। उनकी प्रकृति का रंग सामाजिक था।

सालिहा और काजिम की हैसियत व्यक्तियों की है लेकिन वे अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इन्हीं के जरिये मौलाना राशिद समाज का सुधार करना चाहते हैं। सोसाइटी रूढ़ियों की जंजीरों में जकड़ी हुई है। अंधविश्वासों ने धर्म का रूप धारण कर लिया है। फिजूलखर्ची जी का जंजाल बन गयी है और अंग्रेजी सभ्यता अपने आडंबरों और प्रलोभनों के साथ समाज के असली तत्त्वों को तोड़ती-फोड़ती जा रही है। उदारता खत्म होती जाती है। अपने परिवार को पालने का ख्याल गायब होता जा रहा है, स्वार्थांधता बढ़ती जा रही है, इंद्रिय-भोग का रंग छाया हुआ है, आध्यात्मिकता लुप्त हो रही है, नारी पीड़ित है, उसे उसके अधिकारों से वंचित कर दिया गया है, उस पर शारीरिक और आत्मिक बंधन इतने ज्यादा लगा दिये गये हैं कि वह अपाहिज हो गयी है। वह अपने पति की जीवन-संगिनी न रह कर केवल उसके मनोरंजन की वस्तु बन गयी है। उसके अपमान और अध:पतन के उदाहरण आये दिन उनके अनुभव में आये होंगे और आश्चर्य नहीं कि उनका दर्दमंद दिल उसकी बेकसी पर रो उठता था और उसके सुधार के लिए बेचैन हो जाता था। उनकी कहानियां और उपन्यास चोट खाये हुए दिल की पुकारें हैं जिनमें दिल पर असर करने का गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है।

हमारा कवि और साहित्यकार आमतौर पर क्रिया-शक्ति से शून्य होता है। संसार उसकी मनोदशाओं को प्रेरित करने का साधन है। उसे अपनी मनोदशाएं संसार से अधिक प्रिय हैं। वह संसार की घटनाओं से वहीं तक प्रभावित होता है कि उसके अपने मन की करवटें जाग उठें। इससे ज्यादा उसे दुनिया से दिलचस्पी नहीं।

मौलाना राशिद केवल साहित्यकार न थे, वह चिंतक भी थे और सुधारक भी। यों उर्दू में और भी उपन्यासकार हुए हैं जिन्होंने सांस्कृतिक समस्याओं पर कहानिया लिखी हैं मगर उनकी कृतियों में चोट नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने विधवा विवाह या परदा या तलाक आदि समस्याओं को केवल इसलिए अपना विषय बनाया कि वह सरलता से इस पर अपनी कहानियां गढ़ सकते थे या इसलिए कि पब्लिक को इन मसलों से दिलचस्पी थी और ऐसी सामयिक कृतियां लोकप्रिय हो सकती थीं। ऐसा नहीं मालूम होता कि सामाजिक समस्याओं से उन्हें आत्मिक कष्ट होता है और जो कुछ वह लिख रहे हैं वह सुधार के एक स्थायी आवेग की दशा में लिख रहे हैं। मौलाना राशिद-उल-खैरी कहानियों में सच्चाई है, दर्द है, गुस्सा है, बेचारगी है, झुंझलाहट है जैसे वह समाज की जड़ता और बेदर्दी से दुखी हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि उनके शब्दों में असर पैदा हो, लोग उनकी बातें सुनें और उन पर सोचें-विचारें और अमल करें।

उनके जितने सामाजिक उपन्यास और कहानियां हैं वे सभी सुधार के आवेग से भरे हुए हैं। वह दलील से भी काम लेते हैं, नसीहतों से भी, शैली के सौंदर्य से भी और इस्लाम के इतिहास और रवायतों और शरीयत के हुक्मों से भी। चाहते हैं काश, उनकी

आवाज में सूरे इसराफील की-सी ताकत और असर होता। इस आवेग में कभी-कभी उनकी कृतियों में कला की दृष्टि से त्रुटियां भी उत्पन्न हो गयी हैं। कभी-कभी ऐसा ख्याल होने लगता है कि यह किसी उपदेशक की अपील है, कोई साहित्यिक सृष्टि नहीं। अक्सर सुधारक और चिंतक साहित्यकार पर हावी हो गया है लेकिन मौलाना राशिद सच्चाइयों से इतने करीब थे और उनसे इतना असर लेते थे कि उनका मन कला के सिद्धांतों को आंख से ओझल कर देने के लिए विवश हो जाता था। बेशक दुनिया आर्टिस्ट के सीमित चिंतन से कहीं ज्यादा बड़ी है। खुदा की दुनिया और इंसान की दुनिया में कोई मुकाबला नहीं। खुदा की दुनिया में आये दिन ऐसी सूरतें पेश आती रहती हैं। जिन्हें इंसान की दुनिया गवारा नहीं कर सकती, जो मनुष्य की बुद्धि से परे हैं।

वास्तविकता चाहती है कि आर्टिस्ट दुनिया को उसी तरह दिखाये जैसे वह उसे देखता है। अगर इससे उसकी मानव अनुभूतियों को आघात पहुंचता है तो पहुंचे, अगर इससे उसकी न्याय-बुद्धि को चोट लगती है तो लगे, पर उसे वास्तविकता से इधर-उधर हटने की इजाजत नहीं। मगर साहित्यकार सब कुछ समझने पर भी आइडियलिस्ट बनने पर मजबूर है। जब तक उसकी नजर में समाज का कोई अधिक सुंदर रूप नहीं है, वर्तमान समाज के वैषम्य कैसे उसे उद्विग्न करेंगे? हमने अगर दिल्ली नहीं देखी है तो हम अपने कस्बे की गंदगी और सड़ांध से क्योंकर बेजार होंगे। असंतोष के लिए किसी ऊंचे आइडियल का दिमाग में होना जरूरी है। आलोचना वही कर सकता है जो ठीक बात से परिचित है। साहित्य भी तो जीवन की आलोचना है। अगर किसी बेहतर जिंदगी और ज्यादा खूबसूरत सोसाइटी की सूरत हमारे दिमाग में नहीं है तो हम मौजूदा समाज को खींचकर सुधार के किस लक्ष्य की ओर ले जायेंगे?

मौलाना राशि-उल-खैरी आइडियलिस्ट थे। उनका सांस्कृतिक आइडियल इस्लाम का आरंभिक युग था जब लोगों के दिलों में खुदा का खौफ था और ईमान की रोशनी थी, जब लोग मेहमानों की खातिर करते थे और भाईचारा पसंद करते थे, जब तौहीद यानी एक परमात्मा में विश्वास अपनी खालिस सूरत में दिखायी देता था, जब औरत अपने अधिकारों से वंचित नहीं की गयी थी, जब उसे चहारदीवारी के अंदर कैद नहीं किया गया था, जब वह मजहबी मसलों पर अपनी राय देती थी, जब वह अपने अधिकारों से ही परिचित न थी, अपने कर्त्तव्यों के प्रति भी सजग थी, जो वास्तव में एक ही प्रश्न के दो रूप हैं, जो कार्य-कारण की स्थिति रखते हैं, जब वह पति के कंधे से कंधा मिलाकर लड़ाई के मैदान में जाती थी और घायल सिपाहियों की मरहम-पट्टी करती थी, जब वह सच्चे अर्थों में खानदान पर हुकूमत करती थी। मौलाना राशिद-उल-खैरी का आइडियल वही सुनहरा इस्लामी दौर था। वहीं से उनकी लेखनी को प्रेरणा मिलती थी। निस्संदेह वह प्राचीनता के प्रेमी थे। मौजूदा जमाने की नुमायशी तहजीब उन्हें मोह नहीं पायी थी। उनकी निगाह सच्चे ' की जिंदगी पर थी। कितनी शीलवती थीं वह प्राचीन काल की देवियां, कैसे लाजवंती, कैसी धीर-गंभीर, संतोषी, कितनी दृढ़ संकल्प, जो कठिन से कठिन अवसरों पर भी सदाचार का निबाह करती थीं, जिन्हें मर जाना कुबूल था बजाय इसके कि किसी का एहसान अपने सर पर लें।

आज इस दिलो-दिमाग की औरतें कहां हैं? और जो कुछ कोर-कसर थी वह

इस महाजनी, विलासी पश्चिमी सभ्यता ने मिटा दी। जब सिनेमा देखना बच्चों की देख-रेख से ज्यादा पसंद किया जाता है और अपना बनाव-सिंगार आध्यात्मिक तृप्ति का साधन है। जब खुदगर्जी और तुनकमिजाजी नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती, जब अधिकारों के नक्कारखाने में कर्त्तव्यों की तूती के मुंह पर ताला जड़ा हुआ है, जब शिक्षा पुण्य के बदले पाप सिद्ध हो रही है, जिसमें त्याग और प्रेम और सहानुभूति और नम्रता का अंत कर दिया, जब कुत्तों की मुहब्बत इंसान से ज्यादा प्यारी है और जब हर आदमी ज्यादा-से-ज्यादा ऐश करना चाहता है चाहे दूसरों को कितनी ही तकलीफ क्यों न हो।

और जिसे हम प्राचीन कहते हैं क्या वह इसीलिए दोषी है कि वह प्राचीन है। आज हम देख रहे हैं कि प्राचीन ही नये युग की मंजिल है—वही पुराना भाईचारा, वही पुरानी सादगी और सच्चाई आज इस नये युग की मंजिल है। नया युग फिर उस प्राचीन की ओर जा रहा है। संस्कृति की गलत व्याख्या ने सोसाइटी पर बेमतलब पाबंदियां लगायीं, परदे की कैद अमीरी और रईसी की शान में दाखिल हो गयी सड़ी-गली रूढ़ियां विश्वास का अंग बन गयीं और हम इसी अंधेरे में रास्ता टटोल रहे थे कि नये युग ने आकर हमें बताया कि तुम गलत रास्ते पर जा रहे हो। यह उन्नति का नहीं अवनति का रास्ता है। लेकिन जब हमारी आंखों की चकाचौंध मिटी तो हमें मालूम हुआ कि पुरानी समाज-व्यवस्था अपनी सादगी और सच्चाई में नयी समाज-व्यवस्था की प्रदर्शन-प्रियता और आडंबर से कहीं अच्छी थी। और रूसो ने प्राकृतिक जीवन की जो आवाज उठायी थी और जिसका उस वक्त मजाक उड़ाया गया था आज सारी दुनिया के विचारक उस आवाज में अपनी आवाज मिला रहे हैं और यह स्वीकार किया जाने लगा है कि मनुष्य की मुक्ति प्रकृति की ओर लौट जाने में है। यह उसी का परिणाम है कि आज हम अधिक प्राकृतिक भोजन करने अधिक प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने, अधिक प्राकृतिक कपड़े पहनने की ओर झुक रहे हैं, हालांकि हमारा पुरानापन इन परिवर्तनों को कुरुचि और अश्लीलता के नाम से ही पुकार रही है। हमने पराधीनता की प्राणघातक स्थिति में यह समझ लिया है कि हमारी संस्कृति, हमारा धर्म, हमारा सब कुछ निकृष्ट है और पश्चिम की सभ्यता और धर्म और सब कुछ प्रशंसनीय। मगर अब इतने दिनों के बाद हमें मालूम होने लगा है कि इस संस्कृति से पश्चिम स्वयं अपनी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सका, वहां भी विचारक एक नयी सभ्यता की तलाश में भटक रहे हैं, वहां भी वह श्रेणी जिसमें पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों की बहुतायत है राज कर रही है, उसी के हाथ में फौजें हैं और पार्लियामेंटें हैं, अधिकारी हैं, उसी की आवाज आखिरी आवाज है और यद्यपि जन-साधारण शताब्दियों से पूंजीपतियों के उस किले को तोड़ना चाहते हैं मगर किला इतना मजबूत और खाइयों से इतना गहरा और घातक, अस्त्रों-शस्त्रो से इतना सुसज्जित है कि उसमें एक दरार पड़ना भी कठिन हो रहा है।

मौलाना राशिद का प्राचीनता-प्रेम नये युग से भयभीत होने के बदले उसका स्वागत करता था मगर उसी हद तक कि उसके हानिकर प्रभाव समाज में न फैलने पायें। उनके विषय दर्शन-शास्त्र या मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर आधारित न होते थे।

जिंदगी के नक्शे इस तरह खींचना कि वर्तमान समाज की बुराइयां दूर हों यही उनका उद्देश्य था और इसमें उन्हें पूरी-पूरी सफलता मिली है।

बेजा खर्च और बेमतलब रीति-रिवाज और झूठे अंध-विश्वास और इंद्रिय-भोग वे खास कारण थे जिन्होंने समाज की यह दुर्दशा कर रक्खी है और अपने बार-बार अलग-अलग ढंग से, उनकी जड़ खोदने की कोशिश की है। आपको गिरस्ती की बातों की वह जानकारी थी जो आज शायद पुराने खानदानों की बड़ी बूढ़ियों को हो तो हो। 'हयाते सालेहा' में आपने सालेहा की शादी के मौके पर कपड़ों और गोटे-पट्टे की जो तफसील दी है उसको समझने के लिए एक कोस की जरूरत होगी क्योंकि वह चीजें अब मिटती जा रही हैं। आपकी कृतियों में असाधारण गुण-संपन्न लोग बहुत कम हैं। अधिकतर वही आदमी हैं जिन्हें हम रोज देखते हैं और यद्यपि वे व्यक्ति नहीं बल्कि अपनी श्रेणी के प्रतिनिधि हैं लेकिन मौलाना उनके भीतर और बाहर से इतने अधिक परिचित हैं कि उन साधारण लोगों में व्यक्तित्व पैदा हो गया है। वह उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं करते और न हमें इस चीज की जरूरत मालूम होती है। जीवन-स्थितियां इतनी प्रत्यक्ष हैं कि भीतर के उद्घाटन का प्रयत्न व्यर्थ मालूम होता है। आपने कल्पना और आविष्कार से उतना काम नहीं लिया जितना अनुभव से। इसलिए उनके चरित्र साधारणतः प्राकृतिक होते हैं, उनमें उलझाव और पेचीदगियां नहीं होतीं। जब कथाकार ऐसे चरित्र की सृष्टि करता है जिसका अस्तित्व केवल उसके मस्तिष्क में है, जिसे उसने अपनी चेतनावस्था में कभी नहीं देखा तो उसे मनोविज्ञान और कल्पना से काम लेना पड़ता है। एक विशेष स्वभाव का व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों में किस प्रकार व्यवहार करेगा यह निर्णय करना उसके लिए कठिन हो जाता है क्योंकि उसे यह चिंता सताती रहती है कि कहीं उस विशेष स्वभाव और व्यवहार में कोई असंगति न उत्पन्न हो जाय। मगर मौलाना राशिद के चरित्र तो वे हैं जिन्हें उन्होंने जीते-जागते देखा है, उनके संबंध में उन्हें किसी प्रकार का संदेह नहीं, वे विशेष परिस्थितियों में वैसा ही आचरण करेंगे जिसकी उनसे आशा की जाती है या जिसका मौलाना ने पहले ही फैसला कर लिया है। उनके चरित्र या तो प्राचीनता प्रेमी हैं और हर एक नयी चीज के दुश्मन, चाहे वह समाज के लिए कितनी ही हितकारी क्यों न हो या वे नयी रोशनी पर जान देने वाले लोग हैं और हर एक पुरानी चीज के दुश्मन, चाहे उसमें कितनी ही अच्छी बातें क्यों न हों। आपके चरित्रों में विकास का जो ढंग अपनाया गया है वह इतना प्राकृतिक और वातावरण से इतना सामंजस्यपूर्ण है कि तात्कालिक परिवर्तन भी हमें उलझन में नहीं डालते।

सालिहा के चरित्र में जो परिवर्तन होता है कि वह इतनी सुंदरता से पेश किया गया है कि हमें जरा भी आश्चर्य नहीं होता। वह लड़की जो सैयद काजिम हुसैन की आंख की पुतली थी, मां के मरने के बाद न उसे गृहस्थी की चिंता रहती है, न अपने प्यारे बाप के आराम की परवाह। जब देखो मां की याद करके रोती रहती है। घर की हालत दिनों दिन खराब होती जाती है, बच्चे आवारा फिरने लगते हैं। काजिम हुसैन दूसरी शादी करने पर राजी तो बड़ी मुश्किल से होते हैं मगर शादी होते ही सलीकेदार और जवान तमीजन उन पर जादू सा कर देती है, सालिहा की

तरफ से उनकी आंखें फिर जाती हैं, वही बेटी पर जान छिड़कने वाला बाप उसका दुश्मन बन जाता है और एक बदमाश आदमी के साथ उसका निकाह कर देने में आगा-पीछा नहीं करता।

शादी के बाद सालिहा की हालत और भी खराब हो जाती है। उस पर दुष्ट स्वभाव के पति की सख्तियां और भी असह्य हो जाती हैं। एक रोज उस जालिम ने सालिहा को इतना पीटा है कि करीब-करीब उसकी जान ही ले ली। सालिहा सुशील लड़की है। इस हालत में भी वह अपने बाप का दर्शन करने के लिए बेचैन है मगर काजिम हुसैन को उस पर तनिक भी दया नहीं आती और सालिहा उसी बेकसी की हालत में दुनिया से कूच कर जाती है।

हालात वही हैं जो हम आये दिन देखते हैं मगर ऐसे यथार्थ ढंग से लिखे गये हैं कि कहीं ऐसा नहीं मालूम होता कि हम कहानी पढ़ रहे हैं। केवल कल्पना से सालिहा जैसे चरित्र का सृष्टि कठिन है। वह तो उन सैकड़ों लड़कियों में से एक है जो लेखक की नजर से गुजरी हैं और काजिम हुसैन भी देखे-भाले आदमियों में हैं जो बहुत नेक तबीयत के होने पर भी नयी बीवी के रूप और जवानी और सलीके और सफाई और इतने लट्टू हो जाते हैं कि उनकी सारी समझदारी धरी रह जाती है। नयी बीवी पाकर आदमी अपने ही जिगर के टुकड़ों का ऐसा दुश्मन हो सकता है। 'हयाते-सालिहा' सिर्फ किस्सा नहीं है वह सचमुच जिंदगी है, उसमें जीवन-चरित्र की सच्चाई और गहराई और जिंदगी मौजूद है।

'हयाते सालिहा' में अगर स्त्रीत्व का ऊंचा आदर्श प्रस्तुत किया गया है तो 'तूफाने हयात' में एक कम अक्ल, उड़ाऊ, झूठी, जिद्दिन औरत का नक्शा खींचा गया है। शौहर की क्या हालत है इसकी उसे जरा भी परवाह नहीं, वह तो दिल खोलकर खर्च करेगी, छोटे-छोटे साधारण आयोजनों में भी वह इस उदारता से हर चीज का इंतजाम करती है कि जैसे कहीं खजाना गड़ा है। अंध-विश्वासी हद दर्जे की, पीरों और मुल्लाओं को खुदा समझने वाली। उसका शौहर इनाम जमाने की हालतों को समझता है, सिद्धांतों का पालन भी करना चाहता है मगर बेहद कमजोर आदमी है, बीवी की जिद और मुहब्बत के सामने बिल्कुल लाचार। सारी जायदाद बर्बाद हो जाती है, नौकरी से हाथ धोना पड़ता है, कुर्की आती है, मियां-बीवी घर से भागते हैं, एक शरीफ बुजुर्ग को उन पर रहम आता है, वह उनकी मदद करते हैं। मा की तो यह हालत है और उसकी लड़की नासिरा हद दर्जे की सुघड़, प्रबंध-कौशल में बेजोड़, बहुत धार्मिक दुष्कर्मों से कोसों दूर रहने वाली। उसके प्रबंध-कौशल से इनाम को जीवन के अंतिम दिनों में कुछ शांति प्राप्त होती है, मगर इस लड़की की शादी एक गुमराह आदमी से, जिसे पीरों और फकीरों की सनक है, कर दी जाती है। मियां बीवी में अनबन होती है। एक शाह साहब ने इनाम को अपने बस में कर रक्खा है। उनके आदेश नासिरा घर से निकाल दी जाती है मगर बाद को कलई खुलती है कि पीर साहब रंगे सियार थे, गजब के धूर्त और हरामखोर। अपने मुरीदों के अंधविश्वास के मजे लूटा करते थे, अपनी पवित्रता का ऐसा जाल बिछा रक्खा था कि सीधे-सादे सहज विश्वासी लोग उसमें फंसते रहते थे। आखिर इनाम को मालूम होता है कि उस मुल्ला ने उसके बड़े लड़के को जहर दिया है। मुल्ला ठोकरें मारकर निकाल दिया जाता है।

इस किस्से में इनाम और हाजरा विशेष पात्र हैं। दोनों अधिक-से-अधिक यथार्थ हैं। इनाम या हाजरा के चरित्र में कहीं भी ऐसा अवसर नहीं आता कि दिल में कोई संदेह पैदा हो। यथार्थ का भ्रम आदि से अंत तक बना रहता है। यद्यपि लेखक ने हाजरा और इनाम दोनों ही की सृष्टि एक विशेष उद्देश्य से की है, उनसे वही काम कराये हैं जो उनके उद्देश्य को पूरा करें, उनके मुंह से वे शब्द निकलवाये हैं जो उन्हें कथा के उद्देश्य को पूरा कराने के लिए आवश्यक जान पड़े लेकिन कहीं ऐसा नहीं लगता कि हम कहानी पढ़ रहे हैं।

मौलाना राशिद-उल-खैरी की लेखन-शैली में प्रवाह और सहजता। दिल्ली की बेगमाती जबान लिखने में वह बेजोड़ हैं। कहीं-कहीं वह एक ही विचार को व्यक्त करने के लिए कई वाक्य लिखते चले जाते हैं जिससे भाषा में संगीत का गुण अधिक आ जाता है मगर प्रौढ़ लेखन-शैली का रस कम हो जाता है। कहावतों का आपके पास अक्षय भंडार है। समाज के दर्दनाक दृश्य खींचने में आप अद्वितीय हैं। ऐसे मौकों पर आप भावों का और शब्दों का ऐसा प्रयोग करते हैं कि पढ़ने वाले का कलेजा हिल जाता है।

गैर-मुस्लिमों को अगर कोई शिकायत हो सकती है तो वह यह है कि आपने जो कुछ लिखा है मुसलमानों के लिए लिखा है, जिस समुदाय को उठाना चाहते हैं वह मुसलमानों का समुदाय है। इतना ही नहीं कहीं-कहीं तो आपके किस्से धर्म-प्रचार का रूप ले लेते हैं लेकिन इसके बावजूद आपने उर्दू में औरतों के लिए जो लिटरेचर इकट्ठा किया है वह अमर है और इसके लिए उर्दू जबान हमेशा आपकी कृतज्ञ रहेगी।

[उर्दू लेख। 'अल्लामा राशिद उल खैरी के सोशल अफसाने' शीर्षक से 'अस्मत', जुलाई 1936 में प्रकाशित। हिन्दी रूप 'विविध प्रसंग', भाग-3 में संकलित]

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आमतौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहां तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरंभिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहां से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने- रास्ता साफ करने वालों ने--हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस

उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरंभ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरंभ में 'बागोबहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य सेवा थी, अब इस योग्य हो गयी है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोलचाल की भी होती है और लिखने की भी। बोलचाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के जमाने में भी मौजूद थी पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली, वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोलचाल से हम अपने करीब के लोगों पर अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम काम लेखनी द्वारा करता है। हां, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है, तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएं हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परंतु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो लिख दिया जाय, वह सबका सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सुंदर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयां और अनुभूतियां व्यक्त की गयी हों। तिलस्माती कहानियां, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम वियोग के आख्यानों से किसी जमाने में हम भले ही प्रभावित हुए हों पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें संदेह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम गाथाओं और तिलस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयां वर्णन कर सकता है और सौंदर्य की सृष्टि कर सकता है, परंतु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें, लगा सकते हैं चिड़े की कहानी और गुलोबुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत सी परिभाषाएं की गयी हैं पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था और सौंदर्य का आंखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नयी शब्द योजना, नयी कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी थी--चाहे वह वस्तुस्थिति

से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना और कफस, बर्क और खिरमन की कल्पनाएं, विरह दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएं, इस खूबी से दिखायी जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोकप्रिय है, इसे हम और आप खूब जानते हैं।

निस्संदेह काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होन वाली विरह व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो--जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव संबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है? शृंगारिक मनोभाव मानव जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से संबंध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक रुचि थी उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और कद्रदानी की हवस तो हर एक को होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कद्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसके सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिंब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदय को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक एक शब्द नैराश्य में डूबा हो, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा हो और शृंगारिक भावों का प्रतिबिंब बन गया हो, तो समझ लीजिए कि जाति, जड़ता और ह्रास के पंजे में फंस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा, उसने ऊंचे लक्ष्यों की ओर से आंखें बंद कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

परंतु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएं नहीं ढूंढ़ता और न अनुप्रास का अंवेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिनसे समाज या व्यक्ति गहरे प्रभावित

होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी के अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुंचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊंचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जाग्रत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने जमाने में समाज की लगाम मजहब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों की तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित अनुचित सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है, जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से खराब हो जायगी और वह आपके खिलाफ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है, पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यंजकता भी-वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र

हर हालत में और हर मौके पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है। अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुंचता है, जहां मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुंचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तुस्थिति-चित्रण की प्रवृति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासंभव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं, बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच के मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासंभव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यो और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिए कि लेखक ने जो मृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों को जबान से वह खुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक को मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी का मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध यात्मिक आनंद और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो, उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमजोरिया हैं वह मर्ज की त· हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रासेग उसका उल्टा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते, जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फिक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमजोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसीलिए हम साधु-फकीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कजोरियों की जिम्मेदारी ग्मारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहां सच्चा सौंदर्य-प्रेम है, जहां प्रेम की विस्तृति है, वहां कमजोरियां कहां रह सकती हैं? प्रेम ही तो आंध्यामिक भोजन है और सारी कमजोरियां इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार

हममें सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अंदर जा बैठता है कि हमारा अंत:करण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार खुद सौंदर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है?

प्रश्न यह है कि सौंदर्य है क्या वस्तु? प्रकटत: यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है क्योंकि सौंदर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका-संदेह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुंदर सुगंधि भरे फूले देखे हैं, मीठी बोलियां बोलने वाली चिड़ियां देखी हैं, कल-कल निनादिनी नदियां देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं--यही सौंदर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अंत:करण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का समंजस्य है। बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है, इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौंदर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और ममता के भावों की पुष्टि करता है। जहां ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता है और जीवन है, जहां इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थ-परता है- द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है और यह बिलगाव, विरोध, प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहां प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है, वहां संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमंडल में पालित पोषित होती है, तो नीचता-दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही ये सारी मानसिक और भावगत बीमरियां पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है। दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ' यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अंदर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान, मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर देना चाहता है, जिससे दुनिया में जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके, हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बंधन में पड़कर कष्ट भोगता रहे? क्यों न ऐसे

सामान इकट्ठा किये जायं कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतनी ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कलाकुशलता का रहस्य है। पर शायद इस विशेषता पर जोर देने की जरूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है, इसलिए कि यह साहित्यकार अपनी कल को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तिकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है, जिससे हममें दृढ़ता और कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अतर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुंच गये, और दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियां, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं, अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौंदर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना ही कि हम उनकी विरह-व्यथा पर रोयें, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि संबंधी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी जमाने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो तो हो जाता रहा हो, पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब जमाना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का संदेश हो। अब तो हजरते इकबाल के साथ हम भी कहते हैं -

रम्ज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाब,
दरकुलजुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
ब आशियां न नशीनम ज़े लज्ज़ते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात् अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है, तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का--सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनंद पाने के लिए घोंसले में कभी बैठता नहीं--कभी फूलों की टहनियों पर, तो कभी नदी-तट पर होता हूं।]

अतः हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूं। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौंदर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और

बाहर हमारे आध्यात्मिक आनंद की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है, और दुःख भी। आसमान पर छायी लालिमा निस्संदेह बड़ा सुंदर दृश्य है, परंतु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देने वाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएं देखकर ही आनंदित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनंद होता है कि उनसे फलों की आशा होती है। प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है, जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनंद मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परंतु सौंदर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरक्षित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है, परंतु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बंधुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरंभ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बंधनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हजरत ईसा हजरत मुहम्मद आदि सभी पैगंबरों और धर्म-प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही, पर किसी को सफलता न मिली और छोटे-बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में आज प्रकट हो रहा है। शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊंचे लक्ष्य पर पहुंचना चाहें तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इसे सपने का उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायं? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाकी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरंभ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियां की हैं, जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में कदम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वांगपूर्ण बनाना है, जहां समानता केवल नैतिक बंधनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले। हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं

की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खंडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि से बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था, तो इनका मजाक उड़ाने के लिए, ग्रामवासी की देहाती वेश-भूषा और तौर-तरीके पर हंसने के लिए। उसका शीन-काफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का गलत उपयोग उसके व्यंग्यविद्रूप का स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएं हैं, —यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द योजना का, भाव-निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का ऊंचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, आध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊंची कल्पनाएं हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित्, वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुंदर स्त्री में है—उस बच्चों वाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाए पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे हाठो, कपालों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है, —उसके उलझे हुए बालों, पपडियां पड़े हुए होंठों, और कुम्हालाये हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहां?

पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौंदर्य देखने वाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रंगे होंठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों के आंसुओ में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हां, उसमें नफासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और वह नहीं जानती की जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा, आत्म त्याग का। उसे तो इकबाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूं सैदे,
यज़दां बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमद में तू खुदा को ही फांस लाए?]

अथवा

चूं मौज साजे बजूदम जे सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भांति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूंढ़ रहा हूं।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी, जब हमारा सौंदर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उनकी उड़ान के लिए केवल बाग की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायुमंडल होगा जो सारे भूमंडल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायंगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही संतुष्ट न हो जायंगे, बल्कि उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौंदर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है--उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है, और बड़े-बड़े अमीर और मंत्रिमंडल के सदस्य उनसे मिलने में अपना गौरव समझते हैं, परंतु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों का याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आंदोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हो जो संसार में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हंसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई कैद नहीं रही, जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं, आध्यात्मिक उच्चता ही काफी है, तो महात्मा लोग दर-दर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बनने वालों के लिए कड़ी शर्तें लगाई हैं और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भागवत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धांत और विधियां निश्चित कर दी हैं मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृत्तिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएं उसका विशेष अंग बन गई हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अंग रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, अपने स्वार्थ-साधन का औजार बनाये, मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका

मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियां मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही जिम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूंजीपति को पूजा के योग्य समझेंगे, जो समाज के पैसे से ऊंची शिक्षा प्राप्त कर उसे स्वार्थ साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है, जिसे कोई साहित्यकार कभी पसंद न करेगा। उस मानसिक पूंजीपति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निजी लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक-से-अधिक लाभ पहुंचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे, उसे उस विभाग से विशेषत: और सब विभागों से सामान्यत: परिचय हो।

अगर हम अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें , तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उसमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज कलम काफी है। पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मानदंड ऊंचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक [illegible] सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही संतोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूंजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिए और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिए। हम जिस आर्थिक अवस्था में जिंदगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है, पर हमारा आदर्श ऊंचा रहना चाहिए। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुंच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुंच ही जायंगे, तो जमीन पर पड़े रहने से कहीं अच्छा है। अगर हमारा अंतर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय प्राप्त न कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उसके लिए स्थान नहीं है। यहां तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पांव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सताए? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनंद है, वही हमारा पुरस्कार--हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी क्यों सताये? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें? हम तो समाज के झंडा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिदंगी के साथ ऊंची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता।

उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इकबाल के साथ कहता है—

मर्दुम आज़ादम आगूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तव येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आजाद हूं और इतना हयादार हूं कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धांतों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पंसद नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का संदेशवाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने-आप सरल हो जाती है। भाव-सौंदर्य बनाव सिंगार से बेपरवाही ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुंह जोहने वाला है वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन-साधारण का है वह जन साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मडल उत्पन्न कर देना है जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों, और वहां साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियमपूर्वक चर्चा हो, निबंध पढ़े जाय, बहस हो, आलोचना प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मंडल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा

हम हर एक सूबे में, हर एक जबान में, ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं, जिसमें हर एक भाषा में हम अपना संदेश पहुंचा सके। यह समझना भूल होगा कि यह हमारी कोई नयी कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियो के हृदयों में सामुदायिक भावानाएं विद्यमान हैं। भारत की हर एक भाषा मे इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह जगह उसके अकुर भी निकलने लगे हैं। उसके सींचना एवं उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारो में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कडवी सचाई है पर हम उसकी ओर से आखें नहीं बंद कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का ना आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी, कर्मभाव ही उसका गुण था क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता का भ लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे तो इससे अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ पियो मौज करो' का कायल हो। ऐसा स्वच्छंदचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है, पर धार्मिकता का अभिमान रखने वाले के लिए इसकी संभावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियां गा-गाकर सुलाना, केवल आंसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका गम दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयो का प्रकाश हो जो

हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

[भाषण/लेख। प्रथम प्रकाशन हिन्दी में। 'हंस', जुलाई 1936, में प्रकाशित। 'कुछ विचार' तथा 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित। 'प्रगतिशील लेखक संघ', के प्रथम अधिवेशन लखनऊ में 10 अप्रैल, 1936 को सभापति-पद से दिया गया भाषण। उर्दू रूप 'अदब की गर्ज व गायत' शीर्षक से 'ज़माना', अप्रैल, 1937 में प्रकाशित और बाद में उर्दू लेख-संग्रह 'मजामीन-ए-प्रेमचंद' (सं॰ डॉ॰ कमर रईस) में संकलित।]

महाजनी सभ्यता

मुज़द: एदिल कि मसीहा नफ्से मी आयद,
कि स अनफाज़ खुशश बूए-कसे मी आयद।[1]

जागीरदारी सभ्यता में बलवान् भुजाएं और मजबूत कलेजा जीवन की आवश्यकताओं में परिगणित थे, और साम्राज्यवाद में बुद्धि और वाणी के गुण तथा मूक आज्ञा-पालन उसके आवश्यक साधन थे, पर उन दोनों स्थितियों में दोषों के साथ कुछ गुण भी थे। मनुष्य के अच्छे भाव लुप्त नहीं हो गए थे। जगीरदार अगर दुश्मन के खून से अपनी प्यास बुझाता था, तो अक्सर अपने किसी मित्र या उपकारक के लिए जान की बाज़ी भी लगा देता था। बादशाह अगर अपने हुक्म को कानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजा-पालन भी करता था, न्यायशील भी होता था। दूसरे के देश पर चढ़ाई वह या तो किसी अपमान-अपकार का बदला फेरने के लिए या अपनी आन-बान, रौब-दाब कायम रखने के लिए या फिर देश-विजय और राज्य-विस्तार की वीरोचित महत्त्वाकांक्षा से प्ररित होता था। उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना कदापि न होता था। कारण, यह कि राज और सम्राट् जनसाधारण को अपने स्वार्थसाधन और धनशोषण की भट्ठी का ईंधन न समझते थे, किन्तु उनके दु:ख-सुख में शरीक होते थे, और उनके गुणों की कद्र करते थे।

मगर इस महाजनी सभ्यता में तो सारे कामों की गरज़ महज पैसा होती है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूंजीपतियों को ज़्यादा-से-ज़्यादा नफा हो। इस दृष्टि से मानो आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बंट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव में बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। इन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू-रियाअत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय। अधिक दु:ख की बात तो यह है कि शासक-वर्ग के विचार और सिद्धांत शासित वर्ग के भीतर भी समा गए हैं जिसका फल यह हुआ है कि हर आदमी अपने को

1 हृदय, तू प्रसन्न हो कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर तेरी ओर आ रहा है। देखता नहीं कि लोगों की सांसों से, किसी की सुगंधि आ रही है।

शिकारी समझता है और शिकार है समाज। वह खुद समाज के बिल्कुल अलग है अगर कोई संबंध है, तो यह किसी चाल या युक्ति से वह समाज को उल्लू बनावे और उससे जितना लाभ उठया जा सकता हो, उठा ले।

धन-लोभ ने मानव-भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता-स्वरूप है, उसका अंतःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत और कला-सभी धन की देहली पर माथा टेकने वालों में हैं। यह हवा इतनी ज़हरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डॉक्टर और हकीम हैं कि वह बिना लंबी फीस लिए बात नहीं करते। वकील और बैरिस्टर हैं कि वे मिनटों को अशर्फियों से तौलते हैं। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जा रही है। मौलवी साहब और पंडित जी भी पैसे वालों के बिना पैसे के गुलाम हैं। अखबार उन्हीं का राग अलापते हैं। इस पैसे ने आदमी के दिलोदिमाग पर इतना कब्जा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से भी आक्रमण करना कठिन दिखाई देता है। वह दया और स्नेह, सचाई और सौजन्य का पुतला मनुष्य दया-ममता से शून्य जड़यंत्र बनकर रह गया है। इस महाजनी सभ्यता ने नये-नये नीति नियम गढ़ लिए हैं जिन पर आज समाज की व्यवस्था चल रही है। उसमें से एक यह है कि समय ही धन है। पहले समय जीवन था, और उसका सर्वोत्तम उपयोग विद्या-कला का अर्जन अथवा दीन-दुखी जनों की सहायता था। अब उसका सबसे बड़ा सदुपयोग पैसा कमाना है। डॉक्टर साहब हाथ मरीज़ की नब्ज़ पर रखते हैं और निगाह घड़ी की सुई पर। उनका एक-एक मिनट एक-एक अशर्फी है। रोगी ने अगर केवल एक अशर्फी नज़र की है, तो वह उसे एक मिनट से ज़्यादा वक्त नहीं दे सकते। रोगी अपनी दुःखगाथा सुनाने के लिए बेचैन है, पर डॉक्टर साहब का उधर बिल्कुल ध्यान नहीं, उन्हें उससे ज़रा भी दिलचस्पी नहीं। उसकी निगाह में उस व्यक्ति का अंर्थ केवल इतना ही है कि वह उन्हें फीस देता है। वह जल्द से जल्द नुस्खा लिखेंगे और दूसरे रोगी को देखने चले जायेंगे। मास्टर साहब पढ़ाने आते हैं, उनका एक घंटा वक्त बंधा है। घड़ी सामने रख लेते हैं, जैसे ही घंटा पूरा हुआ, वह उठ खड़े हुए। लड़के का सबक अधूरा रह गया है तो रह जाय, उनकी बला से ! अधिक समय कैसे दे सकते हैं क्योंकि समय रुपया है। इस धन-लोभ ने मनुष्य और मित्रता का नाम-शेष कर डाला है। पति को पत्नी या लड़कों से बात करने की फुर्सत नहीं, मित्र और संबंधी किस गिनती में हैं। जितनी देर वह बातें करेगा, उतनी देर में तो कुछ कमा लेगा। कुछ कमा लेना ही जीवन की सार्थकता है, शेष सब कुछ समय-नाश है। बिना खाये-सोये काम नहीं चलता, बेचारा इससे लाचार है और इतना समय नष्ट करना ही पड़ता है।

आपका कोई मित्र या संबंधी अपने नगर में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है, तो समझ लीजिए, उसके यहां अब आपकी रसाई मुमकिन नहीं। आपको उसके दरे-दौलत पर जाकर कार्ड भेजना होगा। उन महाशय को बहुत से काम होंगे मुश्किल से आपसे एक-दो बात करेंगे या साफ जवाब दे देंगे कि आज फुर्सत नहीं है। अब वह पैसे के पुजारी

हैं, मित्रता और शील-संकोच के नाम पर की तिलांजलि दे चुके हैं।

आपका कोई दोस्त वकील है और आप किसी मुकदमे में फस गए हैं, तो उससे किसी प्रकार की सहायता की आशा न रखिए। अगर वह मुरव्वत को गंगा में डूबो नहीं चुका है, तो आपसे देन-लेन की बात शायद न करेगा, पर आपके मुकदमे की ओर तनिक भी ध्यान न देगा। इससे तो कहीं अच्छा है कि आप किसी अपरिचित के पास जायें और उसकी पूरी फीस अदा करें। ईश्वर न करे कि आज किसी को किसी चीज़ में कमाल हासिल हो जाय, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जायगी, उसका एक-एक मिनट कीमती हो जायगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि व्यर्थ की गपशप में समय नष्ट किया जाय, पर यह अर्थ अवश्य है कि धन-लिप्सा को इतना न बढ़ने दिया जाय कि वह मनुष्यता, मित्रता, स्नेह-सहानुभूति सबको निकाल बाहर करे।

पर आप उस पैसे के गुलाम को बुरा नहीं कह सकते। सारी दुनिया जिस प्रवाह में बह रही है, वह भी उसी में बह रहा है। मान-प्रतिष्ठा सदा से मानवीय आकांक्षाओं का लक्ष्य रहा है। जब विद्या-कला मान-प्रतिष्ठा का साधन थीं, उस समय लोग इन्हीं का अर्जन-अभ्यास करते थे। अब धन उसका एकमात्र उपाय है, तब मनुष्य मजबूर है कि एकनिष्ठ भाव से उसी की उपासना-आराधना करे। वह कोई साधु-महात्मा, संन्यासी-उदास नहीं, वह देख रहा है कि उसके पेशे में जो सौभाग्यशाली सफलता की कठिन यात्रा पूरी कर सके हैं, वह उसी राज-मार्ग के पथिक थे, जिस पर वह खुद चल रहा है। समय धन है एक सफल व्यक्ति का। वह सबको इसी सिद्धांत का अनुसरण करते देखता है, तो उन्हीं के पद-चिह्नों को अनुसरण करता है। इसमें उसका क्या दोष? मान-प्रतिष्ठा की लालसा तो दिल से मिटाई नहीं जा सकती। वह देख रहा है कि जिसके पास दौलत नहीं, और इसलिए नहीं कि उन्होंने वक्त को देखकर नहीं समझा, उनको कोई पूछने वाला नहीं। वह अपने पेशे में उस्ताद है, फिर भी उसकी कहीं पूछ नहीं। जिस आदमी में तनिक भी जीवन की आकांक्षा है वह तो इस उपेक्षा की स्थिति को सहन नहीं कर सकता। उसे तो मुरव्वत, दोस्ती और सौजन्य को धता बताकर लक्ष्मी की आराधना में अपने को लीन कर देना होगा, तभी इस देवी का वरदान उसे मिलेगा। और यह कोई इच्छाकृत कार्य नहीं, किंतु सर्वथा बाध्यकारी है। उसके मन की आस्था अपने-आप कुछ इस तरह की हो गई है उसे धनार्जन के सिवा और किसी काम से लगाव नहीं रहा। अगर उसे किसी सभा या व्याख्यान में आध घंटा बैठना पड़े, तो समझ लो कि वह कैद की घड़ियां काट रहा है, उसकी सारी मानसिक, भागवत और सांस्कृतिक दिलचस्पियां किसी केंद्र-बिंदु पर आकर एकत्र हो गई हैं। और क्यों न हों? वह देख रहा है कि पैसे के सिवा उसका कोई अपना नहीं। स्नेही मित्र भी अपनी गरज़ लेकर ही उसके पास आते हैं, स्वजन संबंधी भी उसके पैसे के ही पुजारी है। वह जानता है कि अगर वह निर्धन होता, तो यह जो दोस्तों का जमघटा लग रहा है, उसमें से एक के भी दर्शन न होते, इन स्वजन-संबंधियों में से एक भी पास न फटकता। उसे समाज में अपनी एक हैसियत बनानी है, बुढ़ापे के लिए कुछ बचाना है, लड़कों के लिए कुछ कर जाना है जिसमें उन्हें दर-दर ठोकरें

न खानी पड़ें। इस निष्ठुर सहानुभूतिशून्य दुनिया का उसे पूरा अनुभव है। अपने लड़कों को वह उन कठिन अवस्थाओं में नहीं पढ़ने देना चाहता, जो सारी आशाओं एवं उमंगों पर पाला गिरा देती हैं, हिम्मत-हौसले को तोड़कर रख देती हैं। उसे वे सारी मंज़िलें, जो एक साथ जीवन के आवश्यक अंग हैं, खुद तय करनी होंगी और जीवन को व्यापार के सिद्धांत पर चलाये बिना वह एक भी मंज़िल पार नहीं कर सकता।

इस सभ्यता का दूसरा सिद्धांत है 'बिज़नैस इज़ बिज़नैस', अर्थात् व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुजांइश नहीं। पुराने जीवन-सिद्धांतों में वह लट्ठमार साफगोई नहीं है, जो निर्लज्जता कही जा सकती है और जो इस नवीन सिद्धांत की आत्मा है, जहां लेन-देन का सवाल है, रुपये-पैसे का मामला है वहां न दोस्ती का गुज़र है, न मुरव्वत का, न इंसानियत का। 'बिज़नैस' में दोस्ती कैसी! जहां किसी ने इस सिद्धांत की आड़ ली और आप लाजवाब हुए। फिर आपकी जबान नहीं खुल सकती। एक सज्जन ज़रूरत से लाचार होकर अपने किसी महाजन मित्र के पास जाते हैं और चाहते हैं कि वह उनकी कुछ मदद करे। यह भी आशा रखते हैं कि शायद सूद की दर में वह कुछ रिआयत कर दें, पर जब देखते हैं कि वह महानुभाव मेरे साथ भी वही कारबारी बर्ताव कर रहे हैं, तो कुछ रिआयत की प्रार्थना करते हैं, मित्रता और घनिष्ठता के आधार पर आंखों में आंसू भरकर बड़े करुण स्वर में कहते हैं—''महाशय, मैं इस समय बड़ा परेशान हूं, नहीं तो आपको कष्ट न देता। ईश्वर के लिए मेरे हाल पर रहम कीजिए। समझ लीजिए कि एक पुराने दोस्त....।'' वहीं बात काटकर आज्ञा के स्वर में फरमाया जाता है—''लेकिन जनाब, आप 'बिज़नैस इज़ बिज़नैस' इसे भूल जाते हैं।' उसी क्षण कातर प्रार्थी पर मानो बम का गोला गिरता है। अब इसके पास कोई तर्क नहीं, कोई दलील नहीं। चुपके से उठकर अपनी राह लेता है या फिर अपने व्यवसाय-सिद्धांत के भक्त मित्र की सारी शर्तें कबूल कर लेता है।

इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई नीति-नीतियां चलाई हैं उसमें सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धांत है। मियां-बीवी में बिज़नैस, बाप बेटे में बिज़नैस, गुरु-शिष्य में बिज़नैस। सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच बस कोई लगाव है तो बिज़नैस का। लानत है इस 'बिज़नैस' पर। लड़की अगर दुर्भाग्यवश क्वांरी रह गई और अपनी कोई जीविका न निकाल सकी, तो उसे अपने बाप के घर में ही लौंडी बन जाना पड़ता है। यों लड़के-लड़कियां सभी घरों में काम-काज करते ही हैं, पर उन्हें कोई टहलुआ नहीं समझता, पर इस महाजनी सभ्यता में लड़की एक खास उम्र के बाद लौंडी और अपने भाइयों की मज़दूरनी हो जाती है। पूज्य पिताजी भी अपने पितृ-भक्त बेटे के टहलुए बन जाते हैं और मां अपने सपूत की टहलुई। स्वजन-संबधी तो किसी गिनती में नहीं। भाई भी भाई के घर में मेहमान है। अक्सर तो उसे मेहमानी का बिल भी चुकाना पड़ता है। इस सभ्यता की आत्मा है व्यक्तिवाद, आप स्वार्थी बना सब-कुछ अपने लिए।

पर यहां भी हम किसी को दोषी नहीं ठहरा सकते। वही मान-प्रष्ठिता, वही भविष्य की चिंता, वही अपने बाद बीवी-बच्चों की गुज़र पर सवाल, वही नुमाइश और दिखावे

की आवश्यकता हर एक की गर्दन पर सवार है, और वह हिल नहीं सकता। वह इस सभ्यता के नीति-नियमों का पालन न करे तो उसका भविष्य अंधकारमय है।

अब तक दुनिया के लिए इस सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा और कोई उपाय न था। उसे झख मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने ज़ोम में फूला फिरता था। सारी दुनिया चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बंदा, वज़ीर उसका गुलाम, संधि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में, दुनिया उसकी महत्त्वाकांक्षाओं के सामने सिर झुकाए हुए, हर मुल्क में उसका बोलबाला।

परंतु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज पर परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत का बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबंध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं। महाजन इस नई लहर से अति उ[illegible]न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया में महाजनों की शामिल आवाज़ इस नई सभ्यता को कोस[illegible] उसे शाप दे रही है। व्यक्ति स्वातंत्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अपनी अंतरात्मा के आदेश पर चलने की आजादी वह इन सबकी घातक, गला घोंट देने वाली बताई जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नयी-नयी हुरमतें तराशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रंगी जा रही है, कुत्सित-से-कुत्सित रूप में चित्रित की जा रही हैं। उन सभी साधनों से, जो पैसे वालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है पर सचाई है जो इस सारे अंधकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।

निस्संदेह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दांत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूंजीपति लाखों मजदूरों का खून पीता रहकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आ[illegible]यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, अपने सड़े गले माल की खपत कराने के लिए युद्ध कर दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन करे। अगर इसकी स्वाधीनता है तो निस्संदेह नई सभ्यता में स्वाधीनता नहीं। पर यदि स्वाधीनता का अर्थ यह है कि जनसाधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ-सुथरे गांव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएं, बिजली के पंखे और रोशनी और सस्ते सद्यःसुलभ न्याय की प्राप्ति हो, तो इस समाज व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आज़ादी है, वह दुनिया की किसी सभ्यतम कहाने वाली जाति को भी सुलभ नहीं। धर्म की स्वतंत्रता का अर्थ अगर पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तखोर जमात के दंभमय उपदेशों और अंधविश्वास-जनित रूढ़ियों का अनुसरण है, तो निस्संदेह वहां इस स्वतंत्रता का अभाव है, पर धर्म-स्वातंत्र्य का अर्थ यदि लोक-सेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती, शरीर और मन की पवित्रता है तो इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है, और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।

जहां धन की कमी-बेशी के आधार पर असमानता है, वहां ईर्ष्या-द्वेष, ज़ोर-ज़बर्दस्ती, बेईमानी, झूठे, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्या-वृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनिया की बुराइयां अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहां धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहां जलन क्यों हो और ज़ब्र क्यों हो? सतीत्व-विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो? झूठे मुकदमे क्यों चलें और चोरी-डाके की वारदातें क्यों हों? ये सारी बुराइयां तो दौलत की देन हैं, पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने ही इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर संतुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया, तो उनका सिर कुचलने के लिए पुलिस-अदालत है, काला पानी है। आप शराब पीकर उसके नशे में बच नहीं सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असंभव है। पैसा अपने साथ ये सारी बुराइयां लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिए, सारी बुराइयां अपने-आप मिट जायंगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियां तोड़ना तो बेकार है। यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहां कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता, बल्कि तुच्छ और हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री सुंदरी नहीं बनती, घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन समाज से ऊंचा रहन-सहन रखना वहां बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकार वहां बहका नहीं जा सकता, अधिक मद्यपान वहां दोष समझा जाता है - धार्मिक दृष्टि से नहीं किन्तु शुद्ध सामाजिक दृष्टि से, क्योंकि शराबखोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अव्यवस्था और श्रमशीलता का अंत हो जाता है।

हां, इस समाज-व्यवस्था ने व्यक्ति को यह स्वाधीनता नहीं दी है कि वह जन साधारण को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की तृप्ति का साधन बनाये और तरह तरह के बहाने से उनकी मेहनत का फायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी मोटी रकमें उड़ाये और मूछों पर ताव देता फिरे। वहां ऊंचे-से ऊंचे अधिकारी की तनख्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगनचुंबी प्रासादों में नहीं रहता, तीन चार कमरों में ही उसे गुज़र करनी पड़ती है। उसकी श्रीमतीजी रानी साहिबा या बेगम बनी हुई स्कूलों में इनाम बांटती नहीं फिरती, बल्कि अक्सर मेहनत-मजदूरी या किसी अखबार के दफ्तर में काम करती है। सरकारी पद पाकर व्यक्ति अपने को लाट साहब नहीं, बल्कि जनता का सेवक समझता है। महाजनी सभ्यता का प्रेमी इस समाज व्यवस्था को क्यों पसंद करने लगा जिसमें उसे दूसरों पर हुकूमत जताने के लिए सोने-चांदी के ढेर लगाने की सुविधाएं नहीं। पूंजीपति और जमींदार तो इस सभ्यता की कल्पना से ही कांप उठते हैं। उनकी जूड़ी का कारण हम समझ सकते हैं। पर जब वे लोग भी जो अनजाने में महाजनी सभ्यता का समर्थन कर रहे हैं, उसकी खिल्ली उड़ाने और उस पर फबतियां कसने लगते हैं, तो हमें उनकी इस दास-मनोवृत्ति पर हंसी आती है। जिसमें मनुष्यता, आध्यात्मिकता, उच्चता और सौंदर्य-बोध है, वह कभी ऐसी समाज-व्यवस्था की सराहना नहीं कर सकता, जिनकी नींव लोभ, स्वार्थपरता

और दुर्बल मनोवृत्ति पर खड़ी हो। ईश्वर ने तुम्हें विद्या और कला की संपत्ति दी है, तो उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे जन-समाज की सेवा में लगाओ, यह नहीं कि उससे जन-समाज पर हुकूमत चलाओ, उसका खून, चूसो और उसे उल्लू बनाओ।

धन्य है वह सभ्यता, जो मालदारी और व्यक्तिगत संपत्ति का अंत कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मज़हब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तर्क नितांत असंगत है। इसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा, और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गई। बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने गुरु-दक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक जैसा ही है। छोटी-मोटी बातों में अंतर हो सकता है, पर मूल-स्वरूप की दृष्टि से संपूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए भी कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हां, महाजनी सभ्यता और उसके गुरगे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जन-साधारण को बहकावेंगे, उनकी आंखों में धूल झोकेंगे, पर जो सत्य है एक-न-एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

[उर्दू लेख। 'महाजनी तहज़ीब' शीर्षक से उर्दू मासिक पत्रिका, 'कलीम', अगस्त, 1936 में प्रकाशित। हिन्दी अनुवाद 'महाजनी सभ्यता' शीर्षक से 'हंस', सितंबर, 1936 में प्रकाशित। 'प्रेमचंद स्मृति', 'मंगलसूत्र' तथा 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' खण्ड-2 में संकलित।]

कहानी-कला-3

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अंग रही है। हर एक बालक को अपने बचपन की वे कहानियां याद होंगी, जो उसने अपनी माता-पिता या बहन से सुनी थीं। कहानियां सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किसी तरह सब-कुछ भूलकर सुनने में तमन्य हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियां सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने, मिठाइयां और तमाशे सब भूल गए, पर वे कहानियां अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों का आज उसके मुंह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी अपनी बन जाय और उसकी कीर्ति हर एक जबान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय में हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा, लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा-सरित्सागर', 'ईसप की कहानियां' और 'अलीफ-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम, अपने बाप-दादा की भांति

ही, आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा ख्याल है कि जनरुचि जितनी आसानी से अलिफ-लैला की कथाओं का आनंद उठाती है। उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनंद नहीं उठा सकती। और अगर काउंट टॉल्स्टॉय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ-लैला के सामने स्वयं टॉल्स्टॉय के 'वार एंड पीस' और ह्यूगो के 'ले मिजरेबुल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी राग रागिनियां, हमारी सुंदर चित्रकारियां और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र के बाहर हो जायंगे। जनरुचि परज और बिहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसंद करती है। बिरहों और ग्रामगीतों में बहुधा बड़े ऊंचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादाएं बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुंदर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य का नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य की आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भांति मानव-हृदय के सांचे में पड़कर संस्कृत हो गई हो। प्रकृति का सौंदर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उसमें हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है, पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका एवं रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का संदेश मिलता है।

लेकिन भोजन जहां थोड़े से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहां यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पायें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भांति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनंद खो देती है और उसे समझने वाले थोड़े से कलाविद् ही रह जाते हैं उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा कहानियां अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं, पर उनमें उस रस की कमी है जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गई है। हम हर एक विषय की भांति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते है। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुंचने, या भूत प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ के कांटे से तौलते हैं और जौ भर भी इधर उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उसमें हम अपने जीवन का ही प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक एक वाक्य को, एक एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम संतुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावनाओं तक पहुंचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से संतुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम लिया। हम देखना चाहते हैं, कि किन

मनोभावनाओं से प्रेरित होकर उसने यह काम किया, अतएव मानसिक द्वंद्व वर्तमान उपन्यास का गल्प का खास अंग है।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिल्कुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था, लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये भाव जितने व्यापक और गहरे तथा अनुभवपूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएं और पात्र उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिल्कुल गौण है। उदाहरणत: मेरी 'सुजन भगत', 'मुक्ति मार्ग', 'पंच-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ', नामक सभी कहानियों में एक-न-एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।

यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है, पर साहित्यिक मनोरंजन वह है जिसे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हममें सत्य, नि:स्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जागृत हों। वास्तव में मानवीय आत्मा की यह वह चेष्टा है, जो उसके मन में अपने-आपको पूर्णरूप से देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है उसमें मिलकर रहता है, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात् जीवन के अनंत प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएं भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वह सर्वथा अस्वाभाविक हैं, परंतु यदि स्वार्थ, अहंकार और ईर्ष्या की ये बाधाएं न होतीं, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहां से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसलिए ऊंचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी-न-किसी भाव को प्रकट कर देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है, पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिए, उसमें कहानियों ही की प्रधानता होगी। हां, जो पत्र किसी विशेष नीति या उद्देश्य से निकाले जाते हैं उसमें कहानियों का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियां पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी यह क्षुधा तो नहीं मिटती, जो इच्छापूर्ण भोजन चाहती है पर फलों और मिठाइयों की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह

अवश्य कहानियों से तृप्त हो जाती है। हमारा ख्याल है कि कहानियों ने अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण, संसार के प्राणियों को एक-दूसरे से जितना निकट कर दिया है, उसमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूं खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करने वाले प्राणियों से बिल्कुल अपरिचित रहते हैं, लेकिन मोपासां, अनातोल फ्रांस, चेखोव और टॉल्स्टॉय की कहानियां पढ़कर हमने फ्रांस और रूस से आत्मिक संबंध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों, द्वीपों और पहाड़ों का लांघता हुआ फ्रांस और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहां भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहां के किसान और मजदूर एवं विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ठ परिचय हो।

हिन्दी में बीस-पच्चीस साल पहले कहानियों की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बंगला और अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। परंतु आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियां प्रतिमास न छपती हों। कहानियों के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों को पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन में हम कभी कोई किस्सा पढ़ते पकड़ लिए जाते थे, तो कड़ी डाट पड़ती थी। यह ख्याल किया जाता था कि किस्सों से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। और उन 'फिसाना अजायब' और 'शुक-बहत्तरी' ओर तोता-मैना' के दिनों में ऐसा ख्याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त कहानियां कहीं स्कूल कैरिकुलम में रख दी जातीं तो शायद पिताओं का एक डेपूटेशन इसके विरोध में शिक्षा विभाग के अध्यक्ष की सेवा में पहुंचता। आज छोटे-बड़े सभी क्लासों में कहानियां पढ़ाई जाती हैं और परीक्षाओं में उन पर प्रश्न किये जाते हैं। यह मान लिया गया है कि सांस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य में उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि कहानी कोरी गप नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हजार बरस पहले यूनान के विख्यात फिलॉसफर अफलातूंन ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना में मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य हैं, जितने आज से पांच हजार साल पहले थे, हालांकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धांत, जो एक जमाने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गए हैं, पर कथाएं आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका संबंध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है, कि कहानी में नाम और सन् के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं। गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस सांचे में चाहे ढाल सकता है, पर किसी दशा में भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन-सत्य कहलाता है।

[लेख। मूल स्रोत अज्ञात। 'साहित्य का उद्देश्य', प्रथम संस्करण जुलाई 1954 में संकलित। प्रकाशक-शिवरानी प्रेमचंद, वितरक-हंस प्रकाशन, इलाहाबाद। 'कुछ विचार' में भी संकलित।]

• • •